॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

२४

श्रीमदप्पय्यदीक्षितविरचितः

कुवलयानन्दः

'अलङ्कारसुरभि'-हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकार—

डॉ० भोलाशङ्कर व्यास

प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी २२१००१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
२४

श्रीमदप्पय्यदीक्षितविरचितः

कुवलयानन्दः

'अलङ्कारसुरभि'-हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकार—
डॉ० भोलाशङ्कर व्यास
प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी २२१००१

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक, (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा नं० ६९,

वाराणसी–२२१००१

दूरभाष : { ६३०७६ दुकान
५५३५७ निवास

चतुर्थ संस्करण

१९८३

मूल्य ४०–००

पुस्तक प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७ ११७, गोपालमन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स नं० १२९

वाराणसी २२१००१

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
24

KUVALAYĀNANDA

OF

ĀPPAYADĪKṢITA

With

'ALAṄKĀRASURABHI' HINDI COMMENTARY

BY

Dr. Bholashankar Vyas
(Professor, Banaras Hindu University, Varanasi.)

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARAṆASI

(*Oriental Booksellers & Publishers*)

CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)

Post Box No. 69

VARANASI 221001

Fourth Edition

1983

Also can be had of

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

(*Oriental Booksellers & Publishers*)

K. 37/117 Gopal Mandir Lane

Post Box No. 129

VARANASI 221001

पूज्य पितृव्य

पं० विष्णुदत्तजी व्यास

काव्यतीर्थ, धर्मशास्त्री

की

दिवंगत आत्मा

को

निवेदन

भारतीय साहित्यशास्त्र के अध्ययन में यह मेरा तीसरा प्रयास है, जिसे मैं साहित्यिक-समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसके पूर्व मैं धनञ्जय के सावलोक दशरूपक की हिंदी व्याख्या 'हिंदी दशरूपक' तथा ध्वनिसम्प्रदाय के शब्दशक्तिसंबंधी विचारों पर 'ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धांत, भाग १ (शब्दशक्तिविवेचन)' विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत कर चुका हूँ। 'ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धांत भाग १' मेरा डाक्टरेट का प्रबंध है तथा इसे नागरीप्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है। 'हिंदी दशरूपक' पर उत्तरप्रदेश सरकार ने पुरस्कार घोषित कर मुझे प्रोत्साहन दिया है। विद्वानों ने इन दोनों ग्रन्थों को समुचित प्रोत्साहन देकर मेरे उत्साह में अभिवृद्धि की है। अब मैं भारतीय साहित्यशास्त्र विषयक इस तीसरे पुष्प को लेकर उपस्थित हो रहा हूँ। प्रस्तुत व्याख्या के गुण-दोषों के विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है। मैंने यहाँ ठीक उसी शैली का आश्रय लिया है जो 'हिंदी दशरूपक' में पाई जाती है। किंतु 'हिंदी दशरूपक' से इस व्याख्या में एक विशिष्टता मिलेगी। तत्तत् अलंकार के साथ मैंने विस्तृत टिप्पणियों की योजना कर मम्मट, रुय्यक, पंडितराज जगन्नाथ आदि के अलंकारसंबंधी मतों के साथ दीक्षित के मतों की तुलनात्मक समालोचना की है। इसके अतिरिक्त कुवलयानंद की उपलब्ध दो टीकाओं—गंगाधर वाजपेयी कृत रसिकरंजनी तथा वैद्यनाथ तत्सत् कृत अलंकारचन्द्रिका—का समुचित उपयोग कर उनके मतों का भी संकेत किया गया है। आशा है, विद्वानों को ये दोनों बातें रुचिकर प्रतीत होंगी। अलंकारशास्त्र बड़ा गहन

विषय है तथा कई अलंकारों की बारीकियों के विषय में स्वयं अधिकारी आलंकारिकों में भी ऐकमत्य नहीं रहा है। ऐसी स्थिति में कहीं-कहीं कुछ त्रुटि रह जाना संभव हो सकता है। मैं अधिकारी विद्वानों के परामर्श का स्वागत करूँगा तथा भावी संस्करण में उसके समुचित उपयोग से अपने को धन्य समझूँगा।

पुस्तक के आरंभ में मैंने एक विस्तृत भूमिका दी है। इसमें दो दृष्टिकोण रखे गये हैं, एक वैज्ञानिक शोधसंबंधी दृष्टिकोण, दूसरा प्रमुख अलंकारों के सामान्य परिचय देने का विचार। इसीलिए भूमिका को दो भागों में बाँटा गया है। प्रथम भाग में दीक्षित का परिचय, उनकी अन्य दो कृतियों में पल्लवित विचारों का संकेत दिया गया है। इसी भाग में दीक्षित के द्वारा उद्भावित नये अलंकारों की मीमांसा वाला अंश अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसमें भोजराज, शोभाकरमित्र, रूय्यक, जयदेव, पंडितराज, विश्वेश्वर तथा नागेश की कृतियों का उपयोग कर उनका तुलनात्मक शोधपूर्ण अध्ययन दिया गया है। इससे अलग अंश भी कम महत्त्व का नहीं है, जहाँ दीक्षित के द्वारा चित्र-मीमांसा में १२ अलंकारों के विषय में उपन्यस्त किये गये विचारों का उल्लेख किया गया है। यह अंश प्रमुख १२ अलंकारों की बारीकियों को जानने में जिज्ञासुओं की सहायता कर सकेगा। साथ ही यह अंश 'हिंदी कुवलयानंद' का पूरक कहा जा सकता है। भूमिका के अगले भाग में एक ओर काव्य में अलंकारों का स्थान तथा अलंकारों के वर्गीकरण पर अतिसंक्षिप्त संकेत किया गया है, दूसरी ओर ६० के लगभग अलंकारों का स्वरूप तथा उनके परस्पर साम्य-वैषम्य पर विदुशैली में विवरण दिया गया है, जो अलंकारों के मूल तत्त्व को (कारिका या वृत्ति को भी) स्पष्टरूप से समझने में मदद करेगा। तत्तत् अलंकार की वास्तविक आत्मा जानने की इच्छा वाले साहित्यिकों तथा विद्यार्थियों के लिए यह अंश अत्यधिक उपयोगी है।

काव्यालंकारों का विषय भारतीय साहित्यशास्त्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। नयेपन की धुन में मदांध साहित्यिक अलंकारों को पुरानी काव्यरूढ़ियाँ कह कर इन्हें तोड़ने में ही अपनी क्रांतिकारिता का परिचय देते हैं। पर चाहे वे लोग अलंकारों का विरोध करते रहें, काव्य से अलंकार का सर्वथा विच्छेद करने में वे अशक्त ही रहेंगे। हिंदी का क्या छायावादी कवि, क्या प्रयोगवादी कवि सभी ने अपनी कविता-कामिनी को अलंकार-सज्जा से सजाया है, यह दूसरी बात है कि आज

के कवि के अप्रस्तुत ठीक वे ही न हों, जो पुराने कवि के थे तथा वह आज के आलंकारिक चमत्कार को उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि नामों से अभिहित करने मे नाक-भौं सिकोड़ता हो। पर पुराने नामों तक से घृणा करना उसकी दूषित तथा कुत्सित मनोवृत्ति का परिचायक है। आज की प्रगतिवादी तथा मानवतावादी आलोचना ने भी साहित्यशास्त्र के अध्ययन को तथा शुद्ध साहित्यिक पर्यालोचन को करारा धक्का पहुँचाया है। मैं प्रगतिवादी तथा मानवतावादी आलोचना को हेय नहीं कहता, वह भी कवि तथा कृति के महत्त्व का पर्यालोचन करने के लिए उपादेय है, किंतु एकमात्र वही नहीं। मानवतावादी मापदण्ड के साथ जब तक साहित्यिक मापदण्ड का उपादान न होगा, आलोचना पूर्ण न होगी, वह समाजशास्त्रीय लेखें मात्र बनी रहेगी। इन नये खेवे के आलोचकों के गुरु, टी० एस० इलियट तक ने अपने एक निबंध में साहित्यिक पर्यालोचन में मानवतावादी तथा साहित्यशास्त्रीय दोनों तरह के मानों का प्रयोग करने की स्पष्ट सलाह दी थी। वस्तुतः दोनों शैलियों का समन्वय करने पर ही हम 'आलोचन-दर्शन' को जन्म दे सकेंगे। हिंदी में इस प्रकार की शैली के जन्मदाता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे तथा मेरी समझ में आलोचना की वही शैली स्वस्थ है। रस, ध्वनि, रीति, अलंकार का समुचित ज्ञान एक साहित्यिक के लिए अत्यावश्यक है, वह उसे 'रूढ़ियाँ' कह कर उसकी आलोचना भले ही करे, नये अलंकारों की कल्पना करे, नये नामकरण करे, नये प्रयोग करे, पर पुरानों को समझ तो ले। यदि ऐसा नहीं, तो स्पष्ट है कि वह किसी सीधे रास्ते से ही यश के गौरीशिखर पर पहुँचना चाहता है तथा वास्तविक साहित्यिक गुत्थियों में अपना समय उलझाना बेकार समझता है। हर्ष का विषय है कि इधर हिंदी के कुछ विद्वानों का ध्यान इन साहित्यशास्त्रीय विषयों की ओर जाने लगा है, डॉ० नगेन्द्र इन विद्वानों के अग्रदूत कहे जा सकते हैं। रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस आदि के साथ ही अलंकारों के विकास पर भी एक गवेषणापूर्ण अध्ययन की हिंदी में आवश्यकता है जिसमें आचार्य भरत से लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक के अलंकारसंबंधी विचारों का विवेचन करते हुए प्रमुख अलंकारों का ऐतिहासिक तथा साहित्यिक पर्यालोचन हो। इन पंक्तियों का लेखक शीघ्र ही 'भारतीय साहित्यशास्त्र तथा काव्यालंकार' के नाम से एक प्रबंध प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा है। आशा है, यह प्रबंध उक्त कमी को कुछ पूरा कर सकेगा।

अन्त में, मैं उन सभी लेखकों का आभारी हूँ जिन्होंने जाने-अनजाने मुझे इस ग्रन्थ के प्रणयन में प्रभावित किया है। मैं पुनः इस व्याख्या की त्रुटियों के लिए क्षमा चाहता हूँ। इस ग्रन्थ को मैं अपने दिवंगत पितृव्य पं० विष्णुदत्त जी व्यास काव्यतीर्थ, धर्मशास्त्री की पवित्र स्मृति में श्रद्धांजलि के रूप में समर्पित करता हूँ।

काशी
गंगा दशहरा, २०१३

भोलाशंकर व्यास

विषय-सूची

अलंकारशास्त्र

में

अप्पय दीक्षित का योग

पिछले खेवे के उन आलंकारिकों में, जिन्होंने अलंकारशास्त्र के विकास में एक निश्चित योग दिया है, तीन मौलिक ग्रन्थकार तथा तीन प्रसिद्ध टीकाकार हैं। मौलिक ग्रन्थकारों में अप्पय दीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पंडित का नाम लिया जा सकता है, तथा टीकाकारों में गोविन्द ठक्कुर, नागेश भट्ट एवं वैद्यनाथ तत्सत् का। यद्यपि अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में पंडितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर का महत्त्व दीक्षित से कहीं अधिक है, क्योंकि पंडितराज ने जिस मौलिकता से तत्तत् समस्याओं पर विचार किया है, तथा विश्वेश्वर ने जिस पांडित्यपूर्ण शैली में विषयविवेचन उपन्यस्त किया है, वह दीक्षित में नहीं मिलते, तथापि दीक्षित का भी अपना एक स्थान है, जिसका निषेध नहीं किया जा सकता। दीक्षित का व्यक्तित्व एक सर्वतंत्रस्वतन्त्र पंडित का व्यक्तित्व है, जिसने वेदांत, मीमांसा, व्याकरण, साहित्यशास्त्र जैसे विविध विषयों पर अपनी लेखिनी उठाई है। इस दृष्टि से दीक्षित की तुलना नागेश भट्ट से की जा सकती है, यद्यपि नागेश का अपना क्षेत्र व्याकरण तथा साहित्यशास्त्र ही रहा है, तथा उनके मौलिक ग्रन्थ व टीकाएँ इन्हीं दो शास्त्रों से सम्बद्ध हैं। दीक्षित मूलतः मीमांसक हैं, तो नागेश मूलतः वैयाकरण। दोनों ने अपनी साहित्यविता का परिचय देने के ही लिये अलंकारशास्त्र पर रचनाएँ की हैं। यद्यपि दीक्षित मौलिक रचनाओं के लेखक हैं तथा नागेश टीकाकार हैं, तथापि दीक्षित के तीनों ग्रन्थों में मौलिकता का प्रायः अभाव है, जबकि नागेश की टीकाओं—उद्योत तथा गुरुमर्मप्रकाश—में भी मौलिक विचार बिखरे हुए हैं। यह तथ्य नागेश तथा दीक्षित के तारतमिक मूल्य का संकेत दे सकता है। दीक्षित ने कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा में कुछ मौलिक विचार देने की चेष्टा अवश्य की है, किन्तु उन सभी मौलिक उद्भावनाओं का पंडितराज ने सफलतापूर्वक खण्डन किया है तथा उनकी मौलिकता संदिग्ध हो उठती है। इतना होते हुए भी अप्पय दीक्षित के ग्रन्थों का दो कारणों से कम महत्त्व नहीं है—प्रथम तो उनके कुवलयानन्द में उनके समय तक उद्भावित समस्त अलंकारों का साधारण परिचय मिल जाता है, दूसरे उनका उल्लेख स्थान-स्थान पर रसगंगाधर, अलंकारकौस्तुभ, तथा उद्योत में मिलने के कारण इन ग्रन्थों के अध्येता के लिए दीक्षित के विचारों को जानना जरूरी हो जाता है।

अप्पय दीक्षित के स्वयं के ही ग्रन्थ से उनके समय का कुछ संकेत मिलता है। कुवलयानन्द के उपसंहार में बताया गया है कि वह दक्षिण के किसी राजा वेंकट के लिए लिखा गया था।

> अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः।
> नियोगाद्वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः ॥

आफ्रेक्ट तथा एगेलिंग के मतानुसार अप्पय दीक्षित का आश्रयदाता विजयनगर का वेंकट (१५३५ ई० के लगभग) था। किन्तु हुल्श के मतानुसार इनका आश्रयदाता पेन्नकोण्डा का राजा वेंकट प्रथम था, जिसके १५८६ ई० से १६१३ ई० तक के लेख मिलते हैं।[1] 'शिवादित्यमणि-

१. फ्रेंच विद्वान् रेग्नो (Regnaud) ने 'ल रेतोरीके सॉस्क्रीत' (Le Rhetorique Sanskrit) पृ० ३७५ पर अप्पय दीक्षित को विजयनगर के कृष्णराज (१५२० ई०) का समसामयिक माना है, जो भ्रांति है।

दीपिका' की पुष्पिका में अप्पय ने चिन्नवीर के पुत्र तथा लिंगमनायक के पिता, चिन्नबोम्म को अपना आश्रयदाता बताया है। चिन्नबोम्म वेलूर का राजा था तथा इसके १५४९ ई० तथा १५६६ ई० के लेख मिले हैं। इस प्रकार अप्पय दीक्षित का रचनाकाल मोटे तौर पर १५४९ ई० तथा १६१३ ई० के बीच जान पड़ता है। अतः दीक्षित को सोलहवीं शती के अंतिम चरण में रखना असंगत न होगा। इसकी पुष्टि इन प्रमाणों से भी हो जाती है कि अप्पय दीक्षित का उल्लेख कमलाकर भट्ट (१७ वीं शती प्रथम चरण) ने किया है तथा उन्हीं दिनों पंडितराज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित का खण्डन भी किया है। सतरहवीं शती के मध्यभाग में अप्पय दीक्षित के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने चित्रमीमांसादोषधिक्कार की रचना कर पंडितराज के चित्र-मीमांसाखण्डन का उत्तर दिया था।

अप्पय दीक्षित के नाम के तीन रूप मिलते हैं:—अप्पय दीक्षित, अप्पय्य दीक्षित तथा अप्प दीक्षित। कुवलयानन्द के ऊपर उद्धृत पद्य में 'अप्पदीक्षित' रूप मिलता है, पर प्रायः इसका अप्पय तथा अप्पय्य रूप ही देखा जाता है। पंडितराज ने दोनों रूपों का प्रयोग किया है :— देखिये अप्पय दीक्षित (रसगंगाधर पृ० १४), अप्पय्य दीक्षित (पृ० २१०)। वैसे चित्रमीमांसा खण्डन की भूमिका के पद्य में अप्पय रूप ही मिलता है :—

सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितानामप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्यादस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि॥

(चित्रमीमांसाखण्डन. काव्यमाला पृ० १२३)

अप्पय दीक्षित एक सर्वशास्त्रज्ञ विद्वान् थे, जिनके विविध शास्त्रों पर लिखे ग्रन्थों की संख्या १०४ मानी जाती है। इससे अधिक अन्यकृतियों का पता अभी नहीं लगा है। वरदराजस्तव के कुछ पद्यों को तो कुवलयानन्द तथा वृत्तिवार्तिक में उदाहृत किया गया है। वृत्तिवार्तिक में उद्धृत विष्णुस्तुतिपरक कुछ पद्य संभवतः इसी के हैं; यद्यपि दीक्षित ने यह नहीं कहा है कि वे इससे उद्धृत हैं। कुवलयानन्द में उन्होंने स्पष्टतः 'मदीये वरदराजस्तवे' कहकर अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार के प्रकरण में तीन पद्य उपस्थित किये हैं। अप्पय्य दीक्षित के १०४ ग्रन्थों में प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्न हैं :—

१. अद्वैतवेदान्तविषयक ६ ग्रन्थ :—श्रीपरिमल, सिद्धांतलेशसंग्रह, वेदांतनक्षत्रवादावली, मध्वतन्त्रमुखमर्दनम्, मध्वमतविध्वंसनम्, न्यायरक्षामणि।

२. भक्तिविषयक २६ रचनाएँ :—शिखरिणीमाला, शिवतत्त्वविवेक, ब्रह्मतर्कस्तव (लघुविवरण), आदित्यस्तवरत्नम् तथा इसकी व्याख्या, शिवाद्वैतविनिर्णय, शिवध्यानपद्धति, पञ्चरत्न तथा इसकी व्याख्या, आत्मार्पणं, मानसोल्लास, शिवकर्णामृतम्, आनन्दलहरी, चन्द्रिका, शिवमहिमकालिकास्तुति, रत्नत्रयपरीक्षा तथा इसकी व्याख्या, अरुणाचलेश्वरस्तुति, अपीतकुचाम्बास्तव, चन्द्रकलास्तव, शिवार्कमणिदीपिका, शिवपूजाविधि, नयमणिमाला तथा इसकी व्याख्या।

३. रामानुजमतविषयक ५ ग्रन्थ :—नयनमयूखमालिका तथा इसकी व्याख्या, श्रीवेदांतदेशिकविरचितयादवाभ्युदय की व्याख्या तथा वेदान्तदेशिकविरचित पादुकासहस्र की व्याख्या एवं वरदराजस्तव।

४. माध्वसिद्धांतानुसारी २ ग्रन्थ :—न्यायरत्नमाला तथा इसकी व्याख्या।

५. व्याकरणविषयक १ ग्रन्थ :—नक्षत्रवादावली।

६. पूर्वमीमांसाशास्त्र पर २ ग्रन्थ :—नक्षत्रवादावली तथा विधिरसायनम्।

७. अलंकारशास्त्र पर ३ ग्रन्थ :—वृत्तिवार्तिक, चित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द।

अप्पय दीक्षित मूलतः मीमांसक एवं वेदांती हैं। उनका निम्न पद्य तथा उसकी कुवलयानन्द की वृत्ति में की गई व्याख्या अप्पय दीक्षित के तद्विषयक पांडित्यका संकेत कर सकते हैं :—

आश्रित्य नूनममृतद्युतयः पदं ते देहक्षयोपनतदिव्यपदाभिमुख्याः।
लावण्यपुण्यनिचयं सुहृदि त्वदास्ये विन्यस्य यांति मिहिरं प्रतिमासभिन्नाः॥

(कुवलयानन्द पृ० १०१)

जहाँ तक दीक्षित के साहित्यशास्त्रीय पांडित्य का प्रश्न है, इनमें कोई मौलिकता नहीं दिखाई देती। क्या कुवलयानन्द, क्या चित्रमीमांसा, क्या वृत्तिवार्तिक तीनों ग्रन्थों में दीक्षित का संग्राहक रूप ही अधिक स्पष्ट होता है। वैसे जहाँ कहीं दिक्षित ने मौलिकता बताने की चेष्टा की है वे असफल ही हुए हैं तथा उन्हें पंडितराज के कटु आक्षेप सहने पड़े हैं। पंडितराज ही नहीं अलंकार-कौस्तुभकार विश्वेश्वर ने भी अप्पय दीक्षित के कई मतों का खंडन किया है। अप्पय दीक्षित के इन तीन ग्रन्थों में वृत्तिवार्तिक तथा चित्रमीमांसा दोनों ग्रन्थ अधूरे ही मिलते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में प्रदर्शित विचारों का संक्षिप्त विवरण हम भूमिका के आगामी पृष्ठों में देंगे वृत्तिवार्तिक में केवल अभिधा तथा लक्षणा शक्ति का विवेचन पाया जाता है। चित्रमीमांसा उत्प्रेक्षान्त मिलती है, कुछ प्रतियों में अतिशयोक्ति का भी अधूरा प्रकरण मिलता है।

अप्पय दीक्षित के अलंकार संबंधी विचारों के कारण अलंकारशास्त्र में एक नया वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है। पंडितराज ने रसगंगाधर में दीक्षित के विचारों का कस कर खण्डन किया है तथा उन्हें रुय्यक एवं जयरथ का नकलची घोषित किया है। इतना ही नहीं, बेचारे अप्पय दीक्षित को गालियां तक सुनाई है। व्याजस्तुति के प्रकरण में तो अप्पय दीक्षित को महामूर्ख तथा बैल तक बताते हुए पंडितराज कहते हैं:—'उपालम्भरूपाया निन्दाया अनुत्थानापत्तेः प्रतीतिविरोधाच्चेति सहृदयैराकलनीयं किमुक्तं द्रविडपुंगवेनेति।'(रसगंगाधर पृ० ५६३) अप्पय दीक्षित तथा पंडितराज के परस्पर वैमनस्य की कई किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं, जिनके विवरण में हम नहीं जाना चाहते। सुना जाता है कि यवनी को रखैल रखने के कारण पंडितराज को जातिबहिष्कृत करने में दीक्षित ही प्रमुख कारण थे। अतः पंडितराज ने दीक्षित के उस व्यवहार का उत्तर गालियों से दिया है। कुछ भी हो, पंडितराज जैसे महापंडित के लिए इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना ठीक है या नहीं, इस पर विद्वान् ही निर्णय दे सकते हैं। अप्पय दीक्षित के विचारों का खण्डन एक दूसरे आलंकारिक ने भी किया था—वे हैं भीमसेन दीक्षित। भीमसेन दीक्षित ने अपनी काव्यप्रकाश की टीका सुधासागर में बताया है कि उन्होंने 'कुवलयानन्दखण्डन' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें अप्पय दीक्षित के मतों का खण्डन रहा होगा। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

कुवलयानन्द पर दस टीकाओं का पता चलता है, जो निम्न हैं। इनमें तीन टीकायें प्रकाशित हो चुकी हैं।

(१) रसिकरंजनीटीका :—इसके लेखक गंगाधर वाजपेयी या गंगाधराध्वरी हैं। इसने अप्पय दीक्षित को अपने पितामह के भाई का गुरु (अस्मत्पितामहसहोदरदेशिकेंद्र) कहा है। गंगाधर तंजौर के राजा शाह जी (१६८४-१७११ ई०) के आश्रय में था। यह टीका हालास्य नाथ की टिप्पणी के साथ कुंभकोणम् से सन् १८९२ में प्रकाशित हुई है। कुवलयानन्द के पाठ के लिए यह टीका प्रामाणिक मानी जाती है।

(२) वैद्यनाथ तत्सत् कृत अलंकारचन्द्रिका :—यह कुवलयानन्द पर प्रसिद्ध उपलब्ध टीका है, जो कई वार छप चुकी है।

(३) अलंकारदीपिका :—इसके रचयिता आशाधर हैं, जिनकी एक अन्य कृति 'त्रिवेणिका' प्रो० बटुकनाथ शर्मा के संपादन में प्रकाशित हो चुकी है। आशाधर की दीपिका टीका कुवलयानन्द के केवल कारिका भाग पर है, आशाधर ने कुवलयानन्द के वृत्तिभाग तथा उदाहरणों की व्याख्या नहीं की है।

(४, ५) अलंकारसुधा तथा विषमपदव्याख्यानषट्पदानंद :—ये दोनों टीकायें प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजी भट्ट की लिखी हैं, जिन्होंने काव्यप्रकाशप्रदीप, रसगंगाधर, रसमंजरी तथा रसतरंगिणी पर भी टीकायें लिखी हैं। पहली टीका है, दूसरी टीका में कुवलयानन्द के केवल विषम (जटिल) पदों का व्याख्यान है। दोनों के उद्धरण स्टेन कोनो के केटलोग में मिलते हैं। प्रायः इन दोनों टीकाओं को एक समझ लिया गया है।

(६) काव्यमंजरी :—इसके रचयिता न्यायवागीश भट्टाचार्य थे।

(७) मथुरानाथ कृत कुवलयानन्दटीका।

(८) कुवलयानन्द टिप्पण :—इसके रचयिता कुरवीराम हैं, जिन्होंने विश्वगुणादर्श तथा दशरूपक की भी टीका की है।

(९) लघ्वलंकारचन्द्रिका :—इसके रचयिता देवीदत्त हैं।

(१०) बुधरंजनी :—इसके रचयिता वेंगलसूरि हैं। यह वस्तुतः चन्द्रालोक के अर्थालंकार वाले पंचम मयूख की टीका है, जिसके साथ अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द की टीका भी की गई है।

चित्रमीमांसा पर तीन टीकायें हैं :—धरानंद की सुधा, बालकृष्ण पायगुण्ड की गूढार्थप्रकाशिका तथा अज्ञात लेखक की चित्रालोक नामक टीका। वृत्तिवार्तिक पर कोई टीका उपलब्ध नहीं है। कुवलयानन्द के केवल कारिकाभाग का जर्मन अनुवाद आर० श्मिद्त ने बर्लिन से १९०७ में प्रकाशित कराया था तथा इसी अंश का अंग्रेजी अनुवाद सुब्रह्मण्य शर्मा ने इससे भी पहले १९०३ में प्रकाशित किया था।

(२)

अप्पय दीक्षित ने अलंकारों के अतिरिक्त शब्दशक्ति तथा काव्य-भेद के विषय में भी विचार किया है। यद्यपि दीक्षित की इस मीमांसा में कोई नवीन कल्पना नहीं मिलती, तथापि साहित्य-शास्त्र के जिज्ञासु के लिए इनका इसलिए महत्त्व है कि अप्पय दीक्षित ने अपने पूर्व के आचार्यों के मत को लेकर उसका सुंदर पल्लवन किया है। जैसा कि हम बता चुके हैं बाद के प्रायः सभी आलंकारिकों ने ध्वनिसिद्धांत को मान्यता दे दी है। दीक्षित के उपजीव्य जयदेव स्वयं भी चन्द्रालोक में व्यञ्जना वृत्ति[1] तथा ध्वनि का विवेचन करते हैं। सप्तम तथा अष्टम मयूख में चन्द्रालोककार ने व्यञ्जना, ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य का वर्णन ध्वनिवादियों के ही सिद्धान्तों का सहारा लेकर किया है। अप्पय दीक्षित ने चन्द्रालोककार की भाँति काव्य के समस्त

---

१. सांमुख्यं विदधानायाः स्फुटमर्थान्तरे गिरः।
कटाक्ष इव लोकाख्या व्यापारो व्यञ्जनात्मकः॥ (चन्द्रालोक ७-२)

उपकरणों का वर्णन नहीं किया है। उनका लक्ष्य प्रमुख रूप से अलंकारों तक ही रहा है, पर वृत्तिवार्तिक तथा चित्रमीमांसा के प्रस्तावनाभाग में क्रमशः शब्दशक्ति तथा काव्य के ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य एवं चित्रकाव्य नामक भेदों का संकेत अवश्य मिलता है।

अप्पय दीक्षित तथा शब्दशक्ति :—वृत्तिवार्तिक में अप्पय दीक्षित की योजना अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना पर विशद विचार करने की थी, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ केवल प्रथम दो शक्तियों पर ही मिलता है। लक्षणा के प्रकरण के साथ ही यह छोटा-सा ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। वृत्तिवार्तिक के प्रस्तावना श्लोकों से पता चलता है कि दीक्षित व्यंजना पर भी विचार करना चाहते होंगे।[1] प्रस्तुत ग्रन्थ अधूरा क्यों रह गया इसके बारे में कुछ ज्ञात नहीं, किन्तु यह निश्चित है कि अप्पय दीक्षित ने वृत्तिवार्तिक तथा चित्रमीमांसा दोनों ग्रन्थों को पूरा लिखा ही न था।

वृत्तिवार्तिक का आरंभ अभिधा शक्ति के प्रसंग से होता है। हम देखते हैं कि कोई भी शब्द सर्वप्रथम अपने निश्चित संकेतित अर्थ की प्रतीति कराता है। शब्द का यह निश्चित संकेतित अर्थ वाच्यार्थ या मुख्यार्थ कहलाता है। इस प्रकार के मुख्यार्थ की प्रतीति कराने वाले व्यापार को ही 'अभिधा' कहा जाता है, अभिधा का दूसरा नाम 'शक्ति' भी है। शक्ति इसका नाम इसलिए है कि शब्द में अपने संकेतित अर्थ को द्योतित करने की क्षमता होती है। संकेत को इस शक्ति का सन्निवेश, नैयायिकों के मतानुसार ईश्वरेच्छा के अनुसार होता है। ईश्वर ही सर्वप्रथम 'अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ग्रहण करना चाहिए' इस संकेत की सृष्टि करता है, जहाँ तक पारिभाषिक शब्दों का प्रश्न है, उनमें संकेत की कल्पना शास्त्रकारादिकृत होती है। दीक्षित ने इसीलिए अभिधा की परिभाषा यह दी है कि जहाँ शक्ति (मुख्यावृत्ति) से प्रतिपादित करने वाला (प्रतिपादक) व्यापार पाया जाता है।

शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा ॥

दीक्षित की यह परिभाषा ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि शक्ति तथा अभिधा दोनों एक ही शब्द व्यापार के नाम हैं, ऐसी स्थिति में 'शक्ति के द्वारा प्रतिपादक होना अभिधा है' यह वाक्य दूसरे शब्दों में 'अभिधा के द्वारा प्रतिपादक होना अभिधा है' इस अर्थ की प्रतीति कराता है। अतः अभिधा की परिभाषा में यह कहना कि 'जहाँ अभिधा से अर्थ प्रतीति हो, वहाँ अभिधा होगी' कुछ विचित्र-सा लगता है। वस्तुतः यह परिभाषा दुष्ट है। तभी तो पंडितराज ने इस परिभाषा का खंडन करते हुए बताया है कि अप्पय दीक्षित की अभिधा की परिभाषा असंगत है। हम देखते हैं कि अभिधा के द्वारा किसी शब्दविशेष से साक्षात् संकेतित किसी अर्थविशेष का ज्ञान होता है, इस प्रकार दीक्षित के लक्षण में प्रयुक्त 'प्रतिपादक' शब्द का तात्पर्य है उस ज्ञान का हेतु होना। यह 'प्रतिपादकत्व' वस्तुतः शब्द में विद्यमान होता है, तो क्या हमें किसी शब्द में प्रतिपादकत्व है इतने से ज्ञान से अर्थ प्रतीति हो जाती है? यदि ऐसा होता हो, तो फिर 'प्रतिपादकत्व मभिधा' जैसा लक्षण बनाना ठीक होगा। यदि नहीं, तो ऐसा लक्षण क्यों बनाया गया? यदि 'प्रतिपादकत्व' का अर्थ यह लिया जाय कि जिस व्यापार से वैसा ज्ञान हो सके (प्रतिपत्त्यनुकूल)

---

१. वृत्तयः काव्यसरणावलंकारप्रबन्धृभिः ।
अभिधा लक्षणा व्यक्तिरिति तिस्रो निरूपिताः ॥
तत्र कचित्कचिद्वृद्धैर्विशेषानस्फुटीकृतान् ।
निष्टंकयितुमस्माभिः क्रियते वृत्तिवार्तिकम् ॥ (वृत्तिवार्तिक पृ० १.)

वह अभिधा व्यापार है, तो फिर वह व्यापार ज्ञात होने पर ही वाच्यार्थ की प्रतीति कराने में समर्थ होगा। इसीलिए पंडितराज अभिधा की परिभाषा में इस बात का संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि वह अर्थ का शब्द के साथ, तथा शब्द का अर्थ के साथ स्थापित संबंधविशेष है। इस संबंध को शक्ति भी कहा जाता है।

शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः, शब्दस्यार्थगतो वा संबंधविशेषोऽभिधा। (रसगंगाधर पृ० १७६)

अभिधाशक्ति को तीन तरह का माना है :—रूढि, योग तथा योगरूढि। रूढि वहाँ होती है, जहाँ कोई शब्द अखण्ड शक्ति के द्वारा ही किसी अर्थ की प्रतीति कराये।[1] भाव यह है, जहाँ समस्त शब्द की अखण्ड शक्ति उस शब्द के अवयवों के अलग-अलग अर्थ का बोधन कराये बिना ही अखण्डार्थ प्रतीति कराती हो, वहां रूढि (अभिधा) होती है।[2] अभिधा का दूसरा प्रकार योग है। जहाँ कोई पद केवल अवयवशक्ति के ही द्वारा समस्त पद के एक अर्थ की प्रतीति कराये, वहाँ योग अभिधा होती है।[3] तीसरा प्रकार योगरूढि है। यहाँ पद की अवयवशक्ति तथा समुदाय-शक्ति दोनों की अपेक्षा होती है तथा उनकी सम्मिलित शक्ति से पद के अर्थ की प्रतिपत्ति होती है।[4] अप्पय दीक्षित ने इन तीनों प्रकारों के अनेक उदाहरण देकर इन्हें स्पष्ट किया है। इसी संबंध में दीक्षित ने बताया है कि कभी-कभी किसी योगरूढ पद का प्रयोग होने पर भी उसकी शक्ति अवयवार्थ ही में नियन्त्रित हो जाती है, तब उक्त अर्थ की प्रतीति कराने के लिए पुनः समुदायार्थवाचक रूढ पद का प्रयोग करना पड़ता है। जैसे **'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये'** इस पद्य में 'पिनाकपाणि' योगरूढपद है, अवयवशक्ति से इसका अर्थ है 'पिनाक को हाथ में धारण करने वाला', समुदायशक्ति से इसका अर्थ है 'शिव'। इस प्रकार यहाँ योगरूढि होने पर भी 'पिनाकपाणि' पद केवल अवयवार्थ की प्रतीति में ही नियंत्रित हो गया है, क्योंकि यहाँ कवि का भाव यह है कि 'पिनाक धनुष बड़ा सामर्थ्यशाली है, ऐसे धनुष को जो व्यक्ति धारण करता है, वह कितना सामर्थ्यशाली होगा'। जब 'पिनाकपाणि' पद इस तरह नियंत्रित हो गया है तो वह 'विशेषण' भर हो गया है, 'विशेष्य' के रूप में 'शिव' की प्रतीति नहीं करा पाता। अतः कवि को पुनः समुदायशक्ति (रूढि) से 'शिव' की प्रतीति कराने वाले 'हरस्य' पद का प्रयोग करना पड़ा है। इस प्रसंग में दीक्षित ने योगरूढ पदों के प्रयोग के विविध उदाहरण देकर अपवाद स्थलों की मीमांसा की है। यहीं दीक्षित ने यह भी बताया है कि 'पङ्कज' पद का 'कमल' अर्थ लेने पर नैयायिक यहाँ लक्षणा शक्ति मानते हैं, क्योंकि 'पंकज' का वाच्यार्थ तो 'कीचड़ में उत्पन्न होने वाला' है,। जिसमें कुमुदिनी आदि भी आ जाते हैं। यह कारण है कि नैयायिक यहाँ रूढि या योग नहीं मानते। दीक्षित यहाँ 'अभिधा' शक्ति ही मानते हैं।

इसके बाद दीक्षित ने 'संयोगादि' अभिधानियामकों का संकेत किया है, जिनके द्वारा अनेकार्थ शब्दों की अभिधा किसी एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है। इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय प्रश्न उपस्थित होता है। द्व्यर्थक पदों का प्रयोग होने पर कभी तो यह स्थिति होती है कि कवि केवल एक ही अर्थ की प्रतीति के लिए उनका प्रयोग करता है, संयोगादि के कारण अभिधा शक्ति केवल उसी अर्थ में नियंत्रित हो जाती है, अतः ऐसी स्थिति में तो दूसरे अर्थ की

---

१. रसगंगाधर पृ० १७७.

२. अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः। (वृत्तिवार्तिक पृ० १)

३. अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः। (वृत्तिवार्तिक पृ० २)

४. अवयवसमुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढिः। (वही पृ० ३)

उद्भावना तक का सवाल पैदा नहीं होता, श्रोता को 'संयोगादि' के कारण केवल विवक्षित अर्थ की ही उपस्थिति होगी, अविवक्षित अर्थ की नहीं। किन्तु कभी-कभी कवि द्व्यर्थक पदों का प्रयोग किसी खास कारण से करता है, उसकी विवक्षा दोनों अर्थों में होती है। ऐसी स्थिति में भी दोनों अर्थों में तीन तरह का संबंध पाया जाता है :—

(१) या तो दोनों अर्थ समान महत्त्व के होते हैं, दोनों प्राकरणिक होते हैं।

(२) या दोनों अर्थ अप्राकरणिक होते हैं तथा कवि किसी अन्य प्राकरणिक के उपमान के रूप में उन दोनों का प्रयोग करता है।

(३) या इन अर्थों में एक प्राकरणिक होता है, अन्य अप्राकरणिक तथा उनमें परस्पर उपमानोपमेय भाव की विवक्षा पाई जाती है।

प्रश्न होता है, क्या इन अर्थों की प्रतीति अभिधा ही कराती है? जहाँ तक प्रथम एवं द्वितीय स्थिति का प्रश्न है, किसी विवाद की गुंजायश ही नहीं, क्योंकि वहाँ दोनों पक्षों में 'संयोगादि' के द्वारा 'अभिधा' शक्ति का व्यापार पाया जाता है। अतः वहाँ दोनों प्राकरणिक अर्थ या दोनों अप्राकरणिक अर्थ वाच्यार्थ ही होंगे। यही कारण है कि यहाँ सभी विद्वान् श्लेष अलंकार मानते हैं।

किंतु क्या उस स्थल पर जहाँ एक अर्थ प्राकरणिक है तथा अन्य अप्राकरणिक, दोनों अर्थ वाच्यार्थ हैं? क्या यहाँ भी श्लेष अलंकार है? इस प्रश्न का उत्तर देते समय आलंकारिक दो दलों में बँट जाते हैं। अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि शुद्ध ध्वनिवादियोंके मतानुसार यहाँ प्राकरणिक अर्थ ही वाच्यार्थ है, क्योंकि अभिधा शक्ति उसी अर्थ में नियंत्रित होती है। उसके नियंत्रित हो जाने पर भी जिस अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है, वह अभिधा से नहीं हो सकती, क्योंकि अभिधा का व्यापार समाप्त हो चुका है, अतः यहाँ व्यञ्जना वृत्ति माननी पड़ेगी। फलतः अप्राकरणिक अर्थ व्यंग्यार्थ है, वाच्यार्थ नहीं। अतः यहाँ श्लेष अलंकार भी नहीं हो सकेगा, अपितु शब्दशक्तिमूलक ध्वनि पाई जाती है। (मम्मटादि के मत के लिए दे०—टिप्पणी पृ० १००–१०१)

दीक्षित को यह मत मान्य नहीं। वृत्तिवार्तिक में दीक्षित ने विस्तार से व्यञ्जनावादी के मत का खंडन करते हुए इस मत की स्थापना की है कि इस स्थल पर भी दोनों (प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक) अर्थ वाच्यार्थ ही हैं, हाँ उनमें परस्पर उपमानोपमेयभाव स्थापित करने वाला अलंकार अवश्य व्यंग्यार्थ माना जा सकता है। यही कारण है कि दीक्षित यहाँ भी श्लेष अलंकार मानते हैं। दीक्षित ने बताया है कि प्राकरणिक अर्थ में एक अभिधा के नियन्त्रित होने पर श्लिष्ट शब्द अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति अभिधा से न कराते हों, ऐसा नहीं है, अपितु वे दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा से ही कराते हैं :—

'तद्रीत्या न कथंचिदपि प्रकरणाप्रकरणादिनियमनं शक्यशङ्कम्। तस्मात् प्रस्तुताप्रस्तुतोभयपरेऽपि प्रस्तुताप्रस्तुतोभयवाच्यार्थेऽभिधैव वृत्तिः।' (वृत्तिवार्तिक पृ० १५)

इस संबंध में दीक्षित ने इस बात का भी संकेत किया है कि प्राचीन आलंकारिकों ने इस स्थल पर शाब्दी व्यञ्जना तथा ध्वनि क्यों मानी है? वस्तुतः प्राचीन आलंकारिकों का यह अभिप्राय नहीं है कि दोनों अर्थ वाच्यार्थ नहीं है, वे केवल इस बात का संकेत करना चाहते हैं कि ऐसे स्थलों पर सदा उपमादि अर्थालंकार की व्यञ्जना अवश्य पाई जाती है और उस अंश में सदा ध्वनित्व होता है। उनका भाव यह कभी नहीं है कि अप्राकरणिक अर्थ में भी व्यञ्जना व्यापार पाया जाता है।

यत्तु साक्षादप्रस्तुते शक्तिमूलव्यञ्जनस्याभिधानम्, तदप्रस्तुतार्थप्रतीतिमूलके यथा 'उदयमारूढः' इत्यादिविशेषणविशिष्टः पृथिवीपतिः स्वल्पैरंशैर्धनैर्लोकस्य हृदयं रञ्जयति, एवं तथाभूतश्चन्द्रमा मृदुलैः किरणैः, इत्यादिरूपेण प्रतीयमाने उपमाद्यलङ्कारे तदवश्यंभावरूढीकरणाभिप्रायेण। न तु तत्रापि वस्तुतो व्यञ्जनव्यापारास्तित्वाभिप्रायेण।'

(वृत्तिवार्तिक पृ० १६)

अभिधा के बाद दीक्षित ने लक्षणाशक्ति पर विचार किया है। सर्वप्रथम दीक्षित ने गौणी लक्षणा से सर्वथा भिन्न शक्ति मानने वाले मीमांसकों का खंडन किया है तथा इस बात की स्थापना की है कि सादृश्य भी एक प्रकार का संबंध होने के कारण गौणी का समावेश लक्षणा में ही हो जाता है। सर्वप्रथम लक्षणा के दो भेद किए गये हैं :—गौणी तथा शुद्धा। इसके बाद रूढिमती तथा प्रयोजनवती ये दो भेद किये गये हैं, जिन्हें दीक्षित ने निरूढलक्षणा तथा फललक्षणा कहा है। फललक्षणा के दीक्षित ने सात भेद माने हैं:-(१) जहल्लक्षणा, (२) अजहल्लक्षणा (३) जहदजहल्लक्षणा, (४) सारोपा, (५) साध्यवसाना, (६) शुद्धा तथा (७) गौणी। जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा को ही मम्मटादि लक्षणलक्षणा तथा उपादानलक्षणा कहते हैं। जहदजहल्लक्षणा का संकेत मम्मटादि में नहीं मिलता। वेदांतियों ने 'तत्त्वमसि' 'सोऽयं देवदत्तः' में इस लक्षणाभेद को माना है, जिसे वे भागलक्षणा भी कहते हैं। दीक्षित ने वृत्तिवार्तिक में इसके उदाहरण 'ग्रामो दग्धः,' 'पुष्पितं वनम्' दिये हैं। जब गाँव के किसी हिस्से में आग लग जाने पर हम कहते हैं 'गाँव जल गया' तो यहाँ जहदजहल्लक्षणा ही है, क्योंकि 'ग्राम' पद के एक अंश का हम ग्रहण करते हैं, एक अंश का त्याग कर देते हैं। इसी तरह वन के कुछ भाग के पुष्पित होने पर 'वन पुष्पित हो गया' कहने में भी यही लक्षणा होगी।

दीक्षित ने बताया है कि गौणी में केवल सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो ही भेद होते हैं, जबकि शुद्धा में जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा, सारोपा तथा साध्यवसाना ये पाँच भेद होते हैं। इस तरह लक्षणा के सात भेद होंगे। कुछ लोग गौणी में भी जहल्लक्षणादि भेद मानते हैं। दीक्षित इस मत से सहमत नहीं तथा इस मत का खण्डन करते हैं। (दे० वृत्तिवार्तिक पृ० २२)।

अप्पय दीक्षित और काव्य का वर्गीकरण :—दीक्षित ने मम्मटादि के अनुसार ही काव्य तीन प्रकार का माना है, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग तथा चित्रकाव्य। चित्रमीमांसा के प्रस्तावना भाग में दीक्षित ने तीनों प्रकार के काव्यों का अतिसंक्षिप्त उल्लेख किया है। अर्थचित्र का प्रपंच आरम्भ करने के लिए काव्य के इस त्रिविध वर्गीकरण का संकेत कर देना आवश्यक हो जाता है। इसीलिए प्रसंगवश दीक्षित ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग का भी कुछ संकेत कर देते हैं। इस संबंध में दीक्षित की निजी मान्यताएँ कुछ नहीं जान पड़तीं वे प्राचीन ध्वनिवादी आचार्यों का ही अनुसरण करते हैं।

दीक्षित ने ध्वनिकाव्य वहाँ माना है, जहाँ काव्यवाक्य का व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट हो। (यत्र वाच्यातिशायि व्यंग्यं स ध्वनिः—चित्र० पृ० २) इसके तीन उदाहरण दिये गये हैं, जिनमें दिङ्मात्र उदाहरण यह है :—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥

'क्षण भर के लिए पार्वती की सघन बरौनियों पर ठहरे हुए, उसके ओठ पर गिरकर बाद में उन्नत पयोधर पर गिरने से चूर्ण विचूर्ण प्रथम वर्षाबिंदु उसके त्रिवलि पर लुढक कर बहुत देर में जाकर नाभि में पहुँच गये।'

इस पद में कविने वर्षाबिंदुओं की गति के द्वारा एक ओर पार्वती के तत्तदंगों की सुन्दरता—बरौनियों की सघनता, अधर की कोमलता, पयोधर की कठिनता, त्रिवलि की तरंगमयता तथा नाभि की गम्भीरता—की व्यंजना कराई है, दूसरी ओर प्रथम वृष्टि के समय भी पार्वती की समाधि निश्चल बनी रहती है, इसकी भी व्यंजना कराई है। यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट होने के कारण ध्वनि काव्य है। ध्वनि काव्य का एक अन्य उदाहरण 'निःशेषच्युतचंदनं' आदि प्रसिद्ध पद्य दिया गया है, जिसकी व्याख्या करते समय दीक्षित ने इस तरह विवेचना की है कि अलंकार ग्रन्थों में एक विवाद खड़ा हो गया है। दीक्षित ने जिस ढंग से इस पद्य की व्याख्या की है उस ढंग से व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक बन बैठता है तथा उक्त पद्य में ध्वनि काव्य न रहकर गुणीभूतव्यंग्य हो जाता है। पंडितराज ने दीक्षित की इस व्याख्या का खण्डन किया है तथा उक्त पद्य की यथोचित व्याख्या की है। (इसके लिए दे० चित्र० पृ० ३. तथा रसगंगाधर पृ० १५-१९)।

गुणीभूत व्यंग्य काव्य वहाँ होता है, जहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट नहीं होता। (यत्र व्यंग्यं वाच्यानतिशायि तद्गुणीभूतव्यंग्यम्।—चित्र० पृ० ४) इसके दो उदाहरण दिये गये हैं। एक उदाहरण यह है :—

> प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
> किमुत सकले याते वाह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि।
> इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
> हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः॥

'हे प्रिय तुम एक पहर बाद लौट आवोगे ना? मध्याह्न में तो आ जावोगे ना? अपराह्न में तो अवश्य.आ ही जावोगे ना? अथवा शाम तक सूर्य के छिपने तक लौट आवोगे?—इस तरह के वचनों को कहती प्रिया बहुत दूर (सैंकड़ों दिन में प्राप्य) देश जाने के लिए उद्यत प्रिय के गमन को आँखों से आँसू गिराती रोक रही है।'

दीक्षित के मतानुसार यहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य है। इसका व्यंग्यार्थ है—'मैं दिन के बाद प्राणों को नहीं रोक सकूँगी' और वाच्यार्थ है प्रिय गमन का निवारण। उक्त व्यंग्यार्थ यहाँ वाच्यार्थ का उपस्कारक है, अतः यह गुणीभूतव्यंग्य काव्य है। पंडितराज ने दीक्षित की इस व्याख्या का भी खंडन किया है। वे यहाँ ध्वनिकाव्य मानते हैं, क्योंकि इस पद्य में विप्रलंभशृङ्गार रूप असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि विद्यमान है, जो उक्त वाच्यार्थ से उत्कृष्ट है। अतः यहाँ मध्यम काव्य मानना दीक्षित की असहृदयता है। पंडितराज का मत विशेष समीचीन है।

तीसरा काव्य चित्रकाव्य है। 'जहाँ अव्यंग्य (किंचित् व्यंग्यार्थ) होते हुए भी वाच्यार्थ सुन्दर हो, वहाँ चित्रकाव्य होता है'। (यदव्यंग्यमपि चारु तच्चित्रम्।—चित्र० पृ० ५) इसके तीन प्रकार होते हैं :—१. शब्दचित्र अर्थात् शब्दालंकार प्रधान काव्य, २. अर्थचित्र अर्थात् अर्थालंकार प्रधान काव्य, ३. उभयचित्र अर्थात् शब्दार्थोभयालंकार प्रधान काव्य। दीक्षित ने इन तीनों का एक एक उदाहरण दिया है। दिङ्मात्र के लिए उभयचित्र काव्य का उदाहरण निम्न है :—

वराहः कल्याणं वितरतु स वः कल्पविरमे,
विनिर्धुन्वन्नौदन्वतमुदकमुर्वीमुदवहत् ।
खुराघातत्रुट्यत्कुलशिखरिकूटप्रविलुठ—
च्छिलाकोटिस्फोटस्फुटघटितमंगल्यपटहः ॥

प्रलयकाल में समुद्र के जल को हिलाते, पृथ्वी को धारण करते, वे वराह भगवान् ; जिनके खुरपुटों की चोट से कुलपर्वतों की चोटियों की शिलाओं के अग्रभाग के चूर्ण विचूर्ण होने से मंगलपटह की ध्वनि पैदा की गई हैं ; आप लोगों को कल्याण प्रदान करें ।

इस पद्य में एक ओर अनुप्रास नामक शब्दालंकार है, दूसरी ओर निदर्शना नामक अर्थालंकार । अतः यह उभयचित्र काव्य है । यद्यपि इस पद्य में कवि का वराहविषयक रतिभाव (व्यंग्यार्थ) व्यंजित होता है, तथापि वह नगण्य है तथा वास्तविक चारुता उक्त अलंकारों की ही है । अतः वाच्यार्थ प्रधान होने के कारण यह चित्रकाव्य है ।

(३)

अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द का अलंकारशास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस ग्रन्थ में अप्पय दीक्षित के पूर्व के प्रायः सभी आलंकारिकों के द्वारा उद्भावित अलंकारों का विवेचन पाया जाता है । कुवलयानन्द में लगभग १२३ अलंकारों का विवरण पाया जाता है, जिसमें चन्द्रालोककार जयदेव के द्वारा निर्दिष्ट सभी अर्थालंकार आ जाते हैं । दीक्षित ने जयदेव या शोभाकर आदि की भाँति कुवलयानन्द में शब्दालंकारों का विवरण नहीं दिया है । न इनका विचार चित्रमीमांसा में ही किया गया है । चित्रमीमांसा में दीक्षित ने बताया है कि शब्दचित्र काव्य—शब्दालंकारप्रधान काव्य—नीरस होता है, अतः कविगण उसे विशेष आदर की दृष्टि से नहीं देखते, साथ ही शब्दालंकारों के संबंध में विशेष विचारणीय विषय भी नहीं है, इसलिये हमने शब्दालंकारों को छोड़कर यहाँ (चित्रमीमांसा में) केवल अर्थालंकारों की विस्तृत मीमांसा करने का उपक्रम किया है ।

'शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यत इति शब्दचित्रांशमपहायार्थचित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते ।'

(चित्रमीमांसा पृ० ५)

जैसा कि प्रसिद्ध है कुवलयानन्द के अर्थालंकार विचार का उपजीव्य चन्द्रालोक का अर्थालंकार प्रकरण है । अप्पय दीक्षित ने जयदेव के ही लक्ष्यलक्षण श्लोकों को लेकर उनपर अपना निजी पल्लवन किया है । जयदेव का चन्द्रालोक अनुष्टुप् छन्द में लिखा ग्रन्थ है, जिसके पूर्वार्ध में लक्षण तथा उत्तरार्ध में लक्ष्य (उदाहरण) पाया जाता है । चन्द्रालोक के पंचम मयूख में जयदेव ने १०४ अलंकारों का विचार किया है, जिनमें ८ शब्दालंकार हैं—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास, पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक तथा चित्रालङ्कार । इसके बाद ९६ अर्थालङ्कारों का विवेचन पाया जाता है । कुवलयानन्दकार ने इन अलङ्कारों में से कई के नये भेदों की कल्पना की है तथा इनसे इतर १७ नये अलङ्कारों का संकेत किया है । परिशिष्ट में अप्पय दीक्षित ने ७ रसवदादि अलङ्कारों तथा १० प्रमाणाअलङ्कारों को भी अलङ्कार कोटि में माना है । चन्द्रालोककार ने भी सात रसवदादि अलङ्कारों का संकेत किया है, पर वे इसे दूसरों का मत बताते हैं । जिससे पता चलता है, जयदेव को इनका अलङ्कारत्व अभीष्ट नहीं ।

रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमयाभिधाः ।
भावानामुदयः सन्धिः शवलत्वमिति त्रयः ॥
अलंकारानिमान् सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः ॥ (चन्द्रालोक ५.११८)

जयदेव ने प्रत्यक्षादि १० प्रमाणों को अलङ्कार नहीं माना है । इससे स्पष्ट है कि दीक्षित जयदेव के अतिरिक्त अन्य आलङ्कारिकों के भी ऋणी हैं । दीक्षित ने खास तौर पर चार आलङ्कारिकों के विचारों से लाभ उठाया है :—भोजराज, रुय्यक, जयदेव तथा शोभाकर । इनके अतिरिक्त दीक्षित ने कुछ अन्य आलङ्कारिकों के विचारों को भी अपनाया है, जिनका आज हमें पता नहीं है । इन्हीं में से एक महत्त्वपूर्ण कृति अज्ञातनामा लेखक का 'अलङ्कारभाष्य' रहा होगा, जिसका संकेत विमर्शिनीकार जयरथ तथा पंडितराज दोनों ने किया है । अर्थालङ्कारों की तालिका में दीक्षित ने जिन नये तथा चन्द्रालोक से अधिक अलङ्कारों की उद्भावना की हैं, वे निम्न हैं ।

१ प्रस्तुतांकुर, २ अल्प, ३ कारकदीपक, ४ मिथ्याध्यवसिति, ५ ललित, ६ अनुज्ञा, ७ मुद्रा, ८ रत्नावली, ९ विशेषक, १० गूढोक्ति, ११ विवृतोक्ति, १२ युक्ति, १३ लोकोक्ति, १४ छेकोक्ति, १५ निरुक्ति, १६ प्रतिषेध, १७ विधि ।

इन अलङ्कारों की कल्पना का श्रेय दीक्षित को नहीं दिया जा सकता । वस्तुतः दीक्षित एक संग्राहक मात्र हैं । उपर्युक्त अलङ्कारों में ललित तथा अनुज्ञा दो अलङ्कार ऐसे हैं, जिनका उल्लेख पंडितराज जगन्नाथ ने भी किया है तथा अनुज्ञा के विरोधी तिरस्कार अलंकार का भी विवेचन किया है, जिसका संकेत कुवलयानन्द में नहीं मिलता । कुवलयानन्द का कारकदीपक अलंकार कोई नया अलंकार न होकर दीपक का वह भेद है, जहाँ कारक वाला दीपक अलंकार का भेद पाया जाता है। चूँकि इस भेद में गम्योपम्य नहीं पाया जाता, इसलिये अप्पय दीक्षित ने इसे अलग से अलंकार माना है तथा इसका संकेत वाक्यन्यायमूलक अलंकारों के साथ किया है। दीक्षित के अन्य उपर्युक्त अलंकारों में कुछ का हवाला भोजराज, शोभाकर तथा यशस्क में पाया जाता है । हम यहाँ प्रत्येक अलंकार को लेकर उसका संक्षिप्त विवरण देने की चेष्टा करेंगे ।

१. प्रस्तुतांकुर :—प्रस्तुतांकुर अलंकार का संकेत हमें कुवलयानन्द ही में मिलता है । रुय्यक, जयदेव, शोभाकर या पंडितराज किसी ने भी इस अलंकार को नहीं माना है। प्रस्तुतांकुर अलंकार का संबंध अप्रस्तुतप्रशंसा से जोड़ा जा सकता है । अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्यरूप अप्रस्तुत वृत्तांत के द्वारा व्यंग्य रूप प्रस्तुत वृत्तांत की व्यञ्जना होती है । यह अप्रस्तुत वृत्तांत किसी न किसी रूप में प्रस्तुत वृत्तांत से संबद्ध होता है, या तो उनमें कार्यकारणसंबंध होता है, या सामान्य विशेष-संबंध या फिर वे समान (तुल्य) होते हैं । इस तरह प्रथम दो संबंधों में कारण से कार्य की व्यंजना, कार्य से कारण की व्यंजना, विशेष से सामान्य की व्यंजना, सामान्य से विशेष की व्यंजना तथा तुल्य से तुल्य की व्यञ्जना—ये पाँच अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकार माने जाते हैं । अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्यार्थ सदा अप्रस्तुतपरक होता है । किंतु कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि पद्य में दो अर्थ होते हैं, एक वाच्यार्थ, दूसरा व्यंग्यार्थ तथा दोनों अर्थ प्रस्तुत होते हैं । ऐसी दशा में प्रस्तुत कार्यकारणादि से प्रस्तुत कार्यकारणादि की व्यंजना पाई जाती है । इस स्थल में समासोक्ति अलंकार तो हो नहीं सकता, क्योंकि यहाँ एक प्रस्तुत अर्थ व्यंग्य होता है, साथ ही यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा भी नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ वाच्यार्थ अप्रस्तुत होता है, जब कि यहाँ वह प्रस्तुत होता है । ऐसी स्थिति में यहाँ कोई नया अलंकार मानना होगा । इसी को दीक्षित प्रस्तुतांकुर कहते हैं । मान लीजिये किसी नायिका ने किसी व्यक्ति को दुश्चरित्रा रमणी के साथ उद्यान में रमण करते देखा, उसने उसे सुना

कर पास नें केतकी पर बैठे भौंरे से कहा—'भौंरे, इस कांटों से भरी केतकी से क्या, जब कि मालती मौजूद है'। तो यहाँ भ्रमर वृत्तान्त (वाच्य) तथा कामुकवृत्तान्त (व्यंग्य) दोनों प्रस्तुत हैं, अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा से भिन्न चमत्कार होने से अन्य ही अलंकार मानना होगा।

प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः।
किं भृङ्ग, सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया ॥ (का० ६७)

प्रस्तुतांकुर अलंकार के रुचिर उदाहरणों के रूप में हम हिन्दी कृष्णभक्त कवियों के 'भ्रमर-गीत' के पदों का संकेत कर सकते हैं, जहाँ उड़कर आये हुए प्रस्तुत भौंरे के बहाने गोपियों ने प्रस्तुत व्यंग्य रूप में उद्धव की भर्त्सना की है।

प्रश्न होता है, क्या इसे अप्रस्तुतप्रशंसा से भिन्न माना जा सकता है? अन्य आलंकारिकों ने इसे अप्रस्तुतप्रशंसा में ही अन्तर्भावित माना है। उनका मत है कि जहाँ दो प्रस्तुत माने जाते हैं, वहाँ भी कवि की प्रधानविवक्षा एक ही पक्ष में होती है, दोनों में नहीं, अतः प्रधानगौण भाव से एक प्रस्तुत हो ही जाता है। उदाहरण के लिए ऊपर के पद्य में कामुक वृत्तांत में ही कवि तथा वक्री नायिका की प्रधानविवक्षा है, अतः वही प्रस्तुत है, भृङ्ग वृत्तांत गौण होने के कारण अप्रस्तुत ही सिद्ध होता है। इस तरह यहाँ वाच्य (अप्रस्तुत) भृङ्ग वृत्तांत से व्यंग्य (प्रस्तुत) कामुक वृत्तांत की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण घटित हो ही जाता है। फिर प्रस्तुतांकुर जैसे नये अलंकार की कल्पना करने की आवश्यकता क्या है?

पंडितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर के अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरण में प्रस्तुतांकुर को अलग से अलंकार मानने का खंडन किया है।

'एतेन' द्वयोः प्रस्तुतत्वे प्रस्तुतांकुरनामान्योऽलंकारः इति कुवलयानन्दाद्युक्तमुपेक्षणीयम्। किंचिद्वैलक्षण्यमात्रेणैवालंकारान्तरताकल्पने वाग्भंगीनामानन्त्यादलंकारानन्त्य-प्रसंग इत्यसकृदावेदितत्वात्।' (रसगंगाधर पृ० ५४५)

नागेश ने भी काव्यप्रदीप की टीका उद्योत में कुवलयानन्दकार का खण्डन किया है। वे बताते हैं कि या तो यहाँ कुछ लोगों के मत से समासोक्ति अलंकार माना जा सकता है, क्योंकि भ्रमरवृत्तांत प्रस्तुत है तथा नायकनायिकावृत्तांत उसकी अपेक्षा गुणीभूतव्यंग्य हो गया है, या यहाँ नायकनायिका वृत्तांत में कवि की प्रधान विवक्षा मानने पर तथा उसे व्यंग्य मानने पर भ्रमरविषयक वृत्तांत गौण तथा अप्रस्तुत हो जाता है, इस तरह यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा होगी। नागेश को द्वितीय विकल्प (अप्रस्तुतप्रशंसा) ही स्वीकार है।

'अत्रेदं बोध्यम्—अप्रस्तुतपदेनमुख्यतात्पर्यविषयीभूतार्थातिरिक्तोऽर्थो ग्राह्यः। एतेन—किं भृङ्ग सत्यां मालत्यां केतक्या कंटकेद्धया' इत्यत्र प्रियतमेन साकमुद्याने विहरंती काचिद् भृङ्गं प्रत्येनमाहेति प्रस्तुतेन प्रस्तुतांतरद्योतने प्रस्तुतांकुरनामा भिन्नोऽलंकार इत्यपास्तम्। मदुक्तरीत्यास्या एव संभवात्। यदा मुख्यतात्पर्यविषयः प्रस्तुतश्च नायिकानायकवृत्ता-न्ततदुत्कर्षतया गुणीभूतव्यंग्यस्तदाऽत्र सादृश्यमूला समासोक्तिरेवेति केचित्। अन्येत्वप्र-स्तुतेन प्रशंसेत्यप्रस्तुतप्रशंसाशब्दार्थः। एवं च वाच्येन व्यंग्येन वाऽप्रस्तुतेन वाच्यं व्यक्तं वा प्रस्तुतं यत्र सादृश्याद्यन्यतमप्रकारेण प्रशस्यत उत्कृष्यत इत्यर्थादपीयमेवेत्याहुरिति दिक्॥

(उद्योत पृ० ४९०)

२. अल्प :—दीक्षित के द्वारा निर्दिष्ट 'अल्प' अलंकार मम्मटादि के द्वारा वर्णित 'अधिक' अलंकार का विरोधी है। अधिक अलंकार वहाँ माना जाता है, जहाँ अत्यधिक विशाल आधार होने

पर भी आधेय को उससे अधिक बताया जाय, अथवा जहाँ विशाल आधेय से भी आधार की अधिकता बताई जाय। अल्प अलंकार इसी का उलटा है, जहाँ अत्यंत अल्प आधेय से भी आधार की अल्पता वर्णित की जाय।[1] जब हनुमान् सीता से कहते हैं कि राम तुम्हारे विरह में इतने कृश हो गये हैं कि उनके हाथ की मुँदरी कंकण हो गई है, तो यहाँ अल्प अलंकार है। यहाँ हाथ की मुँदरी (आधेय) सूक्ष्म है किन्तु कर (आधार) की अति-सूक्ष्मता वर्णित की गई है।

तुम पूछत कहि मुद्रिके मौन होति या नाम।
कंकन् पदवी दई तुम बिन या कह राम॥

पंडितराज जगन्नाथ ने इस अलंकार का कोई संकेत नहीं किया है। उनकी अधिक अलंकार की परिभाषा से पता चलता है कि वे अल्प का समावेश भी अधिक में ही करते हैं।

आधाराधेययोरतिविस्तृतत्वसिद्धिफलकमितरस्यातिन्यूनत्वकल्पनमधिकम्।

(रसगंगाधर पृ० ६१०)

अलंकारकौस्तुभकार विश्वेश्वर तथा उद्योतकार नागेश ने दीक्षित के अल्प अलंकार का खण्डन किया है। उनकी दलील है कि जहाँ आधार या आधेय में से किसी एक की दूसरे की अपेक्षा अत्यधिक सूक्ष्मता बताई जाती है, वहाँ प्रकारान्तर से किसी एक के महत्त्व या आधिक्य की ही प्रतीत होती है, जैसे, यदि हम कहें कि विरहिणी नायिका के हाथ का अंगुलीयक उसके हाथ में जपमाल के सदृश हो गया, तो यहाँ कर की अत्यधिक सूक्ष्मता के वर्णन से अंगुलीयक की अधिकता (महत्ता) ही प्रतीत होती है, अतः कर (आधार) अंगुलीयक (आधेय) की महत्त्व-कल्पना होने के कारण 'अधिक' का लक्षण ठीक बैठ ही जाता है। अतः इन प्रकरणों में वास्तविक चमत्कार किसी एक पदार्थ के 'आधिक्य' में ही पर्यवसित हो जाता है। इससे अल्प को अधिक से भिन्न अलंकार मानना अयुक्तिसंगत है।

'अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता। मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते॥' अत्रांगुलीयकस्य सूक्ष्मपरिमाणत्वेऽपि तदपेक्षया करस्य सूक्ष्मत्वं वर्णितमित्यल्पाख्यमलंकारांतरमिति, तच्चिन्त्यम्। आधारापेक्षया आधेयस्य महत्त्वकल्पनारूपाधिक्यभेद एव पर्यवसानात्॥ (अलंकारकौस्तुभ पृ० ३८०)

इसी बात को उद्योत में नागेश ने भी संकेतित किया है :—

'तेन यत्र सूक्ष्मत्वातिशयवत आधाराधेयाद्वा तदन्यतरस्यातिसूक्ष्मत्वं वर्ण्यते तत्राप्याधिक्यम् (अधिकं), यथा—'मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते' अत्र मणिमालामयी ऊर्मिका अंगुलीमितत्वादतिसूक्ष्मा, साऽपि विरहिण्याः करे तत्कंकणवत्प्रवेशिता। तस्मिञ्जपमालावदवलम्बते इत्युक्त्या ततोऽपि करस्य विरहकार्श्यादतिसूक्ष्मता दर्शिता। एतेन ईदृशे विषयेऽल्पं नाम पृथगलंकार इत्यपास्तम्॥ (उद्योत पृ० ५५९)

३. कारकदीपक :—कारकदीपक का संकेत हम कर चुके हैं कि यह कोई नया अलंकार नहीं है, अपितु प्राचीन आलंकारिकों ने इसे दीपक का ही एक प्रकार माना है।

४. मिथ्याध्यवसिति :—दीक्षित ने मिथ्याध्यवसिति वहाँ मानी है, जहाँ किसी मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए दूसरे मिथ्यात्व की कल्पना की जाय। जैसे जो व्यक्ति गगनकुसुमों की माला पहनता

---

१. अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता।
मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते॥ (का० ९७) (कुवलयानंद पृ० १६७)

है, वही वेश्या को वश मे कर सकता है।[1] यहाँ वेश्या को वश में करना मिथ्या है, इसके लिए कवि ने 'गगनकुसुमवहन' रूप अन्य मिथ्यात्व की कल्पना की है। पंडितराज ने इस अलंकार का खण्डन किया है तथा वे इसका समावेश प्रौढोक्ति में करते हैं :—'एकस्य मिथ्यात्वसिद्धयर्थं मिथ्याभूतवस्त्वंतरकल्पनं मिथ्याध्यवसिताख्यमलंकारान्तरमिति न वक्तव्यम् प्रौढोक्त्यैव गतार्थत्वात्'। (रसगंगाधर पृ० ६७३) पंडितराज ने यहाँ यह दलील भी दी है कि मिथ्याध्यवसिति को अलग अलंकार मानने पर तो सत्याध्यवसिति को भी एक अलंकार मानना चाहिए। साथ ही पंडितराज 'वेश्यां वशयेत् खस्रजं वहन्' में उक्त अलंकार न मानकर निदर्शना मानते हैं। (दे०—कुवलयानन्द हिंदी व्याख्या, टिप्पणी पृ० २१२), दीक्षित के इस अलंकार का खण्डन कौस्तुभकार विश्वेश्वर ने भी किया है। वे इसका समावेश अतिशयोक्ति में करते हैं। अतिशयोक्ति प्रकरण के अंत में विश्वेश्वर ने दीक्षित के तीन अलंकारों—प्रौढोक्ति, संभावन तथा मिथ्याध्यवसिति—का, जिनमें प्रथम दो को जयदेव तथा प्रौढोक्ति को पंडितराज भी मानते हैं, खंडन किया है। विश्वेश्वर ने मिथ्याध्यवसिति का अन्तर्भाव 'यद्यर्थोक्तौ कल्पनम्' वाली मम्मटोक्त तृतीय अतिशयोक्ति में किया है :—

यत्तु—असंबंधे संबंधरूपातिशयोक्तितः किंचिन्मिथ्यात्वसिद्धयर्थं मिथ्यार्थांतरकल्पनाविच्छित्तिविशेषेण मिथ्याध्यवसितेर्भिन्नत्वमिति, तदसत्। यद्यर्थोक्तिरूपातिशयोक्तेर्विशेषस्य दुर्वचत्वात्।' (अलंकारकौस्तुभ पृ० २८४) वस्तुतः मिथ्याध्यवसिति का अतिशयोक्ति में ही समावेश करना न्याय्य है।

५. ललित :—ललितालंकार का संकेत केवल दो ही आलंकारिकों में पाया जाता है—अप्पय दीक्षित तथा पंडितराज। ललित अलंकार का संकेत रुय्यक, जयदेव, शोभाकर, या यशस्क किसी में नहीं मिलता। ललित अलंकार निदर्शना का ही एक प्ररोह माना जा सकता है, जिसे दीक्षित तथा पंडितराज दोनों ने कई दलीलें देकर स्वतन्त्र अलंकार सिद्ध किया है। निदर्शना गम्यौपम्य कोटि का अलंकार है। जहाँ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में परस्पर वस्तुसंबंध के होने पर या न होने पर बिंबप्रतिबिंबभाव से दोनों का उपादान किया जाय तथा उनमें ऐक्य समारोप हो, वहाँ निदर्शना पाई जाती है। इस प्रकार निदर्शना में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों शब्दोपात्त होते हैं। कभी-कभी कवि ऐसा करता है कि प्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन करते हुए उससे संबंध विषय या धर्म का वर्णन न कर उसके प्रतिबिंबभूत अन्य धर्म का वर्णन कर देता है,[2] ऐसी स्थिति में निदर्शना तो होगी नहीं, क्योंकि कवि ने दोनों—प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत—विषयों का पूर्णतः वर्णन नहीं किया है; अतः यहाँ दीक्षित ललित अलंकार मानते हैं। उदाहरण के लिए हम कालिदास का निम्न पद्य ले लें:—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥

'कहाँ सूर्यकुलोत्पन्न रघुवंशी राजाओं का वंश और कहाँ मेरी तुच्छ बुद्धि? मैं तो मूर्खता से किसी डोंगी से समुद्र तैरने की इच्छा कर रहा हूँ।'

---

१. किंचिन्मिथ्यात्वसिद्धयर्थं मिथ्यार्थांतरकल्पनम्।
मिथ्याध्यवसिति वेश्यां वशयेत् खस्रजं वहन्॥ (कुवलयानन्द पृ० २१२)

२. वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिंबस्य वर्णनम्।
ललितं निर्गते नीरे सेतुमेषा चिकीर्षति॥

यहाँ प्रस्तुत वर्ण्यविषय अल्पविषयक बुद्धि से सूर्य वंश का वर्णन करना है। तुच्छ बुद्धि से सूर्यकुल के वर्णन का उपक्रम करना, छोटी सी डोंगी से समुद्र को तैरने की इच्छा करना है। यहाँ कवि ने वर्ण्य विषय के धर्म 'सूर्यवंश का वर्णन करने' का उल्लेख न कर उसके प्रतिविम्ब 'डोंगी से समुद तैरने की इच्छा' का वर्णन किया है।[1] अतः यहाँ निदर्शना नहीं है, ललित है। यदि यहाँ कवि यों कहता—'मेरा अल्पविषयक बुद्धि से सूर्य वंश का वर्णन करने का उपक्रम करना उडुप से सागर की तैरने की इच्छा करना है'—तो निदर्शना हो सकती थी।

मम्मटादि ने ललितालङ्कार नहीं माना है, वस्तुतः वे यहाँ निदर्शना ही मानते हैं। नव्य आलङ्कारिकों का भी एक दल ललित अलङ्कार को नहीं मानता। स्वयं पंडितराज ने ही इनके मत का उल्लेख किया है। इन लोगों के मतानुसार ललित तथा निदर्शना के स्वरूप में कोई विलक्षणता नहीं पाई जाती, अतः इन्हें अभिन्न ही मानना चाहिए। **'निदर्शनाललितयोस्तु स्वरूपावैलक्ष्ण्यं प्रदर्शितमित्येकालंकारत्वमेव' इत्याहुः।** (रस० पृ० ६७७) इस पक्ष के विद्वानों का कथन है कि ललित का समावेश आर्थी निदर्शना में मजे से हो सकता है। अलंकारकौस्तुभकार विश्वेश्वर का यही मत है। कौस्तुभ के निदर्शनाप्रकरण में ललितालंकार को मानने वाले पूर्वपक्षी के मत का विस्तार से उल्लेख कर विश्वेश्वर ने सिद्धांत पक्ष यही स्थिर किया है कि ललित अलग से अलंकार नहीं है। वे बताते हैं कि इस विषय में कोई विवाद नहीं कि जहाँ एकधर्मिक प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों के व्यवहारों का उपादान पाया जाय, वहीं निदर्शना होती है तथापि वाक्यार्थनिदर्शना वहाँ होती है, जहाँ दो व्यवहारों के धर्मी में परस्पर अभेद प्रतिपादन करने से उनके दोनों व्यवहारों में भी परस्पर अभेद आक्षिप्त हो जाता है। जब हम देखते हैं कि वाक्यार्थनिदर्शना में धर्मी (प्रस्तुताप्रस्तुत) में अभेद होने से उनके व्यवहार या धर्म में भी अभेद होता है, तो यह जरूरी नहीं है कि यह सामानाधिकरण्य श्रौत (शाब्द) ही हो, यह आर्थ भी हो सकता है। इस तरह प्रस्तुत अर्थ के अनुपादान करने पर भी यदि आर्थ अभेद प्रतीत होता है, तो वहाँ निदर्शना ही मानना उचित होगा। 'क सूर्य'''सागरम्' में यही बात पाई जाती है, यहाँ अल्प बुद्धि से सूर्य वंश वर्णन शब्दतः उपात्त नहीं है, किंतु उसका तथा उडुप के द्वारा समुद्रतितीर्षा का आर्थ अभेद प्रतीत होता ही है, अतः इसमें निदर्शना का लक्षण पूरी तरह घटित हो ही जाता है। यदि केवल इसीलिए ललित को अलग से अलंकार माना जाय कि यहाँ वर्ण्य विषय के धर्म के स्थान पर उसके प्रतिबिंबभूत धर्म का उपादान किया जाता है, तो फिर लुप्तोपमा को भी उपमा से सर्वथा भिन्न अलंकार मानना पड़ेगा।

'यद्यप्येकधर्मिकप्रस्तुताप्रस्तुतव्यवहारद्वयोपादाननिबंधना निदर्शनेत्यत्र विवादाभावः। तथापि व्यवहारद्वयवद्धर्म्यभेदप्रतिपादनाक्षिप्तो व्यवहारद्वयाभेद इति वाक्यार्थनिदर्शनास्वरूपम्। तत्र च प्रतिपादनं श्रौतमेवेत्यत्र नाग्रहः; किंतु प्रतिपादनमात्रम्। एवं च प्रस्तुतार्थस्य शाब्दानुपादानेऽपि आर्थं तदादायैव निदर्शनायामेवतदन्तर्भाव उचितः। अन्यथा लुप्तोपमादेरप्युपमाबहिर्भावापत्तेः।' (अलंकारकौस्तुभ पृ० २६८)

---

१. देखिये—कुवलयानंद पृ० २१८।

साथ ही—'एवं च 'क सूर्य सागरम्' इत्यत्र काव्यप्रकाशकारो यन्निदर्शनामुदाहार्षीत्तदसंगतमेव। ललितस्यावश्याभ्युपगम्यत्वान्निदर्शनाया अत्राप्राप्तेश्च। तदित्थं ललितस्यालंकारान्तरतां कुर्वतामाशयः।' (रसगंगाधर पृ० [illegible])

स्पष्ट है, विश्वेश्वर यहाँ आर्थी निदर्शना ही मानते हैं। ठीक यही मत नागेश का है। उद्योत में वे ललित का खण्डन करते हैं :—

'नितरां निर्गते नीरे सेतुमेषा चिकीर्षति' इत्यादौ किंचिद्दाक्षिण्यसमागततत्कालोपेक्षित-प्रतिनिवृत्तनायिकान्तरासक्तनायकानयनार्थं सखीं प्रेषयितुकामां नायिकामुद्दिश्य सख्या वचनेऽप्यार्थी निदर्शनैव। एतेनात्र ललितालंकारः। वर्णनीयवाक्यार्थमनुक्त्वैव वर्ण्ये धर्मिणि तत्स्वरूपस्य कस्यचिदप्रस्तुतवाक्यार्थस्य वर्णनरूप इत्यपास्तम्।' (उद्योत पृ० ४८१)

६. अनुज्ञा :—दीक्षित तथा पंडितराज दोनों ने ही अनुज्ञा अलंकार का संकेत किया है। अनुज्ञा अलंकार वहाँ माना जाता है, जहाँ किसी दोष की इच्छा इसलिए की जाती है कि उस दोष में किसी विशेष गुण की स्थिति होती है। पंडितराज ने इसके ठीक विरोधी अलंकार 'तिरस्कार' का भी संकेत किया है, जहाँ किसी गुण की भी अनिच्छा इसलिए की जाती है कि उसमें किसी दोष की स्थिति होती है। दीक्षित ने तिरस्कार का उल्लेख नहीं किया है और इसके लिये पंडितराज ने दीक्षित की आलोचना भी की है। (देखिये—कुवलयानन्द-हिंदी व्याख्या, टिप्पणी पृ० २२८) अन्य किन्हीं आलंकारिकों ने इसका संकेत नहीं किया है।

७. मुद्रा, ८. रत्नावली :—दीक्षित के ये दो अलंकार जयदेव आदि किसी आलंकारिक में नहीं मिलते। मुद्रा अलंकार वहाँ माना गया है, जहाँ प्रस्तुतार्थपरक पदों के द्वारा सूच्य अर्थ की व्यंजना कराई जाय। रत्नावली अलंकार वहाँ होता है, जहाँ प्रकृत अर्थों का न्यास इस क्रम से किया जाय, जैसा कि वह लोकशास्त्रादि में पाया जाता है। मुद्रा अलंकार का संकेत हमें भोजराज के सरस्वतीकंठाभरण से मिलता है। भोजराज ने मुद्रा को अर्थालंकार न मानकर शब्दालंकार माना है तथा अपने २४ शब्दालंकारों में इसका भी वर्णन किया है। भोजराज के मतानुसार जहाँ किसी वाक्य में साभिप्राय वचन का संनिवेश किया जाय, वहाँ मुद्रा होती है, इसे मुद्रा इसलिये कहा जाता है कि यह सहृदयों को 'मुद्' (प्रसन्नता) देती है।[1]

साभिप्रायस्य वाक्ये यद्वचसो विनिवेशनम्।
मुद्रां तां मुत्प्रदायित्वात्काव्यमुद्राविदो विदुः॥ (सरस्वतीकंठाभरण २.४०)

भोजराज ने इसके छः भेद माने हैं—पदगत, वाक्यगत, विभक्तिगत, वचनगत, समुच्चयगत तथा संवृतिगत। (२.४१) रत्नावली अलंकार भोज में भी नहीं मिलता। किंतु भोजराज के 'गुम्फना' नामक शब्दालंकार में एक भेद 'क्रमकृता गुम्फना' है। जहाँ एक वाक्य में शब्दार्थों की क्रम से रचना की जाय, वहाँ यह भेद होता है।[2] यह क्रम बुधजनप्रसिद्ध या तत्तत् शास्त्रादि प्रसिद्ध हो सकता है। ऐसा जान पड़ता है, दीक्षित के 'रत्नावली' अलंकार का बीज यही है। भोजराज ने 'क्रमकृता गुंफना' का ठीक वही उदाहरण दिया है, जो दीक्षित ने रत्नावली का दिया है, साथ ही इस पद्य की विवेचना में भी भोज ने 'बुधजनप्रसिद्ध क्रम रचना' में ही 'क्रम-गुंफना' मानी है।

'क्रमकृता' यथा—

नीलाब्जानां नयनयुगलद्राघिमा दत्तपत्रः,
कुम्भावेभौ कुचपरिसरः पूर्वपक्षीचकार।

---

१. 'मुदं राति आदत्ते इति मुद्रा' इति व्युत्पत्तेः।
२. दे० सरस्वतीकंठाभरण पृ० १८०–१८१।

भ्रूविभ्रान्तिर्मदनधनुषो विभ्रमानन्ववादी-
द्वक्त्रज्योत्स्नाशशधररुचं दूषयामास तस्याः ॥

अत्र पत्रदानपूर्वपक्षोपन्यासानुवाददूषणोद्भावनानां बुधजनप्रसिद्धक्रमेण रचितत्वादियं क्रमरचना।[1] (सरस्वतीकंठाभरण पृ० १८२)

(९) विशेषक :—विशेषक अलंकार का उल्लेख केवल दीक्षित ने ही किया है। दीक्षित ने मीलित तथा सामान्य नामक अलंकारों के दो विरोधी अलंकारों का उल्लेख किया है—उन्मीलित तथा विशेषक। मीलित तथा उसके विरोधी उन्मीलित का संकेत तो जयदेव ने भी किया है, पर जयदेव ने केवल सामान्य का विवेचन किया है, उसके विरोधी विशेषक का नहीं। सामान्य अलंकार वहाँ होता है, जहाँ दो वस्तुएँ सादृश्य के कारण इतनी घुलमिल जायँ कि उनमें परस्पर व्यक्तिभान न हो सके। इस स्थिति में जहाँ किसी विशेष कारण से व्यक्तिभान हो जाय, वहाँ विशेषक अलंकार माना जाता है। मीलित अलंकार तथा सामान्य अलंकार के संबंध में दीक्षित एवं मम्मट के मत भिन्न-भिन्न हैं। (दे०—कुवलयानन्द, हिन्दी, व्याख्या, टिप्पणी पृ० २४२) इसी दृष्टि से दीक्षित के उन्मीलित तथा विशेषक में भी ठीक वही भेद होगा। मम्मट के मतानुयायी तो उन्मीलित तथा विशेषक अलंकार मानते नहीं हैं। पंडितराज ने भी इनको नहीं माना है तथा इनका समावेश अनुमान में किया है। (दे० हिन्दी कुवलयानन्द टि० पृ० २४३) दीक्षित के इन दोनों अलंकारों का आधार जयदेव का उन्मीलित तथा शोभाकर का 'उद्भेद' नामक अलंकार है। दीक्षित ने इन्हीं के आधार पर सामान्य के विरोधी 'विशेषक' की भी कल्पना की है। मम्मट के मत से सामान्य अलंकार मानने वालों के लिए विशेषक का उदाहरण यह होगा :—

जुवति जोन्ह में मिलि गई नैकु न देत लखाय।
सोंधें के डोरे बँधी अली चली सँग जाय ॥ (बिहारी)

जब कि दीक्षित के मतानुयायी यहाँ विशेषक न मानकर मीलित का विरोधी उन्मीलित मानेंगे। उनके मत से 'विशेषक' का उदाहरण निम्न पद्य होगा, जहाँ मम्मट के मतानुयायी 'उन्मीलित' मानना चाहेंगे :—

चंपक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाय।
जानि परै सिय हियरें जब कुम्हिलाय ॥ (तुलसी)

इसका स्पष्ट प्रमाण अर्जुन दास केडिया का 'भारती-भूषण' है, जहाँ उन्होंने बिहारी के उक्त दोहे में 'उन्मीलित' अलंकार माना है।[2] कन्हैयालाल पोद्दार ने काव्यकल्पद्रुम में केडिया जी की तरह दोनों अलंकारों का अलग-अलग से वर्णन न कर केवल उन्मीलित का ही वर्णन किया है तथा वे जयदेव के मत का अनुसरण करते हैं। उन्होंने 'चंपक हरवा' इत्यादि बरवै को उन्मीलित के ही उदाहरण के रूप में लिखा है।[3] हमारे मत से 'चंपक हरवा' में मीलित का विरोधी उन्मीलित है तथा 'जुवति जोन्ह' में सामान्य का विरोधी विशेषक। उद्योतकार ने इन दोनों अलंकारों का निषेध किया है। वे उन्मीलित को मीलित में समाविष्ट करते हैं तथा विशेषक का अन्तर्भाव सामान्य में मानते हैं।

---

१. इस पद्य की व्याख्या के लिये देखिये। (कुवलयानंद, हिंदी व्याख्या पृ० २३४)

२. देखिये—भारतीभूषण पृ० ३२९।

३. दे० काव्यकल्पद्रुम पृ० ३५२।

(१०) गूढोक्ति, (११) विवृतोक्ति :—गूढोक्ति तथा विवृतोक्ति अलंकारों का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। वस्तुतः ध्वनिवादियों की उस वस्तुध्वनि में जहाँ श्लिष्ट पदों का प्रयोग कर वक्ता किसी बात को तटस्थ व्यक्तियों से छिपाने के लिए किसी अभीष्ट व्यक्ति को अपना उद्देश्य प्रकट करता है, कुछ ऐसे आलंकारिकों ने जो ध्वनि को नहीं मानते थे, विवृतोक्ति की कल्पना की होगी। ये आलंकारिक कौन थे, इसका पता नहीं है। इन्हीं आलंकारिकों ने उस स्थल पर जहाँ कवि स्वयं वक्ता के इस प्रकार के श्लिष्ट गुप्त वचन में उसके अभिप्राय को प्रकट कर देता है, विवृतोक्ति मानी है। इस प्रकार गूढोक्ति तथा विवृतोक्ति में बड़ा सूक्ष्म भेद है:— १. उनमें समानता यह है कि दोनों में वक्ता श्लिष्ट वचन का प्रयोग करता है, जिससे तटस्थ या अनभीष्ट श्रोता उसे न समझ पाया; २. दोनों में द्वितीयार्थ प्रतीयमान होता है। इसमें भिन्नता यह है कि गूढोक्ति में कवि पद्य में वक्ता के अभिप्राय का संकेत नहीं करता तथा सहृदय ही प्रकरणादि के कारण यह समझ लेता है कि वक्ता का अभिप्राय इस अर्थद्वय में अमुक है, श्लिष्ट वचन का प्रयोग उसने दूसरों को ठगने के लिये किया है; जब कि विवृतोक्ति में कवि श्लिष्ट वचन में वक्ता के विवक्षित अर्थ को विवृत (प्रकट) कर देता है। ध्यान देने पर पता चलेगा कि यह दोनों भेद ध्वनिवादी की वस्तुध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य में समाहित हो सकते हैं। गूढोक्ति में कुछ नहीं वस्तुध्वनि है। इसका स्पष्टीकरण दीक्षित के द्वारा उदाहृत—**'नाथो मे विपणिं गतो न गणयत्येषा सपत्नी च मां'** इत्यादि पद्य (दे० पृ० २५३) से हो सकता है। विवृतोक्ति में कवि वाच्यार्थ को मुख्य बना देता है, यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक बन जाता है, क्योंकि व्यंग्यार्थ को कवि स्वयं ही प्रकट कर देता है। ऐसी स्थिति में यहाँ गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्य भेद होता है। इसकी पुष्टि दीक्षित के द्वारा विवृतोक्ति के प्रकरण में उदाहृत **'वत्से मा गा विषादं'** **'दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया' 'गच्छाम्यच्युतदर्शनेन भवतः'** इत्यादि पद्यों से होती है, (दे० पृ० २५४-५५) जहाँ आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यंग्यत्व ही माना है। हमारे मत से इन दोनों अलंकारों का क्रमशः ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य में ही समावेश होने से इनकी कल्पना व्यर्थ है। प्रत्येक ध्वनिभेद एवं गुणीभूतव्यंग्यभेद में नवीन अलंकार की कल्पना करने से अलंकारों का आनन्त्य होगा, साथ ही अलंकार्य तथा अलंकार की विभाजक रेखा अस्पष्ट हो जायगी।

१२. युक्ति :—युक्ति भी कुवलयानन्द का नया अलंकार है। वस्तुतः यह कोई नया अलंकार न होकर मम्मटादि के द्वारा वर्णित व्याजोक्ति नामक अलंकार का ही एक प्ररोह मात्र है। व्याजोक्ति तथा युक्ति के परस्पर भेद को बताते हुए दीक्षित लिखते हैं कि जहाँ किसी अन्य हेतु को बताकर उक्ति से किसी रहस्य या आकार को छिपाया जाय, वहाँ व्याजोक्ति अलंकार होता है तथा जहाँ क्रिया के द्वारा किसी रहस्य को छिपाया जाय, वहाँ युक्ति अलंकार होता है। 'व्याजोक्ति में आकार का गोपन किया जाता है, युक्ति में आकार से भिन्न वस्तु का'। (**व्याजोक्तावाकारगोपनं युक्तौ तदन्यगोपनमिति भावः।** (कुवलयानन्द पृ० २५६) इसी प्रकरण में दीक्षित ने एक अन्य मत भी उपन्यस्त किया है, जिसके मतानुसार व्याजोक्ति में रहस्य का गोपन उक्ति (वचन) के द्वारा किया जाता है, युक्ति में क्रिया के द्वारा। (**यद्वा व्याजोक्तावप्युक्त्या गोपनमिह तु क्रियया गोपनम्, इति भेदः।** (कुव० पृ० २५६)

मम्मटादि के अनुगमनकर्ता आलंकारिक युक्ति का समावेश व्याजोक्ति में ही करते हैं। अलंकारकौस्तुभकार विश्वेश्वर ने दीक्षित के मत का उल्लेखकर खंडन किया है तथा बताया है कि व्याजोक्ति का लक्षण युक्ति में भी घटित हो ही जाता है, क्योंकि हमारा व्याजोक्ति का लक्षण यह है कि जहाँ प्रकट होते अर्थ (रहस्य) को किसी व्याज से छिपाया जाता है। (व्याजोक्ति-

विशदीभवदर्थस्यापह्नुतिर्मिपतः। (अलंकारकौस्तुभ पृ० ३५७) साथ ही यदि अलग-अलग प्रकार से रहस्य के गोपन में अलग-अलग अलंकार माने जाते हैं, तो अन्य अलंकारों की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः युक्ति का व्याजोक्ति में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

'यत्तु 'दम्पत्योर्निशि जल्पतो···वाग्बन्धनम्' इत्यत्र युक्तिरलंकारः। व्याजोक्तौ वचसा गोपनम्, इह तु क्रियया, इति द्वयोर्भेद इति। तन्न। व्याजोक्तिलक्षणस्योभयसाधारण्यात्। तन्नोक्तिनिवेशस्य गौरवपराहतत्वात्। अन्यथा प्रकारान्तरेण गोपनस्थलेऽलंकारांतरप्रसंगात्। तत्राप्युक्तक्रियान्यत्वनिवेशस्य सुवचत्वादिति दिक्।' (अलंकारकौस्तुभ पृ० ३५८)

इस संबंध में इतना संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि दीक्षित का 'युक्ति' अलंकार, जो अर्थालंकार है, ठीक इसी नाम वाले भोजराज के शब्दालंकार से भिन्न है। भोजराज के २४ शब्दालंकारों में एक 'युक्ति' भी है। यह शब्दालंकार वहाँ माना गया है, जहाँ परस्पर अयुज्यमान शब्द या अर्थ की योजना की जाती है।[1] इसके छः भेद माने गये हैं:—पदयुक्ति, पदार्थयुक्ति, वाक्ययुक्ति, वाक्यार्थयुक्ति, प्रकरणयुक्ति, प्रबंधयुक्ति। इनके उदाहरण सरस्वतीकंठाभरण में देखे जा सकते हैं। प्रबंधयुक्ति का उदाहरण यह है। मेघदूत में यक्ष के द्वारा मेघ को संदेशवाहक बनाना असंगत प्रतीत होता है, यह अर्थ की अयुज्यमानता है, इसकी योजना करने के लिए कवि ने आरंभ में ही अपने प्रबंध की कथावस्तु को सोपपत्तिक बनाने के लिए इस बात की युक्ति दी है कि 'कामार्त व्यक्ति चेतन तथा अचेतन प्राणियों के परस्पर भेद को जानने में असमर्थ रहते हैं' तथा इस युक्ति से मेघ को संदेशवाहक बनाने की अनुपयुज्यमानता की पुनः योजना कर उसे संगत बना दिया है। अतः निम्न पद्य में युक्ति अलंकार है।

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥

स्पष्ट है, दीक्षित की 'युक्ति' का भोजराज की 'युक्ति' में कोई संबंध नहीं।

१३. लोकोक्ति, १४. छेकोक्ति:—ये दोनों अर्थालंकार भी सर्वप्रथम दीक्षित में ही दिखाई पड़ते हैं। पर इनकी कल्पना का श्रेय भी दीक्षित को नहीं जा पाता। भोजराज ने अपने सरस्वतीकंठाभरण में 'छाया' नामक शब्दालंकार की कल्पना की है। इसी अलंकार के छः भेदों में दो भेद लोकोक्तिच्छाया तथा छेकोक्तिच्छाया है।[2] भोजराज ने लोकोक्तिच्छाया वहाँ मानी है, जहाँ कवि काव्य में लोकोक्ति (मुहावरे) का अनुसरण करता है। इसका उदाहरण भोजराज ने 'शापांतो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा' इत्यादि पद्य की 'लोचने मीलयित्वा' यह लोकोक्ति दी है। दीक्षित ने भी लोकोक्ति अलंकार वहाँ माना है जहां काव्य में लोकोक्ति का प्रयोग किया जाय तथा उनका कारिकार्ध का उदाहरण भी 'लोचने मीलयित्वा' ही है। (दे० कुवलयानंद पृ० २५७) भोजराज ने छेकोक्तिच्छाया वहाँ मानी है, जहाँ कवि काव्य में किसी विदग्ध (छेक) व्यक्ति की उक्ति का अनुसरण करता है, दीक्षित की छेकोक्ति की कल्पना का आधार तो भोजराज का ही मत है, किंतु दीक्षित ने इसे कुछ परिवर्तित कर दिया है। दीक्षित के मत से लोकोक्ति के एक विशेष प्रकार का

१. दे० सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० १७२।
२. दे० सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० १६४–१६५

प्रयोग छेकोक्ति है। जब कोई विदग्ध (छेक) वक्ता किसी लोकोक्ति का प्रयोग कर किसी अन्य गूढ़ अर्थ की व्यंजना कराना चाहता है, तो वहां छेकोक्ति होती है। इस तरह दीक्षित की छेकोक्ति लोकोक्ति का प्ररोह मात्र है, जब कि भोजराज की छेकोक्ति लोकोक्ति से संश्लिष्ट नहीं होती। दीक्षित तथा भोज की छेकोक्ति में समानता इतनी है कि दोनों का प्रयोक्ता कोई विदग्ध व्यक्ति होता है।

१५. निरुक्ति :—निरुक्ति अलंकार का संकेत अन्यत्र नहीं मिलता। यह अलंकार वहाँ माना गया है, जहाँ किसी नाम का यौगिक अर्थ लेकर अर्थ की कल्पना की जाय। निरुक्ति को अलग से अलंकार मानना ठीक नहीं। इसका समावेश काव्यलिंगादि अन्य अलंकारों में हो सकता है।

१६ प्रतिषेध, १७ विधि :—जहाँ प्रसिद्ध निषेध का पुनः निषेध किया जाय, वहाँ प्रतिषेध अलंकार होता है। विधि अलंकार इसका ठीक विरोधी है, यहाँ सिद्ध वस्तु की सिद्धि करने के लिए पुनः विधान किया जाता है। (इनके परिचय के लिये—दे० कुवलयानंद पृ० २६४–६५) इन अलंकारों का जयदेव में कोई उल्लेख नहीं है। शोभाकरमित्र के अलंकार-रत्नाकर में 'विधि' नामक अलंकार का उल्लेख अवश्य है। शोभाकर के मत से 'विधि' अलंकार वहाँ होता है, जहाँ किसी असंभाव्य हेतु या फल के प्रति चेष्टा विवक्षित की जाय। (**असंभाव्य-हेतुफलप्रेषणं विधिः—सूत्र ८२**) इसके दो भेद होंगे :—१. असंभाव्यहेतुप्रेषण, २. असंभाव्यफल-प्रेषण। इसमें प्रथम भेद का उदाहरण निम्न पद्य है, जहाँ लक्ष्मण ने पृथ्वी, शेष, कूर्मराज, दिग्गज आदि से स्थैर्य धारण करने को कहा है। यहाँ पृथ्वी आदि का स्थैर्य तो स्वतः संभाव्य है ही, अतः असंभाव्यमानता केवल उनके चांचल्य या अस्थिरता की ही है। राम के द्वारा शिव-धनुष के तोड़े जाने पर, उसके कारण (तद्धेतुक) पृथ्व्यादि की चंचलता असंभाव्य है, किंतु फिर भी कवि ने लक्ष्मण की उक्ति के द्वारा उसकी चेष्टा को पृथ्वी की चंचलता का कारण बताया है, अतः यहाँ हेतु वाला विधि नामक अलंकार है।[1]

पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः।
दिक्कुंजराः कुरुत संप्रति संदिधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्॥

इस विवेचन से स्पष्ट है कि रत्नाकर के 'विधि' नामक अलंकार से दीक्षित के 'विधि' नामक अलंकार का कोई संबंध नहीं है। 'प्रतिषेध' नामक अलंकार रत्नाकर में नहीं है, इस नाम का एक अलंकार यशस्क के 'अलंकारोदाहरण' में है। दीक्षित ने इसे वहीं से लिया है।

कुवलयानंद के परिशिष्ट में दीक्षित ने रुय्यक तथा जयदेव के आधार पर सात रसवदादि अलंकारों का वर्णन किया है। तदनंतर १० प्रमाणालंकारों का उल्लेख है। रसवदादि अलंकारों को तो प्रायः सभी आलंकारिकों ने माना है, यहाँ तक कि गुणीभूतव्यंग्य का विचार करते समय मम्मट तक ने उनके अलंकार माने जाने का संकेत किया है, यद्यपि मम्मट ने दशम उल्लास में उनका वर्णन नहीं किया है, किंतु प्रमाणालंकारों को केवल एक ही आलंकारिक ने कल्पित किया है। भोजराज ने सरस्वतीकंठाभरण में जैमिनि के छः प्रमाणों को अपने २४ अर्थालंकारों की

---

१. अलंकाररत्नाकर पृ० १४२।

तालिका में दिया है।[1] तृतीय परिच्छेद की कारिका ४६ से लेकर ५४ तक भोजराज ने मीमांसादर्शनसम्मत इन छः प्रमाणों का विस्तार से सोदाहरण विवेचन किया है। दीक्षित के प्रमाणालंकारों का आधार यही है। पर दीक्षित ने इस ओर भोज से भी अधिक कल्पना से काम लिया है। दीक्षित ने पौराणिकों के द्वारा सम्मत दसों प्रमाणों को अलंकार मान लिया है। यही कारण है, दीक्षित ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अभाव के अतिरिक्त स्मृति, श्रुति, संभव तथा ऐतिह्य इन चार प्रमाणों को भी अलंकार-कोटि में मान लिया है, जिनका कोई संकेत भोज में नहीं मिलता। हमारे मत से प्रमाणों को अलंकार मानना ठीक नहीं।

(४)

कुवलयानंद में दीक्षित ने कुछ ही अलंकारों पर विशद विचार किया है, शेष अलंकारों के केवल लक्षणोदाहरण ही दिये गये हैं। चित्रमीमांसा में दीक्षित ने उपमादि १२ अलंकारों पर जम कर समस्त ऊहापोह की दृष्टि से विचार किया है, जिनमें अंतिम अलंकार अतिशयोक्ति का प्रकरण अधूरा है। ऐसा जान पड़ता है, चित्रमीमांसा में दीक्षित समस्त प्रमुख अर्थालंकारों पर डट कर सब पक्षों को ध्यान में रखते हुए विचार करना चाहते थे, किंतु दीक्षित की यह योजना पूर्ण न हो सकी। हम यहाँ तत्तत् अलंकार के विषय में दीक्षित के चित्रमीमांसागत विचार का सार देने की चेष्टा करेंगे।

(१) उपमा

कुवलयानंद में उपमा पर चलते ढंग से विचार किया गया है, केवल **'तवेतत्काकतालीयमवितर्कितसंभवम्'** इस उदाहरण को स्पष्ट करने के लिए कुछ व्याकरणसंबन्धी विवेचन पाया जाता है। यहाँ उपमा के केवल नौ भेदों—एक पूर्णा तथा आठ लुप्ता-का संकेत मिलता है। मम्मटादि के द्वारा संकेतित अन्य उपमाभेदों का कोई उल्लेख कुवलयानंद में नहीं किया गया है। चित्रमीमांसा में उपमा का विशद विवेचन है। आरंभ में दीक्षित ने प्राचीन आलंकारिकों—विद्यानाथ, भोजराज आदि-के उपमालक्षण को दुष्ट बताकर स्वयं अपना लक्षण दिया है। तदनंतर उपमा के तत्त्वों, वाचक शब्द के प्रकार तथा साधारण धर्म के तत्तत् प्रकारों का उल्लेख है। तदनंतर मम्मटादि के द्वारा वर्णित उपमाभेदों का विवेचन एवं उपमादोषों का संकेत किया गया है। चित्रमीमांसा की भूमिका में ही दीक्षित ने उपमा के महत्त्व पर जोर देते हुए बताया है कि समस्त साधर्म्यमूलक अलंकारों का आधार उपमा ही है। 'उपमा ही वह नर्तकी है, जो नाना प्रकार की अलंकार भूमिका में काव्य मंच पर अवतीर्ण होकर काव्यरसज्ञों को आह्लादित करती रहती है।'

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रंजयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥ (चित्र. पृ० ६)

---

१. जातिर्विभावना हेतुरहेतुः सूक्ष्ममुत्तरम्।
विरोधः संभवोऽन्योन्यं परिवृत्तिर्निदर्शना॥
भेदः समाहितं भ्रांतिर्वितर्को मीलितं स्मृतिः।
भावः प्रत्यक्षपूर्वाणि प्रमाणानि च जैमिनेः॥ (सरस्वतीकंठाभरण ३. २. ३.)

दीक्षित ने सर्वप्रथम प्राचीनों के तीन लक्षणों की आलोचना की है। उपमा का प्रथम लक्षण यह है :—जहाँ उपमेयत्व तथा उपमानत्व के योग्य (तत्तद् उपमानोपमेय बनने की क्षमतावाले) दो पदार्थों का सुन्दर साद्दश्य वर्णित हो, वहाँ उपमा होती है।'[1]

उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः।
हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः॥

इसः लक्षण में तीन बातें हैं :—

(१) दो भिन्न पदार्थों में साधर्म्य वर्णित किया जाय,

(२) ये पदार्थ क्रमशः उपमान तथा उपमेय होने के योग्य हों,

(३) इनका साधर्म्य सुंदर (हृद्य) हो।

अप्पय दीक्षित ने इस लक्षण में निम्न दोप माने हैं :—

(१) आप लोगों ने 'अर्थयोः' के साथ 'द्वयोः' विशेषण क्यों दिया है? संभवतः आप इससे अनन्वय का निरास करना चाहते हैं, क्योंकि अनन्वय में उपमान तथा उपमेय दोनों पदार्थ एक ही वस्तु होती है। पर इतना करने पर भी आपका लक्षण दुष्ट ही है, क्योंकि इसमें उपमेयोपमा तथा प्रतीप का निरास नहीं हो पाता।

(२) आपने 'उपमानोपमेयत्वयोग्ययोः' के द्वारा इस बात का संकेत किया है कि जहाँ दो पदार्थों में साधर्म्य संभव हो, उसी वर्णन में उपमा होगी। इस तरह तो आपका लक्षण कल्पितोपमा को उपमा से बाहर कर देता है। वस्तुतः लक्षण ऐसा बनाना चाहिये जिसमें कल्पितोपमा भी समाविष्ट हो सके।

(३) इस लक्षण में साधर्म्य के 'निर्दुष्ट' (लिंगवचनादिदोषरहित) होने का कोई संकेत नहीं, अतः लक्षण में अतिव्याप्ति दोप है, ऐसा लक्षण मानने पर तो सदोप साधर्म्यवर्णन में—'हंसीव धवलश्चन्द्रः सरांसीवामलं नभः' इत्यादि पद्य में-भी उपमा होगी, क्योंकि यहाँ 'हंसी तथा 'चन्द्र' 'सरोवर' तथा 'आकाश' में उपमानोपमेययोग्यत्व है, साथ ही वर्णन में सुन्दरता भी है ही, पर यहाँ प्रथम में लिंगदोष है, (हंसी स्त्रीलिंग है, चन्द्रमा पुँल्लिग) तथा द्वितीय में वचनदोष है ('सरांसि' बहुवचन है, 'नभः' एकवचन)। दीक्षित की इस दलील का उत्तर तो मजे में दिया जा सकता है कि 'हृद्यं' विशेषण 'निर्दुष्ट' की व्यंजना करा देता है, क्योंकि वर्णन की सुन्दरता तभी मानी जा सकेगी, जब वह 'निर्दोष' हो।

(४) इस लक्षण में चौथा दोप यह बताया गया है कि इसमें उपमाध्वनि का भी अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसा नहीं होना चाहिए, क्योंकि उपमाध्वनि अलंकार न होकर अलंकार्य है।[2]

दीक्षित ने दूसरा लक्षण प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ का दिया है। विद्यानाथ के मत से, 'जहाँ स्वतःसिद्ध, स्वयं से भिन्न, संमत (योग्य) जन्य (अवर्ण्य, उपमान) के साथ किसी धर्म के कारण एक ही बार वाच्यरूप में साम्य का प्रतिपादन किया जाय, वहाँ उपमा होती है।'

स्वतः सिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥ (प्रतापरुद्रीय)

---

१. चित्रमीमांसा पृ० ४-८

इसमें निम्न बातें हैं :—

(१) उपमान 'स्वतःसिद्ध' हो, कविकल्पित या संभावित न हो। इसके द्वारा उत्प्रेक्षा अलंकार का निरास किया गया है।

(२) वह स्वयं (उपमेय) से भिन्न हो. क्योंकि भिन्न न होनेपर उपमा न होकर 'अनन्वय' हो जायगा।

(३) वह संमत (योग्य) अर्थात् निर्दुष्ट हो। इससे तत्तत् उपमादोषों की व्यावृत्ति की गई है।

(४) उपमानोपमेय का साम्य 'धर्म' के आधार पर वर्णित किया जाय, 'शब्द' के आधार पर नहीं। इससे 'श्लेष' अलंकार की व्यावृत्ति की गई है, क्योंकि वहाँ 'शब्द' के आधार पर साम्य वर्णित होता है।

(५) 'अन्य' (उपमान) के द्वारा वर्ण्य (उपमेय) की समानता वर्णित की जाय। इससे प्रतीप अलंकार की व्यावृत्ति की गई है। प्रतीप अलंकार में वर्ण्य उपमान हो जाता है, अवर्ण्य उपमेय।

(६) 'वाच्य' विशेषण के द्वारा व्यंग्योपमा का निराकरण किया गया है।

(७) 'एकदा'–एकवाक्यगतप्रयोग–के द्वारा उपमेयोपमा का निराकरण किया गया है, जहाँ दो वाक्यों का प्रयोग पाया जाता है।[1]

दीक्षित ने इस लक्षण में भी निम्न दोष बताये हैं :—

(१) यह लक्षण कल्पितोपमा में घटित नहीं होता, क्योंकि 'स्वतः सिद्धेन' पद का प्रयोग किया गया है। साथ ही उत्प्रेक्षा की व्यावृत्ति के लिए इसका प्रयोग करना व्यर्थ है, क्योंकि उत्प्रेक्षा का निराकरण तो 'साम्यं' पद से ही हो जाता है। उत्प्रेक्षा में 'समानता' नहीं होती, वहाँ 'तादात्म्यादिसंभावना' पाई जाती है।

(२) 'भिन्नेन' पद का प्रयोग अनन्वय के वारण के लिए दिया गया है, पर कभी कभी उपमा में ऐसा देखा जाता है कि उपमेय सामान्यरूप होता है, उपमान विशेषरूप, ऐसी स्थिति में विशेष सामान्य से भिन्न तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि विशेष तथा सामान्य में परस्पर संबंध होता है। अतः 'भिन्नेन' विशेषण का प्रयोग व्यर्थ है।

(३) 'धर्मतः' पद के द्वारा विद्यानाथ ने 'शब्दसाम्य' का निषेध किया है, पर हम देखते हैं कि उपमा 'शब्दसाम्य' को लेकर भी पाई जाती है। इस बात पर रुद्रट ने जोर दिया है कि उपमा में 'शब्दसाम्य' भी हो सकता है।

'स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः॥

विद्यानाथ के लक्षण के अनुसार 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिंबमिव' (यह नगर इस समय चन्द्रबिंब की तरह सकलकल (पुरपक्ष में—कलकल शब्द से युक्त; चन्द्रपक्ष में—समस्त कलाओं वाला) हो गया है' में उपमा न हो सकेगी। अतः यह लक्षण दुष्ट है।

(४) 'अन्येन' पद जो प्रतीप के निराकरण के लिए प्रयुक्त हुआ है, ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पहले प्रयुक्त पद 'भिन्नेन' की पुनरुक्ति पाई जाती है।

(५) साथ ही 'अन्येन' का तात्पर्य है, वर्ण्य से अन्य अर्थात् अप्रकृत। इस तरह जहाँ प्रकृत उपमान से प्रकृत उपमेय की तुलना की जाती है, उस 'समुच्चितोपमा' में यह लक्षण घटित न हो सकेगा।

---

१. चित्रमीमांसा पृ० ८।

(६) 'एकदा' पद के द्वारा विद्यानाथ ने उपमेयोपमा का वारण किया है, पर हम देखते हैं कि कई स्थलों पर दो वाक्यों में भी उपमा हो सकती है, जैसे 'परस्परोपमा' में, अतः यह पद व्यर्थ है।[1]

इसके बाद दीक्षित ने भोजराज के लक्षण को सदोष बताया है। भोज का लक्षण यह है—"जहाँ दो पदार्थों में प्रसिद्धि के कारण परस्पर अवयव-सामान्य का योग (अवयवों की समानता) का वर्णन किया जाय, वहाँ उपमा होती है।"

प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता॥ (सरस्वती०)

इसमें दो दोष हैं :—(१) पहिले तो उपमानोपमेय का साधर्म्य अवयव (आकृति) मूलक माना है, जब कि उपमा में गुण, क्रियादि को लेकर भी साधर्म्य वर्णन हो सकता है, (२) इसमें भी कल्पितोपमा का समावेश नहीं हो पाता, क्योंकि वहाँ 'प्रसिद्धि का अनुरोध' नहीं होता।[2]

दीक्षित ने उपमा के दो लक्षण दिये हैं :—

(१) जिस सादृश्य वर्णन में उपमिति क्रिया की निष्पत्ति हो, वह उपमा है।

(उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमुपमा।—चित्र० पृ० २०)

(२) जो सादृश्यवर्णन अपने निषेध में पर्यवसित न हो, वहाँ उपमा होती है।

(स्वनिषेधापर्यवसायिसादृश्यवर्णनमुपमा—वही पृ० २०)

अप्पय दीक्षित ने बताया है कि इन्हीं लक्षणों के साथ 'अदुष्टं' तथा 'अव्यंग्यं' विशेषण लगा देने पर उपमा अलंकार का लक्षण बन जायगा।

(अलंकारभूतोपमालक्षणं त्वेतद्वेवादुष्टाव्यंग्यत्वविशेषितम्—(वही पृ० २०)

इस प्रकार वह सादृश्यवर्णन, 'जो निर्दोष हो तथा वाच्य (व्यंग्य न) हो, एवं उपमिति क्रिया में निष्पन्न हो अथवा जो अपने (सादृश्य) के निषेध में निष्पन्न न हो, उपमा है।'

उपमालक्षण पर विचार करने के बाद दीक्षित ने उपमा के पूर्णा तथा लुप्ता भेदों का संकेत किया है। पूर्णा के साधारण धर्म का विचार करते हुए दीक्षित ने बताया है कि साधारण धर्म निम्न प्रकारों में से किसी एक तरह का हो सकता है :—१. अनुगामिरूप, २. वस्तुप्रतिवस्तुभाव-रूप, ३. बिंबप्रतिबिंबभावरूप, ४. श्लिष्ट, ५. औपचारिक, ६. समासान्तराश्रित ७. मिश्रित। इसी सम्बन्ध में वे बताते हैं कि लुप्ता में केवल अनुगामिरूप ही धर्म पाया जाता है। पंडितराज ने दीक्षित के इस मत को नहीं माना है। वे बताते हैं कि 'मलय इव जगति पाण्डुर्वल्मीक इवाधि-धरणि धृतराष्ट्रः' जैसी लुप्तोपमा में भी साधारण धर्म बिंबप्रतिबिंबभावरूप हो सकता है। दीक्षित ने विस्तार के साथ एक-एक साधारण धर्म के रुचिर उदाहरण उपन्यस्त किये हैं। मिश्रित साधारण धर्म के अनेकों प्रकार उदाहृत किये गये हैं। हम यहाँ इस प्रसंग में विस्तार से जाना अनावश्यक समझते हैं, जिज्ञासुगण चित्रमीमांसा पृ० ११–२५ देख सकते हैं। दिङ्मात्र के लिए यहाँ मिश्रित साधारण धर्म के दो उदाहरण उपन्यस्त किये जा रहे हैं, जिससे विषय का स्पष्टीकरण हो सकेगा।

'नृपं तमावर्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्ययादन्यवधूर्भवित्री।
महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव॥'

---

१. चित्रमीमांसा पृ० ९–१३.

२. चित्रमीमांसा पृ० १६.

'रघुवंश षष्ठ सर्ग के इन्दुमती स्वयंवरवर्णन का पद्य है। (नदी की) भँवर के समान सुन्दर नाभि वाली, भविष्य में अन्य की पत्नी होने वाली, उस इन्दुमती ने उस राजा को इसी तरह पीछे छोड़ दिया, जैसे सुन्दर नाभि के समान भँवर वाली, समुद्र को जाने वाली नदी मार्ग में सामने आये पर्वत को पीछे छोड़ देती है।'

यहाँ इन्दुमती उपमेय है, नदी उपमान। इनके तीन साधारण धर्म हैं:—'व्यत्यगात्', 'अन्यवधूर्भवित्री-सागरगामिनी', 'आवर्तमनोज्ञनाभिः'। यहाँ प्रथम साधारण धर्म 'किसी चीज को पीछे छोड़ देने की क्रिया' है, यह दोनों पक्षों—उपमानोपमेय—में एक सा अन्वित होता है, अतः यह अनुगामी धर्म है। दूसरा साधारण धर्म एक ही न होकर दोनों पक्षों में भिन्न भिन्न है। इन्दुमती के पक्ष में वह यह है कि 'इन्दुमती दूसरे (अज) की पत्नी होने जा रही है'; जब कि नदी के पक्ष में वह यह है कि 'वह समुद्र के पास जा रही है'। अतः ये दोनों धर्म भिन्न-भिन्न होने पर भी इनमें परस्पर बिंबप्रतिबिंबभाव है, पति की पत्नी होने तथा नदी के समुद्र में गिरने में बिंबप्रतिबिंबभाव है, इसलिये यह साधारण धर्म बिंबप्रतिबिंबभावापन्न है। तीसरा धर्म एक ही पद है, पर इन्दुमती के पक्ष में उसका विग्रह होगा—'आवर्तवत् मनोज्ञा नाभिर्यस्याः सा', जब कि नदी के पक्ष में इसका विग्रह 'आवर्तः मनोज्ञनाभिरिव यस्याः सा' होगा। इस तरह यहाँ साधारण धर्म समासांतराश्रित है। चूँकि इस पद्य में तीन तरह के साधारण धर्म हैं, अतः यह मिश्रित साधारण धर्म का उदाहरण है।

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमंडलाग्रणीः।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः॥

'हवा के द्वारा हिलते सुंदर पुष्पकेसर वाला, प्रसन्न चन्द्रबिंब से युक्त, वियोगिनी रमणियों की आतुर दृष्टि के द्वारा देखा गया यह वसन्त ऋतु मरुत् के द्वारा चूमे गये अयाल वाले, प्रसन्न सुग्रीव की सेना में प्रमुख, सीता-वियोगी रामचन्द्र की आतुर दृष्टि से देखे गये हनुमान् की तरह आ गया है।'

इस पद्य में कई साधारण धर्म हैं:—'आगतः' तथा 'आतुरदृष्टिवीक्षितः' ये दोनों साधारण धर्म अनुगामी हैं। 'मरुच्चुम्बितचारुकेसरः' पद में उपचार तथा श्लेष का मिश्रण है। यहाँ 'चुम्बित' पद का वसन्त पक्ष में औपचारिक (लक्ष्य) अर्थ—स्पर्श युक्त, हिलते हुए-होगा, जब कि हनुमत्पक्ष में सीधा अर्थ होगा। इसी पद में 'केसर' का श्लिष्ट प्रयोग है, जो क्रमशः 'पुष्पकेसर' तथा 'हनुमान् के अयाल' के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी तरह 'ताराधिपमण्डल' तथा 'राम (रामा)' शब्द के श्लिष्ट प्रयोग में भी साधारण धर्म के दुहरे अर्थ होंगे। इस प्रकार यहाँ अनुगामिता, श्लेष तथा उपचार का मिश्रण पाया जाता है।

लुप्तोपमा के प्रकरण में दीक्षित ने केवल आठ भेदों का ही सोदाहरण संकेत किया है। इसके बाद दीक्षित ने मम्मटादि के २५ उपमाभेदों—६ पूर्णाभेद तथा १९ लुप्ताभेदों—का भी संकेत किया है पर व्याकरणशास्त्र के आधार पर किये गये इस भेद-प्रकल्पन से अरुचि ही दिखाई है।

'एवमयं पूर्णालुप्ताविभागो वाक्यसमासप्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवालंकारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामर्हति।' (चित्रमीमांसा पृ० ३१)

दीक्षित ने उपमा को पुनः तीन तरह का बताया है:—

(१) स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता, जहाँ उपमा का चमत्कार स्वयं में ही समाप्त हो जाय अन्य किसी अर्थ की पुष्टि में सहायक न हो।

(२) उक्तार्थोपपादनपरा, जहाँ किसी प्रतिपादित विषय (उक्त अर्थ) को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उपमा का प्रयोग किया जाय।

(३) व्यङ्ग्यप्रधाना, जहाँ (वाच्य) उपमा अलंकार किसी व्यंग्य वस्तु, अलंकार या रस का उपस्कारक बन जाय।

हम यहाँ प्रत्येक के उदाहरण देकर विषय को लम्बा नहीं बढ़ाना चाहते। तदनंतर उपमा (अलंकार) तथा उपमाध्वनि (अलंकार्य) के भेद को स्पष्ट करने के लिए दीक्षित ने उपमाध्वनि के उदाहरण दिये हैं। इसके बाद न्यूनत्व, अधिकत्व, लिंगभेद, वचनभेद, असादृश्य तथा असंभव इन छः उपमादोषों का तथा इनके अपवादरूप स्थलों का विस्तार से उल्लेख करते हुए उपमा प्रकरण को समाप्त किया गया है।

(२) उपमेयोपमा

चित्रमीमांसा का दूसरा अलंकार उपमेयोपमा है। इसमें भी दीक्षित ने पहले प्राचीनों के लक्षण को लेकर उसकी आलोचना की है। प्राचीनों का लक्षण यह है :—'जहाँ दो वस्तुएँ पर्याय से (परस्पर) एक दूसरे के उपमानोपमेय बनें, वहाँ उपमेयोपमा होती है, यह उपमेयोपमा दो तरह की (साधारण या अनुगामी धर्मपरक तथा वस्तुप्रतिवस्तुभावरूप धर्मपरक) होती है।'

उपमानोपमेयत्वं द्वयोः पर्यायतो यदि।
उपमेयोपमा सा स्याद् विविधैषा प्रकीर्तिता॥

इस लक्षण में निम्न बातें पाई जाती हैं :—

(१) दो पदार्थों का 'पर्याय से' (पर्यायतः) उपमानोपमेयत्व वर्णित किया जाय, अर्थात् दो वाक्यों का श्रौत या आर्थ प्रयोग करते हुए प्रथम उपमेय को द्वितीय वाक्य में उपमान तथा प्रथम उपमान को द्वितीय वाक्य में उपमेय बना दिया जाय। यदि लक्षण में 'पर्यायतः' का प्रयोग न किया जाता तो इस लक्षण की तुल्ययोगिता में अतिव्याप्ति हो जाती, क्योंकि तुल्ययोगिता में भी दो पदार्थ होते हैं, पर वहाँ उपमानोपमेयभाव 'पर्याय से' नहीं होता।

(२) साथ ही 'पर्यायतः' के द्वारा व्यंग्य उपमेयोपमा का भी समावेश किया गया है।

(३) इसके प्रयोग से 'रसनोपमा' की व्यावृत्ति की गई है, क्योंकि रसनोपमा में—'मणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला' में—पर्यायभेद से उपमानत्व तथा उपमेयत्व कल्पना पाई जाती है।

(४) 'द्विविधा' के द्वारा इस बात का संकेत किया गया है कि उपमा के प्रकरण में उक्त सात प्रकार के साधारण धर्मों में यहाँ दो ही तरह के पाये जाते हैं :—अनुगामी (साधारण) तथा वस्तुप्रतिवस्तुभावरूप।

इसमें दीक्षित ने निम्न दोष ढूँढे हैं :—

(१) यह लक्षण एक वाक्यगत आर्थ उपमेयोपमा में घटित नहीं होता, जैसे इस पद्य में :—

स्वद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्
सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त-
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरञ्च पद्मम्॥

रघु के वैतालिक उसको जगाने के लिए भोगावली का गान कर रहे हैं। 'हे कुमार, चंचल एवं कोमल कनीनिका वाले तुम्हारे नेत्र, तथा चंचल भौंरों वाला कमल दोनों ही (प्रातःकाल के

समय) सुन्दर विकास के कारण शीघ्र ही एक दूसरे की तुलना (समानता) को धारण करें।' यहाँ 'नेत्र' तथा 'कमल' को एक दूसरे का उपमानोपमेय बताया गया है, यह 'परस्परतुलामधिरोहतां' से स्पष्ट है। पर यहाँ दो वाक्यों का प्रयोग नहीं है। वस्तुतः इस पद्य में भी उपमेयोपमा ही है। ०

(२) साथ ही उक्त लक्षण निम्न पद्य में अतिव्याप्त होता है, जब कि यहाँ उपमेयोपमा अलंकार न होकर परस्परोपमा है।

रजोभिः स्यन्दनोद्भूतैर्गजैश्च घनसंनिभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ॥

यहाँ पृथ्वी तथा व्योम के साधारण धर्म भिन्न-भिन्न हैं :—एक स्थान पर हाथी है, दूसरे स्थान पर मेघ, इसलिए इनमें बिम्बप्रतिबिम्बभावरूप धर्म हैं। उपमेयोपमा तभी हो सकती है, जब धर्म या तो अनुगामी हो या वस्तुप्रतिवस्तुभावरूप। अतः यहाँ 'तृतीय सब्रह्मचारी के निषेध' (इनके समान तीसरा पदार्थ संसार में है ही नहीं) की प्रतीति नहीं होती। उपमेयोपमा में यह आवश्यक है कि वहाँ 'तृतीय सब्रह्मचारिव्यवच्छेद' की प्रतीति हो।[1] फलतः यहाँ उक्त लक्षण का अतिव्याप्त होना दोष है।

दीक्षित ने उपमेयोपमा का लक्षण यह दिया है :—'जहाँ एक ही धर्म के आधार पर उपमेय तथा उपमान में परस्पर एक दूसरे के साथ व्यञ्जना से या अन्य वृत्ति से उपमा प्रतिपादित की जाय वहाँ उपमेयोपमा होती है।'

अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा।
एकधर्माश्रया या स्यात्सोपमेयोपमा स्मृता ॥

(३) अनन्वय

चित्रमीमांसा का तीसरा अलंकार अनन्वय है। अनन्वय का प्राचीनों का लक्षण यह है :— 'जहाँ एक ही पदार्थ उपमान तथा उपमेय दोनों हो, वहाँ अनन्वय अलंकार होता है'। (**एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयो मतः**—(चित्र० पृ० ४७)।

(१) 'एक ही पदार्थ' (एकस्यैव) के द्वारा यहाँ उपमेयोपमा तथा रसनोपमा की व्यावृत्ति की गई है, क्योंकि वहाँ दो पदार्थ या अनेक पदार्थ उपमानत्व तथा उपमेयत्व धारण करते हैं।

(२) इसमें धर्म सदा अनुगामी होता है।

दीक्षित ने बताया है कि 'एक ही पदार्थ' का उपमानोपमेयभाव कभी-कभी अनन्वय का क्षेत्र नहीं होता। हम देखते हैं कि कई स्थानों पर कवि उपमेय को ही किसी भिन्न धर्म के आधार पर उपमान बना देता है, जैसे निम्न पद्य में—

'उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम्।
स तद्दुकूलादविदूरमौलिर्बभौ पतद्गङ्ग इवोत्तमाङ्गे ॥'

---

१. न ह्यत्र धर्मस्य साधारण्यं वस्तुप्रतिवस्तुभावो वास्ति। गगनस्य भूतलेन सादृश्ये रजोव्याप्तत्वं साधारणधर्मः। भूतलस्य गगनेन सादृश्ये गजानां मेघानां च बिम्बप्रतिबिम्बभाव इत्यत्यन्तविलक्षणत्वात्। अत एवात्र तृतीयसब्रह्मचारिव्यवच्छेदरूपं फलमपि न सिद्ध्यति। (चित्रमीमांसा पृ० ४३)

'आतपत्र' से युक्त शिव जिनका मस्तक श्वेतातपत्र के रेशमी वस्त्र को छू रहा था, ऐसे दिखाई दे रहे थे जैसे 'गंगा से युक्त सिर वाले वे स्वयं ही हों।' यहाँ उपमान तथा उपमेय दोनों 'शिव' ही हैं, पर इतना होने पर उनके धर्म एक नहीं हैं। अतः 'एकस्यैव' पद का प्रयोग ठीक नहीं है।

दीक्षित ने अपना लक्षण यों दिया है :—'जहाँ एक पदार्थ की उपमा स्वयं उसी से दी जाय तथा वह केवल अनुगामी धर्म के आधार पर हो, वहाँ अन्वर्थ नाम वाला 'अनन्वय' अलंकार होता है।'

स्वस्य स्वेनोपमा या स्यादनुगाम्येकधर्मिका।
अन्वर्थनामधेयोऽयमनन्वय इतीरितः॥ (चित्र० पृ० ४९)

(४) स्मरण

स्मरण अलंकार के विषय में दीक्षित ने प्राचीनों के लक्षण का खंडन नहीं किया है। स्मरण का चित्रमीमांसोक्त लक्षण यह है :—'जहाँ सादृश्य के आधार पर (किसी एक वस्तु को देख कर) अन्य वस्तु की स्मृति हो आये तथा वह स्मृति व्यंग्य न होकर वाच्य हो, वहाँ स्मरण नामक अलंकार होता है।'

स्मृतिः सादृश्यमूला या वस्त्वन्तरसमाश्रया।
स्मरणालंकृतिः सा स्यादव्यङ्ग्यत्वविशेषिता॥

(चित्र० पृ० ५०)

(१) स्मरण अलंकार वहीं होगा, जहाँ सादृश्य के आधार पर किसी अन्य वस्तु का स्मरण किया जाय, अतः स्मृति संचारिभाव में स्मरण अलंकार नहीं होगा। निम्न स्थलों में 'स्मृति' संचारिभाव है, स्मरण अलंकार नहीं।

(अ) क्षिप्तं पुरो न जगृहे मुहुरिक्षुकाण्डं नापेक्षते स्म निकटोपगतां करेणुम्।
सस्मार वारणपतिः परिमीलिताक्षमिच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम्॥ (माघ)

(आ) सघन कुंज छाया सुखद सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥ (विहारी)

(२) साथ ही सादृश्यमूलक स्मृति के वाच्य होने पर ही स्मरण अलंकार हो सकेगा, यदि वहाँ 'व्यंग्यत्व' होगा, तो वहाँ अलंकार ध्वनि होगी, अलंकार नहीं, जैसे निम्न पद्य में जहाँ 'हिरन' की बात सुनकर राम को हिरन के नेत्रों का स्मरण हो आता है, इससे उनके समान सीता के नेत्रों का तथा स्वयं सीता का स्मरण हो आता है। यह सीताविषयक स्मृति व्यंग्य है, वाच्य नहीं, अतः निम्न पद्य में 'स्मरणध्वनि' है, स्मरणालंकार नहीं।

'सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते,
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरंगं यतः,
क्वासि प्रेयसि हा कुरंगनयने चन्द्रानने जानकि॥'[1]

---

१. इस पद्य की हिंदी व्याख्या के लिए दे०—कुवलयानंद, हिंदी व्याख्या पृ० २७७।

(५) रूपक

भेदाभेद प्रधान अलंकारों का विवेचन करने के बाद दीक्षित ने अभेदप्रधान रूपक अलंकार का विवेचन किया है। यहाँ भी दीक्षित ने पहले प्राचीनों का निम्न लक्षण देकर उसकी सदोषता बताई है।

'जहाँ आरोप्यमाण (विषयी, चन्द्रादि) अतिरोहितरूप (अर्थात् जिसका तिरोधान न किया जाय) आरोपविषय (मुखादि) को अपने रंग में रंग दे, वहाँ रूपक अलंकार होता है।'

आरोपविषयस्य स्यादतिरोहितरूपिणः।
उपरञ्जकमारोप्यमाणं तद्रूपकं मतम् ॥ (चित्र० पृ० ५२)

इस लक्षण में निम्न बातें पाई जाती हैं :-

(१) विषयी आरोप विषय का उपरंजक हो, अर्थात् दोनों में अभेद स्थापना हो तथा विषय का उपादान किया जाय। इससे इस लक्षण में उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति की अतिव्याप्ति न हो सकेगी, क्योंकि उत्प्रेक्षा में विषय, आरोप क्रिया का विषय (आरोपविषय) नहीं होता, तथा अतिशयोक्ति में विषयी विषय का निगरण कर लेता है। अतः दोनों ही में आरोप नहीं होता।

(२) 'अतिरोहितरूपिणः' पद के द्वारा संदेह, भ्रांतिमान् तथा अपह्नुति का वारण किया गया है, क्योंकि संदेह, भ्रांतिमान् अथवा अपह्नुति में क्रमशः विषय का संदेह, अनाहार्य मिथ्याज्ञान अथवा निषेध पाया जाता है। अतः वहाँ विषय (मुखादि) का 'विषयत्व' (मुखत्वादि) तिरोहित रहता है।

(३) 'उपरञ्जकं' पद के द्वारा समासोक्ति तथा परिणाम का व्यावर्तन किया गया है। समासोक्ति में विषयी विषय का उपरंजक नहीं होता, क्योंकि यहाँ रूपसमारोप नहीं पाया जाता। समासोक्ति में प्रस्तुत वृत्तान्त पर अप्रस्तुत वृत्तान्त का व्यवहारसमारोप पाया जाता है। परिणाम में भी विषय का विषयी के रूप में उपरंजन नहीं पाया जाता, अपितु उलटे विषयी स्वयं विषय के रूप में परिणत होकर प्रकृतोपयोगी बनता है।

दीक्षित ने इस लक्षण में निम्न दोष ढूंढे हैं :—

(१) आपने 'आरोपविषयस्य' पद के द्वारा उत्प्रेक्षा का वारण करना चाहा है। इस विषय में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आरोप तथा अध्यवसाय का आप क्या भेद मानते हैं? यदि आपका मत यह है जहाँ विषय तथा विषयी दोनों का स्वशब्दतः उपादान हो तथा उनमें अभेद-प्रतिपत्ति हो, वहाँ आरोप होता है, तथा जहाँ विषय का निगरण करके विषयी की उसके साथ अभेद-प्रतिपत्ति पाई जाय, वहाँ अध्यवसाय होता है, तो फिर उत्प्रेक्षा अध्यवसायमूलक न होकर आरोपमूलक बन जायगी। क्योंकि उत्प्रेक्षा में विषय तथा विषयी दोनों का स्वशब्दतः उपादान होता है। फिर तो आपका लक्षण उत्प्रेक्षा का वारण न कर सकेगा। वस्तुतः दोनों में अभेदप्रतिपत्ति नहीं होती। आरोप (रूपक) में ताद्रूप्यप्रतिपत्ति होती है, अध्यवसाय (उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति) में अभेदप्रतिपत्ति होती है—यह इन दोनों का वास्तविक भेद है। अतः आपको उत्प्रेक्षा का वारण करने के लिए अपने लक्षण में 'ताद्रूप्यप्रतिपत्ति' का संकेत करना चाहिए था।

(२) 'अतिरोहितरूपिणः' पद से आपने सन्देह, भ्रांतिमान् तथा अपह्नुति की व्यावृत्ति मानी है। इसमें दो कमी हैं, पहले तो इससे अतिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा का भी वारण हो जाता है, क्योंकि अतिशयोक्ति में विषय निगीर्ण होता है, अतः वह तिरोहित रूप माना जा सकता है, तथा

उत्प्रेक्षा में भी आहार्य संभावना के कारण विषय 'तिरोहित रूप' होता ही है। अतः इन दोनों के वारण के लिए प्रयुक्त प्रथम पद 'आरोपविषयस्य' व्यर्थ है। साथ ही इस पद से अपह्नुति का वारण किया गया है, पर वस्तुतः अपह्नुति में 'विषय' तिरोहित नहीं, होता, क्योंकि 'नेदं मुखं किंतु चन्द्रः' में मुखत्व का निषेध कर चन्द्रत्व का जो आरोप किया जाता है, वह केवल कल्पित होता है, अतः यहाँ विषयी विषय का तिरोधायक नहीं होता।

(३) इस लक्षण की निदर्शना में अतिव्याप्ति पाई जाती है। क्योंकि ताद्रूप्यारोप तो वहाँ भी पाया जाता है, यह दूसरी बात है कि वहाँ उपमेयवाक्यार्थ पर उपमानवाक्यार्थ का आरोप होता है। अतः यह लक्षण दुष्ट है।

इसके बाद दीक्षित ने भोजराज के रूपक लक्षण का भी खण्डन किया है। भोज के मतानुसार, 'जहाँ उपमान के वाचक शब्दों का गौण वृत्ति (लक्षणा) के आश्रय के कारण उपमेय के अर्थ में प्रयोग हो वहाँ रूपक अलंकार होता है।'

यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात्।
उपमेये भवेद् वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः॥ (सरस्वती कण्ठा०)

इस लक्षण में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह लक्षण अतिशयोक्ति में अतिव्याप्त होता है। अतिशयोक्ति में भी गौण वृत्ति का आश्रय लेते हुए उपमान का उपमेय के अर्थ में प्रयोग होता ही है। 'मुखं चन्द्रः' (रूपक) में गौणी सारोपा लक्षणा पाई जाती है, तथा मुख को देखकर 'चन्द्रः' कहने में गौणी साध्यवसाना लक्षणा होती है। अतः केवल गौणी वृत्ति के आश्रय में रूपक मानने पर '(मुखं) चन्द्रः' (अतिशयोक्ति) में भी रूपक का प्रसंग उपस्थित होगा।

इसी सम्बन्ध में दीक्षित ने एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत किया है। प्राचीन आलंकारिक रूपक तथा अतिशयोक्ति दोनों अलंकारों में लक्षणा का क्षेत्र मानते हैं। किन्तु ध्यान से विचार करने पर पता चलेगा कि लक्षणा का सच्चा क्षेत्र अतिशयोक्ति में ही है, रूपक में तो हम किसी तरह लक्षणा का निषेध भी कर सकते हैं। अतिशयोक्ति में विषय के वाचक मुखादि पदों का प्रयोग न करते हुए विषयिवाचक चन्द्रादि पदों के द्वारा उसका प्रतिपादन किया जाता है, अतः यह लक्षणा माननी ही पड़ेगी। पर रूपक में तो विषयवाचक मुखादि तथा विषयिवाचक चन्द्रादि दोनों का प्रयोग होता है तथा उनमें केवल अन्वय के कारण ही अभेदप्रतिपत्ति होती है, अतः यहाँ लक्षणा क्यों मानी जाती है ?

'वस्तुतस्त्वतिशयोक्तावेव लक्षणा न तु रूपके इति शक्यं व्यवस्थापयितुम्' तथाहि अतिशयोक्तौ विषयाभिधायिमुखादिपदाप्रयोगाच्चन्द्रादिपदेनैव तत्प्रत्यायनं कार्यमिति तस्य तत्र लक्षणावश्यमास्थेया। रूपके विषयविषयिणोः स्वस्ववाचकाभिहितयोरभेदप्रतिपत्तिः संसर्गमर्यादयैव सम्भवतीति किमर्थं तत्र लक्षणा, अशक्या च तत्र लक्षणाभ्युपगन्तुम्।'

(चित्रमीमांसा पृ० ५४)

साथ ही, भोजराज के लक्षण में तीन दोष और हैं :—प्रथम तो यह लक्षण व्यंग्यरूपक में घटित नहीं होता, दूसरे शुद्धा सारोपा लक्षणामूलक रूपक अलंकार में भी यह घटित नहीं होता[1],

---

१. कुछ आलंकारिकों ने शुद्धा सारोपा लक्षणा में भी रूपक अलंकार माना है। इस मत का संकेत हमें शोभाकर के अलंकाररत्नाकर तथा विद्याधर की एकावली में मिलता है। इनके मत से

तीसरे 'गौर्वाहीकः' जैसे अचमत्कारी स्थलों में भी रूपक अलंकार मानना पड़ेगा क्योंकि वहीं यह लक्षण अतिव्याप्त होता है।

इसके साथ ही दीक्षित ने **'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते'** तथा **'तद्रूपकमभेदोऽयमुपमानोपमेययोः'** प्राचीनों के इन अन्य लक्षणों में भी अतिव्याप्ति आदि दोष बताये हैं। दीक्षित रूपक का निम्न लक्षण देते हैं :—

बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा॥ (चित्र० पृ० ५६)

'जहाँ बिम्बाविशिष्ट (बिम्बप्रतिबिम्बभावरहित), शब्दतः उपात्त (निर्दिष्ट), तथा अनिह्नुत (जिसका निषेध या गोपन न किया गया हो) विषय (मुखादि) पर विषयी (चन्द्रादि) उपरञ्जकता को प्राप्त हों, अर्थात् तद्विशिष्ट विषय को अपने रंग में रंग दे, वहाँ रूपक अलंकार होता है।' इस लक्षण में निम्न बातें पाई जाती हैं :—

(१) विषय 'बिम्ब' रूप न हो अर्थात् विषय तथा विषयी में बिम्बप्रतिबिम्बभाव न हो, बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने पर वहाँ निदर्शना अलंकार हो जायगा। अतः निदर्शना का वारण करने के लिए 'बिम्बाविशिष्टे' कहा गया है।

(२) साथ ही विषय का स्वशब्दतः निर्देश किया गया हो, क्योंकि उसका स्वशब्दतः निर्देश न होने पर अतिशयोक्ति होगी। अतः 'निर्दिष्टे' के द्वारा अतिशयोक्ति का वारण किया गया है। साथ ही इस सम्बन्ध में इसका भी संकेत कर दिया जाय कि व्यंग्य रूपक में विषय का तो निर्देश होता ही है, किन्तु विषयी का निर्देश नहीं होता, अतः इस लक्षण का समन्वय वहाँ हो ही जायगा। जो लोग कार्यकारणमूलक या अन्य प्रकार के सादृश्येतरमूलक आरोप में रूपक न मान कर 'हेतु' अलंकार मानते हैं, उनके मत से 'विषये' का अर्थ 'उपमेये' लेना होगा। किन्तु जो लोग (एकावलीकार विद्याधरादि) वहाँ भी रूपक मानते हैं उनके मत से 'विषये' का अर्थ केवल 'धर्मिणि' लेना होगा।

(३) 'अनिह्नुते' के द्वारा इस लक्षण में इस बात का संकेत किया गया है कि यहाँ विषय का निषेध नहीं किया जाता, अतः इससे निषेधपरक (अपह्नवमूलक) अपह्नुति का वारण हो जाता है।

(४) 'उपरञ्जकतां' का अर्थ है—'आहार्यताद्रूप्यगोचरतां' अर्थात् कवि मुखादि तथा चन्द्रादि को कल्पित (स्वेच्छाकृत, आहार्य) ताद्रूप्य का विषय बना दे। इसके द्वारा सन्देह, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, परिणाम तथा भ्रांतिमान् का वारण हो जाता है। संदेह तथा उत्प्रेक्षा में निश्चय नहीं

'सादृश्येतरसंबन्ध' होने पर भी जहाँ कारण पर कार्य का आरोप पाया जाता है, वहाँ रूपक अलङ्कार ही होता है, जैसे इस पद्य में, जहाँ 'चन्द्र' (कारण) पर 'नेत्रानन्द' (कार्य) का आरोप पाया जाता है :—

'ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता॥'

पण्डितराज ने इस मत को नहीं माना है। वे प्राचीनों के इसी मत की प्रतिष्ठापना करते हैं कि सादृश्य सम्बन्ध होने पर ही रूपक हो सकेगा। दीक्षित ने चित्रमीमांसा में एक दूसरा मत भी दिया है, जो कारण पर कार्य के आरोप में रूपक न मानकर 'हेतु' अलंकार मानते हैं :

(दे० चित्रमीमांसा पृ० ५५-५६)

होता। समासोक्ति तथा परिणाम में ताद्रूप्य नहीं होता, क्योंकि समासोक्ति में व्यवहारसमारोप होता है, परिणाम में विषयी ही स्वयं विषय के रूप में परिणत होता है। भ्रांतिमान् में वास्तविक या कल्पित भ्रान्ति अनाहार्य या स्वारसिक होती है।

उपर्युक्त लक्षण केवल 'रूपक' का है, अलंकार का नहीं। इसके साथ 'अव्यंग्यं' विशेषण लगा देने पर यही रूपक अलंकार का विशेषण हो जायगा।

पण्डितराज ने इस लक्षण का खण्डन किया है। दीक्षित ने इस बात पर जोर दिया है कि रूपक में बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं होता, जब कि निदर्शना में बिम्बप्रतिबिम्बभाव पाया जाता है। पण्डितराज ने इस मत को दुष्ट बताया है। विमर्शिनीकार जयरथ की साक्षी पर वे बताते हैं कि रूपक में भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो सकता है। अतः दीक्षित का यह लक्षण दुष्ट है। (देखिये—हिन्दी कुवलयानन्द टिप्पणी पृ० १५-१६)।

चित्रमीमांसा में दीक्षित ने रूपक के केवलनिरवयव, मालानिरवयवादि आठ प्रकारों का सोदाहरण उपन्यास किया है। (दे०-हिन्दी कुवलयानन्द टिप्पणी पृ० २१-२२)।

(६) परिणाम

परिणाम अलंकार के विषय में दीक्षित ने अपना कोई लक्षण नहीं दिया है। आरम्भ में प्राचीनों के लक्षण को लेकर उसकी परीक्षा की गई है। प्राचीनों का लक्षण है:—'जहाँ आरोप्यमाण (विषयी, चन्द्रादि) प्रकृतोपयोगी हो, वहाँ परिणाम होता है' (आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः।) यह लक्षण अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक का है। (दे० अलंकारसर्वस्व पृ० ५१) इस लक्षण के विषय में कुछ शंका की जा सकती है। इस शंका का आधार 'प्रकृतोपयोगित्वे' है।

हम देखते हैं कि रुय्यक ने विषयी के प्रकृतकार्योपयोगी होने में यहाँ परिणाम माना है, पर स्वयं रुय्यक ने कई उदाहरण रूपक अलंकार में ऐसे दिये हैं, जहाँ आरोप्यमाण (विषयी) में प्रकृतकार्योपयोगित्व पाया जाता है। दीक्षित ने ऐसे तीन उदाहरण लिये हैं, जिनमें एक यह है:—

'एतान्यवन्तीश्वरपारिजातजातानि तारापतिपाण्डुराणि।
सम्प्रत्यहं पश्यत दिग्वधूनां यशःप्रसूनान्यवतंसयामि॥'

यहाँ अवन्तीश्वररूपी कल्पवृक्ष के यशःप्रसूनों को दिग्वधुओं के कर्णाभूषण (अवतंस) बनाने का वर्णन है। इस पद्य में 'मयूरव्यंसकादि' (उत्तरपदप्रधान) समास होने से 'प्रसून' की प्रधानता हो जाती है। 'प्रसून' (आरोप्यमाण) अवतंसनक्रिया में उपयोगी है ही। फिर तो परिणाम का उक्त लक्षण मानने पर यहाँ भी परिणाम मानना पड़ेगा। अतः यह लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है।

साथ ही इसमें यह भी दोष है कि इसकी अतिव्याप्ति भ्रांतिमान्, अपह्नुति, अतिशयोक्ति तथा अनुमान में भी पाई जाती है, क्योंकि वहाँ भी प्रकृतकार्योपयोगित्व पाया जाता है। हम प्रत्येक का उदाहरण ले लें।

भिन्नेषु रत्नकिरणैः किरणेष्विहेन्दो—
रुच्चावचैरुपगतेषु सहस्रसंख्याम्।
दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति
व्याकोशकोकनदतां दधते नलिन्यः॥

'इस रैवतक पर्वत पर होने वाले रत्नों की किरणों से मिश्रित चन्द्रकिरणों के सहस्र संख्या धारण करने पर, पद्मिनियां रात में भी यह सोच कर कि यह तो (चन्द्रमा नहीं) सूर्य ही है, अपने कमलों को विकसित कर देती हैं'। इस पद्य में रैवतक पर्वत के रत्नों की कांति से मिश्रित चन्द्रकिरणों को सूर्य का प्रकाश समझ लेने में भ्रांतिमान् अलंकार है। यहां भी 'अहिमांशु' (सूर्य-आरोप्यमाण) विकासरूप प्रकृत कार्य में उपयोगी है ही। अतः उक्त लक्षण की यहाँ अतिव्याप्ति होगी।

'विकसदमरनारीनेत्रनीलाब्जखण्डा—
न्यधिवसति सदा यः संयमाधःकृतानि।
न तु रुचिरकलापे वर्तते यो मयूरे
वितरतु स कुमारो ब्रह्मचर्यश्रियं वः॥'

'वे स्वामिकार्तिकेय जो देव-रमणियों के संयम के कारण अवनत, प्रसन्नता से प्रफुल्लित नेत्र-रूपी नील कमलवनों पर विराजमान रहते हैं, सुन्दर पूंछ वाले मयूर पर नहीं, आप लोगों को ब्रह्मचर्य प्रदान करें।

यहां कुमार के वास्तविक वाहन 'मयूर' का निषेध कर अप्रकृत 'अमरनारीनेत्रों' की स्थापना की गई है, अतः अपह्नुति अलंकार है। इस पद्य में 'अमरनारीनेत्र' रूप अप्रस्तुत ब्रह्मचर्यवितरण रूप प्रकृत कार्य में उपयोगी हो रहा है, अतः यहां भी उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

उरोभुवा कुंभयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।
त्रपा सरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत्॥

'क्या यौवन के द्वारा उपहार में लाये गये (जिनके समीप हार था), वक्षःस्थल पर पैदा होने वाले कुम्भयुगल के द्वारा अपना विस्तार प्रकट किया गया था? क्योंकि तभी तो उस सुन्दरी दमयंती ने लज्जारूपी नदी के दुर्ग के पार कर नल के हृदय में प्रवेश किया।'

यहां अतिशयोक्ति है, क्योंकि 'कुम्भयुगेन' (विषयी) ने 'कुचयुगल' (विषयी) का निगरण कर लिया है। इस पद्य में भी विषयी सरित्तरण रूप प्रकृतकार्य में उपयोगी पाया जाता है। अतः उक्त लक्षण की यहां भी अतिव्याप्ति हो रही है।

इसी तरह दीक्षित ने अनुमान में भी इसकी अतिव्याप्ति सिद्ध की है।

दीक्षित ने पूर्वपक्षी के मत से इसका समाधान यों दिया है कि इस लक्षण का अर्थ यह है :— 'जहाँ आरोप्यमाण प्रकृत के रूप में उपयोगी हो (प्रकृतात्मना उपयोगित्वे) वहाँ परिणाम होता है।' ऐसा अर्थ लेने पर रूपक आदि में अतिव्याप्ति न होगी। 'प्रकृत' शब्द के द्वारा हमारा तात्पर्य 'विषय' है। इस प्रकार 'जहाँ आरोप्यमाण आरोपविषय के रूप में स्थित होकर प्रकृतगमक का उपयोगी हो वहाँ परिणाम अलंकार होता है।' दीक्षित ने परिणाम का स्वयं कोई लक्षण निबद्ध नहीं किया है, अपितु प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ के ही निम्न लक्षण को कुछ हेरफेर के साथ मान लिया है, जिसका अर्थ हम अभी-अभी दे चुके हैं :—

'आरोप्यमाणमारोपविषयात्मतया स्थितम्।
प्रकृतस्योपयोगि स्यात्परिणाम उदाहृतः॥' (चित्र० पृ० ६६)

दीक्षित के मतानुसार विद्यानाथ के इस लक्षण में इतना परिष्कार करना होगा कि 'प्रकृतस्य' पद की व्याख्या 'प्रकृतगमकस्य' करनी होगी।

परिणाम अलंकार दो तरह का होता है:—

समानाधिकरण्यमूलक, वैयधिकरण्यमूलक। सामानाधिकरण्यमूलक में विषयी तथा विषय दोनों एक ही विभक्ति में होते हैं। उदाहरण के लिये 'तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपकृतवानातरं नाविकाय' में 'आतर' (विषयी) तथा 'सौमित्रिमैत्री' (विषय) दोनों एक ही विभक्ति में हैं। वैयधिकरण्यमूलक परिणाम में विषयी तथा विषय अलग-अलग विभक्ति में होते हैं। जैसे निम्न उदाहरण में :—

पुन्नागजालकैर्हारान् काञ्चीः केयूरदामभिः।
कर्णिकाः कर्णिकारैश्च विहर्तुं विदधुर्वने॥

'उन रमणियों ने वन में विहार करने के लिए पुन्नागों के द्वारा हारों, केयूरदाम के द्वारा करधनी तथा कर्णिकार के द्वारा कर्णिकाएँ बनाईं।'

यहाँ 'हारादि' (विषयी) तथा 'पुन्नागजालकादि' (विषय) भिन्नविभक्तिक हैं।

(७) ससन्देह

ससंदेह अलंकार के प्रकरण में दीक्षित ने सर्वप्रथम प्राचीनों का लक्षण देकर उसकी परीक्षा की है। प्राचीनों का लक्षण यह है :—

साम्यादप्रकृतार्थस्य या धीरनवधारणा।
प्रकृतार्थाश्रया तज्ज्ञैः ससंदेहः स इष्यते॥ (चित्र० पृ० ७०)

'जहाँ सादृश्य के आधार पर प्रकृत (उपमेय) पदार्थ में अप्रकृत पदार्थ की अनिश्चित बुद्धि उत्पन्न हो, उसे विद्वान् लोग ससंदेह कहते हैं।'

इस लक्षण में कुछ दोष है :—

(१) यदि हम 'साम्यात्' पद में फलत्वेन हेतुत्वविवक्षा मानते हैं तो 'अनीय द्विपतां धनानि' आदि संदेह के उदाहरण में इसकी व्याप्ति न हो सकेगी।

(२) यदि हम इस पद में स्वतः हेतुत्वविवक्षा मानते हैं, तो 'अयं मार्तण्डः किं' आदि पद्य में संदेह न हो सकेगा।

(३) साथ ही इस लक्षण की अतिव्याप्ति विकल्प अलंकार—'इह नमय शिरः कलिंगवद्वा समरमुखे करहाटवद्धनुर्वा' में होगी।

(४) लक्षण में प्रयुक्त 'अनवधारणा' पद का अर्थ क्या है? यदि उसका अर्थ अनिश्चयात्मकता है, तो इस लक्षण की अतिव्याप्ति उत्प्रेक्षा के उदाहरणों में होगी, क्योंकि बुद्धि की अनिश्चितता वहाँ भी पाई जाती है। यदि 'अनवधारणा' का अर्थ यह है कि बुद्धि में अनेक पक्ष एक दूसरे को परस्पर ढकेलते रहते हैं, तथा वह किसी एक कोटि में स्थिर नहीं हो पाती, अपि तु अनेक कोटियों का स्पर्श करती है, तो फिर अपह्नुति के उदाहरण 'अंकं' केपि शशंकिरे' (दे० कुवलयानन्द पृ० २९) में इसकी अतिव्याप्ति होती है।

(५) साथ ही 'प्रकृतार्थाश्रया' पद भी ठीक नहीं है। क्योंकि कभी-कभी वर्णनीय प्रकृत पदार्थ संदेह का आश्रय नहीं होता, अपितु उसमें सम्बद्ध पदार्थ होता है, जैसे 'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कांतिप्रदः' इत्यादि पद्य में वर्णनीय नायिका संदेह बुद्धि का आश्रय न होकर, वेदाभ्यासजड ब्रह्मा संदेहबुद्धि का आश्रय है। अतः इस उदाहरण में यह लक्षण लागू न होगा।

दीक्षित का स्वयं का लक्षण निम्न है:—

'बुद्धिः सर्वात्मनान्योन्याक्षेपिनानार्थसंश्रया।
सादृश्यमूला वार्थस्पृक्संदेहालंकृतिर्मता ॥'

'जिस सादृश्यमूलक बुद्धि में, एक दूसरे को सब प्रकार से हटाते हुए अनेक पदार्थों का अनुभव हो तथा जो 'वा' अर्थ का स्पर्श करती है, उसे संदेह अलंकार कहा जाता है।'

इस लक्षण में 'अन्योन्याक्षेपिनानार्थसंश्रया' पद विशेष महत्त्व का है। संभवतः कुछ लोग इसकी अतिव्याप्ति विकल्प अलंकार में मानें, किन्तु वहाँ समस्त अर्थ एक दूसरे का प्रतिक्षेप नहीं करते। विकल्प में सदा दो पक्ष होते हैं तथा जिस व्यक्ति को जैसा फल चाहिए वह वैसे पक्ष का आश्रय लेता है। अतः ध्यान से देखने पर वहाँ एक ही पक्ष का महत्त्व होता है, प्रणत राजा के पक्ष में वह शिरोनमन है; युद्ध करने की क्षमता वाले राजा के पक्ष में धनुर्नमन। इसी तरह अपह्नुति में भी दोनों पक्ष समानरूप से एक दूसरे के प्रतिक्षेपी नहीं होते। अतः यह लक्षण उनमें अतिव्याप्ति नहीं होगा।

(८) भ्रांतिमान्

चित्रमीमांसा में भ्रांतिमान् का निम्न लक्षण दिया गया है:—

'कविसंमतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मतः ॥' (चित्र० पृ० ७५)

जहाँ कविप्रतिभा के द्वारा कल्पित उस विषय पर, जिसका विषयत्व (मुखत्वादि) छिपा दिया जाय, अनुभविता को आरोप्यमाण (विषयी, चन्द्रादि) का अनुभव हो, वहाँ भ्रांतिमान् अलंकार होता है।'

इस लक्षण में प्रयुक्त 'पिहितात्मनि' पद के द्वारा इस बात की ओर संकेत किया गया है कि विषय में विषयी का अनुभव स्वारसिक एवं कविप्रतिभा के द्वारा कल्पित होता है, रूपक की भाँति आहार्य नहीं होता। इसलिये इस लक्षण की व्याप्ति रूपक आदि अन्य अलंकारों में न हो सकेगी।

अप्पय दीक्षित ने इसके कई प्रकार दिये हैं:—(१) शुद्ध भ्रांति, (२) उत्तरोत्तर भ्रांतिः (३) भिन्नकर्तृक उत्तरोत्तर भ्रांति, (४) अन्योन्यविषयक भ्रांति। इनमें द्वितीय तथा तृतीय प्रकार की भ्रांति में विशेष चमत्कार पाया जाता है। दिङ्मात्र उदाहरण यह है:—

'शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बितं चञ्चरीकै-
स्तत्त्रासोल्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदष्टाः।
तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिताः काकलोकै-
रित्थं चोलेन्द्रसिंह त्वदरिमृगदृशां नाप्यरण्यं शरण्यम् ॥'

'हे चोलराज, तुम्हारी शत्रुरमणियों को जंगल में भी शरण नहीं मिल पाती। उनके स्तनकलशों को मञ्जरी समझ कर गूँजते भौंरों ने चूम लिया; भौंरों से डरने के कारण सविलास करपल्लवों को किसलय समझ कर तोतों ने काट लिया; और उन्हें भगाने के लिए चिल्लाती (तुम्हारी शत्रुरमणियों को) कोयल की वाणी समझ कर कौओं ने मार भगाया।'

यहाँ भिन्नकर्तृक उत्तरोत्तरभ्रांति का निबंधन पाया जाता है। भौंरे, तोते तथा कौए भ्रांति से स्तनकलश, करपल्लव एवं वाणी को क्रमशः मंजरी, किसलय एवं कोकिलालाप समझ बैठते हैं।

इस पद्य को लेकर पंडितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर दोनों ने रसगंगाधर एवं कौस्तुभ में दीक्षित का खंडन किया है। उन्होंने इस पद्य की रचना को ही अविसंष्ठुल बताया है, तथा इसमें कई दोष ढूंढे हैं। पहले तो स्तनकलशों में मंजरी की भ्रांति निबद्ध करना व्यर्थ है, क्योंकि उनमें सादृश्य कविसमयप्रसिद्ध नहीं है। अतः जब उनमें सादृश्य ही नहीं है, तो भ्रांतिमान् कैसे हो सकेगा ? दूसरे, 'कीरदष्टाः' पद दुष्ट है, इसमें अविमृष्टविधेयांश दोष है। यहाँ 'कीरैर्दष्टाः' होना चाहिए था। तीसरे, 'पिकनिनदधिया' पद भी दुष्ट है। कौओं को रमणियों में कोकिलालाप की भ्रांति नहीं होती, हाँ कोकिलाओं की भ्रांति हो सकती है। साथ ही कौए कोकिलाओं को ही मार भगाते हैं, कोकिलालाप (पिकनिनद) को नहीं। अतः यहाँ 'पिकनिकरधिया' पाठ होना चाहिए। साथ ही कोयल का शब्द 'कूजित' कहलाता है, 'निनद' नहीं, अतः यह भी दोष है। चौथे, इस पद्य में अन्वयदोष भी है—'त्वदरिमृगदृशां' का अन्वय किसी तरह प्रथम एवं द्वितीय चरण में तो लग जाता है, पर तृतीय चरण में 'तल्लोपायालयन्त्यः' के साथ कैसे लगेगा ? यदि किसी तरह विभक्तिपरिणाम से अन्वय ठीक बैठाया जायगा, तो भी पद्य की शिथिलता स्पष्ट है ही।

पर देखा जाय तो यह खंडन दीक्षित का न होकर पद्यरचयिता कवि का है। दीक्षित का दोष तो इतना है कि उन्होंने ऐसे दुष्ट पद्य को उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया है।

भ्रांतिमान् अलंकार के प्रकरण में दीक्षित ने इस बात पर जोर दिया है कि भ्रांतिमान् तथा संदेह दोनों अलंकार सादृश्यसम्बन्ध होने पर ही हो सकेंगे। अतः निम्न पद्यों में क्रमशः संदेह तथा भ्रांतिमान् नहीं माने जायेंगे।

> अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन्।
> निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ॥

'यहाँ नल जैसे दुर्जेय व्यक्ति को जीतने में साहस करते समय कामदेव ने अपनी कीर्ति को संदेह में डाल दिया'—यह संदेहनिबंधन सादृश्य-प्रयोजित नहीं है, अतः यहाँ संदेह अलंकार नहीं है।

> दामोदरकराघातचूर्णिताशेषवक्षसा।
> दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥

यहाँ कृष्ण के हाथों की करारी चोट पड़ने पर चाणूरमल्ल को आकाश में सौ चाँद दिखाई पड़े—यह भ्रांति भी सादृश्यप्रयोजित न होकर गाढमर्मप्रहार के कारण है, अतः यहाँ भी भ्रांतिमान् अलंकार नहीं है।

(९) उल्लेख

दीक्षित ने उल्लेख के दोनों प्रकारों का विवेचन किया है। उल्लेख का लक्षण उपन्यस्त करते बताया गया है कि 'जहाँ एक ही वस्तु का निमित्तभेद के कारण अनेकों के द्वारा अनेक प्रकार से उल्लेख किया जाय वहाँ उल्लेख होता है।'

> निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा।
> उल्लेखनमनेकेन तमुल्लेखं प्रचक्षते ॥ (चित्र० पृ० ७७)

इस लक्षण में मुख्य बातें ये हैं :—

(१) एक ही वस्तु का अनेक व्यक्ति निमित्त भेद के कारण अनेकधा अनुभव करें। इस प्रकार 'अनेकेन' के द्वारा मालारूपक का वारण हो जाता है, क्योंकि वहाँ अनुभविता एक ही होता है, अनेक नहीं।

(२) साथ ही यह अनुभव 'अनेक प्रकार' का हो। यदि अनेक व्यक्ति एक सा ही अनुभव करेंगे तो उल्लेख न होगा।

(३) जिस वस्तु का 'अनेकधा' उल्लेख हो वह एक ही हो, इस तरह इस लक्षण की अतिव्याप्ति 'शिञ्जानैर्मञ्जरीति' इत्यादि पद्य में न हो सकेगी, क्योंकि वहाँ तत्तत् स्तनकलशादि अनेक वस्तु तत्तत् मञ्जर्यादि के रूप में उल्लिखित हैं।

(४) साथ ही इस लक्षण में 'उल्लेखनं से तात्पर्य 'निषेधास्पृष्ट' वर्णन' है, अतः अपह्नुति की भी अतिव्याप्ति न हो सकेगी।

इसके बाद दीक्षित ने इसके दो भेद किये हैं :—शुद्ध उल्लेख तथा अलंकारान्तरसंकीर्ण उल्लेख। इनके कई उदाहरण दिए गये हैं।

उल्लेख का दूसरा प्रकार वहाँ माना गया है, 'जहाँ ग्रहीता के एक ही होते हुए भी विषय के आश्रय भेद के कारण एक ही वस्तु का अनेकधा उल्लेख हो।'

ग्रहीतृभेदाभावेऽपि विषयाश्रयभेदतः।
एकस्यानेकधोल्लेखमप्युल्लेखं प्रचक्षते ॥ (चित्र० पृ० ९०)

इसके भी दीक्षित ने शुद्ध तथा संकीर्ण दो भेद किये हैं, तथा इनके अनेक उदाहरण दिये हैं, जो चित्रमीमांसा में देखे जा सकते हैं।

(१०) अपह्नुति

अपह्नुति अलंकार का लक्षण निम्न है :—

'प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्।
साम्यादपह्नुतिर्वाक्यभेदाभेदवती द्विधा ॥' (चित्र० पृ० ९२)

'जहाँ प्रकृत पदार्थ के निषेध के द्वारा, सादृश्य के आधार पर अप्रकृत की कल्पना की जाय, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। यह एक वाक्यगत (वाक्याभेदवती) तथा द्विवाक्यगत (वाक्यभेदे) दो तरह की होती है।'

इस लक्षण में निम्न बातें पाई जाती हैं :—

(१) यद्यपि रूपक में 'अन्यत्वकल्पना'—प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना (आरोप) पाई जाती है, तथापि वहाँ प्रकृत का निषेध नहीं पाया जाता। अतः 'प्रकृतस्य निषेधेन' से रूपक का वारण होता है।

(२) आक्षेप अलंकार में विषय का निषेध ही पाया जाता है, वहाँ अन्यत्वकल्पन नहीं होता, साथ ही आक्षेप सादृश्यमूलक अलंकार भी नहीं है। अतः 'साम्यात्' तथा 'अन्यत्वकल्पनं' से आक्षेप का वारण होता है।

(३) साथ ही इस लक्षण की अतिव्याप्ति 'न पद्मं मुखमेवेदं' इस तत्त्वाख्यानोपमा (नामक दण्डी के उपमाभेद) में भी नहीं होगी, क्योंकि वहाँ अप्रकृत का निषेध कर प्रकृत की कल्पना पाई जाती है, जो उक्त सरणि से ठीक उलटी बात है।

(४) उक्त लक्षण में 'प्रकृतस्य निषेधेन' का प्रयोग करने का भी खास कारण है। कई आलंकारिकों ने इसके लक्षण में पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग किया है—'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः' या निषिध्य विषयं साम्यादारोपः'—किन्तु ऐसा करना ठीक नहीं। हम देखेंगे कि अपह्नुति अलंकार के दो प्रकार होते हैं—(१) कभी तो पहले वाक्य में प्रकृत का निषेध कर तदनंतर उस पर अप्रकृत का अरोप किया जाता है, (२) कभी पहले वाक्य में अप्रकृत का आरोप किया जाता है, तदनंतर प्रकृत का निषेध करते हैं। लक्षण में पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग करने पर यह लक्षण पहले भेद में तो संगत बैठेगा, पर दूसरे में नहीं। इसीलिए उक्त लक्षण में 'प्रकृतस्य निषेधेन' में तृतीयांत पद का प्रयोग किया गया है।

अपह्नुति के सर्वप्रथम दो भेद होते हैं :—वाक्यभेदवती तथा वाक्याभेदवती। वाक्यभेदवती में सदा दो वाक्य होंगे, एक में प्रकृत का निषेध होगा, दूसरे में अप्रकृत का आरोप। इनमें से कवि कभी प्रकृत के निषेध वाले वाक्य को पहले रखता है, कभी अप्रकृत के आरोप वाले वाक्य को। इसीलिए इसके दो भेद हो जाते हैं :—(१) अपह्नवपूर्वक आरोप (२) आरोपपूर्वक अपह्नव। एकवाक्यगता अपह्नुति में छल, कैतव, कपट, व्याज, वपुः आदि शब्दों के द्वारा प्रकृत का निषेध कर अप्रकृत का आरोप किया जाता है। इसमें उक्त दो भेद नहीं होते।

चित्रमीमांसा में दीक्षित ने एक अन्य अपह्नुतिभेद का भी संकेत किया है। वे बताते हैं कि कुछ विद्वानों का मत है कि जिस तरह सादृश्यव्यक्ति के लिए प्रयुक्त अपह्नव में अपह्नति अलंकार होता है वैसे ही अपह्नव (प्रकृत वस्तु के छिपाने के लिए) प्रयुक्त सादृश्यनिबंधन में भी अपह्नुति अलंकार होता है। दीक्षित के इस संकेत का आधार रुय्यक का अलंकारसर्वस्व है यद्यपि रुय्यक ने अपह्नुति के प्रकरण में वक्ष्यमाण अपह्नुतिभेद का संकेत नहीं किया है, तथापि अलंकारसर्वस्व के श्लेष प्रकरण के प्रसंग में निम्न पद्य को उद्धृत कर उसमें अपह्नुति का द्वितीय भेद माना है। पर इतना होते हुए भी रुय्यक तथा जयरथ इसे व्याजोक्ति में ही अन्तर्भावित मानने के पक्ष में हैं।

(दे० अलंकारसर्वस्व पृ० १३१)

'सादृश्यव्यक्तये यत्रापह्नवोऽसावपह्नुतिः।
अपह्नवाय सादृश्यं यत्रास्येषाप्यपह्नुतिः॥' (चित्र० पृ० ८५)

दीक्षित ने इस अपह्नति को ही कुवलयानंद में 'छेकापह्नुति' कहा है। इसका उदाहरण निम्न हैः—

आकृष्यादावमन्दग्रहमलकचयं वक्त्रमासज्य वक्त्रे,
कण्ठे लग्नः सुकण्ठः प्रसरति कुचयोर्दत्तगाढांगसंगः॥
बद्धासक्तिर्नितम्बे पतति चरणयोर्यः स तादृक् प्रियो मे,
बाले लज्जा निरस्ता न हि न हि सरले चोलकः किं त्रपाकृत्॥

'पहले पहल जोरों से केशसमूह को खींच कर, मुख में मुख डाल कर, वह सुन्दर कण्ठवाला कण्ठ में लग कर, स्तनों का गाढ़ालिंगन करता हुआ बढ़ता है, वह नितंब में आसक्त हो चरणों में गिरता है, ऐसा वह मुझे बहुत प्यारा है'—किसी सखी के इन वचनों को सुनकर दूसरी सखी कहती है—'बाले, क्या सचमुच तू बेशर्म हो गई है (जो प्रिय के साथ की गई अपनी रतिक्रीडा की बातें कर रही है)'। पहली सखी वास्तविकता को छिपाने के लिए कहती है 'नहीं, सरल बुद्धि

वाली सखी, नहीं, भला कहीं चोलक (गले से पैरों तक पहनने का औरतों का लम्बा ल्बादा, जिसे सिर से पहना जाता है) भी लज्जा का कारण बन सकता है।'

इसी सम्बन्ध में दीक्षित ने यह भी बताया है कि उद्भटादि आलंकारिक व्याजोक्ति अलंकार नहीं मानते, अतः उनके मत से यह अपह्नुति का ही भेद है, किन्तु रुचक (रुय्यक) आदि के मत में यहाँ अपह्नुति न होकर व्याजोक्ति मानी जायगी।[१]

अन्त में दीक्षित ने इस बात का भी संकेत किया है कि दण्डी के मतानुसार साधर्म्येतर सम्बन्ध में भी अपह्नुति होती है। अतः दण्डी किसी भी वस्तु के निषेध करने तथा अन्य वस्तु की कल्पना करने में अपह्नुति मानते हैं :—

अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थसूचनम्।
न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति ॥'

(११) उत्प्रेक्षा

अभेद प्रधान अलंकारों के बाद दीक्षित ने अध्यवसायमूलक अलंकारों को लिया है। इस कोटि में केवल दो अलंकार आते हैं—उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति। उत्प्रेक्षा के प्रकरण में दीक्षित ने विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय से लक्षण देकर उस पर विचार किया है। विद्यानाथ का लक्षण यह है :—

'यत्रान्यधर्मसंबंधादन्यत्वेनोपतर्कितम्।
प्रकृतं हि भवेत्प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥' (चि० पृ० ८६)

'जहाँ अप्रकृत पदार्थ के धर्मसंबंध के कारण प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना (संभावना) की जाय, उसे विद्वान् लोग उत्प्रेक्षा अलंकार कहते हैं।'

इस लक्षण में निम्न बातें हैं :—

(१) प्रकृत में अप्रकृत की संभावना की जाती है।

(२) प्रकृत में अप्रकृत की संभावना किसी धर्मसंबंध के कारण की जाती है।

उक्त लक्षण में 'उपतर्कितम्' पद से लक्षणकर्ता का तात्पर्य 'संभावना' है, 'निश्चय' से नहीं। यही कारण है, जिस धर्मसंबंध के कारण उत्प्रेक्षा घटित होती है, वह केवल तादात्म्यसंभावना का हेतु है, उसे हम 'पर्वतोऽयं वह्निमान्, धूमात्' में पाये जाने वाले हेतु 'धूम' की तरह निश्चयात्मक हेतु नहीं कह सकते। इसी संबंध में दीक्षित ने इस बात का भी संकेत किया है कि कई स्थानों पर 'इव' शब्द के द्वारा भी संभावना की जाती है, जैसे **'सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्'** में। ऐसे स्थानों पर 'इव' सादृश्यवाचक शब्द नहीं है, अतः यहाँ उपमा नहीं मानी जा सकती। दीक्षित ने दण्डी का प्रमाण देकर इस बात को पुष्ट किया है कि उन्होंने उत्प्रेक्षावाचक शब्दों में 'इव' का समावेश किया है, तथा काव्यप्रकाश के टीकाकार चक्रवर्ती के इस मत का संकेत किया है कि जब उपमान लोकसिद्ध हो तो 'इव' उपमावाचक होता है और जब वह लोकसिद्ध न होकर कल्पित होता है तो 'इव' उत्प्रेक्षावाचक 'संभावनापरक' होता है।

---

१. अत्रेदमपह्नुतिकथनं व्याजोक्त्यलंकारं पृथगनंगीकुर्वतामुद्भटादीनां मतमनुसृत्य। ये तु उद्भिन्न-वस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिरिति व्याजोक्त्यलंकारं पृथगिच्छन्ति तेषामिहापि व्याजोक्तिरेव नापह्नुति-रिति रुचकादयः। (चित्रमीमांसा पृ० ८५)

(१) उक्त लक्षण का 'अन्यधर्मसंबंधात्' पद इस बात का संकेत करता है कि जहाँ किसी धर्म को निमित्त बनाकर प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना की जायगी, वहीं उत्प्रेक्षा होगी। यही कारण है, इस लक्षण की अतिव्याप्ति 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' वाली अतिशयोक्ति तथा संभावना अलंकार में न हो सकेगी, क्योंकि वहाँ निर्निमित्तक कल्पना पाई जाती है।

(२) साथ ही यह कल्पना सदा अप्रकृत के रूप में की गई हो, इस बात का संकेत करने के लिए 'अन्यत्वेनोपतर्कितम्' कहा गया है। यदि प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना न होकर केवल संभावनामात्र पाई जायगी तो वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार न हो सकेगा। अतः जहाँ धूल को सामने उड़ती देखकर राम यह शंका करते हैं कि संभव है हनूमान् से राम का आगमन सुनकर ससैन्य भरत उनकी आगवानी करने आ रहे हैं, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार नहीं है।

विरक्तसंध्यापरुषं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः॥

(३) 'उपतर्कितम्' पद का प्रयोग अनुमान अलंकार का वारण करता है, क्योंकि अनुमान में लिंग के द्वारा लिंगी का अवधारण या निश्चय हो जाता है, वहाँ तर्क या कल्पना नहीं होती।

(४) साथ ही यह भी आवश्यक हो कि यह कल्पना प्रकृत से ही संबद्ध हो इसलिये 'प्रकृत' पद का प्रयोग किया गया है। जहाँ कहीं अप्रकृत से संबद्ध कोई संभावना पाई जायगी, वहाँ उत्प्रेक्षा न होगी, जैसे 'सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव' में, जहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार माना गया है।

विरोधी विद्वान् उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष मानते हैं। उनके मत से उत्प्रेक्षा के कई ऐसे स्थल देखे जा सकते हैं, जहाँ वर्णित संभावना निमित्त या तो केवल प्रकृतमात्र का धर्म होता है, या केवल अप्रकृतमात्र का। ऐसे स्थिति में दोनों के धर्मों में परस्पर संबंध न होने से 'अन्यधर्मसंबंधात्' वाला लक्षणांश ठीक न बैठ सकेगा। फिर तो ऐसे स्थलों में आपके अनुसार उत्प्रेक्षा न हो सकेगी।

अंगुलीभिरिव केशसंचयं संनियम्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥[1]

यहाँ 'अंगुलियों के समान किरणों के द्वारा केशपाश के समान अंधकार के ग्रहण रूप निमित्त के कारण चन्द्रमा के द्वारा रजनीमुख को चूमना संभावित किया गया है'। उक्त निमित्त केवल प्रकृत का ही धर्म है, अप्रकृत का नहीं, क्योंकि धर्मांश में उपमा होने के कारण वहाँ 'किरणों' व 'अंधकार' की ही मुख्यता है।

साथ ही 'अन्यत्वेनोपतर्कितम्' में प्रयुक्त 'अन्यत्वेन' का अर्थ केवल 'अप्रकृतत्वेन' है। अतः इस दृष्टि से जहाँ धर्मिसंबंधी वस्तूत्प्रेक्षा या स्वरूपोत्प्रेक्षा होगी, वहीं यह लक्षण घटित हो सकेगा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा तथा धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा में आपका लक्षण संगत न हो सकेगा, क्योंकि वहाँ तो प्रकृत की अन्यत्वकल्पना होती नहीं, (अपितु प्रकृत के फल या हेतु की अन्यत्वकल्पना होती है)। अतः यह लक्षण निम्न पद्य जैसे उत्प्रेक्षास्थलों में लागू न हो सकेगा।

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥

'हे सीता, यह ठीक वही जगह है, जहाँ तुम्हें ढूँढते हुए मैंने जमीन पर गिरे एक नूपुर को देखा था, जो मानों तुम्हारे चरणारविंद के वियोग के दुःख से मौन हो रहा था।'

१. इसकी हिंदी व्याख्या के लिये दे० हिंदी कुवलयानंद पृ० २९०।

यहाँ नूपुर के 'मौनित्व' रूप निमित्त (धर्म) के कारण उसके हेतु 'दुःख' की संभावना की गई है। यदि यहाँ नूपुर में 'दुःखी' (मनुष्य) की कल्पना की जाती तो वस्तूत्प्रेक्षा हो सकती है, किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है।

(५) हम कई ऐसे स्थल भी देखते हैं, जहाँ अप्रकृतधर्मिक उत्प्रेक्षा भी पाई जाती है, पर आपके लक्षण में 'प्रकृत' पद के कारण यह स्पष्ट है कि उत्प्रेक्षा अलंकार में केवल प्रकृतधर्मिक उत्प्रेक्षा ही हो। तब तो यह लक्षणांश निम्न पद्य में लागू न हो सकेगा।

हृतसारमिवेन्दुमंडलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगंभीरखनीखनीलिम॥

'ऐसा जान पड़ता है कि ब्रह्मा ने दमयन्ती के मुख का निर्माण करने के लिये मानों चन्द्रमा के सारभाग का अपहरण कर लिया है; तभी तो बिंब के बीच में रिक्त स्थान वाले इस चन्द्रमा में गम्भीर गड्ढे के बीच से यह आकाश की नीलिमा दिखाई दे रही है।'

इस पद्य में चन्द्रमंडल के विषय में यह उत्प्रेक्षा की गई है कि उसका सार दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिए ले लिया गया है। इस प्रकार यहाँ अप्रकृतधर्मिक उत्प्रेक्षा है। इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि इस पद्य में प्रकृतधर्मिक उत्प्रेक्षा नहीं है। यदि कवि इस प्रकार की कल्पना करता कि दमयन्ती का मुख मानों चन्द्रमा के सार का अपहरण कर उससे बनाया गया है तो यहाँ प्रकृतधर्मिक उत्प्रेक्षा हो सकती है। वस्तुतः 'हृतसारमिवेंदुमंडलं' में 'इव' का अन्वय 'हृतसारं' के साथ होगा, जो 'इन्दुमंडल' का विशेषण है, अतः संभावनापरक इव शब्द अप्रकृतधर्मिक उत्प्रेक्षा को ही पुष्ट करता है।

दीक्षित के मत से उक्त लक्षण दुष्ट नहीं है। दीक्षित ने शंकाकार की उपर्युक्त शंकाओं का यथोचित निराकरण किया है।

(१) उक्त उत्प्रेक्षालक्षण की 'हृतसारमिवेंदुमंडलं' इत्यादि पद्य में अव्याप्ति हो, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः प्रकृत शब्द से हमारा तात्पर्य केवल 'उपमेय' (मुखादि) से ही न होकर 'विषयत्व' मात्र से है। ऐसी स्थिति में 'उपमान' (चन्द्रादि) भी प्रकृत हो सकते हैं।

(२) आपका यह कथन कि उक्त लक्षण हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा तथा धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा में लागू नहीं होगा, ठीक नहीं। वस्तुतः 'अन्यत्वेनोतर्कितम्' में 'अन्यत्वेन' का अर्थ 'अन्य प्रकार से' है, इस अर्थ के लेने पर हम देखते हैं कि जैसे एक धर्मी में अन्य धर्मी की तादात्म्यसंभावना की जाती है, वहाँ अन्य धर्मी 'अन्य प्रकार' है ही, ठीक उसी तरह जहाँ कोई एक धर्म हेतुरूप में, फलरूप में या स्वरूपतः संभावित किया जाता है, वहाँ भी वह धर्म अन्य प्रकार का होता ही है। इस तरह उक्त लक्षण इन उत्प्रेक्षाभेदों में भी घटित हो ही जाता है।

उत्प्रेक्षा में उपमा की भाँति अनुगामी, साधारण धर्म, बिंबप्रतिबिंबभावरूप धर्म—सभी प्रकार का धर्म पाया जाता है।

इसके बाद दीक्षित ने उत्प्रेक्षा के भेदोपभेद का संकेत किया है। कुवलयानन्द में दीक्षित ने केवल छः उत्प्रेक्षाएँ ही मानी हैं :—उक्तविषया तथा अनुक्तविषया वस्तुहेतुफलोत्प्रेक्षा। अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक के भेदोपभेद का संकेत करते दीक्षित ने चित्रमीमांसा में बताया है कि रुय्यकने उत्प्रेक्षा के ९६ भेद माने हैं। प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ का उत्प्रेक्षा विभाग विशेष विस्तृत है, उसने उत्प्रेक्षा के १०४ भेद माने हैं। इसके बाद दीक्षित ने प्रमुख-प्रमुख उत्प्रेक्षाभेदों का विस्तार से विवेचन किया है, जो चित्रमीमांसा में द्रष्टव्य है।

(१२) अतिशयोक्ति

चित्रमीमांसा में अतिशयोक्ति का प्रकरण अधूरा-ही मिलता है ! दीक्षित ने प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ के अतिशयोक्ति लक्षण को उपन्यस्त कर उसकी परीक्षा की है। विद्यानाथ का अतिशयोक्ति लक्षण निम्न है :—

'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते।
यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिजीविता॥'

'जहाँ विषय (उपमेय) का अनुपादान करते हुए केवल विषयी (उपमान) का ही निबंधन किया जाय, वहाँ अतिशयोक्ति होती है। यह अतिशयोक्ति कविप्रौढोक्ति की आत्मा है।'

इस संबन्ध में दीक्षित ने बताया है कि उक्त लक्षण मानने वाले आलंकारिकों ने अतिशयोक्ति के केवल चार ही भेद माने हैं:—भेदे अभेदः, अभेदे भेदः, संबन्धे असंबन्धः, असंबन्धे संबन्धः। मम्मट तथा रुय्यक के द्वारा सम्मत अतिशयोक्ति के अन्य भेद—कार्यकारणपौर्वापर्य—का संकेत वे सादृश्यमूलक अलंकारों में न कर कार्यकारणमूलक अलंकारों में करते हैं।[1]

दीक्षित ने उक्त लक्षण का विचार करते हुए पूछा है कि 'विषयस्यानुपादानात्' पद से विद्यानाथ का क्या तात्पर्य है ? इसके दो अर्थ हो सकते हैं या तो (१) विषय के प्रतिपादक का अभाव हो, (२) या फिर विषय के वाचक पद का अभाव हो। विद्यानाथ का तात्पर्य किस अर्थ में है। यदि वे 'विषयस्य प्रतिपादकाभावः' अर्थ लेंगे, तो 'भेदे अभेदः' वाले उदाहरणों में जहाँ विषय के लिए उसके लाक्षणिक विषयिवाचक पद का प्रयोग होता है, यह लक्षण लागू न हो सकेगा। जब हम 'मुख' के लिए 'कमल' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो यहाँ 'कमल' शब्द लक्षणा से 'मुख' का प्रतिपादक तो है ही, भले ही वह वाचक (अभिधावृत्ति के द्वारा प्रत्यायक) न हो। अतः पहला अर्थ लेने में यह दोष है। यदि दूसरा अर्थ—'विषयस्य वाचकाभावः'—लेना है, तो भी आपत्ति हो सकती है। हम एक ऐसा उदाहरण ले लें, जहाँ श्लेषमूला अतिशयोक्ति पाई जाती है—'चुम्बतीव रजनीमुखं शशी'। यहाँ 'मुखं' पद में श्लेषमूलातिशयोक्ति है; एक ओर इसका अर्थ है—प्रदोष (रजनीमुख), दूसरी ओर वदन (रजनी-नायिका का मुख)। यहाँ वदनार्थक मुख ने प्रदोषार्थक मुख का निगरण कर लिया है। किंतु इतना होने पर भी उसमें 'तद्वाचकाभाव' (विषय के अभिधायक का न होना) नहीं है। वह रात्रि के आरंभ का भी वाचक है ही। फिर तो यह लक्षण इस उदाहरण में लागू न हो सकेगा।

पूर्वपक्षी इस दोष को यों हटाना चाहेगा। वह कह सकता है कि 'विषयस्यानुपादानात्' से हमारा तात्पर्य यह है कि विषयी (उपमान) के वाचक शब्द से अलग विषय-प्रतिपादक शब्द का अभाव हो। किंतु ऐसा मानने पर भी ठीक न होगा। हम एक उदाहरण ले लें—'उन्मीलितानि नेत्राणि पद्मानीवोदिते रवौ'। इस पंक्ति में 'उन्मीलितानि' के दो अर्थ हैं :—'खुल

---

१. प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ ने तो फिर भी अतिशयोक्ति के पाँचों भेदों का साथ-साथ ही वर्णन किया है। हाँ, पंचम भेद का लक्षण अलग से निबद्ध किया है। (दे० प्रतापरुद्रीय पृ० १९८, १९९) पर एकावलीकार विद्याधर ने सादृश्यमूलक अतिशयोक्ति में केवल चार ही भेदों का वर्णन किया है। पाँचवें भेद का वर्णन उसने भिन्न प्रकरण में विशेषोक्ति के बाद किया है। (दे० एकावली पृ० २३७ तथा पृ० २८५)

जाना' (वाच्यार्थ), 'विकसित हो जाना' (लक्ष्यार्थ)। ये दोनों अर्थ एक दूसरे से परस्पर भिन्न हैं ही। आप वाला अर्थ लेने पर तो उक्त लक्षण यहाँ लागू नहीं होगा।

एक दलील यह भी दी जा सकती है कि उक्त पद से हमारा तात्पर्य यह है कि विषयिप्रतिपादक शब्द से अलग अन्य विषयप्रतिपादक का अभाव हो। पर हम ऐसे स्थल पेश कर सकते हैं, जहाँ विषयिप्रतिपादक तथा विषयप्रतिपादक का अलग-अलग प्रयोग किये जाने पर भी अतिशयोक्ति मानी जाती है :—

पल्लवतः कल्पतरोरेष विशेषः करस्य ते वीर।
भूषयति कर्णमेकः परस्तु कर्णं तिरस्कुरुते॥

इस पद्य में 'कर्ण' का अर्थ कान तथा कुन्तीपुत्र कर्ण दोनों हैं, अतः यहाँ श्लेष है। ध्यान देने की बात यह है कि दोनों स्थानों पर 'कर्ण' पद के दो-दो अर्थ होंगे, अतः यहाँ यमक अलंकार न होगा। वहाँ श्लेषमूलातिशयोक्ति है। इस पद्य में विषयिप्रतिपादक 'कर्ण' तथा विषयप्रतिपादक 'कर्ण' का अलग-अलग प्रयोग पाया जाता है, अतः यह तात्पर्य लेने पर कि जहाँ उनका अलग-अलग प्रयोग न होगा वहीं अतिशयोक्ति हो सकेगी, उक्त लक्षण यहाँ संगत न बैठ सकेगा।

पूर्वपक्षी फिर एक दलील देगा। वह यह कह सकता है कि 'विषयस्यानुपादानात्' से हमारा तात्पर्य यह है कि विषयिप्रतिपादक शब्द से सर्वथा भिन्न (विलक्षण) विषयप्रतिपादक का अभाव हो। (ऐसा मानने पर तो 'भूषयति कर्णमेकः…' इत्यादि में उक्त लक्षण की व्याप्ति हो जायगी क्योंकि वहाँ दोनों के तत्तत् प्रतिपादक अलग-अलग होते हुए भी 'एक ही' (कर्ण) हैं, सर्वथा विलक्षण नहीं।) पर इसमें भी दोष है। निम्न उदाहरण ले लें—

उरोभुवा कुंभयुगेन जृंभितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत्॥

इस पद्य में 'कुंभयुगेन' (विषयिप्रतिपादक) के द्वारा 'कुचद्वय' (विषय) का निगरण कर लिया गया है। किन्तु कवि ने साथ ही 'उरोभुवा' पद के द्वारा विषयिप्रतिपादक विलक्षण विषयप्रतिपादक का भी प्रयोग किया ही है। संभवतः पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि 'उरोभुवा' पद विषयिप्रतिपादकविलक्षण है, किन्तु वह 'विषयतावच्छेदक' (कुचद्वय के विशिष्ट धर्म) के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है, अतः जहाँ 'विषयतावच्छेदक' रूप में विषयिप्रतिपादकविलक्षण विषयप्रतिपादक हो, उसको हम अतिशयोक्ति में न मानेंगे। पर इतना होते हुए भी कई ऐसे भी स्थल हैं जहाँ अतिशयोक्ति में विषयी के प्रतिपादक शब्द का प्रयोग पाया जाता है, साथ ही उससे सर्वथा विलक्षण ऐसे विषयप्रतिपादक शब्द का भी प्रयोग होता है, जो 'विषयतावच्छेदक' रूप में विवक्षित होता है। जैसे निम्न पद्य में—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं यत्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय॥

'हे सुंदरि, मेरी समझ में अंधकार के विषय में विचार करने में वैशेषिक दर्शन सबसे अधिक सुंदर है, क्योंकि उस दर्शन को 'औलूक दर्शन' (उल्लू की दृष्टि वैशेषिक दर्शन का दूसरा नाम) कहा जाता है, तभी तो वह 'अंधकार' तत्त्व के निरूपण में समर्थ है।

इस पद्य में 'औलूकं दर्शनं' (उल्लू की दृष्टि) विषयी है, 'वैशेषिकं मतं' (वैशेषिक दर्शन) विषय। कवि ने दोनों के प्रतिपादक शब्दों का प्रयोग अलग २ किया है, साथ ही विषय प्रतिपादक

पद सर्वथा विलक्षण है तथा उसका प्रयोग विषयतावच्छेदक के रूप में हुआ है। अतः उक्त अर्थ लेने पर आप का लक्षण यहाँ ठीक नहीं बैठेगा, जब कि यहाँ भी अतिशयोक्ति अलंकार है ही।

साथ ही विषयिप्रतिपादक विलक्षण विषयप्रतिपादक का अभाव अर्थ लेने पर तो 'रामरावण-योर्युद्धं रामरावणयोरिव' में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि यहाँ भी उपमेय का प्रतिपादक शब्द उपमान के प्रतिपादक से विलक्षण नहीं है। संभवतः पूर्वपक्षी यह उत्तर देगा कि यहाँ तो अनन्वय अलंकार है, अतः अभेद कल्पना न होने से यहाँ उपमानोपमेय विषय-विषयी नहीं कहलाते। विषय हम उसे कहेंगे जिसका किसी अन्य वस्तु के साथ सादृश्य के आधार पर अभेद स्थापित किया जाता है। इस तरह अनन्वय के उपमान तथा उपमेय में अभेद स्थापना न होने से वे विषयी तथा विषय नहीं हैं। पूर्वपक्षी का यह उत्तर ठीक है, किंतु अभेद स्थापना रूपक में तो पाई जाती है, अतः उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति श्लिष्ट रूपक में तो होगी ही, क्योंकि वहाँ विषय तथा विषयी दोनों का वाचक पद एक ही बार प्रयुक्त होता है, अलग-अलग नहीं। यदि आप कहें कि रूपक में केवल ताद्रूप्यारोप होता है, अतिशयोक्ति में अभेदाध्यवसाय, तो यह मत ठीक नहीं, वस्तुतः रूपकमें भी अभेदाध्यवसाय पाया जाता है। साथ ही इसकी अति-व्याप्ति सारूप्यनिबंधन समासोक्ति में भी पाई जाती है।

अतः उक्त अतिशयोक्ति लक्षण दुष्ट है। चित्रमीमांसा यहीं समाप्त हो जाती है।

'अप्यर्धचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरुरिव धर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः ॥'

(६)

'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति है—'अलंकरोतीति अलंकारः' 'वह पदार्थ जो किसी की शोभा बढ़ाये, किसी को अलंकृत करे'। लौकिक अर्थ में हम उन कटक कुण्डलादि स्वर्णाभूषणों को, जो शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, अलंकार कहते हैं। ठीक इसी तरह काव्य के उन उपकरणों को जो कविता-कामिनी की शोभावृद्धि करते हैं, अलंकार कहा जाता है। काव्य की मीमांसा करते समय हम देखते हैं कि काव्य के उपादान शब्द और अर्थ—शब्दार्थ—हैं। जिस प्रकार हमारे शरीर की संघटना रक्त, मांस, अस्थिपंजर से बनी हुई है, ठीक वैसे ही काव्य की संघटना के विधायक तत्त्व शब्दार्थ हैं। शब्द तथा अर्थ वैसे तो दो तत्त्व हैं, किंतु ये दोनों परस्पर इतने संश्लिष्ट हैं कि शब्द के बिना अर्थ का अस्तित्व नहीं रह पाता तथा अर्थ के बिना शब्द केवल 'नाद' मात्र है। किंतु शब्दार्थ तो लौकिक वाक्यों में भी पाये जाते हैं, तो क्या शब्दार्थ को काव्य मानने पर समस्त लौकिक वाक्य काव्य होंगे? इस शंका के निराकरण करने के लिए जब तक शब्दार्थ के साथ किन्हीं विशेष विशेषणों का उपादान न कर दिया जायगा, तब तक काव्य की निर्दुष्ट परिभाषा न बन पायगी। वस्तुतः काव्य होने के लिए शब्दार्थ का रसमय होना आवश्यक है। जब तक शब्दार्थ रसमय न होंगे तब तक वे काव्यसंज्ञा का वहन न कर सकेंगे। काव्य में रस का ठीक वही महत्त्व है, जो शरीर में आत्मा का। यही कारण है विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा ही 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' निबद्ध की। रस के अतिरिक्त काव्य के अन्य उपकरण गुण, रीति तथा अलंकार है। गुण वस्तुतः रस के धर्म हैं। जैसे आत्मा के धर्म शूरता, कायरपन, दानशीलता आदि हैं, वैसे माधुर्य, ओजस् तथा प्रसाद रस के धर्म हैं। रीति शरीर का अवयवसंस्थान है, जिस तरह प्रत्येक शरीर की विशेष प्रकार की संघटना पाई जाती है, वैसे ही

काव्य में वैदर्भी, गौडी, पांचाली आदि रीतियाँ हैं। 'अलंकार' शरीर की शोभा बढ़ाने वाले धर्म हैं, जिस तरह कड़ा, अंगूठी, हार आदि के पहनने से शरीर की साथ ही शरीरी की भी शोभा बढ़ती है, वैसे ही शब्दालंकार या अर्थालंकार के विनियोग से काव्य के चमत्कार में अभिवृद्धि होती है। इनके अतिरिक्त एक और तत्त्व है—दोष। जिस प्रकार शरीर में पाये जाने वाले काणत्व, खंजत्वादि दोष शरीर की शोभा का अपहरण करते हैं, उसी प्रकार काव्य में पाये जाने वाले पदादि दोष काव्य के शोभाविघातक सिद्ध होते हैं। अतः कुशल कवि काव्य में सदा औचित्य का ध्यान रखते हुए 'दोषों' को बचाने की चेष्टा करता है तथा रस, गुण, रीति एवं अलंकार का यथोचित विनियोग करता है।

चूंकि काव्य में रसवत्, सगुण सालंकार तथा निर्दोष शब्दार्थ का होना जरूरी है, यही कारण है मम्मटाचार्य ने काव्य की परिभाषा ही 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' निबद्ध की है। मम्मट के मत से 'वे शब्दार्थ, जो गुणयुक्त, दोषरहित तथा कहीं कहीं अनलंकार भी हों, काव्य कहलाते हैं'। मम्मट की इस परिभाषा के विषय में दो प्रश्न हो सकते हैं—पहले तो मम्मट ने रस व रीति का कोई संकेत नहीं किया ? दूसरे मम्मट ने इस बात पर जोर दिया है कि काव्य में कभी-कभी अलंकार न भी हों, तो काम चल सकता है, तो क्या काव्य में अलंकारों का होना अनिवार्य नहीं ? यद्यपि मम्मट ने रस व रीति का स्पष्टतः कोई संकेत नहीं किया है तथापि 'सगुणौ' पद के द्वारा 'रस' का संकेत कर दिया गया है। गुण वस्तुतः आत्मा या रस के धर्म हैं; कोई भी धर्म बिना धर्मी के स्थित नहीं रह सकता, अतः अविनाभावसम्बन्ध से 'सगुणौ' 'सरसौ' की व्यंजना कराते हैं। इस प्रकार मम्मट ने 'सगुणौ' के द्वारा इस बात को द्योतित किया है कि शब्दार्थ रसमय हों। साथ ही रीति का भी गुण से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण 'सगुणौ' से 'रीतिमय' की भी व्यंजना हो जाती है। दूसरा प्रश्न निःसंदेह विशेष महत्त्व का है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में बताया है कि कई काव्यों में स्फुटालंकार के न होने पर भी चमत्कारवत्ता पाई जाती है। हम ऐसे उदाहरण दे सकते हैं, जहां स्पष्टरूपेण कोई अलंकार नहीं, यदि हम परिभाषा में 'सालंकारौ' विशेषण देते हैं, तो ऐसे उदाहरण में अकाव्यत्व उपस्थित होगा, इसीलिए हमने इस बात का संकेत किया है कि वैसे तो काव्य के शब्दार्थ सालंकार होने चाहियें, पर यदि कभी २ अनलंकार भी हों तो कोई हानि नहीं।

निम्न पद्य में अनलंकार शब्दार्थ होने पर भी काव्यत्व है ही।

> यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपाः
> ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
> सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ,
> रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥

'यद्यपि मेरा वर वही है, जिसने मेरे कौरीपन को छीना था, ये वे ही चैत्र की रातें हैं, खिले हुए मालती पुष्प की सुगन्ध से भरे कदम्ब वायु के वे ही झकोरे हैं, और मैं भी वही हूं, तथापि मेरा मन नर्मदा नदी के तीर पर बेत के वृक्ष के नीचे सुरतक्रीडा करने के लिए उत्सुक हो रहा है।'

उक्त पद्य में स्पष्टतः कोई अलंकार नहीं है, यहां मुख्य चमत्कार रस (शृङ्गार) का ही है। वैसे इसमें विभावना तथा विशेषोक्ति का संदेहसंकर माना जा सकता है, किन्तु वह भी स्फुट नहीं। इसीलिए मम्मटाचार्य ने बताया है कि यहाँ कोई स्फुट अलंकार नहीं है—'अत्र स्फुटो न

कश्चिदलंकारः'। सम्भवतः कुछ लोग यह कहें कि यहाँ 'रसवत्' अलंकार तो है ही, तो मम्मट इस शंका का निराकरण करते कहते हैं कि 'रस यहाँ मुख्य है, यदि वह गौण होकर अन्य रसादि का अंग हो जाता, तो 'रसवत्' अलंकार माना जा सकता था, अतः वह यहाँ अलंकार्य है, अलंकार नहीं—'**रसस्य च प्राधान्यान्नालंकारता**'।

यहीं दो प्रश्न उपस्थित होते हैं :—क्या रस को भी अलंकार नहीं माना जा सकता, जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति आदि काव्य चमत्कार के कारण होने से अलंकार कहलाते हैं, वैसे ही रस (शृङ्गारादि रस) भी काव्य चमत्कार का कारण होने से अलंकार मान लिया जाय ? क्या काव्य में (उपमादि) अलंकार का होना अत्यावश्यक नहीं है ? मम्मटाचार्य तथा अन्य ध्वनिवादी अलंकारिक इन दोनों प्रश्नों का उत्तर यों देते हैं :—

'रस काव्य की आत्मा है, उसकी व्यंजना शब्दार्थ कराते हैं, तथा वह काव्यवाक्य का वाच्यार्थ न होकर व्यंग्यार्थ होता है। वह अलंकार्य है, इसीलिए उसे अलंकार नहीं कहा जा सकता। अलंकार तो वे होते हैं, जो किसी पदार्थ की शोभा बढ़ाते हैं, अर्थात् वे 'शोभातिशायी' हो सकते हैं, शोभा के उत्पादक नहीं। काव्य में 'रस' का होना अत्यावश्यक है, किन्तु अलंकार का होना अनिवार्य नहीं, साथ ही अलंकार शब्द तथा अर्थ के उपस्कारक बन कर काव्य में स्थित उसी रस के उपस्कारक बनते हैं, ठीक वैसे ही जैसे हारादि अलंकार शरीर की शोभा बढ़ाने के द्वारा आत्मा की शोभा बढ़ाते हैं :—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ (काव्यप्रकाश ८.२)

कभी-कभी 'रस' भी अलंकार हो सकता है, पर वह तभी अलंकार बन सकता है, जब वह प्रधान न होकर किसी अन्य रसादि का अंग हो। जहाँ कोई एक रस अन्य रस का उपस्कारक तथा अंग बन कर आय, वहाँ वह अलंकार्य तो हो न सकेगा, क्योंकि अलंकार्य तो वह अन्य रस होगा, ऐसी स्थिति में उसे अलंकार कहा जा सकता है। अतः ध्वनिवादी 'रसवत्' अलंकार वहाँ मानेगा जहाँ रस किसी अन्य रस का अंग बन जाय तथा वहाँ अपरांग गुणीभूत व्यंग्य काव्य हो।

अलंकारवादी ध्वनिवादी के उक्त मत से सहमत नहीं। भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास का अनुशीलन करने पर पता चलेगा कि 'रस' को काव्यात्म के रूप में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय ध्वनिकार आनन्दवर्धन को है तथा उन्होंने अलंकार्य तथा अलंकार के भेद को स्पष्ट करते हुए रस तथा उपमादि अलंकार का पार्थक्य सिद्ध किया है। ध्वनिवादियों से प्राचीन आलंकारिक रस का महत्त्व केवल दृश्य काव्य में ही मानते हैं। नाट्याचार्य भरत ने दृश्यकाव्य में रस की महत्ता स्वीकार की थी। किंतु श्रव्य काव्य में उपमादि अलंकारों का ही प्राधान्य रहा। भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुद्रट जैसे अलंकारवादियों ने श्रव्य काव्य में अलंकारों को ही महत्त्व दिया है, तथा गुण एवं अलंकार से रहित कविता को विधवा के समान घोषित किया है :—'**गुणालंकाररहिता विधवेव सरस्वती**।' इनके मत से सुन्दर से सुन्दर रमणी का वदन भी बिना अलंकारों के शोभा नहीं पाता, ठीक वैसे ही सुन्दर से सुन्दर काव्य भी अलंकारों के अभाव में श्रीहीन दिखाई पड़ता है-'**न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्**।' उपमादि अलंकारों की भाँति रस को भी एक अलंकार मान लिया गया। भामह, दण्डी तथा उद्भट ने रसवद्, प्रेयस्, ऊर्जस्विन् तथा समाहित अलंकार के द्वारा रस भावादि अलंकार्य समावेश अलंकारों में ही कर लिया था। यद्यपि

भामहादि के मत का खण्डन कर आनंदवर्धन ने रस की महत्ता प्रतिष्ठापित कर दी थी, तथापि कुछ आलंकारिक भामह के ही मत को मानते पाये जाते हैं, ये लोग अलंकारों के मोह को नहीं छोड़ पाये हैं। वाग्भट आदि कई आलंकारिकों ने फिर भी रस को अलंकार ही माना है। कुछ नव्य आलंकारिकों ने ध्वनिवादी के अलंकार्य एवं अलंकार के भेद को तो स्वीकार कर लिया है, किंतु वे इस मत से सहमत नहीं कि अलंकार्य काव्य के लिए अनिवार्य नहीं हैं। चन्द्रालोककार जयदेव ने मम्मट की उक्त परिभाषा के 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का खण्डन किया है। जयदेव का कहना है कि अलंकार काव्य के अनिवार्य धर्म हैं, ठीक वैसे ही जैसे उष्णत्व अग्नि का धर्म है। यदि उष्णत्व के बिना अग्नि का अस्तित्व हो सकता हो तो अलंकार के बिना भी काव्य का अस्तित्व हो सकता है।

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ (चन्द्रालोक)

इस संबंध में इस बात का भी संकेत कर दिया जाय कि काव्य की आत्मा रस एवं उनके उपस्कारक गुणालंकार के परस्पर संबंध के विषय में भी आलंकारिकों में परस्पर मतभेद हैं। अलंकारवादी विद्वान् उद्भट के मत को मानते हैं, जो गुण तथा अलंकार दोनों को काव्य के (या रस के) नियत धर्म मानते हैं। इनके मत से काव्य में दोनों का अस्तित्व होना अनिवार्य है। उद्भट ने उन लोगों के मत को गड्डलिकाप्रवाह बताया है जो इस बात की घोषणा करते हैं कि गुण काव्य में समवायवृत्ति से रहते हैं तथा अलंकार संयोगवृत्ति से। भाव यह है, उन लोगों के मत से गुण काव्य में अविनाभाव संबंध से अनुस्यूत रहते हैं, जब कि अलंकार ऊपर से ठीक उसी तरह संयुक्त होते हैं, जैसे शरीर के साथ कटककुण्डलादि का संयोग होता है, जिसे अलग भी किया जा सकता है तथा जिसके बिना भी शरीर का अस्तित्व बना रहता है। उद्भट ने लौकिक अलंकार तथा काव्यालंकार दोनों में समानता मानकर काव्य में इनकी स्थिति संयोग वृत्ति से मानने का खण्डन किया है। उनके मत से काव्यालंकार के विषय में यह बात लागू नहीं होती। काव्य में उपमादि अलंकार माधुर्यादि गुणों की ही भाँति समवाय वृत्ति से स्थित रहते हैं।[1]

वामन ने गुणालंकार प्रविभाग के विषय में दूसरी कल्पना की है। उनके मत से गुण काव्य के नियत धर्म हैं, दूसरे शब्दों में वे काव्य की शोभा के विधायक हैं, जब कि गुण उस शोभा की वृद्धि करने वाले हैं अर्थात् वे काव्य के अनित्य धर्म हैं।[2] ध्वनिवादी ने अंशतः वामन के इस मत को स्वीकार किया है कि गुण काव्य के नियत धर्म हैं तथा अलंकार अनित्य धर्म; गुण का होना काव्य में अत्यावश्यक है, जब कि अलंकार का होना अत्यावश्यक नहीं। तथापि ध्वनिवादी इस मत से सन्तुष्ट नहीं कि गुण काव्य शोभा के विधायक होते हैं। वस्तुतः ध्वनिवादी काव्य शोभा का वास्तविक कारण रस (या ध्वनि) को ही मानता है। तभी तो मम्मटाचार्य ने गुणों को वे नित्यधर्म माना है, जो शौर्यादि की भाँति काव्य के आत्मरूप रस के उत्कर्ष हेतु हैं :—

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ (काव्यप्रकाश ८:१)

---

१. 'समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या च हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः।

—भट्टोद्भट का मत (मम्मट के द्वारा उद्धृत) काव्यप्रकाश अष्टम उल्लास।

२. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३.१.१-२

जब कि अलंकार 'रस' के धर्म न होकर केवल उपकारक होते हैं, तथा वे इसके साथ साक्षात् संबंध न रख कर शब्दार्थ से संबद्ध होते हैं, साथ ही काव्य में वे आवश्यक नहीं होते। इसीलिए साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने अलंकार की परिभाषा निबद्ध करते समय इस बात का संकेत किया है कि अलंकार शब्दादि के अस्थिर धर्म होते हैं तथा उसके द्वारा रस के उपकारक होते हैं :—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माश्शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ (साहित्यदर्पण १०-१)

इस प्रकार स्पष्ट है :—

(१) अलंकार रस के धर्म न होकर शब्दार्थ के धर्म हैं, जब कि गुण रस के धर्म हैं।

(२) अलंकार शब्दार्थ के भी अनित्य या अस्थिर धर्म हैं, उनका शब्दार्थ में होना अनिवार्य नहीं, जबकि गुण रस के स्थिर धर्म हैं।

(३) अलंकार काव्य की शोभा के विधायक नहीं, वे तो केवल शोभा की वृद्धि भर करते हैं, शोभा की सृष्टि तो रस करता है।

(४) अलंकार शब्दार्थ की शोभा बढ़ा कर उसके द्वारा रस के उपस्कारक बनते हैं।

(५) ये ठीक वैसे ही रस के उपस्कारक होते हैं, जैसे अंगदादि आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा कर शरीरी के उपस्कारक बनते हैं।

अलंकारों का वर्गीकरण

हम देखते हैं कि अलंकार शब्दार्थ के अनित्य धर्म हैं, अतः शब्द एवं अर्थ दोनों के पृथक्-पृथक अलंकार होंगे। कुछ अलंकार शब्द से संबद्ध होते हैं, कुछ अर्थ से, कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो शब्द तथा अर्थ दोनों से संबद्ध होते हैं। इस तरह अलंकार तीन तरह के होंगे—शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। अलंकारों के विषय में मम्मटाचार्य का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि जो अलंकार जिस पर आश्रित हो, वह उसका अलंकार कहलाता है-'योयदाश्रितःस तदलंकारः'। भाव यह है, जो चमत्कार शब्द या अर्थ पर आश्रित हो वह शब्दालंकार या अर्थालंकार है तथा जो चमत्कार शब्दार्थ पर आश्रित हो वह उभयालंकार है। शब्दालंकार का वास्तविक चमत्कार शब्द पर आश्रित होने के कारण, उस शब्द को हटा कर उसके पर्यायवाची शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से चमत्कार नष्ट हो जायगा। इसीलिये शब्दालंकार सदा 'शब्दपरिवृत्ति' नहीं सह पाता, वह 'शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णु' होता है। अर्थालंकार में यह बात नहीं है, वहाँ वास्तविक चमत्कार शब्द में न होने के कारण किसी भी शब्द को हटाकर पर्यायवाची शब्दका प्रयोग करने पर भी चमत्कार बना रहता है। यही कारण है, अर्थालंकार 'शब्दपरिवृत्तिसहिष्णु' होता है। हम दो उदाहरण ले लें—

(१) कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
उहि खाये बौराय है, उहि पाये ही बौराय ॥

इस पद्य में 'यमक' नामक शब्दालंकार है। 'कनक' इस शब्द का दो बार भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयोग किया गया है, एक स्थान पर इसका अर्थ है 'सुवर्ण' दूसरे स्थान पर 'आक'। यहाँ चमत्कार इस प्रकार एक से ही पद के दो बार दो अर्थों में प्रयोग करने के कारण है। यदि एक भी अर्थ में हम शब्दपरिवृत्ति कर देंगे तो अलंकार नष्ट हो जायगा। 'कनक आकतें सौगुनी' पाठ करने पर पद्य का चमत्कार नष्ट हो जायगा तथा यहाँ कोई अलंकार न रहेगा।

(२) कमलमिव सुन्दरं तन्मुखम् ।

इस उक्ति में पूर्णोपमा अलंकार है। यदि इस उक्ति को 'अब्जमिव मनोहरं तयाननम्', 'पद्मसदृशं तद्वदनम्' इत्यादि रूपों में परिवर्तित कर दिया जाय, तो भी उपमा का चमत्कार बना रहता है। अतः स्पष्ट है, यहाँ हम शब्दपरिवृत्ति कर सकते हैं, जब कि उपर्युक्त उदाहरण में नहीं।

हम एक तीसरा उदाहरण ले लें :—'त्वन्मुखं रात्रौ दिवापि अब्जशोभां धत्ते' (तुम्हारा मुख रात में और दिन में भी अब्ज (चन्द्रमा, कमल) की शोभा को धारण करता है)। यहाँ दो अलंकार हैं, एक निदर्शना नामक अर्थालंकार, दूसरा श्लेष नामक शब्दालंकार। जहाँ तक निदर्शना वाला अंश है, उस अंश में शब्दपरिवृत्ति करने पर भी चमत्कार बना रहेगा, किंतु 'अब्ज' पद की परिवृत्ति कर 'चन्द्र' या 'कमल' एक पद का प्रयोग करने पर श्लेष का चमत्कार नष्ट हो जायगा। अतः इस उदाहरण में 'अब्ज' पद 'परिवृत्तिसहिष्णु' नहीं है, बाकी पद 'परिवृत्तिसहिष्णु' हैं। हम चाहे तो 'त्वदाननं निशि दिनेऽपि अब्जलीलामनुभवति' कर सकते हैं, तथा दोनों अलंकारों का चमत्कार अक्षुण्ण बना रहेगा।

शब्दालंकार :—शब्दालंकार की सबसे बड़ी विशेषता 'परिवृत्तिसहिष्णुत्व' है। इस आधार पर विद्वानों ने केवल छः शब्दालंकार माने हैं :—१. अनुप्रास, २. यमक, ३. श्लेष, ४. वक्रोक्ति, ५. पुनरुक्तवदाभास तथा ६. चित्रालंकार। सरस्वतीकंठाभरण में भोज ने २४ शब्दालंकारों की तालिका दी है पर उनमें अधिकतर शब्दपरिवृत्तिसहिष्णु हैं, अतः वे शब्दालंकार नहीं कहला सकते।

पठन्ति शब्दालंकारान् बहूनन्यान्मनीषिणः ।
परिवृत्तिसहिष्णुत्वात् न ते शब्दैकभागिनः ॥

इसीलिए काव्यप्रकाश के टीकाकार सोमेश्वर ने छः शब्दालंकार ही माने हैं :—

वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेषचित्रके ।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकृतयस्तु षट् ॥

दीक्षित ने कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा दोनों रचनाओं में शब्दालंकार का विवेचन नहीं किया है, इसका संकेत हम कर आये हैं। यहाँ संक्षेप में इन अलंकारों का लक्षणोदाहरण देना अनावश्यक न होगा।

(१) अनुप्रास :—जहाँ एक सी व्यञ्जन ध्वनियाँ अनेक शब्दों के आदि, मध्य या अन्त में क्रम से प्रयुक्त हों, वहाँ अनुप्रास होता है, दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि काव्य में समान वर्णों (व्यञ्जनों) का प्रयोग अनुप्रास है। (वर्णसाम्यमनुप्रासः। मम्मट)

उदाहरण :—

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः ।
नीयंते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥

अनुप्रास के छेक, वृत्ति, श्रुति तथा लाट ये चार भेद माने जाते हैं, जो अन्यत्र देखे जा सकते हैं।

(२) यमक :—जहां एक-से स्वरव्यञ्जनसमूह (पद) की ठीक उसी क्रम से भिन्न-भिन्न अर्थों में आवृत्ति हो, वहां यमक होता है।

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ (विश्वनाथ)

उदाहरण :—

नवपलाशपलाशवनं पुरःस्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतांतलतांतमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥

'राजा दशरथ ने नवीन पत्तों से युक्त पलाशवन वाले पराग से युक्त कमल वाले तथा कोमल लताओं के अग्रभाग वाले फूलों की सुगंध से भरे बसंत को देखा'।

इस पद्य में 'पलाश'–'पलाश', 'परागत–परागत' 'लतांत–लतांत' 'सुरभिं–सुरभिं' में एक-से स्वरव्यञ्जनसमूह की ठीक उसी क्रम से भिन्नार्थक आवृत्ति पाई जाती है, अतः यह यमक अलंकार है।

(३) श्लेप—श्लेप को मम्मटादि आलंकारिकों ने शब्दालंकार माना है। जहाँ श्लेप में शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व पाया जाता है, वहाँ ये अर्थश्लेप नामक अर्थालंकार मानते हैं, तथा जहाँ उसमें परिवृत्तिसहिष्णुत्व नहीं पाया जाता, वहाँ शब्दालंकार मानते हैं। इस संबंध में तीन मत हैं :—१. कुछ विद्वान् श्लेप के सभंग तथा अभंग दोनों भेदों को शब्दालंकार मानते हैं, जिनमें प्रमुख आलंकारिक मम्मट हैं।

२. कुछ आलंकारिक (रुय्यकादि) सभंगश्लेप को शब्दालंकार मानते हैं तथा अभंगश्लेप को अर्थालंकार।

३. कुछ आलंकारिक (अप्पय दीक्षितादि) सभंग तथा अभंग दोनों तरह के श्लेप को अर्थालंकार मानते हैं। कुवलयानंद में दीक्षित ने बताया है कि वे दोनों को अर्थालंकार मानते हैं इसकी पुष्टि चित्रमीमांसा में की गई है। किन्तु चित्रमीमांसा में श्लेप अलंकार का कोई प्रकरण नहीं मिलता।

इस प्रकार दीक्षित के मत से श्लेप शब्दालंकार न होकर अर्थालंकार ही है। यही कारण है, दीक्षित ने कुवलयानंद में श्लेप अलंकार के जो उदाहरण दिये हैं, वे मम्मट के मत से श्लेप नामक शब्दालंकार होंगे :—

(१) सर्वदो माधवः पायात् स योऽगं गामदीधरत्।
(२) अब्जेन त्वन्मुखं तुल्यं हरिणाहितसक्तिना ॥

श्लेप अलंकार के लक्षणोदाहरण ग्रन्थ में देखे जा सकते हैं।

(४) वक्रोक्ति :—ठीक यही बात वक्रोक्ति के विषय में कही जासकती है। मम्मटादि आलंकारिक वक्रोक्ति को शब्दालंकार मानते हैं तथा इसके श्लेप एवं काकु ये दो भेद मानते हैं। दीक्षित ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है। वक्रोक्ति को अर्थालंकार मानने वाले सर्वप्रथम आलंकारिक रुय्यक हैं, जिन्होंने इसे गूढार्थ प्रतीतिमूलक अर्थालंकारों में माना है। अलंकार-सर्वस्व में वक्रोक्ति का विवेचन शब्दालंकारों के साथ न कर अर्थालंकार प्रकरण में व्याजोक्ति के बाद तथा स्वभावोक्ति से पहले किया गया है। मम्मट के मत का अनुकरण बाद के आलंकारिकों में केवल साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने किया है, जो इसे स्पष्टतः शब्दालंकार मानते हैं। शोभाकरमिश्र, विद्यानाथ, विद्याधर तथा अप्पय दीक्षित ने रुय्यक के ही मत का अनुसरण कर वक्रोक्ति को अर्थालंकार ही माना है। दीक्षित ने वक्रोक्ति के तीन भेद माने हैं :—शब्दश्लेपमूला,

अर्थश्लेषमूला तथा काकुमूला। मम्मट के मत से शब्दश्लेषमूला तथा काकुमूला वक्रोक्ति शब्दालंकार ही होंगे। अर्थश्लेषमूला वक्रोक्ति में वक्रोक्ति अलंकार न मानकर संभवतः मम्मटादि ध्वनिवादी व्यञ्जना व्यापार मानना चाहेंगे और इस तरह वहाँ ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य काव्य मानेंगे।

वक्रोक्ति के लक्षणोदाहरण ग्रन्थ में देखे जा सकते हैं। शब्दालंकार के भी उदाहरण वे ही होंगे, हाँ 'भिक्षार्थी स क यातः सुतनुः' इत्यादि पद्य वक्रोक्ति शब्दालंकार का उदाहरण नहीं है, क्योंकि वहाँ शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व पाया जाता है।

(५) पुनरुक्तवदाभास :—पुनरुक्तवदाभास के विषय में भी मतभेद है। अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक इसे अर्थालंकार मानते हैं। मम्मट, शोभाकरमित्र, विश्वनाथ आदि इसे शब्दालंकार मानते हैं। वैसे मम्मट ने पुनरुक्तवदाभास का एक प्रकार वह भी माना है, जहाँ इसमें शब्दार्थोभयालंकारत्व पाया जाता है।

जहाँ भिन्न भिन्न स्वरूप वाले ऐसे शब्द प्रयुक्त हों जिनका वस्तुतः एक ही अर्थ नहीं होता फिर भी आपाततः एक ही अर्थ प्रतीत होने से पुनरुक्ति जान पड़ती है, वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है।

उदाहरण—

चकासत्यंगनारामाः कौतुकानन्दहेतवः।
तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः॥

'उस राजा के निकटवर्ती सुन्दर चित्तवाले पण्डित लोग, प्रशंसनीय अंगवाली सुन्दरी स्त्रियों के साथ क्रीडा का आनन्द भोगने वाले और नाच गान आदि के कौतुक (चमत्कार) तथा आनन्द (सुखोपभोग) के पात्र बनकर, सुशोभित होते हैं।'

इस पद्य में 'अंगना-रामा, 'कौतुक-आनन्द' 'सुमनसः-विबुधाः' में आपाततः पुनरुक्ति प्रतीत होती है, किन्तु इनका प्रयोग भिन्न २ अर्थ में होने से यहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार है।

(६) चित्रालंकार :—कभी कभी कवि किसी पद्यविशेष के वर्णों की रचना इस तरह की करता है कि उन्हें एक विशेष क्रम से सजाने पर कमल, छत्र, धनुष, हस्ति, अश्व, ध्वज, खड्ग आदि का आकार बन जाता है। इस प्रकार के चमत्कार को चित्रालंकार कहा जाता है। श्रेष्ठ कवि तथा आलोचक इसे हेय समझते हैं।

अर्थालंकारों का वर्गीकरण :—अर्थालंकारों को किन्हीं निश्चित कोटियों में विभक्त किया जाता है। ये हैं:—१ सादृश्यगर्भ, २ विरोधगर्भ, ३ शृङ्खलाबन्ध, ४ तर्कन्यायमूलक, ५ वाक्यन्यायमूलक ६ लोकन्यायमूलक ७ गूढार्थप्रतीतिमूलक। रुय्यक के मतानुसार यह वर्गीकरण निम्न है :—

सादृश्यगर्भ—इस कोटि में सर्वप्रथम तीन भेद होते हैं :—भेदाभेदप्रधान, अभेदप्रधान तथा गम्यौपम्याश्रय। इनमें भी अभेदप्रधान के दो भेद होते हैं—आरोपमूलक तथा अध्यवसायमूलक।

(क) भेदाभेदप्रधान—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण।

(ख) आरोपमूलक अभेदप्रधान—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति।

(ग) अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान—उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

(घ) गम्यौपम्याश्रय—तुल्ययोगिता, दीपक (पदार्थगत), प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्त, निदर्शना (वाक्यार्थगत), व्यतिरेक, सहोक्ति (भेदप्रधान), विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर (विशेषणवि-

च्छित्त्याश्रय), परिकरांकुर (विशेष्यविच्छित्त्याश्रय), श्लेष (विशेषण-विशेष्यविच्छित्त्याश्रय) अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप ।

(२) **विरोधगर्भ**—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात ।

(३) **शृंखलाबन्ध**—कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार ।

(४) **तर्कन्यायमूलक**—काव्यलिंग, अनुमान ।

(५) **वाक्यन्यायमूलक**—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि ।

(६) **लोकन्यायमूलक**—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर ।

(७) **गूढार्थप्रतीतिमूलक**—सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, संसृष्टि, संकर ।

कतिपय अलंकारों का स्वरूप और उनका अन्य अलंकारों से वैषम्य

(१) उपमा

(१) उपमा में एक वस्तु की तुलना किसी अन्य वस्तु से गुणक्रियादि धर्म के आधार पर की जाती है ।

(२) यह भेदाभेदप्रधान साधर्म्यमूलक अलंकार है ।

(३) इसके चार तत्त्व होते हैं—उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा वाचक शब्द । चारों तत्त्वों का प्रयोग होने पर पूर्ण उपमा होती है और किसी एक या अधिक का अनुपादान होने पर लुप्ता होती है ।

उपमा तथा अनन्वय—उपमा के उपमान तथा उपमेय भिन्न भिन्न होते हैं, अनन्वय में उपमेय ही स्वयं का उपमान होता है ।

उपमा तथा उपमेयोपमा—उपमा एक वाक्यगत होती है, उपमेयोपमा सदा दो वाक्यों में होती है तथा वहाँ दो उपमाएँ पाई जाती हैं । उपमेयोपमा में प्रथम वाक्य का उपमेय द्वितीय उपमा का उपमान तथा प्रथम उपमा का उपमान द्वितीय उपमा का उपमेय हो जाता है ।

उपमा तथा उत्प्रेक्षा—उपमा भेदाभेदप्रधान साधर्म्यमूलक अलंकार है, जब कि उत्प्रेक्षा अभेदप्रधान या अध्यवसायमूलक अलंकार है । उपमा में उपमेय तथा उपमान की तुलना की जाती है, जब कि उत्प्रेक्षा में प्रकृत (उपमेय) में अप्रकृत (उपमान) की संभावना की जाती है ।

उपमा तथा रूपकः—उपमा भेदाभेदप्रधान अलंकार है, जब कि रूपक अभेदप्रधान अलंकार है । उपमा का वास्तविक चमत्कार साधर्म्य के कारण होता है, जब रूपक का चमत्कार विषय (उपमेय) पर विषयी (उपमान) के आरोप या ताद्रूप्यापत्ति के कारण होता है ।

(२) रूपक

(१) रूपक अभेदप्रधान साधर्म्यमूलक अलंकार है । अतः इसमें सादृश्य सम्बन्ध का होना आवश्यक है । दूसरे शब्दों में यहाँ गौणी सारोपा लक्षणा होना आवश्यक है ।

(२) इसमें आरोपविषय (उपमेय) पर आरोप्यमाण (उपमान) का आरोप किया जाता है, अर्थात् यहाँ उपमेय को उपमान के रंग में रंग दिया जाता है ।

(३) यह आरोप सदा आहार्य या कविकल्पित होना चाहिए; स्वारसिक (वास्तविक) या अनाहार्य नहीं।

(४) 'आरोप सदा चमत्कारी हो, ऐसा न होने पर 'गौर्वाहीकः' की तरह रूपक अलङ्कार न हो सकेगा।

(५) उपमेय पर उपमान का आरोप श्रौत या शाब्द हो, आर्थ नहीं। अर्थगत होने पर रूपक न होकर निदर्शना अलंकार हो जायगा।

(६) रूपक में साधारण धर्म सदा स्पष्ट होना चाहिए। प्रायः रूपक में साधारण धर्म का प्रयोग नहीं किया जाता, किंतु कभी-कभी किया भी जा सकता है, जैसे इस पङ्क्ति में—'नरानम्ब त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि।'

रूपक तथा उपमा—(देखिये, उपमा)

रूपक तथा उत्प्रेक्षा—रूपक में कवि यह मानते हुए भी मुख चन्द्रमा नहीं है, उनके अतिसाम्य के कारण मुखपर चन्द्रमा का आरोप कर देता है। इस स्थिति में उसकी चित्तवृत्ति में अनिश्चितता नहीं पाई जाती। उत्प्रेक्षा में कवि की चित्तवृत्ति किसी एक निश्चय पर नहीं पहुँच पाती, यद्यपि उसका विशेष आकर्षण 'चन्द्रमा' के प्रति होती है। उत्प्रेक्षा भी एक प्रकार का संशय (संदेह) ही है, पर इस संशयावस्था में दोनों पक्ष समान नहीं रहते, बल्कि उपमानपक्ष बलवान् होता है। इसीलिए उत्प्रेक्षा को 'उत्कटककोटिकः संशयः' कहा जाता है।

रूपक तथा संदेह—रूपक में कवि की चित्तवृत्ति अनिश्चित नहीं रहती, जब कि संदेह में वह अनेक पक्षों में दोलायित रहती है।

रूपक तथा स्मरण—दोनों सादृश्यमूलक अलंकार है। रूपक में एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप किया जाता है, जब कि स्मरण में सदृश वस्तु को देखकर पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति हो आती है। स्मरण में उपमान को देखकर उपमेय की या उपमेय को देखकर उपमान की अथवा तत्संबद्ध वस्तु की भी स्मृति हो सकती है, किंतु रूपक में उपमेय ही आरोप-विषय हो सकता है।

रूपक तथा अतिशयोक्ति—अतिशयोक्ति के प्रथम भेद (भेदे अभेदरूपा अतिशयोक्ति) से रूपक में यह समानता है कि दोनों अभेदप्रधान अलंकार हैं। किंतु रूपक में ताद्रूप्य पाया जाता है, जब कि अतिशयोक्ति में अध्यवसाय होता है, अर्थात् अतिशयोक्ति में विषयी (चन्द्र) विषय (मुख) का निगरण कर लेता है। रूपक में गौणी सारोपा लक्षणा होती है, तो अतिशयोक्ति में गौणी साध्यवसाना लक्षणा।

रूपक तथा निदर्शना—(देखिये, निदर्शना)।

(३) उत्प्रेक्षा

(१) यह अभेदप्रधान साधर्म्यमूलक अलंकार है।

(२) इसमें अतिशयोक्ति की तरह विषयी विषय का अध्यवसाय करता है; किन्तु उससे इसमें यह भेद है कि अतिशयोक्ति में अध्यवसाय सिद्ध होता है, उत्प्रेक्षा में साध्य, यही कारण है कि यहाँ दोनों का स्वशब्दतः उपादान होता है।

(३) यहाँ स्वरूप, हेतु या फल को अन्य रूप में संभावित किया जाता है।

(४) यह संभावना सदा आहार्य या कल्पित होती है।

(५) संभावना के वाचक शब्द—इव, मन्ये, ध्रवं आदि का प्रयोग करने पर वाच्या उत्प्रेक्षा होती है। वाचक शब्द का अनुपादान होने पर गम्या या प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है, जैसे इस पंक्ति में—'त्वत्कीर्तिर्भ्रमणश्रान्ता विवेश स्वर्गनिम्नगाम्'।

उत्प्रेक्षा तथा उपमा (देखिये, उपमा)।

उत्प्रेक्षा तथा रूपक—(देखिये, रूपक)।

उत्प्रेक्षा तथा संदेह—दोनों संशयमूलक अलंकार हैं, जिनमें किसी एक पक्ष का पूर्ण निश्चय नहीं हो पाता। यह मुख है या चन्द्रमा है, इस तरह की अनिश्चितता दोनों में रहती है, किंतु भेद यह है कि संदेह में दोनों पक्ष समान होते हैं, अतः चित्तवृत्ति को किसी एक पक्ष का मोह नहीं होता। उत्प्रेक्षा में चित्तवृत्ति को उपमानपक्ष का मोह रहता है, उपमान के प्रति उसका विशेष झुकाव होता है। इसी को 'मन्ये, शंके' आदि के द्वारा व्यक्त करते हैं।

उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति—दोनों अध्यवसायमूलक अलंकार हैं। अतिशयोक्ति में अध्यवसाय के सिद्ध होने के कारण विषयी विषय का निगरण कर लेता है, अतः विषय का स्वशब्दतः उपादान नहीं होता। उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय साध्य होने के कारण विषय का उपादान होता है। वस्तुतः उत्प्रेक्षा, संदेह तथा अतिशयोक्ति की वह मध्यवर्ती स्थिति है, जब संशय को छोड़ने के लिए चित्तवृत्ति धीरे-धीरे उपमान की ओर झुकने लगती है। जब वह पूरी तरह उपमानपक्ष की ओर झुक जाती है तथा उत्प्रेक्षा या सन्देह बिलकुल नहीं रहता तो अतिशयोक्ति हो जाती है। इस तरह उत्प्रेक्षा में किसी सीमा तक अनिश्चितता पाई जाती है, जब कि अतिशयोक्ति में उपमानत्व (चन्द्रत्व) का पूर्ण निश्चय होता है। इतना संकेत कर देना आवश्यक होगा कि दोनों अलंकारों में साधर्म्यकल्पना आहार्य होती है।

(४) अतिशयोक्ति

(१) अतिशयोक्ति अलंकार के पाँच भेद होते हैं, इनमें प्रथम चार भेद सादृश्यमूलक हैं, पाँचवा भेद कार्यकारणमूलक।

(२) अतिशयोक्ति अभेदप्रधान अध्यवसायमूलक अलंकार है, जिसमें अध्यवसाय (विषयी के द्वारा विषय का निगरण) सिद्ध होता है।

(३) अतिशयोक्ति के समस्त भेद आहार्यज्ञान पर आश्रित होते हैं।

(४) अतिशयोक्ति के प्रथम भेद में भिन्न वस्तुओं में सादृश्य के आधार पर अभिन्नता स्थापित की जाती है। यहाँ साध्यावसाना गौणी लक्षणा पाई जाती है।

(५) अतिशयोक्ति के दूसरे भेद में अभिन्न वस्तु में ही 'अन्यत्व' की कल्पना कर भिन्नता स्थापित की जाती है।

(६) अतिशयोक्ति के तीसरे भेद में दो वस्तुओं में परस्पर संबंध के होते हुए भी असंबंध की कल्पना की जाती है।

(७) अतिशयोक्ति के चौथे भेद में दो वस्तुओं में परस्पर कोई वास्तविक संबंध न होते हुए भी संबंध कल्पना की जाती है।

(८) अतिशयोक्ति के पाँचवे भेद में कारण तथा कार्य के पौर्वापर्य का व्यतिक्रम कर दिया जाता है या तो कारण तथा कार्य की सहभाविता वर्णित की जाती है, या कार्य की प्राग्भाविता। दीक्षित ने इस भेद को दो भेदों में बाँटकर अत्यन्तातिशयोक्ति तथा चपलातिशयोक्ति की कल्पना कर डाली है। इस तरह दीक्षित के मत से अतिशयोक्ति के छः भेद होते हैं।

अतिशयोक्ति और रूपक—(दे० रूपक)

अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा—(दे० उत्प्रेक्षा)।

पाँचवी अतिशयोक्ति और असंगति—दोनों कार्यकारणमूलक अलंकार हैं, एक कार्यकारण के कालगत मान से संबद्ध हैं, दूसरा कार्यकारण के देशगत मान से। कार्यकारण के कालगत व्यतिक्रम के प्रौढ़ोक्तिमय वर्णन में पाँचवी (तथा छठी) अतिशयोक्ति होती है; कार्यकारण के देशगत व्यतिक्रम के प्रौढ़ोक्तिमय वर्णन में असंगति अलंकार होता है।

(५) स्मरण, संदेह तथा भ्रांतिमान्

(१) तीनों सादृश्यमूलक अलंकार हैं। स्मरण भेदाभेदप्रधान अलंकार होने के कारण उपमा के वर्ग का अलंकार है जब कि संदेह एवं भ्रांतिमान् अभेदप्रधान अलंकार होने के कारण रूपक वर्ग के अलंकार हैं।

(२) स्मरण अलंकार में किसी वस्तु को देखकर सदृश वस्तु का स्मरण हो आता है। अतः इसमें या तो उपमान को देखकर उपमेय का स्मरण हो आता है या ऐसा भी हो सकता है कि उपमेय को देखकर उपमान का स्मरण हो आय। साथ ही स्मरण अलंकार में किसी वस्तु को देखकर तत्सदृश वस्तु से संबद्ध वस्तु के स्मरण का भी समावेश होता है।

(३) संदेह अलंकार में एक ही प्रकृत पदार्थ में कविप्रतिभा के द्वारा अप्रकृत की संशयावस्था उत्पन्न की जाती है। यह संशय आहार्य या स्वारसिक किसी भी तरह का हो सकता है। अलंकार होने के लिए किसी भी संदेह में चमत्कार होना आवश्यक है, अतः '**स्थाणुर्वा पुरुषो वा**' संदेहालंकार नहीं हो सकता। आलंकारिकों ने इसके तीन भेद माने हैं:—शुद्ध, निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त।

(४) भ्रांतिमान् अलंकार में कविप्रतिभा के द्वारा प्रकृत में अप्रकृत का मिथ्याज्ञान होता है। यह ज्ञान सदा अनाहार्य या स्वारसिक होता है। सादृश्यमूलक भ्रांति होने पर ही यह अलंकार होता है। साथ ही अलंकार होने के लिए चमत्कार का होना आवश्यक है, अतः शुक्ति में रजतभ्रांति को अलंकार नहीं माना जायगा।

संदेह तथा उत्प्रेक्षा—(दे० उत्प्रेक्षा)। **संदेह तथा रूपक**—(दे० रूपक)।

भ्रांतिमान् तथा उत्प्रेक्षा—दोनों अलंकारों में सादृश्य के कारण प्रकृत में अप्रकृत का ज्ञान होता है, किंतु भ्रांतिमान् में यह ज्ञान स्वारसिक होता है, उत्प्रेक्षा में आहार्य; साथ ही भ्रांतिमान् में मिथ्याज्ञान निश्चित होता है, व्यक्ति को केवल अप्रकृत का ही ज्ञान होता है, जब कि उत्प्रेक्षा में ज्ञान अनिश्चयात्मक होता है, अर्थात् वहाँ प्रकृत में अप्रकृत की केवल संभावना होती है, यही कारण है कि उत्प्रेक्षा में व्यक्ति को प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों का भान रहता है।

भ्रांतिमान् तथा प्रथम अतिशयोक्ति—दोनों सादृश्यमूलक अलंकार हैं। दोनों में प्रकृत में केवल अप्रकृत का ज्ञान होता है। साथ ही दोनों में प्रकृत या विषय का उपादान नहीं होता। किंतु भ्रांतिमान् में अभेदज्ञान किसी दोष पर आश्रित है, व्यक्ति (चकोर) को अपनी गलती से 'मुख' चन्द्रमा दिखाई पड़ता है, यही कारण है, भ्रांतिमान् में अभेदज्ञान अनाहार्य या स्वारसिक होता है, जब कि अतिशयोक्ति में यह आहार्य होता है। व्यक्ति यह जानते हुए भी यह मुख है, उसे चंद्रमा कहता है।

भ्रांतिमान् तथा रूपक—दोनों अभेदप्रधान अलंकार हैं। भ्रांतिमान् अनाहार्यज्ञान पर

आश्रित है, रूपक आहार्यज्ञान पर। भ्रांतिमान् में ज्ञाता को केवल अप्रकृत का ही ज्ञान होता है, जब कि रूपक में उसे दोनों (विषय तथा विषयी) का ज्ञान होता है।

भ्रांतिमान् तथा मीलित—दोनों अलंकारों में किसी एक वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता, किंतु भ्रांतिमान् में ज्ञाता का विषय एक ही वस्तु होती है तथा उसे गलती से उसमें दूसरी समान वस्तु का भान होता है; जब कि मीलित अलंकार में ज्ञाता का विषय दो समानधर्मी वस्तुएँ होती हैं तथा इनमें से एक वस्तु इतनी बलवान् होती है कि वह समीपस्थ अन्य वस्तु को अपने आप में छिपा लेती है, फलतः ज्ञाता को दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं हो पाता।

(६) अपह्नुति

(१) यह भी अभेदप्रधान अलंकार है। कुछ आलंकारिकों के मत से अपह्नुति केवल सादृश्य संबंध में ही होती है, किंतु दण्डी, जयदेव तथा दीक्षित सादृश्येतरसंबंध में भी अपह्नुति मानते हैं।

(२) इसमें एक वस्तु (प्रकृत) का निषेध कर अन्य वस्तु (अप्रकृत) का आरोप किया जाता है।

(३) अपह्नुति में प्रकृत का निषेध आहार्य होता है।

(४) यदि निषेध स्पष्टतः 'न' के द्वारा होता है और निषेधवाक्य तथा आरोपवाक्य भिन्न-भिन्न होते हैं तो यहाँ वाक्यभेदवती अपह्नुति होती है, इसे दीक्षित शुद्धापह्नुति कहते हैं। यदि निषेध, छल, कपट, कैतव आदि अपह्नुति वाचक शब्दों के द्वारा किया जाता है तो यहाँ दो वाक्य नहीं होते, इसे दीक्षित ने कैतवापह्नुति कहा है।

(५) शुद्धापह्नुति या वाक्यभेदवती अपह्नुति में या तो निषेधवाक्य पहले हो सकता है या आरोपवाक्य।

(६) दीक्षित ने जयदेव के ढंग पर छेकापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति तथा पर्यस्तापह्नुति जैसे अपह्नुति भेदों की भी कल्पना की है।

अपह्नुति तथा रूपक—दोनों अभेद प्रधान सादृश्यमूलक अलंकार हैं तथा दोनों में प्रकृत (विषय) पर अप्रकृत (विषयी) का आरोप पाया जाता है। दोनों में यह आहार्यज्ञान पर आश्रित है। किंतु अपह्नुति में प्रकृत का निषेध किया जाता है, जब कि रूपक में प्रकृत का निषेध नहीं किया जाता।

अपह्नुति तथा व्याजोक्ति—दोनों अलंकारों में वास्तविकता का गोपन कर अवास्तविक वस्तु की स्थापना की जाती है। दोनों ही अलंकारों में वास्तविकता का निषेध (या गोपन) आहार्यज्ञान पर आश्रित होता है। किंतु प्रथम तो अपह्नुति सादृश्यमूलक अलंकार है, व्याजोक्ति गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकार; दूसरे अपह्नुति में वक्ता प्रकृत का निषेध कर अप्रकृत की स्थापना इसलिए करता है कि वह प्रकृत वस्तु का उत्कर्ष द्योतित करना चाहता है, जब कि व्याजोक्ति में वक्ता वास्तविक बात का गोपन कर उसी के समान लक्षण वाली अवास्तविक बात की स्थापना इसलिए करता है कि वह श्रोता से सच बात को छिपाकर उसे अज्ञान में रखना चाहता है।

(७) तुल्ययोगिता

(१) तुल्ययोगिता गम्यौपम्यमूलक अलंकार है।

(२) इसमें एक ही वाक्य में अनेक पदार्थों का वर्णन होता है, जिनमें कवि एकधर्माभिसंबंध स्थापित करता है।

(३) धर्म का उल्लेख केवल एक ही बार किया जाता है।

(४) ये पदार्थ या तो सभी प्रकृत होते हैं या सभी अप्रकृत होते हैं। इस तरह तुल्ययोगिता के दो भेद हो जाते हैं, (१) प्रकृतपदार्थगत, (२) अप्रकृतपदार्थगत।

(५) अप्रकृतपदार्थगत तुल्ययोगिता में सभी पदार्थ किसी प्रकृत पदार्थ के उपमान होते हैं।

तुल्ययोगिता तथा दीपक—दीपक तथा तुल्ययोगिता दोनों गम्यौपम्यमूलक अलंकार हैं। दोनों में पदार्थों का एकधर्माभिसंबंध पाया जाता है तथा धर्म का उल्लेख केवल एक ही बार किया जाता है। दोनों एकवाक्यगत अलंकार हैं। इन दोनों अलंकारों में भेद केवल इतना है कि तुल्ययोगिता में समस्त पदार्थ या तो प्रकृत होंगे या अप्रकृत, जब कि दीपक में कुछ पदार्थ प्रकृत होते हैं, कुछ अप्रकृत।

प्रथम तुल्ययोगिता तथा सहोक्ति—प्रथम (प्रकृतपदार्थगत) तुल्ययोगिता तथा सहोक्ति दोनों में वर्णित पदार्थ प्रकृत होते हैं। इस दृष्टि से सहोक्ति अलंकार तुल्ययोगिता के प्रथम भेद से घनिष्ठतया संबद्ध है। इतना होने पर भी इनमें यह वैषम्य है कि सहोक्ति में 'सह' पद के प्रयोग के कारण इन पदार्थों में एक प्रधान तथा अन्य गौण हो जाता है, अतः एकधर्माभिसंबंध ठीक उसी मात्रा में नहीं रह पाता, जब कि तुल्ययोगिता में धर्म का दोनों धर्मी (पदार्थों) के साथ साक्षात् अन्वय होता है।

(८) दीपक

(१) दीपक भी गम्यौपम्यमूलक अलंकार है।

(२) दीपक के धर्मदीपक (या दीपक), कारकदीपक तथा मालादीपक ये तीन भेद किये जाते हैं, इनमें केवल प्रथम ही औपम्यमूलक अलंकार माना जा सकता है।

(३) इसमें एक वाक्य में अनेक पदार्थों का एकधर्माभिसंबंध पाया जाता है। ये पदार्थ प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों तरह के होते हैं।

(४) कारकदीपक में एक ही कारक का अनेक क्रियाओं के साथ अन्वय पाया जाता है। इसमें ये क्रियाएं प्रकृत, अप्रकृत या दोनों तरह की हो सकती हैं। इसमें औपम्य का होना आवश्यक नहीं, साथ ही किसी भी समान धर्म का संकेत नहीं किया जाता।

(५) मालादीपक में क्रमिक पदार्थ एक दूसरे के उपस्कारक बनते जाते हैं। इनका धर्म एक ही होता है तथा उसका उल्लेख केवल एक ही बार किया जाता है। इनमें परस्पर कोई औपम्य नहीं होता। चमत्कार केवल इस अंश में है कि वही धर्म अनेक पदार्थों के साथ अन्वित होता है।

दीपक तथा तुल्ययोगिता—दे० तुल्ययोगिता।

(९) प्रतिवस्तूपमा

(१) यह गम्यौपम्यमूलक अलंकार है।

(२) इसमें दो स्वतन्त्र वाक्यों का प्रयोग होता है, जिसमें एक उपमेयवाक्य होता है, दूसरा उपमानवाक्य।

(३) प्रत्येक वाक्य में साधारण धर्म का निर्देश होता है।

(४) यह साधारण धर्म एक ही हो, किंतु विभिन्न वाक्य में भिन्न-भिन्न शब्दों में निर्दिष्ट किया गया हो, अर्थात् दोनों वाक्यों के साधारण धर्मों में परस्पर वस्तुप्रतिवस्तुभाव होना चाहिए।

(५) गम्यौपम्यमूलक अलंकार होने के कारण प्रकृत तथा अप्रकृत का सादृश्य अभिहित नहीं किया जाना चाहिए, उसकी केवल व्यंजना हो।

(६) यह सादृश्य साधर्म्य या वैधर्म्य किसी भी पद्धति से निर्दिष्ट हो सकता है।

प्रतिवस्तूपमा–दृष्टान्त :—दोनों में दो स्वतन्त्रवाक्य होते हैं, एक में प्रकृत तथा दूसरे में अप्रकृत का निर्देश होता है। दोनों में सादृश्य गम्य होता है। किंतु प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्म एक ही होता है फिर भी उसका निर्देश भिन्न शब्दों में होता है, जब कि दृष्टान्त में दोनों वाक्यों के साधारण धर्म सर्वथा भिन्न-भिन्न होते हैं, यद्यपि उनमें स्वयं में समानता पाई जाती है; अर्थात् प्रतिवस्तूपमा में धर्म में वस्तुप्रतिवस्तुभाव होता है, दृष्टांत में बिंबप्रतिबिम्बभाव। साथ ही दृष्टांत एवं प्रतिवस्तूपमा में एक महत्त्वपूर्ण भेद यह भी है कि प्रतिवस्तूपमा में कवि विशेष जोर केवल दो पदार्थों के धर्म पर ही देता है, जब कि दृष्टांत से वह धर्म तथा धर्मी दोनों के परस्पर संबंध पर जोर देता है।

प्रतिवस्तूपमा–वाक्यार्थ–निदर्शना :—दोनों अलंकारों में एक वाक्यार्थ तथा दूसरे वाक्यार्थ में समान धर्म के कारण सादृश्यकल्पना की जाती है, साथ ही इन दोनों में सादृश्य गम्य होता है। किंतु प्रतिवस्तूपमा में दोनों वाक्य परस्परनिरपेक्ष या स्वतन्त्र होते हैं, जब कि निदर्शना में वे परस्पर सापेक्ष होते हैं। निदर्शना में साधारण धर्म का निर्देश नहीं होता, श्रोता उसका आक्षेप कर लेता है, जब कि प्रतिवस्तूपमा में दोनों वाक्यों में साधारण धर्म का पृथक्-पृथक् निर्देश होता है

(१०) दृष्टान्त

(१) दृष्टान्त भी गम्यौपम्यमूलक अलंकार है।

(२) इसमें भी दो वाक्य होते हैं, एक उपमेयवाक्य दूसरा उपमानवाक्य।

(३) ये दोनों वाक्य स्वतन्त्र या परस्परनिरपेक्ष हों।

(४) उपमेयवाक्य तथा उपमानवाक्य के धर्म भिन्न-भिन्न हों अर्थात् उनमें परस्पर बिंबप्रतिबिंबभाव हो।

(५) यह बिंबप्रतिबिंबभाव न केवल धर्म में ही अपितु धर्मी (प्रकृत तथा अप्रकृत पदार्थों) में भी हो।

(६) यह भी प्रतिवस्तूपमा की तरह साधर्म्यगत तथा वैधर्म्यगत दोनों तरह का हो सकता है। वैधर्म्यदृष्टान्त में उपमेय वाक्य या तो विधिपरक होता है या निषेधपरक तथा उपमानवाक्य उसका बिलकुल उलटा होगा।

दृष्टान्त तथा प्रतिवस्तूपमा—दे० प्रतिवस्तूपमा।

दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास :—अर्थान्तरन्यास में भी दृष्टान्त तथा प्रतिवस्तूपमा की तरह परस्पर निरपेक्ष दो वाक्य होते हैं; किंतु दृष्टान्त औपम्यमूलक अलंकार है, जब कि अर्थान्तरन्यासको कुछ आलंकारिक तर्कन्यायमूलक अलंकार मानते हैं। दृष्टान्त तथा प्रतिवस्तूपमा में दोनों वाक्यों में परस्पर उपमानोपमेयभाव होता है, जब कि अर्थान्तरन्यास में दोनों वाक्यों में परस्पर समर्थ्य समर्थकभाव होता है। दृष्टांत में औपम्य की व्यंजना होने के कारण दोनों पदार्थ विशेष होते हैं, जब कि अर्थान्तरन्यास में एक पदार्थ सामान्य होता है एक विशेष। दृष्टान्त में दोनों वाक्यों के धर्म में परस्पर बिंबप्रतिबिंबभाव पाया जाता है, जब कि अर्थान्तरन्यास में दोनों वाक्यों में परस्पर सामान्य-विशेषभाव होता है।

दृष्टान्त–अप्रस्तुतप्रशंसा :—दोनों अलंकारों में प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत पदार्थ का प्रयोग किया जाता है, किंतु दृष्टान्त में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का वाच्यरूप में प्रयोग होता है,

जब कि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत वाच्य होता है, प्रस्तुत व्यंग्य। यही कारण है कि अप्रस्तुत-प्रशंसा में धर्म का प्रयोग केवल एक ही बार होगा, जब कि दृष्टांत में धर्म का प्रयोग दोनों वाक्यों में भिन्न-भिन्न होगा।

(११) निदर्शना

(१) निदर्शनागम्यौपम्यमूलक अलंकार है। यही कारण है यहाँ औपम्य गम्य या आर्थ होता है।

(२) असंभवद्वस्तुसंबंध वाले निदर्शना भेद में दोनों पदार्थों (प्रकृताप्रकृत) में परस्पर बिंबप्रतिबिंबभाव होता है।

(३) असंभवद्वस्तुसंबंध वाली वाक्यगा निदर्शना में दो भेद होते हैं :—अनेकवाक्यगा, एकवाक्यगा। अनेकवाक्यगा निदर्शना में अनेक वाक्यों को यत्–तत्, यदि–तर्हि जैसे अव्ययों से अन्वित कर दिया जाता है, जैसे 'अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितं' आदि पद्य में। एकवाक्यगा निदर्शना में यत्–तत् आदि का प्रयोग नहीं किया जैसे 'दोर्भ्यामब्धिं तितीर्षन्तस्तुष्टुवुस्ते गुणार्णवम्' में।

(४) पदार्थगा निदर्शना में 'लीला, शोभा' आदि के द्वारा उपमान के धर्म को उपमेय पर आरोपित कर दिया जाता है।

(५) संभवद्वस्तुसंबंध वाली (अथवा सदसदर्थबोधिका) निदर्शना में किसी विशेष घटना को किसी सामान्य सिद्धांत का सूचक बताया जाता है। इसके लिए—'इति बोधयन्, इति निदर्शयन्, इति कथयन्, इति विभावयन्' आदि का प्रयोग किया जाता है कभी कभी कवि केवल 'इति' का ही प्रयोग करता है।

निदर्शना तथा रूपक—रूपक तथा निदर्शना दोनों में यह समानता है कि यहाँ आरोप पाया जाता है, रूपक में विषय पर विषयी का ताद्रूप्यारोप होता है, जब कि निदर्शना में दो पदार्थों का परस्पर ऐक्यारोप पाया जाता है। कुछ (अप्पय दीक्षित आदि) अलंकारिकों के मत से निदर्शना तथा रूपक में यह भेद है कि निदर्शना में पदार्थों में बिंबप्रतिबिंबभाव होता है, जब कि रूपक में बिंबप्रतिबिंबभाव नहीं होता। किंतु यह मत मान्य नहीं है। पंडितराज जगन्नाथ ने इस मत का खण्डन कर सिद्ध किया है कि रूपक में भी बिंबप्रतिबिंबभाव हो सकता है। पंडितराज के मत से निदर्शना तथा रूपक में सबसे बड़ा भेद यह है कि रूपक में प्रकृताप्रकृत में श्रौत या शाब्द सामानाधिकरण्य पाया जाता है, जब कि निदर्शना में यह सामानाधिकरण्य शाब्द न होकर आर्थ ही होता है। इसीलिए उन स्थानों पर जहाँ यत्–तत् के प्रयोग के द्वारा एक वाक्य पर दूसरे वाक्य का श्रौत सामानाधिकरण्य पाया जाता है, पंडितराज निदर्शना नहीं मानते, वे यहाँ वाक्यार्थरूपक जैसा भेद मानते हैं। मम्मट, दीक्षित आदि यहाँ भी निदर्शना ही मानते हैं।

निदर्शना तथा दृष्टान्त—निदर्शना तथा दृष्टान्त दोनों में औपम्य गम्य होता है, यहाँ एक से अधिक वाक्य होते हैं (जैसे अनेक वाक्यगा निदर्शना में) दोनों में सादृश्य वाक्यार्थगत होता है। साथ ही दोनों में बिंबप्रतिबिंबभाव पाया जाता है। किंतु पहले तो दृष्टान्त में प्रयुक्त अनेक वाक्य परस्परनिरपेक्ष होते हैं, जब कि निदर्शना में वे परस्परसापेक्ष होते हैं, दूसरे दृष्टान्त में प्रकृत तथा अप्रकृत पदार्थ के धर्म भिन्न-भिन्न होते हैं तथा उनका निर्देश किया जाता है, जब कि निदर्शना में ये धर्म अभिन्न होते हैं तथा उनका निर्देश नहीं किया जाता।

तीसरे, यद्यपि दोनों में बिंबप्रतिबिंबभाव पाया जाता है तथापि निदर्शना में प्रकृताप्रकृत के बिंबप्रतिबिंबभाव का आक्षेप किये बिना वाक्यार्थप्रतीति पूर्ण नहीं हो पाती, जब कि दृष्टान्त में वाक्यार्थप्रतीति पूर्ण हो जाती है, तदनंतर वाक्यार्थ के सामर्थ्य से प्रकृताप्रकृत के बिंबप्रतिबिंबभाव की प्रतीति होती है।

(१२) व्यतिरेक

(१) जहाँ उपमेय का उपमान से आधिक्य या न्यूनता वर्णित की जाती है। इस संबंध में इतना संकेत कर दिया जाय कि मम्मट तथा पंडितराज जगन्नाथ केवल उपमेय के आधिक्य में ही व्यतिरेक मानते हैं, जब कि रुय्यक तथा दीक्षित उपमान के आधिक्य वर्णन (उपमेय के न्यूनता वर्णन) में भी व्यतिरेक अलंकार मानते हैं।

(२) व्यतिरेक के तीन प्रकार होते हैं :—उपमेयाधिक्यपर्यवसायी, उपमेयन्यूनत्वपर्यवसायी, अनुभयपर्यवसायी।

(३) उपमेय तथा उपमान के उत्कर्षहेतु तथा अपकर्षहेतु दोनों का अथवा किसी एक का निर्देश हो अथवा दोनों के प्रसिद्ध होने के कारण उनका अनुपादान भी हो सकता है।

(४) उत्कर्ष-अपकर्षहेतु को श्लेष के द्वारा भी निर्दिष्ट किया जा सकता है, जहाँ उपमेयपक्ष में अन्य अर्थ होगा, उपमानपक्ष में अन्य, जिनमें एक उत्कर्षहेतु होगा अन्य अपकर्षहेतु।

(५) यद्यपि व्यतिरेक में दो पदार्थों में भिन्नता बताई जाती है, तथापि कवि उनके सादृश्य की व्यंजना कराना चाहता है।

व्यतिरेक तथा प्रतीप—दोनों ही अलंकारों में कवि इस बात की व्यंजना कराना चाहता है कि उपमान तथा उपमेय की परस्पर तुलना नहीं की जा सकती। उपमेयाधिक्यपर्यवसायी व्यतिरेक तथा प्रतीप दोनों में उपमेय के उत्कर्ष को द्योतित किया जाता है, किंतु दोनों की प्रणाली भिन्न होती है। व्यतिरेक में उपमान की भर्त्सना नहीं की जाती, जब कि प्रथम प्रतीप में उपमान की व्यर्थता सिद्धकर उसकी भर्त्सना की जाती है। व्यतिरेक उपमा के ही ढंग का होता है, जब कि प्रथम प्रतीप की शैली उपमा वाली नहीं होती।

(१३) प्रतीप

(१) व्यतिरेक की भाँति यह भी साधर्म्यमूलक अलंकार है।

(२) कवि का ध्येय उपमान से उपमेय की उत्कृष्टता द्योतित करना होता है।

(३) उपमेय की उत्कृष्टता कई ढंग से बताई जाती है।

(क) उपमान की निकृष्टता बताने के लिए स्वयं उपमान को ही उपमेय बना दिया जाता है, (प्रथम प्रतीप)

(ख) उपमान को उपमेय बनाकर वर्णनीय (उपमेय) मुखादि का अनादर किया जाता है, (द्वितीय प्रतीप)

(ग) वर्ण्य (प्रकृत) को उपमान बनाकर उसका अनादर करते हुए इस बात का संकेत किया जाता है कि अप्रकृत को अपने तुल्य कृत पदार्थ प्रमिल गया है। (तृतीय प्रतीप)

(घ) वर्ण्य (उपमेय) द्वारा अवर्ण्य को दी गई उपमा झूठी बताई जाती है। (चतुर्थ प्रतीप)

(ङ) उपमान की व्यर्थता बता कर इस बात का संकेत किया जाता है कि उपमेय के होते हुए उपमान की जरूरत ही क्या है। (पंचम प्रतीप)

प्रतीप तथा व्यतिरेक—दे० व्यतिरेक।

प्रतीप तथा उपमा :—जैसा कि 'प्रतीप' के नाम की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है, इसका अर्थ है 'उलटा' अर्थात् यह 'उपमा' का ठीक विरोधी अलंकार है। उपमा का उपमानोपमेयभाव प्रतीप अलंकार में ठीक उलटा हो जाता है। जो उपमा में उपमेय (मुखादि) होता है, वही प्रतीप में उपमान होता है तथा जो उपमा में उपमान (चन्द्रादि) होता है, वही प्रतीप में उपमेय होता है। दूसरे शब्दों में, उपमा में वर्ण्य या प्रस्तुत उपमेय होता है, अवर्ण्य या अप्रस्तुत उपमान होता है। जब कि प्रतीप में अवर्ण्य या अप्रस्तुत उपमेय होता है, वर्ण्य या प्रस्तुत उपमान। केवल दो पदार्थों की सादृश्यकल्पना मात्र में उपमा अलंकार मानने वालों के मत से प्रतीप अलग से अलंकार न होकर उपमा का ही एक प्ररोह है। पंडितराज जगन्नाथ प्रतीप का समावेश उपमा में ही करते हैं। (मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपे, चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्र इत्युपमेयोपमायां च सादृश्यस्य चमत्कारित्वाद्अतिप्रसंगः शंकनीयः, तयोः संग्राह्यत्वात्।—रसगंगाधर पृ० २०४-५) नागेश ने पंडितराज के द्वारा प्रतीप को उपमा का ही अंग मानने का खंडन किया है। वे बताते हैं कि उपमा तथा प्रतीप का चमत्कार भिन्न-भिन्न प्रकार का है। हम देखते हैं कि प्रतीप का चमत्कार उपमान के तिरस्कार में पर्यवसित होता है, जब कि उपमा का चमत्कार दो पदार्थों की सादृश्य बुद्धि पर आश्रित है। अतः प्रतीप का उपमा में अन्तर्भाव मानना ठीक नहीं। ('अहमेव गुरुः'—इति प्रतीपेऽपि उपमानतिरस्कृतत्वकृत एव सः, न तु सादृश्यबुद्धिकृत इति न तत्रापि तत्त्वम्। अलंकारभेदे च चमत्कारभेद एव निदानम्। —रसगंगाधरटीका गुरुमर्मप्रकाश पृ० २०५) हमें नागेश का मत ही ठीक जँचता है, प्रतीप का उपमा अन्तर्भाव मानना ठीक नहीं।

(१४) सहोक्ति-विनोक्ति

सहोक्ति :—

(१) सहोक्ति भी गम्यौपम्याश्रय अलंकार है।

(२) सहोक्ति में अनेक पदार्थों के साथ एक ही धर्म का उल्लेख होता है। इनमें एक पदार्थ (धर्मी) सदा प्रधान होता है, अन्य पदार्थ (धर्मी) गौण होते हैं। प्रधान धर्मी का प्रयोग कर्ता कारक में तथा गौण धर्मी का प्रयोग करण कारक में होता है :—'कुमुददलैः सह संप्रति विघटन्ते चक्रवाकमिथुनानि' में 'चक्रवाकमिथुनानि' प्रधान धर्मी है, कुमुददल गौण धर्मी, विघटनक्रिया समान धर्म है।

(३) इनमें प्रायः प्रधान धर्मी उपमेय तथा गौण धर्मी उपमान होता है, किंतु कभी-कभी उपमान कर्ता कारक में तथा उपमेय करण कारक में भी हो सकता है, जैसे 'अस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियतां बलानि' में।

(४) सहोक्ति के वाचक शब्द सह, साकं, सार्धं, समं, सजुः आदि हैं, किंतु कभी-कभी वाचक शब्द के अभाव में भी सहार्थविवक्षा होने पर सहोक्ति हो सकती है।

(५) सहोक्ति तभी हो सकेगी, जब सहार्थविवक्षा में चमत्कार हो, अतः 'अनेन सार्धं विहराम्बुराशेः तीरेषु तालीवनमर्मरेषु' में सहोक्ति नहीं है, क्योंकि यहाँ कोई चमत्कार नहीं पाया जाता।

(६) सहोक्ति अलंकार में सभी धर्मी प्रकृत होते हैं।

(७) सहोक्ति अलंकार में सदा बीजरूप में अतिशयोक्ति अलंकार पाया जाता है।

विनोक्ति :—

(१) सहोक्ति का ठीक उलटा अलंकार विनोक्ति है

(२) इसका लक्ष्य एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु की दशा का संकेत करना है।

(३) इसमें विना या उसके समानार्थक शब्द का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी विना शब्द के अभाव में भी विनार्थविवक्षा होने पर विनोक्ति अलंकार होता है।

(४) अधिकतर आलंकारिकों ने विनोक्ति को भी सहोक्ति की तरह भेदप्रधान गम्यौपम्याश्रय अलंकार माना है। (दे० रुय्यक तथा विद्याधर का वर्गीकरण) किंतु विनोक्ति गम्यौपम्याश्रय अलंकार नहीं है। यही कारण है कि एकावलीकार विद्यानाथ ने इसे लोकन्यायमूलक अलंकार माना है।

(१५) समासोक्ति

(१) समासोक्ति गम्यौपम्याश्रय अलंकार है।

(२) इसमें प्रकृत पदार्थ के व्यवहार या वृत्तान्त का वाच्य रूप में वर्णन होता है।

(३) इस प्रकृत व्यवहार रूप वाच्यार्थ के द्वारा अप्रकृत व्यवहार की व्यंजना कराई जाती है।

(४) यह व्यंजना लिंगसाम्य तथा विशेषणसाम्य के कारण होती है। कवि प्रकृत पदार्थ के वर्णन के समय इस प्रकार के पुल्लिंग स्त्रीलिंगादि का तथा विशेषणों का प्रयोग करता है कि उससे सहृदय की बुद्धि में दूसरे ही क्षण अप्रकृत पदार्थ के व्यवहार की स्फूर्ति हो उठती है।

अप्पय दीक्षित ने सारूप्य के आधार पर भी समासोक्ति मानी है, पर पंडितराज आदि ने उसका खण्डन किया है।

(५) इसमें प्रकृत पदार्थ के विशेषण ही श्लिष्ट या साधारण होते हैं जिससे वे प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों वृत्तान्तों में अन्वित होते हैं। विशेष्य कभी भी श्लिष्ट नहीं होता, अतः विशेष्य सदा प्रकृत पक्ष में ही अन्वित होता है।

(६) समासोक्ति में रूपक की भाँति प्रकृत पर अप्रकृत का रूप समारोप नहीं होता, अपितु प्रकृत वृत्तांत पर अप्रकृत वृत्तांत का व्यवहारसमारोप पाया जाता है।

समासोक्ति तथा श्लेषः— (१) समासोक्ति में काव्यवाक्य का वाच्यार्थ केवल प्रकृतपक्षक होता है, तथा उससे अप्रकृतपक्ष के व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है; जब कि श्लेष में दोनों (प्रकृताप्रकृत) पक्ष काव्यवाक्य के वाच्यार्थ होते हैं। (२) समासोक्ति में केवल विशेषण ही ऐसे (श्लिष्ट) होते हैं जो प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों पक्षों में अन्वित होते हैं, जब कि श्लेष में विशेषण तथा विशेष्य दोनों श्लिष्ट होते हैं।

समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा :— समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा दोनों गम्यौपम्याश्रय अलंकार हैं, तथा दोनों में दो अर्थों की प्रतीति होती है, इनमें एक वाच्यार्थ होता है, अन्य व्यंग्यार्थ। दोनों में भेद यह है कि समासोक्ति में वाच्यार्थ प्रकृत विषयक होता है, व्यंग्यार्थ अप्रकृत विषयक, जब कि अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्यार्थ अप्रकृतविषयक होता है, व्यंग्यार्थ प्रकृतविषयक।

समासोक्ति तथा एकदेशविवर्तिरूपकः— समासोक्ति तथा एकदेशविवर्तिरूपक में बड़ा सूक्ष्म भेद है। एकदेशविवर्तिरूपक में कवि किसी एक प्रकृत पदार्थ पर किसी अप्रकृत पदार्थ का आरोप निबद्ध करता है, सहृदय उससे संबद्ध अन्य प्रकृत पदार्थों पर तत्तत् अन्य अप्रकृत पदार्थों का आरोप आक्षिप्त कर लेता है। इस प्रकार रूपक के इस भेद में भी प्रकृत पर अप्रकृत का रूप समारोप पाया जाता है। समासोक्ति में अप्रकृत का स्पष्टतः कोई संकेत नहीं होता तथा यहाँ लिंगसाम्य

या विशेषणसाम्य के कारण ही सहृदय को अप्रकृत व्यवहार की स्फुरणा हो जाती है तथा यह प्रकृत पर अप्रकृत का व्यवहार समारोप कर लेता है। यदि उक्त एकदेशविवर्तिरूपक में से कवि उस अप्रकृतांश को भी निकाल दे तो समासोक्ति हो जायगी। हम एक पद्य ले लें—

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किं नु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास॥

यहाँ 'विद्युन्नयनैः' में एकदेशविवर्ति रूपक होने से सहृदय 'बादल' पर 'द्रष्टा-पुरुष' (देखने वाले) का आरोप कर लेता है। यह आरोप 'नयन' पद के प्रयोग के कारण आक्षिप्त होता है। यदि 'विद्युतिभिः' पाठ कर दिया जाय, तो यहाँ रूपक अलंकार का कोई रेशा न रहेगा, तथा यहाँ समासोक्ति हो जायगी।

(१६) परिकर-परिकरांकुर

(१) परिकर अलंकार में कवि किसी साभिप्राय विशेषण का प्रयोग करता है।

(२) साभिप्राय विशेषणों के होने पर इस अलंकार में विशेष चमत्कार पाया जाता है। कुछ आलंकारिकों (पंडितराज आदि) के मत से अनेक साभिप्राय विशेषणों के होने पर ही यह अलंकार होता है। अप्पय दीक्षित एक साभिप्राय विशेषण में भी इस अलंकार को मानते हैं।

(३) परिकरालंकार में कवि इस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग करता है कि उससे कोई व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, जो स्वयं वाच्यार्थ का उपस्कारक होता है।

(४) परिकरांकुर अलंकार की कल्पना केवल एकावलीकार विद्यानाथ तथा दीक्षित में ही मिलती है। इसमें कवि साभिप्राय विशेष्य का प्रयोग करता है। अन्य आलंकारिक इसे भी परिकर में ही अन्तर्भूत मानते हैं।

(१७) श्लेष

(१) श्लेष गम्यौपम्याश्रय अर्थालंकार है।

(२) इसमें कवि इस प्रकार के काव्यवाक्य का प्रयोग करता है, जिससे सदा दो अर्थों की प्रतीति होती है, ये दोनों अर्थ वाच्यार्थ होते हैं।

(३) मम्मटादि के मत से ये दोनों अर्थ या तो प्रकृत हो सकते हैं, या अप्रकृत; किन्तु दीक्षित ने श्लेष का एक तीसरा भेद भी माना है जिसमें एक अर्थ प्रकृत होता है दूसरा अप्रकृत। मम्मटादि इस भेद में श्लेष अलंकार न मानकर अभिधामूला शाब्दी व्यंजना मानते हैं।

(४) श्लेषालंकार में विशेषण तथा विशेष्य दोनों श्लिष्ट होते हैं।

(५) मम्मटादि के मत से श्लेष अर्थालंकार तभी माना जायगा, जब कि वाक्य में प्रयुक्त शब्द पर्यायपरिवृत्तिसह हों, अन्यथा वहाँ शब्दश्लेष अलंकार होगा। दीक्षित के मत से श्लेष अलंकार में पर्याय परिवृत्तिसहत्व आवश्यक नहीं है, यह उनके उदाहरणों से स्पष्ट है।

श्लेष तथा समासोक्ति—दे. समासोक्ति।

(१८) अप्रस्तुतप्रशंसा

(१) अप्रस्तुतप्रशंसा गम्यौपम्याश्रय अर्थालंकार है।

(२) इसमें सदा दो अर्थों की प्रतीति होती है, एक वाच्यार्थ दूसरा व्यंग्यार्थ।

(३) वाच्यार्थ अप्रकृतपरक होता है, व्यंग्यार्थ प्रकृतपरक होता है।

(४) अप्रस्तुतप्रशंसा के 'प्रशंसा' शब्द का अर्थ केवल 'वर्णन' है, अतः यहाँ अप्रस्तुत पदार्थ का वर्णन पाया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि वह प्रशंसापरक (स्तुतिपरक) हो।

(५) सहृदय को प्रकरण के कारण यह ज्ञात होता है कि उक्त पक्ष में कौन प्रकृत है, कौन अप्रकृत।

(६) कवि की प्रधान विवक्षा प्रकृतपरक व्यंग्यार्थ में होती है; अप्रकृतपरक वाच्यार्थ में नहीं। यही कारण है, वह कभी अचेतन वापीतड़ागादि अथवा पशुपक्ष्यादि को भी संबोधन करके उक्ति का प्रयोग कर सकता है जो वैसे अनर्गल प्रलाप सा दिखाई पड़ता है।

(७) अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँच भेद होते हैं :—

१. सारूप्य निबन्धना।
२. अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य की व्यञ्जना।
३. अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष की व्यञ्जना।
४. अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की व्यञ्जना।
५. अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की व्यञ्जना।

अप्रस्तुतप्रशंसा तथा समासोक्ति—दे० समासोक्ति।

अप्रस्तुतप्रशंसा तथा प्रस्तुतांकुरः—प्राचीन आलंकारिकों ने प्रस्तुतांकुर अलंकार को नहीं माना है तथा उसका समावेश अप्रस्तुतप्रशंसा में ही किया है। दीक्षित ने प्रस्तुतांकुर को अलग से अलंकार माना है। अप्रस्तुतप्रशंसा तथा प्रस्तुतांकुर में यह साम्य है कि दोनों में दो अर्थ होते हैं, एक वाच्यार्थ, अपर व्यंग्यार्थ। वैषम्य यह है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्यार्थ अप्रस्तुतपरक होता है, व्यंग्यार्थ प्रस्तुतपरक, जब कि प्रस्तुतांकुर में दोनों अर्थ दो भिन्न भिन्न प्रस्तुत पदार्थों से सम्बद्ध होते हैं।

(१९) प्रस्तुतांकुर

(१) यह भी समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा की तरह गम्यौपम्याश्रय अर्थालंकार है।

(२) इसमें भी दो अर्थों की प्रतीति होती है, एक वाच्यार्थ, दूसरा व्यंग्यार्थ तथा दोनों अर्थ दो भिन्न भिन्न प्रस्तुतों से सम्बद्ध होते हैं।

(३) अप्रस्तुतप्रशंसा की भाँति इसमें भी १. सारूप्यमूलक, २. प्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की व्यंजना, ३. प्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की व्यञ्जना के भेद होते हैं। सामान्य-विशेष वाले भेदद्वय का संकेत प्रस्तुतांकुर में नहीं मिलता। क्योंकि प्रस्तुत एक ही हो सकता है या तो सामान्य ही या विशेष ही दोनों एक साथ भिन्न भिन्न दो प्रस्तुत नहीं हो सकते।

(२०) पर्यायोक्त

(१) पर्यायोक्त अलंकार में कवि व्यंग्यार्थ का किसी अन्य प्रकार की भंगिमा से अभिधान करता है।

(२) रुय्यकादि के अनुसार वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में परस्पर कार्यकारण सम्बन्ध होता है, किन्तु दीक्षित के मत से उनके कार्यकारण सम्बन्ध में पर्यायोक्त न होकर प्रस्तुतांकुर अलंकार होता है, अतः दीक्षित व्यंग्यार्थ को ही किसी सुन्दर ढंग से कहने में पर्यायोक्त मानते हैं।

(३) दोनों पक्ष—वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ प्रस्तुत होते हैं।

पर्यायोक्त तथा अप्रस्तुतप्रशंसा:—पर्यायोक्त में वाच्य तथा व्यंग्य दोनों प्रस्तुत होते हैं, अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्यार्थ प्रस्तुत होता है, व्यंग्यार्थ अप्रस्तुत। ध्वनिवादियों के मतानुसार पर्यायोक्त में व्यंग्यार्थ सदा वाच्यार्थोपस्कारक होता है जब कि अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्यार्थ व्यंग्य-परक होता है।

पर्यायोक्त तथा प्रस्तुतांकुर :—कार्यकारणपरक प्रस्तुतांकुर तथा पर्यायोक्त में मम्मट, रुय्यक आदि कोई भेद नहीं मानते। दीक्षित के मत से पर्यायोक्त में केवल व्यंग्यार्थ का अन्य प्रकार से अभिधान पाया जाता है तथा वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में कार्यकारण भाव नहीं रहता, जब कि प्रस्तु-तांकुर में दोनों अर्थों में कार्यकारणभाव होता है तथा दोनों प्रस्तुत होते हैं।

पर्यायोक्त तथा व्याजस्तुति :—इन दोनों अलंकारों में यह समानता है कि यहाँ वाच्यार्थ से संश्लिष्ट व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तथा दोनों में भंग्यंतराश्रय पाया जाता है। भेद यह है कि १. पर्यायोक्ति में वाच्य तथा व्यंग्य में कार्यकारण (अथवा अन्य कोई) सम्बन्ध पाया जाता है, जब कि व्याजस्तुति में निन्दा-स्तुति या स्तुति-निंदा सम्बन्ध पाया जाता है; २. इस दृष्टि से पर्यायोक्त को एक महाविषय माना जा सकता है, जिसका एक भेद व्याजस्तुति है, जो स्वयं एक स्वतन्त्र अलंकार बन बैठा है।

(२१) व्याजस्तुति—व्याजनिन्दा

व्याजस्तुति:—

(१) व्याजस्तुति में दो अर्थ होते हैं, एक वाच्यार्थ दूसरा व्यंग्यार्थ।

(२) वाच्यार्थ स्तुतिपरक होने पर व्यंग्यार्थ निंदापरक होता है, वाच्यार्थ निंदापरक होने पर व्यंग्यार्थ स्तुतिपरक होता है।

(३) प्रकरण के कारण सहृदय श्रोता को स्तुतिपरक या निन्दापरक वाच्यार्थ बाधित प्रतीत होता है, यही कारण है कि सहृदय उससे विरुद्ध व्यंग्यार्थ की प्रतीति कर पाता है।

(४) वाच्यरूप स्तुतिनिन्दा इतनी स्फुट होती है कि उससे सहृदय को निन्दास्तुतिरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। व्याजस्तुति में ध्वनित्व इसलिए नहीं माना जा सकता कि यहाँ वाच्या-र्थबाध के कारण अपरार्थ प्रतीति होती है, जब कि ध्वनि में व्यंग्यार्थ प्रतीति वाच्यार्थबाध के बिना होती है। इस सम्बन्ध में इतना संकेत कर दिया जाय कि व्याजस्तुति के अपरार्थ को प्रायः सभी आलंकारिक व्यंग्यार्थ मानते हैं, केवल शोभाकर मित्र एक ऐसे आलंकारिक हैं, जिन्होंने वाच्यार्थ-बाध होने के कारण यहाँ विपरीतलक्षणा मानकर अपरार्थ को लक्ष्यार्थ माना है।

(५) दीक्षित ने व्याजस्तुति के पाँच भेद माने हैं :—(१) एकविषयक निन्दा से स्तुति की व्यञ्जना, (२) एकविषयक स्तुति से निंदा की व्यञ्जना, (३) भिन्नविषयक निन्दा से स्तुति की व्यञ्जना, (४) भिन्नविषयक स्तुति से निंदा की व्यञ्जना, (५) भिन्नविषयक स्तुति से स्तुति की व्यञ्जना।

व्याजनिन्दा :—

(१) व्याजनिन्दा व्याजस्तुति के पञ्चम प्रकार का उलटा है, जहाँ भिन्नविषयक निन्दा से निंदा की व्यञ्जना पाई जाती है।

(२) प्राचीन आलंकारिकों ने व्याजनिंदा अलंकार नहीं माना है। पण्डितराज आदि नव्य आलंकारिकों ने दीक्षित के इस अलंकार का खण्डन किया है।

(२२) आक्षेप

(१) आक्षेप अलंकार में वक्ता सदा कोई बात कहता है या कहने जाता है।

(२) इसी बीच वह अपने वक्तव्य का, जिसे वह या तो पूरा कह चुका होता है (उक्तविषय) या जिसे पूरा कहना अभी बाकी है (वक्ष्यमाणविषय), निषेध करता है।

(३) यह निषेध या तो उक्तविषय से संबद्ध हो सकता है या वक्ष्यमाणविषय से अथवा वह वर्ण्यविषय से संबद्ध किसी अन्य वस्तु से संबद्ध हो सकता है।

(४) यह निषेध वास्तविक न होकर केवल निषेधाभास हो अर्थात् बाहर से वह निषेध प्रतीत हो, किन्तु वक्ता का अभिप्राय निषेध करने का न हो।

(५) इस निषेधाभास के द्वारा किसी विशेष अर्थ की व्यञ्जना कराई जाय।

(२३) विरोधाभास

(१) यह विरोधगर्भ अलंकार है।

(२) इस अलंकार में सदा आपाततः दो परस्पर विरोधी वस्तुओं का एक ही आश्रय में वर्णन किया जाता है।

(३) यह विरोध वास्तविक न होकर केवल आभास हो।

(४) आभासमात्र होने से इस विरोध का परिहार किया जा सकता है।

(५) विरोधाभास श्लेष पर भी आश्रित हो सकता है किन्तु इसके लिए श्लेष का होना अनिवार्य नहीं है।

(६) विरोधाभास का वाचक शब्द 'अपि' है, किन्तु इसके बिना भी विरोधाभास हो सकता है।

(७) कुछ आलंकारिक (मम्मटादि) विरोधाभास को विरोध कहते हैं।

विरोधाभास तथा विभावना-विशेषोक्ति :— विरोधाभास की भाँति विभावना तथा विशेषोक्ति में दो पदार्थों में परस्पर विरोध देखा जाता है। इनमें परस्पर यह भेद है कि (१) विरोधाभास में यह विरोध कार्यकारणभाव से सम्बद्ध न होकर द्रव्य, गुण, क्रिया या जाति गत होता है, जब कि विभावना एवं विशेषोक्ति में विरोध कार्यकारणमूलक होता है, (२) दूसरे, विभावना-विशेषोक्ति में हमें एक ही विरुद्ध तत्त्व चमत्कृत करता है, विभावना में यह 'फलसत्त्व' होता है, विशेषोक्ति में फलाभाव, किंतु विरोधाभास में दोनों ही तत्त्व एक दूसरे से विरुद्ध होने के कारण चमत्कृत करते हैं।

(२४) विभावना-विशेषोक्ति

विभावना :—

(१) इसमें किसी विशेष कारण के अभाव में भी कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाता है।

(२) कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का वर्णन वास्तविक न होकर केवल कविप्रतिभोत्थापित होता है, दूसरे शब्दों में यह भी एक विरोधाभास है।

(३) यह कार्योत्पत्ति किसी अन्य कारण से होती दिखाई जाती है, जिसकी प्रतीति सहृदय को हो जाती है।

(४) कवि कभी वास्तविक हेतु का वर्णन करता है, कभी नहीं।

(५) विभावना के अन्य प्रकार वह भी हो सकते हैं, जहाँ कवि कभी कार्य को कारण के रूप में या कारण को कार्य के रूप में वर्णित करता है।

विशेषोक्तिः—

(१) विशेषोक्ति विभावना का उलटा अलंकार है। यहाँ कारण के होते हुए भी कार्य नहीं हो पाता।

(२) कारण के होते हुए भी कार्य न होने में कवि किसी प्रतिबन्धक निमित्त की कल्पना करता है। जब कवि इस निमित्त का उल्लेख करता है तो उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति होती है। जब वह इसका उल्लेख नहीं करता तो अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति होती है।

(३) कभी-कभी कवि फलाभाव के स्थान पर विरुद्ध फलोत्पत्ति का उल्लेख करता है, ऐसे स्थानों पर विभावना तथा विशेषोक्ति का संदेह संकर पाया जाता है।

विशेषोक्ति तथा विभावना:—दोनों अलंकार कार्यकारणभाव से सम्बद्ध विरोधगर्भ अलंकार हैं। इनमें भेद यह है कि (१) विशेषोक्ति में कारण के होते हुए भी कार्याभाव पाया जाता है, विभावना में कारण के बिना भी कार्योत्पत्ति वर्णित की जाती है, (२) विशेषोक्ति का चमत्कार कार्यानुत्पत्ति वाले अंश में होता है, विभावना का कार्योत्पत्ति वाले अंश में।

(२५) असंगति

(१) असंगति कार्यकारणविरोधमूलक अलंकार है।

(२) इसमें कवि ऐसी दो वस्तुओं की, जिनमें परस्पर कार्यकारण संबंध होता है तथा जिनकी एकदेशस्थिति आवश्यक है, भिन्नदेशता वर्णित करता है। इसीलिए जहाँ कार्यकारण की भिन्नदेशता विरुद्ध नहीं होती, वहाँ असंगति अलंकार नहीं होगा।

(३) अप्पय दीक्षित ने असंगति के अन्य दो भेद भी माने हैं:—एक तो वह जहाँ एक स्थान पर करणीय कार्य को वहाँ न कर अन्यत्र किया जाता है; दूसरा वह जहाँ किसी कार्य को करने में प्रवृत्त व्यक्ति उस कार्य को न कर उससे सर्वथा विरुद्ध कार्य कर डालता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षित के इन दोनों भेदों का खण्डन किया है।

(२६) विषम-सम

विषम :—

(१) विषम अलंकार के तीन प्रकार माने गये हैं।

(२) प्रथम प्रकार में दो परस्पराननुरूप वस्तुओं की संघटना का वर्णन होता है। इस प्रकार में कवि प्रायः 'क-क' का प्रयोग करता है, जैसे 'क वयं क परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः' (कहाँ तो हम (राजा) और कहाँ हिरन के बच्चों के साथ पला-पोसा वह कामकेलानभिज्ञ व्यक्ति (शकुन्तला))। कभी कभी 'क-क' के प्रयोग के बिना भी 'विरूपयोः संघटना' वर्णित की जा सकती है।

(३) विषम के द्वितीय भेद में कार्य तथा कारण के गुण या क्रिया में परस्पर वैषम्य वर्णित किया जाता है।

(४) तृतीय विषम में इष्टानवाप्ति या अनिष्टावाप्ति का वर्णन होता है।

सम :—

(१) विषम सम का विरोधी अलंकार है, जिसकी कल्पना का श्रेय सर्वप्रथम मम्मटाचार्य को है।

(२) प्राचीन विद्वानों ने 'सम' एक ही तरह का माना है—प्रथम विषम का उलटा अर्थात 'अनुरूपयोः संघटना' का वर्णन।

(३) दीक्षित ने द्वितीय तथा तृतीय विषम के आधार पर उनके विरोधी द्वितीय तथा तृतीय सम की भी कल्पना की है, जहाँ कार्यकारण की गुणक्रिया का साम्य तथा इष्टावाप्ति एवं अनिष्टानवाप्ति का वर्णन किया जाता है। इस भेदकल्पना से पंडितराज जगन्नाथ तक सहमत हैं।

(२७) काव्यलिंग

(१) काव्यलिंग वाक्यन्यायमूलक अलंकार है।

(२) यहाँ कवि अपने द्वारा वर्णित किसी तथ्य की पुष्टि के लिए किसी वाक्य या पदार्थ का हेतुरूप में उल्लेख करता है।

(३) काव्यलिंग का हेतु अनुमान अलंकार के हेतु की भाँति व्याप्ति या पक्ष-धर्मतादि से युक्त नहीं होता, साथ ही इसका प्रयोग तृतीया या पंचमी विभक्ति में कभी नहीं होता। यदि कवि अपने तथ्य को स्पष्ट करने के लिए हेतुसूचक तृतीया या पंचमी का प्रयोग कर देता है अथवा 'हि' 'यतः' जैसे उक्तार्थोपपादक पदों का प्रयोग कर देता है तो वहाँ काव्यलिंग अलंकार नहीं माना जाता। भाव यह है, काव्यलिंग में हेतुत्व की व्यंजना कराई जाती है, स्पष्ट रूप से उसका हेतुत्व अभिहित नहीं किया जाता।

(४) वाक्यार्थ काव्यलिंग में सदा दो वाक्य होते हैं, जिनमें एक वाक्य दूसरे वाक्य का हेतु होता है, तथा इनमें यतः, यस्मात् आदि का प्रयोग नहीं होता।

काव्यलिंग तथा अर्थान्तरन्यास :—वाक्यार्थगत काव्यलिंग तथा अर्थान्तरन्यास में एक समानता पाई जाती है कि दोनों में एक वाक्यार्थ दूसरे वाक्यार्थ की पुष्टि करता है। इस दृष्टि से दोनों में ही समर्थन पाया जाता है। किंतु (१) काव्यलिंग में किसी तथ्य का समर्थन किसी विशेष हेतु के द्वारा किया जाता है, जबकि अर्थान्तरन्यास में विशेष का सामान्य के द्वारा या सामान्य का विशेष के द्वारा समर्थन किया जाता है। इस प्रकार काव्यलिंग में दोनों वाक्यों में परस्पर कार्यकारणभाव होता है, अर्थान्तरन्यास में सामान्यविशेषभाव। विश्वनाथ ने इसीलिए अर्थांतरन्यास में समर्थक हेतु माना है, काव्यलिंग में निष्पादक हेतु। (२) काव्यलिंग में दोनों वाक्य प्रस्तुतपरक होते हैं, जबकि अर्थांतरन्यास में एक वाक्य प्रस्तुतपरक होता है, अन्य अप्रस्तुतपरक।

काव्यलिंग तथा अनुमान :—दोनों में तथ्य की सिद्धि के लिए हेतु का प्रयोग किया जाता है, किन्तु (१) काव्यलिंग में कार्यकारणभाव व्यंग्य होता है, अनुमान में साध्यसाधनभाव वाच्य होता है, (२) काव्यलिंग में हेतु निष्पादक (या कुछ विद्वानों के मत से समर्थक) होता है, अनुमान में हेतु ज्ञापक होता है।

(२८) अर्थान्तरन्यास

(१) अर्थान्तरन्यास में परस्पर निरपेक्ष दो वाक्यों का प्रयोग होता है।

(२) इनमें एक वाक्य सामान्यपरक होता है, अन्य विशेषपरक। इस प्रकार या तो सामान्य का विशेष के द्वारा या विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन पाया जाता है। इनमें एक प्रकृत होता है, अन्य अप्रकृत। प्रकृत सदा समर्थ्य होता है, अप्रकृत समर्थक। कभी-कभी दोनों पक्ष प्रकृत भी हो सकते हैं।

(३) समर्थक वाक्य में हि, यतः आदि समर्थनवाचक पदों का प्रयोग हो भी सकता है, नहीं भी।

(४) रुय्यक तथा विश्वनाथ ने अर्थान्तरन्यास वहाँ भी माना है, जहाँ कार्य कारण के द्वारा या कारण का कार्य के द्वारा समर्थन पाया जाता है। मम्मट तथा पंडितराज केवल सामान्यविशेष-भाव में ही अर्थान्तरन्यास मानते हैं। ठीक यही मत अप्यय दीक्षित का है।

अर्थान्तरन्यास-दृष्टान्त :—दे० दृष्टान्त।

अर्थान्तरन्यास काव्यलिंग :—दे० काव्यलिंग।

(२९) विकस्वर

(१) विकस्वर का उल्लेख केवल जयदेव तथा अप्पय दीक्षित में मिलता है।

(२) विकस्वर वहाँ होता है, जहाँ कवि एक बार किसी विशेष के समर्थन के लिए सामान्य का प्रयोग करता है, तदनन्तर उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए पुनः अन्य विशेष का उपादान करता है।

(३) विकस्वर का यह तृतीय वाक्य (या द्वितीय समर्थक वाक्य) सदा विशेष रूप होगा।

(४) यह वाक्य या तो 'इवादि' उपमा वाचकपदों के कारण उपमाशैली में होगा, जैसे 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' में, या वह अर्थान्तरन्यासशैली में होगा।

(५) प्राचीन आलंकारिक तथा पण्डितराज जगन्नाथ भी विकस्वर नहीं मानते। इनके मत से उपमाशैली वाले विकस्वर का अन्तर्भाव उपमा अलंकार में होगा, अर्थान्तरन्यास शैली वाले विकस्वर का अर्थान्तरन्यास में।

(३०) ललित

(१) ललित अलंकार निदर्शना अलंकार का ही एक प्ररोह है, जहाँ दीक्षितादि ने नये अलंकार की कल्पना की है।

(२) ललित अलंकार में प्रस्तुत धर्मी के साथ उसके स्वयं के धर्म का वर्णन न कर केवल उसके प्रतिबिम्बभूत अप्रस्तुत के धर्म का वर्णन किया जाता है।

(३) निदर्शना तथा ललित में केवल यही भेद है कि निदर्शना में कवि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों के बिंब-प्रतिबिंबभूत धर्मों का साक्षात् उपादान करता है, तथा इस तरह दोनों का ऐक्य समारोप करता है, जब कि ललित में प्रस्तुत का धर्म (बिंब) शब्दतः उपात्त नहीं होता, कवि केवल अप्रस्तुत धर्म (प्रतिबिंब) का ही प्रयोग करता है।

(४) अन्य आलंकारिक ललित को अलग से अलंकार न मानकर इसका समावेश आर्थी निदर्शना में ही करते हैं।

ललित के लिए विशेष—दे० भूमिका पृ० ३०-३२।

(३१) विशेष

(१) प्रथम विशेष में बिना आधार के आधेय का वर्णन किया जाता है, अथवा साक्षात् आधार से भिन्न स्थान पर आधेय का वर्णन किया जाता है।

(२) द्वितीय विशेष में एक ही वस्तु (आधेय) का अनेक स्थानों (आधारों) पर वर्णन किया जाता है।

(३) तृतीय विशेष वहाँ होता है, जहाँ एक कार्य को करते हुए व्यक्ति को लगे हाथों दूसरी वस्तु भी मिल जाती है।

(४) विशेष के तीनों प्रकार अतिशयोक्तिमूलक होते हैं।

(३२) विचित्र

(१) विचित्रालंकार में किसी फल की प्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्न का वर्णन पाया जाता है।

(२) यह प्रयत्न सदा फल से विपरीत होता है। हम देखते हैं कि किसी फल की प्राप्ति के लिए व्यक्ति सदा ऐसे कार्य को करता है, जिससे फल प्राप्ति साक्षात् संबद्ध हो, किन्तु कवि कभी-कभी चमत्कार लाने के लिए किसी फल की प्राप्ति के लिए उसके विरोधी प्रयत्न का वर्णन करता है।

(३) यह वर्णन श्लिष्ट भी हो सकता है, अश्लिष्ट भी। श्लेष पर आश्रित विचित्र अलंकार में विशेष चमत्कार पाया जाता है, जैसे 'मलिनयितुं खलवदनं' इत्यादि पद्य में।

(३३) व्याघात

प्रथम व्याघात :—

(१) प्रथम व्याघात में दो विरोधी साधनों का वर्णन किया जाता है।

(२) इसमें या तो किसी कार्य को करने के लिए एक साधन काम में लाया जाता है, पर वह उससे सर्वथा विरुद्ध कार्य को कर प्रथम कार्य को व्याहत कर देता है, या एक वस्तु से सर्वथा विरुद्ध कार्य को अन्य वस्तु करती है।

(३) इनमें या तो ये दो पदार्थ परस्पर एक दूसरे के उपमानोपमेय हो सकते हैं या प्रतिद्वन्द्वी।

द्वितीय व्याघात :—

(१) द्वितीय व्याघात में कोई व्यक्ति किसी कार्य को करने के लिए किसी प्रकार की क्रिया को ढूँढ निकालता है।

(२) पर अन्य व्यक्ति उसी क्रिया को उक्त कार्य का विरोधी सिद्ध कर देता है।

(३४) अधिक-अल्प

अधिक :—

(१) इसमें कवि सदा दो पदार्थों का वर्णन करता है, जिसमें एक आश्रित होता है, अन्य आश्रय।

(२) कवि या तो आश्रित (आधेय) की अधिकता का वर्णन करता है, या आश्रय (आधार) की।

(३) कवि का ध्येय इस वर्णन के द्वारा प्रकृत की महत्ता द्योतित करना है।

(४) प्रायः प्रकृत आश्रित होता है, किन्तु कभी-कभी वह आश्रय भी हो सकता है।

(५) एक की अधिकता के वर्णन से अन्य पदार्थ के आधिक्य की भी व्यंजना कराना कवि का लक्ष्य है।

(६) यह आधिक्य वर्णन यथार्थ न होकर कवि प्रौढोक्तिनिबद्ध होता है।

अल्प :—इसके लिए दे० भूमिका पृ० २८ २९।

(३५) अन्योन्य

(१) अन्योन्य में भी सदा दो पदार्थों का वर्णन पाया जाता है।

(२) ये दो पदार्थ एक दूसरे के उपस्कारक होते हैं।

(३) इसमें प्रथम पदार्थ द्वितीय का उपकारक होता है, द्वितीय प्रथम का।

(४) अन्योन्य में दोनों पदार्थ प्रकृत होते हैं।

(५) अन्योन्य का प्रयोग एकवाक्यगत भी हो सकता है, द्विवाक्यगत भी।

(६) अन्योन्य में जिस गुण या क्रिया रूप उपकार का वर्णन किया जाता है, वह दोनों पदार्थों का उत्कर्षाधायक हो।

(३६) कारणमाला

(१) यह शृङ्खलामूलक अलंकार है, जिसमें पूर्व-पूर्व या तो उत्तरोत्तर का कारण होता है या कार्य।

(२) यह शृङ्खला जितनी लम्बी होगी उतनी ही चमत्कारावह होगी।

(३) चमत्कार को बनाये रखने के लिए कवि को पूर्व-पूर्व शब्दों के उत्तरोत्तर प्रयोग में पर्यायवाची शब्द का प्रयोग न कर उसी शब्द का प्रयोग करना चाहिए, साथ ही सभी छोटे वाक्यों की व्याकरणिक संघटना एक सी होनी चाहिए जैसे 'जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते' में दूसरे वाक्य की संघटना यदि 'विनयः गुणप्रकर्षस्य कारणं' होती तो विशेष चमत्कार होता।

(३७) एकावली

एकावली :—

(१) यह शृङ्खलामूलक अलंकार है। इसमें विशेषणों की शृङ्खला पाई जाती है।

(२) पूर्व-पूर्व पद या तो उत्तरोत्तर पद के विशेषण हों या विशेष्य हों।

(३) एकावली के दो प्रकार होते हैं पूर्व-पूर्व पद के विशेषणविशेष्यभाव की स्थापना या अपोहन। इसी को दीक्षित ने ग्रहणरीति तथा मुक्तरीति कहा है।

(४) विशेषणों का लक्ष्य विशेष्य की उत्कृष्टता बताना हो।

(५) इस अलंकार का वास्तविक चमत्कार शृङ्खला में ही होता है।

एकावली, कारणमाला, मालादीपक :—ये तीनों शृंखलामूलक अलंकार हैं। तीनों में पूर्व-पूर्व पद का उत्तरोत्तर पद से संबंध स्थापित किया जाता है, किन्तु भेद यह है कि एकावली में यह संबन्ध विशेषण-विशेष्यभाव का होता है, कारणमाला में कार्यकारणभाव का, तो मालादीपक में पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तरोत्तर पदार्थ के धर्म का विधान करता है; साथ ही एकावली तथा कारणमाला का वास्तविक चमत्कार केवल शृंखला का होता है, जब कि मालादीपक में यह भी चमत्कार पाया जाता है कि यहाँ 'धर्म का एक बार प्रयोग होता है।' यही कारण है कि दीक्षित ने यहाँ एकावली तथा दीपक का योग माना है।

(३८) सार

(१) यह भी शृंखलामूलक अलंकार है।

(२) इसमें ऐसे अनेक पदार्थों का वर्णन होता है, जो क्रम से एक दूसरे से उत्कृष्ट होते हैं। इस प्रकार इसमें उत्कृष्टता का आरोह पाया जाता है।

(३) यह आरोह या तो तत्तत् पदार्थों के किसी धर्म का होता है या स्वयं पदार्थों का ही।

(४) सार न केवल उत्कृष्ट वस्तुओं का ही होता है, वह अपकृष्टताविषयक भी हो सकता है। इन्हें ही दीक्षित ने क्रमशः श्लाघ्यगुणोत्कर्षसार तथा अश्लाघ्यगुणोत्कर्षसार कहा है।

(३९) पर्याय

प्रथम पर्याय :—

(१) कवि एक ही पदार्थ का अनेक स्थानों पर क्रमशः वर्णन करता है।

(२) यह वर्णन स्वयं चमत्कारिक हो।

(३) यह क्रम आरोहरूप या अवरोहरूप कैसा भी हो सकता है।

(४) पर्याय तभी होगा जब उक्त वस्तु अपने प्रथम आश्रय को सर्वथा छोड़कर दूसरे पर स्थित हो, यदि वह एक काल में अनेक जगह होगी तो पर्याय न होगा।

द्वितीय पर्याय:—

(१) जहाँ एक ही आधार पर अनेक आधेयों का वर्णन किया जाय, वहाँ द्वितीय पर्याय होता है।

(२) ये अनेक आधेय पर्याय से (क्रमशः) आधार पर रहें, एक साथ नहीं।

(३) पर्याय तभी होगा जब वर्णन में चमत्कार हो, 'पुरा यत्र घटस्तत्र अधुना पटः' में पर्याय अलंकार नहीं है।

(४०) परिवृत्ति

(१) परिवृत्ति में दो पदार्थ के भिन्न भिन्न धर्मों का परस्पर आदान-प्रदान वर्णित किया जाता है।

(२) यह आदान-प्रदान केवल कविकल्पित होता है, वास्तविक नहीं।

(३) यह आदान-प्रदान कई तरह का होता है :—

(क) समान सत् वस्तुओं का परस्पर आदानप्रदान।

(ख) समान असत् वस्तुओं का परस्पर आदानप्रदान।

(ग) न्यून वस्तु का अधिक वस्तु के साथ आदानप्रदान।

(घ) अधिक वस्तु का न्यून वस्तु के साथ आदानप्रदान।

(४) इन भेदों में प्रथम दो भेद समपरिवृत्ति हैं, द्वितीय दो भेद विषमपरिवृत्ति। अलंकार का विशेष चमत्कार विषमपरिवृत्ति में पाया जाता है।

(४१) परिसंख्या

(१) इसमें कवि एक पदार्थ का निराकरण कर अन्य पदार्थ का वर्णन करता है।

(२) अलंकार का वास्तविक चमत्कार उस निराकरण या निषेध में है।

(३) यह उक्ति या तो किसी प्रश्न के उत्तर में (प्रश्नपूर्विका) हो सकती है, या शुद्ध।

(४) निराकरणीय पदार्थ का या तो कवि स्पष्टतः वर्णन कर निषेध करता है या उसकी केवल व्यंजना भर करता है। इसी आधार पर शाब्दी तथा आर्थी परिसंख्या ये दो भेद होते हैं। इनमें आर्थी परिसंख्या में विशेष चमत्कार होता है।

(५) परिसंख्या श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट दोनों तरह की होती है, किन्तु श्लेष पर आश्रित अधिक चमत्कारी होती है।

(४२) समुच्चय--समाधि

समुच्चय :—

(१) इसमें एक साथ अनेक गुणों या क्रियाओं या गुणक्रियाओं का वर्णन होता है।

(२) इनमें परस्पर कार्यकारणभाव हो भी सकता है, नहीं भी।

(३) समुच्चय का एक भेद वह भी है, जहाँ अनेक कारण 'खलेकपोतिकान्याय' से किसी कार्य की सिद्धि करते हैं। इस समुच्चय को 'तत्कर' भी कहा जाता है।

समाधि :—

(१) इसमें कवि किसी कार्य के किये जाने का वर्णन करता है।

(२) यह किसी साक्षात् कारण से होने जा रहा है।

(३) इसी बीच कोई अन्य कारण 'काकतालीयन्याय' से अकस्मात् उपस्थित होकर उस कार्य को सुकर बना देता है।

(४) इस प्रकार समाधि में सदा दो कारण होते हैं—एक पहले से ही विद्यमान होता है, एक आगन्तुक।

(५) इस अलंकार का वास्तविक चमत्कार इस अंश में है कि अकस्मात् उपस्थित अन्य कारण की सहायता से वह कार्य सुकर हो जाता है।

(४३) प्रत्यनीक

(१) इसमें कवि ऐसे दो पदार्थों का वर्णन करता है जो परस्पर विरोधी होते हैं।

(२) ऐसा भी हो सकता है कि ये विरोधी पदार्थ परस्पर उपमानोपमेय हों।

(३) इनमें एक पदार्थ बलवत्तर होने के कारण दूसरे पदार्थ को पराजित कर देता है।

(४) पराजित होने वाला पदार्थ किसी तरह अपना बदला चुकाना चाहता है पर वह बलवत्तर पदार्थ का कुछ नहीं बिगाड़ सकने के कारण उससे सम्बद्ध किसी अन्य पदार्थ को परेशान करता है।

(५) यदि उपर्युक्त दोनों पदार्थों में परस्पर उपमानोपमेयत्व होता है तो प्रत्यनीक सादृश्य-मूलक होता है, अन्यथा यह सादृश्यमूलक नहीं होता।

(६) प्रत्यनीक श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट दोनों तरह का हो सकता है। श्लेष पर आश्रित प्रत्यनीक में विशेष चमत्कार होता है।

(४४) अर्थापत्ति

१) अर्थापत्ति में कवि एक ऐसे तथ्य का वर्णन करता है, जिससे अन्य तथ्य का आक्षेप हो जाता है। यह आक्षेप 'दण्डापूपिकान्याय' से होता है।

(२) इसके लिए कवि सदा 'किं' 'का' 'कः' इत्यादि प्रश्नवाचक सर्वनाम के द्वारा 'कैमुत्यन्याय' से उक्त अन्य तथ्य का प्रतीति करता है।

(३) अर्थापत्ति तभी हो सकेगी जब उक्ति में कोई चमत्कार हो, 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' में अर्थापत्ति अलंकार नहीं है।

(४५) अनुमान

(१) इसमें अनुमान प्रमाण की ही भाँति कवि किसी साधन के द्वारा साध्य की अनुमिति कराता है।

(२) ये दोनों साध्य-साधन चमत्कारिक हों, 'पर्वतोऽयं वह्निमान्, धूमात्' में अनुमान अलङ्कार नहीं है।

(३) साधन का प्रयोग कवि सदा तृतीया या पंचमी विभक्ति में, या यतः, यस्मात् आदि पदों के द्वारा करता है।

(४) न्याय के अनुमान की व्याप्तिप्रणाली की तरह यहाँ भी व्याप्ति तथा लिंगपरामर्श होता है, पर वह तार्किकों के मत से सर्वथा शुद्ध ही हो ऐसा नहीं होता, क्योंकि यह तो कवि-कल्पित होता है।

(५) अनुमान में साधन सदा ज्ञापक हेतु होता है, जब कि काव्यलिंग तथा अर्थान्तरन्यास में यह समर्थक हेतु होता है।

(४६) तद्गुण-अतद्गुण

(१) तद्गुण में ऐसे दो पदार्थों का वर्णन किया जाता है, जो एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

(२) उनके गुण भिन्न-भिन्न होते हैं। गुण रंग या अन्य प्रकार के हो सकते हैं।

(३) इनमें एक पदार्थ का गुण अन्य वस्तु के गुण से बलवत्तर होता है।

(४) बलवत्तर गुण वाला पदार्थ प्रकृत या अप्रकृत कोई भी हो सकता है। प्रकृत होने पर कवि का लक्ष्य उसकी उत्कृष्टता बताना है। अप्रकृत होने पर कवि का लक्ष्य अन्य वस्तु के गुण के आरोप से जनित चमत्कारकारी स्थिति का चित्रण करना होता है।

(५) जो गुण दूसरी वस्तु के गुण को तिरोहित कर देता है वह बलवत्तर गुण है।

(६) बलवत्तर गुण वाला पदार्थ अपर पदार्थ के गुण को तब तक तिरोहित रखता है, जब तक वह उसके संसर्ग में रहता है।

अतद्गुण :—यह तद्गुण का विरोधी अलंकार है। इसमें न्यून गुण वाली वस्तु उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के संसर्ग में रहते हुए भी अपने गुण को छोड़कर उसका ग्रहण नहीं करती।

तद्गुण-मीलित :—इन दोनों में दो पदार्थों का वर्णन होता है तथा एक पदार्थ अन्य को प्रभावित होता है, साथ ही दोनों में बलवत्तर पदार्थ निर्बल पर हावी हो जाता है, किन्तु (१) तद्गुण में एक वस्तु का गुण (धर्म) अपर वस्तु के गुण को तिरोहित करता है, मीलित में वस्तु स्वयं (धर्मी ही) अपर वस्तु (धर्मी) को तिरोहित करती है, (२) तद्गुण में किसी वस्तु के गुण को तिरोहित करने वाला अपर वस्तु का गुण सदा विसदृश (भिन्न) होता है, मीलित में दोनों धर्मी (पदार्थ) समान गुण होते हैं।

(४७) मीलित तथा उन्मीलित

(१) मीलित में दो पदार्थों का वर्णन पाया जाता है, इनमें एक प्रधान होता है, एक गौण।
(२) इन दोनों पदार्थों में समान गुण (धर्म) पाये जाते हैं।
(३) तुल्य धर्म के कारण गौण पदार्थ का प्रधान पदार्थ के द्वारा निगूहन कर दिया जाता है।
(४) यह तुल्य धर्म या तो स्वाभाविक होता है या आगन्तुक।

उन्मीलित :—उन्मीलित मीलित का विरोधी अलंकार है, जहाँ एक (बलवत्तर) पदार्थ के द्वारा गौण पदार्थ का निगूहन कर लेने पर भी अनुभविता को किसी विशेष कारण से दोनों पदार्थों का पार्थक्य प्रतीत हो जाता है।

*मीलित तथा सामान्य :—दोनों में यह समानता है कि दोनों में ही ऐसे दो पदार्थों का वर्णन होता है, जिनके तुल्य धर्म के कारण उनका पार्थक्य ज्ञात नहीं हो पाता, किन्तु (१) मीलित में बलवान् पदार्थ निर्बल पदार्थ का निगूहन करता है, सामान्य में दोनों समान धर्म के कारण ही एक दूसरे में घुलमिल जाते हैं (२) मीलित में एक वस्तु अन्य का निगूहन कर लेती है अतः दोनों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता; सामान्य में दोनों वस्तुएँ प्रत्यक्ष विषय तो होती हैं, किन्तु उनके भेद का—वैशिष्ट्य का—पता नहीं चल पाता। मम्मट तथा दीक्षित की मीलित तथा सामान्य वाली धारणाओं में भेद है। उक्त विवरण मम्मट के अनुसार है। दोनों के भेद के लिए दे०—हिंदी कुवलयानन्द पृ० २४२।

(४८) सामान्य-विशेषक

सामान्य :—

(१) इसमें दो समानगुण पदार्थों का वर्णन होता है।

(२) समानगुण के कारण एक पदार्थ दूसरे में घुलमिल जाता है।

(३) इन दोनों पदार्थों में एक पदार्थ के चिह्नों का स्पष्ट पता चलता है, अतः उस पदार्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है, दूसरे पदार्थ के विशिष्ट चिह्न प्रतीत न होने के कारण उसका भेद नहीं प्रतीत होता।

(४) अनुभविता को दोनों पदार्थ दिखाई तो देते हैं, पर उनका भेद नहीं प्रतीत होता।

(५) सामान्य में दोनों पदार्थ समानशक्तिक होते हैं, अतः वे परस्पर घुलमिल जाते हैं, जब कि मीलित में एक पदार्थ बलवत्तर होने के कारण दूसरे पदार्थ को आत्मसात् कर लेता है।

(६) सामान्य अलंकार में कवि का लक्ष्य दोनों पदार्थों की गुणसाम्यविवक्षा होती है।

(७) ये दोनों पदार्थ गुण की दृष्टि से एक दूसरे से अभिन्न नहीं होते किंतु कवि अतिशयोक्ति के द्वारा उन्हें अभिन्न वर्णित करता है।

विशेषक :—विशेषक सामान्य का उलटा अलंकार है। इसमें किसी विशेष कारण से दो पदार्थों के घुलेमिले होने पर भी उनका व्यक्तिमान हो जाता है। (विशेषक के लिए दे० भूमिका पृ० ३३)

(४९) उत्तर

प्रथम उत्तर :—

(१) प्रथम उत्तर में केवल उत्तरमय वाक्य का प्रयोग होता है।

(२) सहृदय स्वयं प्रश्न का अनुमान लगा लेता है।

(३) प्रायः यह अलंकार शृङ्गारी भावना से संश्लिष्ट होता है।

(४) यह उत्तर कभी-कभी साकूत या साभिप्राय भी हो सकता है, जैसे पथिक के यह पूछने पर कि नदी को कहाँ से पार करे, स्वयं दूती यह उत्तर देती है—**'यत्रासौ वेतसी पांथ तत्रेयं सुतरा सरित'।** यहाँ वक्त्री स्वयं दूती का यह उत्तर 'साकूत' है, वह वेतसीकुञ्ज में स्वच्छन्दता से केलि की जा सकती है; इसका संकेत करती है।

द्वितीय उत्तर :—

(१) इस उत्तरभेद में एक ही काव्यवाक्य में एक साथ प्रश्नोत्तरशृङ्खला पाई जाती है।

(२) इसमें कभी-कभी अन्तर्लापिका या बहिर्लापिका नामक प्रहेलिकाभेद का भी प्रयोग किया जा सकता है।

(५०) सूक्ष्म-पिहित

(१) इसमें कोई व्यक्ति किसी के आकारादि को देखकर किसी गुप्त बात को जान लेता है।

(२) उसे जान कर वह किसी संकेत के द्वारा उक्त व्यक्ति को इस बात को जतलाता है कि वह उक्त रहस्य को समझ गया है।

(३) इस संकेत के द्वारा या तो वह उसे रहस्य के जानने की सूचना देता है या कभी-कभी उक्त व्यक्ति के संकेतमय प्रश्न का संकेतमय उत्तर देता है। मम्मट ने इन दोनों भेदों में 'सूक्ष्म' अलंकार ही माना है, दीक्षित ने 'पराशय' को जानकर संकेतमय उत्तर देने में तो 'सूक्ष्म' अलंकार माना है, किंतु किसी व्यक्ति के रहस्य को जान कर उसे जान लेने भर की सूचना देने के संकेत में 'सूक्ष्म' का अपर भेद न मानकर 'पिहित' अलंकार माना है।

(४) सूक्ष्म तथा पिहित दोनों अलंकारों में मूलतः शृङ्गारी भावना पाई जाती है।

(५१) व्याजोक्ति

(१) व्याजोक्ति में सदा कवि से भिन्न किसी पात्र की उक्ति पाई जाती है।

(२) यह उक्ति किसी ऐसी वस्तु से संबद्ध होती है, जिसे वक्ता छिपाना चाहता है, किन्तु किसी तरह वह प्रगट हो जाती है।

(३) उस उद्भिन्न वस्तु का गोपन करने के लिए वक्ता किसी ऐसे (झूठे) कारण को सामने रखता है, जो उद्भिन्न वस्तु का वास्तविक कारण नहीं होता।

(४) वास्तविक कारण का गोपन इसलिए किया जाता है कि वक्ता उसके उद्भेद से अपने अनिष्ट की आशंका करता है।

व्याजोक्ति तथा अपह्नुति :—अपह्नुति साधर्म्यमूलक अलंकार है, व्याजोक्ति नहीं। दोनों में वास्तविकता को छिपा कर अवास्तविकता प्रगट की जाती है, यह समानता है किंतु भेद यह है कि अपह्नुति में वक्ता वास्तविकता (मुखत्वादि) का स्पष्टतः निषेध करता है, जब कि व्याजोक्ति में

वक्ता वास्तविकता का संकेत तक नहीं देना चाहता; साथ ही अपह्नुति में वक्ता का लक्ष्य प्रकृत (मुखादि) की उत्कृष्टता द्योतित करना है, जब कि व्याजोक्ति में वक्ता का लक्ष्य श्रोता को वास्तविकता से दूर अज्ञान में रखना है।

व्याजोक्ति तथा युक्ति :—(दे० भूमिका पृ० ३४-३५)।

(५२) स्वभावोक्ति

(१) किसी पदार्थ-बालक, पशु आदि की चेष्टा या प्रकृति की रमणीयता का यथार्थ वर्णन हो।

(२) इस वर्णन में उसके विविध अंगों का सूक्ष्म चित्रण हो।

(३) यह वर्णन चमत्कारयुक्त हो।

(४) कवि ने इस वर्णन में अपनी प्रतिभा का समुचित प्रदर्शन किया हो तथा वह कोरा वैज्ञानिक विवरण न हो।

स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति :—दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो वर्गों में बाँटा है, एक स्वभावोक्ति दूसरा वक्रोक्ति (या अतिशयोक्ति), स्वभावोक्ति यथार्थ पर आधृत होने के कारण तथ्य के निकट होती है, जब कि वक्रोक्ति में कवि कल्पना या प्रौढोक्ति का विशेष प्रयोग करता है। यही कारण है कि कुछ आलंकारिकों ने स्वभावोक्ति को अलंकार मानने का खंडन किया है।

(५३) भाविक

(१) भाविक में अप्रत्यक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षवत् वर्णन किया जाता है।

(२) ये अप्रत्यक्ष पदार्थ या तो भूतकाल से संबद्ध हो सकते हैं या भविष्यत्काल से।

(३) अलंकाररत्नाकरकार शोभाकर तथा विमर्शिनीकार जयरथ ने उक्त दो कालविप्रकृष्ट भेदों के अलावा भाविक के दो भेद और माने हैं :—देशविप्रकृष्ट वस्तुओं का प्रत्यक्षवत् वर्णन; स्वभावविप्रकृष्ट वस्तुओं का प्रत्यक्षवत् वर्णन।

भाविक-स्वभावोक्ति :—दोनों में यथार्थ वर्णन होता है, किंतु भेद यह है कि स्वभावोक्ति में लौकिक वस्तु के सूक्ष्म धर्म का यथार्थ वर्णन होता है, जब कि भाविक में अप्रत्यक्ष वस्तु का प्रत्यक्षवत् वर्णन होता है तथा यहाँ स्वभावोक्ति की अपेक्षा विशिष्ट चमत्कार पाया जाता है।

भाविक-भ्रांतिमान् :—इन दोनों अलंकारों में अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान होता है; किंतु भ्रांतिमान् में ज्ञान मिथ्या होता है, जैसे शुक्ति में रजत ज्ञान, जब कि भाविक में कवि का प्रत्यक्ष ज्ञान ठीक वैसा ही होता है, जैसा भूतकाल में था या भावी काल में होगा। साथ ही भ्रांतिमान् सादृश्य पर आश्रित होता है, भाविक नहीं, भाविक में तो केवल कवि की भावना का अतिरेक पाया जाता है।

(५४) उदात्त

प्रथम उदात्त :—

(१) इसमें कवि किसी वस्तु के उत्कर्ष (समृद्ध्यादि के उत्कर्ष) का वर्णन करता है।

(२) यह उत्कर्षवर्णन सदा अतिशयोक्तिमूलक होता है।

(३) जिन वस्तुओं के उत्कर्ष का वर्णन किया जाय, वे सत् पदार्थ हों, कुत्सितपदार्थ न हों।

(४) उदात्त का विषय सम्पत्ति, विभूति, वन, उपवन, नगर, राजप्रासादादि की समृद्धि होती हैं।

द्वितीय उदात्त :—

(१) द्वितीय उदात्त में किसी विशेष वस्तु का वर्णन करते समय कवि उससे संबद्ध महापुरुष के चरित का वर्णन करता है।

(२) इस भेद में अतिशयोक्ति का होना अनिवार्य नहीं, अतिशयोक्ति मूलरूप में हो भी सकती है, नहीं भी।

(३) उदात्त के इस भेद में जब ऐतिहासिक या पौराणिक तथ्य का वर्णन होगा तो अतिशयोक्ति मूल रूप में नहीं रहेगी, किंतु जब यह ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर नहीं होगा तो मूल में अतिशयोक्ति अवश्य रहेगी।

(४) इस वर्णन में महापुरुषों का चरित सदा अंग रूप में वर्णित होता है, वह प्रधान (अंगी) नहीं होता।

उदात्त तथा अतिशयोक्ति :—उदात्त में वैसे तो अतिशयोक्ति सदा बीज रूप में रहती हैं, किन्तु उदात्त वहीं होगा जहाँ समृद्धि का अतिशयोक्तिमय वर्णन हो, अतः इसका क्षेत्र अतिशयोक्ति से संकुचित है। वैसे यह अतिशयोक्ति का ही एक प्ररोह है।

उदात्त, भाविक तथा स्वभावोक्ति :—भाविक तथा स्वभावोक्ति में यथार्थ का वर्णन होता है। भाविक में भूतकाल अथवा भविष्यत्काल की घटना का इस तरह का यथार्थ वर्णन होता है कि वह वर्तमानकालिक जान पड़ती है। स्वभावोक्ति में बालक, पशु आदि की वर्तमान चेष्टा का यथार्थ वर्णन होता है। उदात्त यथार्थ पर आश्रित न होकर, प्रौढोक्ति या अतिशयोक्ति पर आश्रित रहता है।

(५५) संसृष्टि तथा संकर

(१) संसृष्टि तथा संकर दोनों मिश्रालंकार हैं। इनमें परस्पर यह भेद है कि संसृष्टि में अनेक अलंकारों का मिश्रण तिलतण्डुलन्याय के आधार पर होता है, जब कि संकर में यह मिश्रण नीरक्षीरन्याय के आधार पर होता है।

(२) संसृष्टि में एक पद्य या एक काव्यवाक्य (कभी-कभी एक काव्यवाक्य अनेक पद्यों में भी हो सकता है, जैसे युग्मक, विशेषक, कुलक में) में अनेक (दो या अधिक) अलंकारों का होना आवश्यक है।

(३) ये अलंकार या तो (अ) सभी शब्दालंकार हों, (आ) या सभी अर्थालंकार हों, (इ) या शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों तरह के हों। इस तरह संसृष्टि के तीन भेद होते हैं।

(४) संसृष्टि के ये अलंकार परस्पर निरपेक्ष या स्वतन्त्र होते हैं तथा इनमें से किसी भी एक को दूसरे की शोभाहानि किये बिना हटाया जा सकता है।

संकर :—

(१) संकर अलंकार में प्रयुक्त अनेक अलंकार परस्पर सापेक्ष होते हैं, संसृष्टि की भाँति निरपेक्ष नहीं, वे दूध और पानी की तरह एक दूसरे से घुले-मिले होते हैं।

(२) संकर के तीन भेद होते हैं :—(अ) अंगांगिभाव संकर, (आ) संदेह संकर, (इ) एकवाचकानुप्रवेश संकर।

(३) अंगांगिभाव संकर में एक या अधिक अलंकार अन्य किसी अंगी अलंकार के अंग होते हैं। इस तरह इनमें परस्पर उपकार्योपकारकभाव या अंगांगिभाव ठीक वैसे ही होता है, जैसे तन्तु पट के अङ्ग होते हैं। यह अङ्गांगिभाव दो या अधिक अर्थालंकारों का होता है। (अनेक शब्दालंकारों में या शब्दालंकार तथा अर्थालंकार में परस्पर कभी अंगांगिभाव नहीं होगा।)

(४) संदेह संकर में अनेक अर्थालंकार एक काव्यवाक्य में इस तरह प्रयुक्त होते हैं कि श्रोता को यह सन्देह बना रहता है कि यहाँ अमुक अलंकार है या अमुक। सहृदय श्रोता के पास किसी एक अलंकार को मानने या न मानने का कोई साधक बाधक प्रमाण नहीं होता। (सन्देह संकर कभी भी दो शब्दालंकारों का नहीं होता।)

(५) एकवाचकानुप्रवेश संकर में दो या अधिक अलङ्कार एक ही पद (वाचक) को आधार बना कर स्थित होते हैं। मम्मट ने यह शब्दालंकार तथा अर्थालङ्कार का मिश्रण माना है। रुय्यक तथा दीक्षित अनेक अर्थालङ्कारों का भी एकवाचकानुप्रवेश संकर मानते हैं।

॥ श्रीः ॥

कुवलयानन्दः

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अमरीकबरीभारभ्रमरीमुखरीकृतम् ।
दूरीकरोतु दुरितं गौरीचरणपङ्कजम् ॥ १ ॥
परस्परतपःसम्पत्फलायितपरस्परौ ।
प्रपञ्चमातापितरौ प्राञ्चौ जायापती स्तुमः ॥ २ ॥

प्रारिप्सित कार्य की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये कुवलयानन्दकार पहले इष्टदेवता का स्मरण करते हैं :—

१—चरणों में नमस्कार करती हुई देवताओं की रमणियों के केशपाश रूपी भौंरियों के द्वारा गुञ्जायमान, देवी पार्वती के चरणकमल पाप का निवारण करें।

(यहाँ 'चरण-पंकज' में परिणाम अलंकार है, रूपक नहीं, क्योंकि कमल में स्वयं पाप का निवारण करने की क्षमता तो है नहीं, अतः उसे चरण के रूप में परिणत होकर ही पाप का निवारण करना होगा। यहाँ 'कमल के समान चरण' (चरणं पङ्कजमिव) यह उपमा भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि देव-रमणियों के केशपाश पर भ्रमरी का जो आरोप किया गया है, वह कमल की सुगन्ध से ही सम्बन्ध रखता है, केवल चरणों से नहीं। सुगन्ध से लुब्ध भ्रमरी के द्वारा गुञ्जित होना, यह विशेषण केवल 'कमल' में ही घटित हो सकता है, चरण में नहीं। यहाँ देव-रमणियों तथा कवि की पार्वती विषयक रति पुष्ट हो रही है, अतः प्रेयस् नामक अलङ्कार भी है।)

टिप्पणी—शुद्ध ध्वनिवादी के मत से यहाँ प्रेय अलङ्कार न होकर 'रति' नामक भावध्वनि व्यञ्जित हो रही है, यह ध्यान देने योग्य है।

२—हम उन पुरातन दम्पती शिव-पार्वती की स्तुति करते हैं, जो इस समस्त सांसारिक प्रपञ्च के माता-पिता हैं और जिन्होंने अपनी तपस्या के फल के समान एक दूसरे को प्राप्त किया है।

(यहां 'फलायित' पद के द्वारा शिव तथा पार्वती को परस्पर एक दूसरे की तपःसमृद्धि के फल से उपमा दी गई है। इसी तरह उन्हें संसार के माता-पिता मानने में टीकाकार वैद्यनाथ ने रूपक अलङ्कार माना है। इस प्रकार इस पद्य में उपमा तथा रूपक की संसृष्टि है। इसके साथ ही 'फलायित' इस एक ही पद के द्वारा दो उपमाएँ प्रकट हो रही हैं, एक ओर शिव पार्वती की तपस्या के फल के समान हैं, दूसरी ओर पार्वती शिव की तपस्या के फल के समान हैं। एक ही पद के द्वारा इन दो उपमाओं

उद्घाट्य योगकलया हृदयाब्जकोशं धन्यैश्चिरादपि यथारुचि गृह्यमाणः।
यः प्रस्फुरत्यविरतं परिपूर्णरूपः श्रेयः स मे दिशतु शाश्वतिकं मुकुन्दः ॥ ३ ॥

अलङ्कारेषु बालानामवगाहनसिद्धये।
ललितः क्रियते तेषां लक्ष्यलक्षणसंग्रहः ॥ ४ ॥

येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते ॥ ५ ॥

१ उपमालङ्कारः

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः।
हंसीव कृष्ण ! ते कीर्तिः स्वर्गङ्गामवगाहते ॥ ६ ॥

यत्रोपमानोपमेययोः सहृदयहृदयाह्लादकत्वेन चारुसादृश्यमुद्भूततयोल्लसति व्यङ्ग्यमर्यादां विना स्पष्टं प्रकाशते तत्रोपमालङ्कारः। हंसीवेत्युदाहरणम्। इयं

का कथन एकवाचकानुप्रवेशरूप सङ्कर को जन्म देता है। इस प्रकार इस पद्य में सङ्कर और संसृष्टि दोनों अलङ्कार हैं।)

३—अत्यधिक धन्य योगियों के द्वारा योगशक्ति से हृदय-कमल को उद्घाटित कर जिन परब्रह्मरूप मुकुन्द का यथेच्छ अनुशीलन किया जाता है, वे परिपूर्णरूप मुकुन्द जो निरन्तर प्रकाशित रहते हैं, मुझे शाश्वत श्रेय प्रदान करें।

(टीकाकार ने यहां परिपूर्णरूप ब्रह्म के 'प्रस्फुरण' में विरोध माना है, और उसका परिहार इस तरह किया है कि यहां ब्रह्म के उपासनात्मक रूप की कल्पना है। अथवा योगियों के द्वारा भी ब्रह्म अचिन्त्य है, इस माहात्म्य का वर्णन करना अभीष्ट है। यहां योगियों की भगवद्विषयक रति कविगत रति का अङ्ग है, अतः प्रेयस् अलङ्कार है।)

४—अलङ्कार शास्त्र में अव्युत्पन्न (बालानां) व्यक्तियों को अलङ्कारज्ञान हो जाय, इस फल की सिद्धि के लिए, हम इस ग्रन्थ में अलङ्कार के लक्षण और उदाहरण का सुन्दर संग्रह कर रहे हैं।

५—पीयूषवर्ष जयदेव के 'चन्द्रालोक' में जिन अलङ्कारों के लक्ष्य-लक्षण-श्लोक हैं, हमने कुवलयानन्द में उन्हीं पद्यों को रक्खा है, अन्य अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरणों को हमने नया संनिविष्ट किया है।

१. उपमालङ्कार

६—जहाँ दो वस्तुओं (द्वयोः)—उपमान और उपमेय—की समानता से विशिष्ट शोभा अर्थात् दो वस्तुओं के सादृश्य पर आधृत चमत्कार पाया जाय, वहाँ उपमा अलङ्कार होता है। जैसे; हे कृष्ण, तेरी कीर्ति हंसिनी की तरह आकाशगङ्गा में अवगाहन कर रही है।

जिस काव्य में उपमेय (वर्ण्यविषय, कामिनीमुखादि) तथा उपमान (चन्द्रादि) की सुन्दरता की समानता, सहृदयभावुकों केहृदय को आह्लादित करती है और वह चारु-सादृश्य (दोनों की वह चमत्काराधायक समानता) उल्लसित होता है, अर्थात् व्यञ्जना-शक्ति (व्यंग्यमर्यादा) के बिना ही स्पष्ट प्रकाशित होता है, वहाँ उपमा अलङ्कार होता है। भाव यह है, उपमा अलङ्कार वहाँ होगा, जहाँ दोनों विषयों में कोई ऐसी समानता पाई जाय, जो चमत्कारजनक हो और सहृदय को आह्लादित कर सके, साथ ही यह

च पूर्णोपमेत्युच्यते । हंसी कीर्तिः स्वर्गङ्गावगाहनमिवशब्दश्चेत्येतेषामुपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमावाचकानां चतुर्णामप्युपादानात् ।

यथा वा—

'गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः ।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति ॥'

अत्र यद्यप्युपमानोपमेययोर्नैकः साधारणो धर्मः । उपमाने ईश्वरे चन्द्रगरलयोर्ग्रहणमुपादानं तयोर्मध्ये पूर्वस्य चन्द्रस्य शिरसा श्लाघनं वहनमुत्तरस्य गरलस्य कण्ठे नियमनं संस्थापनम्, उपमेये बुधे गुणदोषयोर्ग्रहणं ज्ञानं तयोर्मध्ये पूर्वस्य गुणस्य शिरसा श्लाघनं शिरःकम्पेनाभिनन्दनमुत्तरस्य दोषस्य कण्ठे नियमनं कण्ठादुपरि वाचानुद्घाटनमिति भेदात् । तथापि चन्द्रगरलयोर्गुणदोषयोश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावेनाभेदादुपादानज्ञानादीनां गृह्णन्नित्येकशब्दोपादानेना-

---

सादृश्य स्पष्ट वाच्यरूप में प्रकट हो, व्यंग्यरूप में प्रतीयमान नहीं। सादृश्य के व्यंग्यरूप में प्रतीयमान होने पर उपमा अलङ्कार नहीं होगा, वहाँ या तो अलङ्कारान्तर की प्राप्ति होगी या फिर ध्वनिकाव्य होगा। उपमा का उदाहरण ऊपर की कारिका में 'हंसीव...' आदि उत्तरार्ध में उपन्यस्त किया गया है। उपर्युक्त उदाहरण में पूर्णोपमा है। पूर्णोपमा में उपमा के चारों तत्त्व, उपमान, उपमेय, साधारणधर्म तथा वाचक शब्द का प्रयोग किया जाता है। यहाँ भी हंसी (उपमान), कीर्ति (उपमेय), स्वर्गंगावगाहन (साधारणधर्म) तथा इव शब्द (वाचक) इन चारों का ही उपादान किया गया है। अथवा यह दूसरा उदाहरण लीजिये—

जिस प्रकार महादेव चन्द्रमा तथा विष दोनों का ग्रहण कर एक को सिर पर धारण करते हैं तथा अन्य को कण्ठ में धारण करते हैं, वैसे ही विद्वान् व्यक्ति भी गुण तथा दोष दोनों का ग्रहण कर (दूसरों के) गुण की सिर हिलाकर प्रशंसा करता है और (दूसरों के) दोष को छिपाकर कण्ठ में धारण कर लेता है।

यहाँ उपर्युक्त उदाहरण की तरह उपमान तथा उपमेय का साधारण धर्म एक ही नहीं है। वहाँ हंसी और कीर्ति दोनों में 'स्वर्गंगावगाहनत्त्वमत्व' घटित होता है, पर यहां शङ्कर के साथ 'चन्द्र-विष-वहनत्त्वमत्व' है, तो 'बुध' के साथ 'गुणदोषज्ञानत्त्वमत्व'। इस प्रकार उपमानरूप ईश्वर में चन्द्र तथा विष का ग्रहण घटित होता है, वे चन्द्र का सिर से श्लाघन करते हैं अर्थात् उसे सिर पर धारण करते हैं और विष को कण्ठ में नियमित करते हैं अर्थात् उसे कण्ठ में स्थापित करते हैं; जब कि विद्वान् या ज्ञानी व्यक्ति गुण-दोष का ग्रहण अर्थात् ज्ञान प्राप्त करता है; वह प्रथम वस्तु अर्थात् गुण की सिर से प्रशंसा करता है, सिर हिलाकर गुण का अभिनन्दन करता है, जब कि दूसरे पदार्थ—दूसरों के दोष का कण्ठ में नियमन करता है, अर्थात् वाणी से किसी के दोष का उद्घाटन नहीं करता। इस स्थल पर यह स्पष्ट है कि उपमान का साधारणधर्म तथा उपमेय का साधारणधर्म एक न होकर भिन्न-भिन्न है। इस भेद के होते हुए भी कवि ने चन्द्र-विष तथा गुण-दोष का एक साथ प्रयोग इसलिए किया है कि उनमें परस्पर बिंबप्रतिबिंबभाव विद्यमान है और बिंबप्रतिबिंबभाव होने के कारण उनमें अभेद स्थापित हो जाता है। इसके साथ ही शिव के द्वारा चन्द्रमा तथा विष के उपादान तथा विद्वान् के द्वारा गुण एवं दोष के ज्ञान दोनों के लिए कवि ने एक ही शब्द 'गृह्णन्' का प्रयोग कर उन भिन्न पदार्थों में भी अभेद

भेदाध्यवसायाच्च साधारणधर्मतेति पूर्वस्माद्विशेषः। वस्तुतो भिन्नयोरप्युपमानोपमेयधर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नयोः पृथगुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभाव इत्यालङ्कारिकसमयः ॥ ६ ॥

वर्ण्योपमानधर्माणामुपमावाचकस्य च।
एकद्वित्र्यनुपादानैर्भिन्ना लुप्तोपमाष्टधा ॥ ७ ॥

स्थापन (अभेदाध्यवसाय) कर दिया है। अतः उनमें साधारणधर्मत्व बन गया है। इस प्रकार पहले उदाहरण में एक ही साधारण धर्म था, यहाँ भिन्न-भिन्न साधारण धर्म में अभेद स्थापना कर दी गई है, दोनों साधारण धर्मों में यह अन्तर है। जहाँ उपमान तथा उपमेय के उन साधारण धर्मों को, जो वस्तुतः एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं और जिन्हें परस्पर सादृश्य के कारण अभिन्न मान लिया जाता है, काव्य में अलग-अलग प्रयुक्त किया जाता है, तो वहां बिंबप्रतिबिंबभाव होता है, यह आलङ्कारिकों की मान्यता है।

टिप्पणी—इस सम्बन्ध में कुवलयानन्द के टीकाकार गङ्गाधर वाजपेयी ने अपनी रसिकरंजनी में विशेष विचार किया है। वे बताते हैं कि बिंबप्रतिबिंबभाव वहीं होगा, जहाँ धर्म का पृथक् पृथक् उपादान हो, अर्थात् धर्मलुप्ता में बिंबप्रतिबिंबभाव नहीं माना जायगा। इसीलिए निम्न 'मलय इव जगति पाण्डुः' आदि पद्य में धर्मलोप होने के कारण चन्दनद्रुमादि तथा पाण्डवादि में बिंबप्रतिबिंबभाव नहीं है, जब कि 'पाण्ड्योयमंसार्पित' इत्यादि पद्य में हरिचन्दनादि तथा बालातपादि में अरुणिमादि के सादृश्य के कारण बिंबप्रतिबिंबभाव घटित हो ही जाता है। भूमिका में हम बता चुके हैं कि इस मत को पण्डितराज जगन्नाथ नहीं मानते।

अत एव धर्मलुप्तायामनुगामिताप्रयुक्तमेव धर्मस्य साधारण्यं न बिंबप्रतिबिंबभावकृतमपीति 'मलय इव जगति पाण्डुः वल्मीकसमो नृपोऽम्बिकातनयः। जम्बूनदीव कुन्ती गान्धारी सा हलाहलेव सरित् ॥' इत्यादौ चन्दनद्रुमाणां पाण्डवानां उरगाणां धार्तराष्ट्राणां जाम्बूनदगरलादीनां च न बिंबप्रतिबिंबभावेन साधारणधर्मता। जगदाह्लादधर्मवत्त्वस्य (तदुद्वेजकधर्मवत्त्वस्य च) मलयपाण्ड्वाद्युपमानोपमेयानुगतस्य धर्मस्यानुपादानात् धर्मलोप इति नात्र बिंबप्रतिबिंबभावः। न च चन्दनद्रुमपाण्डवादीनां जगदाह्लादकत्वादिकृतसादृश्येन अभेदाध्यवसायात् बिंबप्रतिबिंबभावेन साधारण्यं किं न स्यादिति वाच्यम्। 'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्तांगरागो हरिचन्दनेन। आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः।' इति बिंबप्रतिबिंबभावकृतसाधारणधर्मनिर्देशस्थले शब्दोपात्तानां हरिचन्दनबालातपादीनामेव अरुणिमादिकृतसादृश्यमादाय बिंबप्रतिबिंबभावेन साधारणधर्मत्वसम्भवेन, तमादाय उपमानिर्वाहात् न अनुगामिधर्मकल्पनया तन्निर्वाहक्लेशः समाश्रयणीय इति तत्र बिंबप्रतिबिंबभावसंभवेऽपि अत्र चन्दनद्रुमपाण्डवादीनां न शब्देन उपादानमस्ति। येन बिंबप्रतिबिंबभावप्रयोजकसादृश्यगवेषणया साधारण्यमध्यवसीयेत। न च मुख्ये सम्भवति अमुख्यकल्पनं न्याय्यमिति जगदाह्लादकारिधर्मवत्त्वस्यानुगामिन एव धर्मस्यानुपादानमिति शब्दोपादाननिबन्धनबिंबप्रतिबिंबभावादेर्धर्मलुप्तायामसम्भवात् न पूर्णायामिव धर्मलुप्तायां बिंबप्रतिबिंबभावादिति। अनेनैवाभिप्रायेण लुप्तायां तु नैवं भेदाः।'

रसिकरञ्जनीटीका पृ० १४–१५ (कुम्भकोणम् से प्रकाशित)

७, ८, ९—उपमेय, उपमान, साधारणधर्म और उपमावाचक शब्द इन चार तत्त्वों में से एक, दो या तीन तत्त्वों का लोप होने से उपमा का प्रत्येक भेद दूसरे से भिन्न होता है। यह लुप्तोपमा आठ तरह की होती है। वाचकलुप्ता, धर्मलुप्ता, धर्मवाचकलुप्ता, वाचकोप-

तडिद्गौरीन्दुतुल्यास्या कर्पूरन्ती दृशोर्मम ।
कान्त्या स्मरवधूयन्ती दृष्टा तन्वी रहो मया ॥ ८ ॥
यत्तया मेलनं तत्र लाभो मे यश्च तद्रतेः ।
तदेतत्काकतालीयमवितर्कितसंभवम् ॥ ९ ॥

उपमेयादीनां चतुर्णां मध्ये एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा प्रतिपादकशब्दाभावेन लुप्तोपमेत्युच्यते । सा चाष्टधा । यथा—वाचकलुप्ता १, धर्मलुप्ता २, धर्मवाचकलुप्ता ३, वाचकोपमेयलुप्ता ४, उपमानलुप्ता ५, वाचकोपमानलुप्ता ६, धर्मोपमानलुप्ता ७, धर्मोपमानवाचकलुप्ता च ८, इति । तत्रोपमानलोपरहिताश्चत्वारो भेदाः 'तडिद्गौरी–' इत्यादिश्लोकेन प्रदर्शिताः । तद्वन्तो भेदा उत्तरश्लोकेन दर्शिताः । तत्र 'तडिद्गौरी' इत्यत्र वाचकलोपस्तडिदिव गौरीत्यर्थे 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (पा. २।१।५५) इति समासविधायकशास्त्रकृतः । 'इन्दुतुल्यास्या' इत्यत्र धर्मलोपः, स त्वैच्छिको न शास्त्रकृतः; कान्त्या इन्दुतुल्यास्येत्यपि वक्तुं

मेयलुप्ता, उपमानलुप्ता, वाचकोपमानलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता और धर्मोपमानवाचकलुप्ता । इन्हीं के उदाहरण ये हैं:—

'मैंने बिजली के समान गौरवर्ण की, चन्द्र के समान आह्लाददायक मुख वाली मेरे नेत्रों में कर्पूर की शीतलता को उत्पन्न करती उस सुन्दरी को एकान्त में देखा, जो अपनी कांति से रति के समान आचरण कर रही थी । उस एकान्तस्थल में उसके साथ मिलन तथा उसके प्रेम का लाभ मेरे लिए काकतालीय था, जिसकी सम्भावना के सम्बन्ध में तर्क भी नहीं हो सकता था । उस नायिका का एकान्त में मिलना और रतिदान देना मेरे लिए ठीक वैसे ही अकस्मात् हुआ, जैसे कौआ अकस्मात् किसी पके ताल के फल पर आ बैठे और वह फल, अपने आप (कौए के बोझ से नहीं), गिर पड़े । यहाँ कौए का आना और ताल-फल का गिरना नायक-नायिका-समागम रूप उपमेय का उपमान है, और कौए के द्वारा पतित फल का उपभोग, नायिकोपभोग रूप उपमेय का उपमान है ।

उपमेय, उपमान, साधारणधर्म और वाचक शब्द इन चारों तत्वों में से किसी भी एक, दो या तीन का लोप होने पर लुप्तोपमा कहलाती है । यह लुप्तोपमा आठ तरह की होती है । जैसे—१. वाचकलुप्ता, २. धर्मलुप्ता, ३. धर्मवाचकलुप्ता, ४. वाचकोपमेयलुप्ता, ५. उपमानलुप्ता, ६. वाचकोपमानलुप्ता, ७. धर्मोपमानलुप्ता और ८. धर्मोपमानवाचकलुप्ता । इन आठ भेदों में प्रथम श्लोक 'तडिद्गौरी' आदि में उपमानलोपरहित चार भेदों को उदाहृत किया गया है । उपमानलोप वाले चार भेदों के उदाहरण कारिका के बाद के श्लोक में प्रदर्शित किये गये हैं ।

१—वाचकलुप्ता :—'तडिद्गौरी' इस उदाहरण में वाचक शब्द का लोप है । यहाँ 'तडित् के समान गौरी' (बिजली के समान गौरवर्ण वाली नायिका) तडिद्गौरी इस समस्त पद में पाणिनि के सूत्र 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (२।१।५५) के अनुसार शास्त्रप्रयुक्त प्रणाली पाई जाती है । यहाँ 'तडित्' उपमान 'गौरी' साधारणधर्म और उपमेय तीनों विद्यमान हैं । इवादि वाचक शब्द का अभाव है ।

२—धर्मलुप्ता :—'इन्दुतुल्यास्या' चन्द्रमा के समान मुखवाली इस उदाहरण में साधारण

शक्यत्वात्। 'कर्पूरन्ती' इत्यत्र धर्मवाचकलोपः;कर्पूरमिवाचरन्तीत्यर्थे विहितस्य कर्पूरवदानन्दात्मकाचारार्थकस्य क्विप् इवशब्देन सह लोपात्। अत्र धर्मलोप ऐच्छिकः;नयनयोरानन्दात्मकतया कर्पूरन्तीति तदुपादानस्यापि संभवादिति। 'कान्त्या स्मरवधूयन्ती' इत्यत्र वाचकोपमेयलोपः। अत्र कान्त्येति विशेषणसामर्थ्यात्स्वात्मानं कामवधूमिवाचरन्तीत्यर्थस्य गम्यमानतया स्वात्मन उपमेयस्य सहोपमावाचकेनानुपादानात्स स्वैच्छिकः;स्वात्मानं स्मरवधूयन्तीत्युपमेयोपादा-

---

धर्म का लोप है। यहाँ साधारण धर्म का लोप कवि की इच्छा पर आधृत है, शास्त्रकृत नहीं। यदि कवि चाहता तो 'उसका मुख कान्ति से इन्दु के तुल्य है' यह भी कह सकता था। 'इन्दुतुल्यास्या' में 'इन्दु' उपमान, 'तुल्य' वाचक शब्द और 'आस्य' उपमान है। यहाँ भी उपमा समस्तपद में ही है।

३—धर्मवाचकलुप्ता :—इस भेद का उदाहरण 'कर्पूरन्ती' (कर्पूर के समान आचरण करती) है। यहाँ 'कर्पूर' उपमान तथा नायिका उपमेय उपात्त हैं, आनन्दजनकत्वादि साधारणधर्म और इवादि वाचक शब्द का उपादान नहीं हुआ है।

इस उदाहरण में धर्म तथा वाचक का लोप इसलिए माना गया है कि यहाँ 'कर्पूरन्ती' पद का 'कर्पूर के समान आचरण करती हुई' यह अर्थ लेने पर 'कर्पूर के समान आनन्ददायक होने का आचरण करनेवाला' इस अर्थ का द्योतन करने के लिए क्विप् प्रत्यय का प्रयोग होगा; वह प्रत्यय 'इव' शब्द के साथ लुप्त हो जाता है, भाव यह है 'कर्पूरमिव आचरति' व्युत्पत्ति से पहले क्विप् प्रत्यय लगाकर 'कर्पूरत्' रूप बनेगा, इस रूप में क्विप् तथा इव दोनों का लोप हो जाता है। इसी का स्त्रीलिंग रूप 'कर्पूरन्ती' है। (यदि कोई यह कहे कि यहाँ वाचक का लोप तो अवश्य है, किंतु साधारण धर्म का संकेत तो स्वयं क्विप् प्रत्यय दे रहा है, जो 'कर्पूर के समान आनन्ददायक आचरण' की प्रतीति करा रहा है तो यहाँ साधारणधर्म का लोप कैसे है ? तो इस शंका का उत्तर यह है कि यद्यपि आनन्ददायक आचार का संकेत पाया जाता है, तथापि आनन्दत्वादि का विशेषण के रूप में उपादान नहीं हुआ है। इसलिए यहाँ धर्मलोप मानना ही होगा। नहीं तो इन्दुतुल्यास्या में धर्मलुप्तोदाहरण नहीं मानना पड़ेगा।) यहाँ आनन्दात्मकत्वादि धर्म का लोप शास्त्रकृत न होकर कवि की इच्छा पर निर्भर है। क्योंकि कवि चाहता तो 'नेत्रों को आनन्द देने के कारण, अथवा आनन्दात्मक होने के कारण, नेत्रों के लिए कर्पूर के समान शीतलता प्रदान करती' इस प्रकार साधारणधर्म का स्पष्ट उपादान भी कर्पूर कर सकता था।

धर्ममात्ररूपस्याचारस्योपादानेऽप्यानन्दत्वादिना विशेषणरूपेणानुपादानाद्धर्मलोपो युक्त एव। अन्यथा इन्दुतुल्यास्येत्यादेर्धर्मलुप्तोदाहरणस्यासंगतत्वापत्तेः।

वैद्यनाथः अलङ्कारचन्द्रिका (कुवलयानन्द टीका, पृ० ७)

४—वाचकोपमेयलुप्ता :—'कान्त्या स्मरवधूयन्ती' (कान्ति से कामदेव की पत्नी के समान आचरण करती) में वाचक शब्द तथा उपमेय का लोप है। यहाँ 'कान्ति रूप विशेषण सामर्थ्य (साधारणधर्म) से अपने आप को कामवधू के समान आचरण करती' इस अर्थ की प्रतीति के लिए यहाँ 'आत्म-रूप' उपमेय तथा उपमावाचक शब्द, दोनों का प्रयोग नहीं किया गया है, जो कवि का ऐच्छिक विधान है। इस उदाहरण को 'स्वात्मानं स्मरवधूयन्ती' (अपनी आत्मा को-अपने आप को-कामदेव की पत्नी रति के समान बनाती) बनाने पर उपमेय का प्रयोग संभव था।

५—उपमानलुप्ता :—('तदेतत्काकतालीयमवितर्कितसंभवम्' में उपमान तथा वाचक

नस्यापि संभवात्। 'काकतालीयम्' इत्यत्र काकतालशब्दौ वृत्तिविषये काकता-लसमवेतक्रियावर्तिनौ, तेन काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालमितीवार्थे 'समासाच्च तद्विषयात्' (पा. ५।३।१०६) इति ज्ञापकात्समासः। उभयत्रोपमेयं स्वस्य क्वचिद्गमनं तत्रैव रहसि तन्व्या अवस्थानं च। तेन स्वस्य तस्याश्च समागमः काकतालसमागमसदृश इति फलति। ततः 'काकतालमिव काकता-लीयम्' इति द्वितीयस्मिन्निवार्थे 'समासाच्च तद्विषयात्' (पा. ५।३।१०६) इति सूत्रेण 'इवे प्रतिकृतौ' (पा. ५।३।९६) इत्यधिकारस्थेन छप्रत्ययः। तथा च पत-नदलितं तालफलं यथा काकेनोपभुक्तम्, एवं रहोदर्शनक्षुभितहृदया तन्वी स्वेनोपभुक्तेति तदर्थः। ततश्चात्र काकागमन-तालपतनसमागमरूपस्य काककृत-तालफलोपभोगरूपस्य चोपमानस्यानुपादानात्प्रत्ययार्थोपमायामुपमानलोपः, समासार्थोपमायां वाचकोपमानलोपः। सर्वोऽप्ययं लोपश्छप्रत्ययविधायक-

---

दोनों का लोप पाया जाता है। इसमें छ प्रत्यय के अनुसार प्रत्ययार्थोपमा मानने पर केवल उपमानलुप्ता है; समासार्थोपमा मानने पर वाचकोपमानलुप्ता।)

'काकतालीयम्' इस शब्द में समास (वृत्ति) होने पर 'काक' तथा 'ताल' ये दोनों शब्द काक (कौआ) तथा ताल (ताड का फल) इन दोनों के समागम से उत्पन्न समवेत क्रिया के द्योतक हैं। अतः यहाँ कौए के आगमन की तरह, ताल के फल के गिरने की तरह, होने वाला 'काकतालं' सिद्ध होता है, इस प्रकार इस इवार्थ (समानार्थ) में 'समासाच्च तद्विषयात्' (५।३।१०६) इस पाणिनि सूत्र के अनुसार समास हो गया है, अतः 'काकतालं' शब्द की व्युत्पत्ति यों होगी—'काकगमनमिव तालपतनमिव इति काकतालं'। यहाँ दोनों स्थानों पर इनका उपमेय अपना कहीं जाना और वहाँ एकान्त में सुन्दरी नायिका का मिलना है। तदनन्तर अपना और उसका मिलना काकताल समागम के समान है, इस अर्थ की प्रतीति होती है। इसके बाद 'काकतालं' शब्द से 'काकतालीयं' की सिद्धि होती है—'काकतालं इव काकतालीयं' (जो काकताल की तरह हो)। इस दूसरे अर्थ में इवार्थ में उसी 'समासाच्च तद्विषयात्' (५।३।१०६) सूत्र से 'इवे प्रतिकृतौ' (५।३।९६) इस अधिकार सूत्र के द्वारा छ प्रत्यय का विधान होता है (काकताल+छ)। इस प्रकार निष्पन्न 'काकतालीयं' पद का अर्थ यह है कि जैसे कौए ने गिरने से टूटे फल को खाया, वैसे ही एकांत दर्शन से क्षुब्ध हृदयवाली सुन्दरी का उसने उपभोग किया। इस प्रकार कौए का आना तथा ताल के फल के गिरने का समागम रूप उपमान तथा कौए के द्वारा ताल फल का उपभोग रूप उपमान का साक्षात् प्रयोग न होने के कारण, छ प्रत्यय विधान के द्वारा निष्पन्न प्रत्ययार्थोपमा में उपमानलुप्ता उपमा है (यहाँ वाचक का लोप नहीं है, क्योंकि वह 'छ' (काकताल+छ=काकताल्+ईय) प्रत्यय के द्वारा प्रयुक्त हुआ है। 'काकतालं' इस पद में समासार्थोपमा है, इसमें 'समासाच्च तद्विषयात्' के अनुसार उपमावाचक शब्द समास में लुप्त हो गया है, अतः यह वाचकोपमानलुप्ता है। (यहाँ उपमेय 'एतत्' तथा साधारण धर्म 'अवितर्कितसंभवम्' दोनों का प्रयोग पाया जाता है।) यह समस्त लोप छ प्रत्यय के कारण है, अतः यह शास्त्रकृत है।

६—वाचकोपमानलुप्ताः—इसका उदाहरण भी 'तदेतत्काकतालीयमवितर्कितसंभवम्' है। (इसकी संगति ऊपर दिखा दी गई है।) यहाँ समासार्थोपमा में वाचकोपमानलुप्ता है।

७—धर्मोपमानलुप्ताः—(इसका उदाहरण 'तदेतत्काकतालीयमभयस्कि ब्रवीमि ते' है।)

शाब्दकृतः, अवितर्कितसंभवमिति साधारणधर्मस्यानुपादाने प्रत्ययार्थोपमायां धर्मोपमानलोपः। समासार्थोपमायां धर्मोपमानवाचकलोप इति सूक्ष्मया दृष्ट्याऽवधारितव्यम्। एतेषामुदाहरणान्तराणि विस्तरभयान्न लिख्यन्ते ॥ ७-९ ॥

२ अनन्वयालङ्कारः

उपमानोपमेयत्वं यदेकस्यैव वस्तुनः।

इन्दुरिन्दुरिव श्रीमानित्यादौ तदनन्वयः ॥ १० ॥

एकस्यैव वस्तुन उपमानोपमेयत्ववर्णनमनन्वयः। वर्ण्यमानमपि स्वस्य स्वेन साधर्म्यं नान्वेतीति व्युत्पत्तेः। अनन्वयिनोऽप्यर्थस्याभिधानं सदृशान्तरव्यवच्छेदेनानुपमत्वद्योतनाय। 'इन्दुरिन्दुरिव श्रीमान्' इत्युक्ते श्रीमत्त्वेन चन्द्रस्य नान्यः सदृशोऽस्तीति सदृशान्तरव्यवच्छेदो लक्ष्यते। ततश्च स्वस्य स्वेनापि सादृश्यासंभवादनुपमेयत्वे पर्यवसानम् ॥ यथा वा—

ऊपर की पंक्ति में से 'अवितर्कितसंभवं' रूप साधारणधर्म को हटा देने पर (उसका अनुपादान करने पर) छ प्रत्यय वाली प्रत्ययार्थोपमा में धर्मोपमान लोप होगा। (तदेतत् काकतालीयमभवत्किं ब्रवीमि ते' में 'एतत्' उपमेय है, तथा 'काकतालीयं' में छ प्रत्यय के कारण वाचक का उपादान हो गया है, पर पूर्वोक्त रीति से उपमान का लोप है, साथ ही यहाँ कोई साधारण धर्म नहीं है, अतः यहाँ धर्मोपमानलुप्ता उपमा है।)

८—धर्मोपमानवाचकलुप्ताः—(इसका उदाहरण भी 'तदेतत्काकतालीयमभवत्किं ब्रवीमि ते' ही है।) यहाँ पूर्वोक्त रीति से समासार्थोपमा मानने पर वाचक तथा उपमान का लोप है ही, 'अवितर्कितसंभवं' का प्रयोग न करने के कारण साधारणधर्म का भी लोप हो गया है, इस प्रकार धर्मोपमानवाचकलुप्ता उपमा है, यह सूक्ष्म दृष्टि से देखा जा सकता है।

इन आठ प्रकार की उपमाओं के अन्य उदाहरण विस्तार के भय से नहीं दिये जा रहे हैं।

२. अनन्वय अलङ्कार

१०—जहाँ एक ही वस्तु (वर्ण्यमान) उपमान तथा उपमेय दोनों हों, वहाँ अनन्वय होता है, जैसे 'चन्द्रमा चन्द्रमा की ही तरह शोभा वाला है' इस उदाहरण में।

जहाँ एक ही वस्तु का उपमानत्व तथा उपमेयत्व वर्णित किया जाय, वहाँ अनन्वय होता है। अनन्वय शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि काव्य में वर्ण्यमान होने पर भी किसी वस्तु की स्वयं के ही साथ तुलना अन्वित नहीं हो पाती, अतः वह अनन्वय (न अन्वेतीति अनन्वयः) है। भाव यह है, यद्यपि एक ही वस्तु स्वयं अपना ही उपमान नहीं बन सकती, तथापि कवि इसका प्रयोग करते देखे जाते हैं। यद्यपि यह साधर्म्यरूप अर्थ (अन्वय) घटित नहीं होता तथापि कवि इसका प्रयोग इसलिए करते हैं कि वे उपमेय के सदृश अन्य वस्तु (उपमान) का व्यावर्तन कर उस वस्तु (उपमेय) की अनुपमता की व्यंजना कराना चाहते हैं। 'इन्दुरिन्दुरिव श्रीमान्' इस उदाहरण से यह भाव अभीष्ट है कि शोभा में कोई भी अन्य पदार्थ चन्द्रमा के समान नहीं है, और इस प्रयोग से अन्य सदृश वस्तु का निराकरण किया गया है। इस प्रकार स्वयं अपने ही साथ किसी वस्तु का सादृश्य असंभव होने के कारण अनन्वय अलङ्कार उपमेय की अनुपमेयता में पर्यवसित हो जाता है। अथवा जैसे इस उदाहरण में:—

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥

पूर्वोदाहरणे श्रीमत्त्वस्य धर्मस्योपादानमस्ति । इह तु गगनादिषु वैपुल्यादेर्धर्मस्य तन्नास्तीति विशेषः ॥ १० ॥

३ उपमेयोपमालङ्कारः

पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता
धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीरर्थो धर्म इव त्वयि ॥ ११ ॥

द्वयोः पर्यायेणोपमानोपमेयत्वकल्पनं तृतीयसदृशव्यवच्छेदार्थम् । धर्मार्थयोर्हि कस्यचित्केनचित्सादृश्ये वर्णिते तस्याप्यन्येन सादृश्यमर्थसिद्धमपि मुखतो वर्ण्यमानं तृतीयसदृशव्यवच्छेदं फलति ॥

'आकाश, आकाश के समान (विशाल) है, समुद्र, समुद्र के समान (गंभीर) है, राम और रावण का युद्ध, राम और रावण के ही युद्ध के समान (भीषण) है ।'

यहाँ प्रथम आकाश, सागर तथा राम-रावण-युद्ध उपमेय है, द्वितीय उपमान । इसके द्वारा कवि यह लक्षित करना चाहता है कि आकाश के समान विशाल कोई अन्य पदार्थ नहीं है, समुद्र के समान गंभीर कोई भी वस्तु नहीं है और जैसा भयंकर युद्ध राम और रावण का हुआ वैसा पृथ्वी पर किसी का भी युद्ध न हुआ ।

यहाँ पहले उदाहरण (इन्दुरिन्दुरिव श्रीमान्) में साधारणधर्म-श्रीमत्त्व-का स्पष्ट उपादान हुआ है । इस दूसरे उदाहरण में गगनादि ने साधारण धर्म विपुलता, गम्भीरता और भीषणता का उपादान नहीं हुआ है, अतः दोनों उदाहरणों की प्रणाली में यह भेद है ।

३. उपमेयोपमा अलंकार

११—जहाँ उपमान तथा उपमेय दोनों अलग-अलग रूप में एक दूसरे के उपमानोपमेय हों, वहाँ उपमेयोपमा मानी जाती है, जैसे तुम्हारे धर्म, अर्थ की भाँति समृद्ध तथा पूर्ण हैं, और अर्थ धर्म की तरह समृद्ध तथा पूर्ण है ।

(यहाँ प्रथम अंश में धर्म उपमेय है, अर्थ उपमान, इव वाचक शब्द है तथा 'पूर्णश्री' साधारण धर्म; द्वितीय अंश में अर्थ उपमेय है, धर्म उपमान । दोनों पर्याय रूप से, वाक्यभेद से–एक दूसरे के उपमान तथा उपमेय हैं ।)

उपमेयोपमा में उपमान तथा उपमेय, दोनों को एक दूसरे का उपमानोपमेय इसलिए बना दिया जाता है कि कवि किसी तृतीय सदृश पदार्थ का निराकरण करना चाहता है । धर्म और अर्थ दोनों में से किसी एक का किसी दूसरे से साधर्म्य वर्णित कर दिया जाता है, फिर उसी से दूसरे का साधर्म्य वर्णित किया जाता है । यद्यपि यह सादृश्य स्वतः अर्थ सिद्ध है ही, फिर भी उसे साक्षात् शब्द के द्वारा इसलिए कहा जाता है कि उससे तृतीय सदृश पदार्थ की व्यावृत्ति हो जाय । भाव यह है, जब एक बार धर्म को अर्थ के समान बताया गया, तो अर्थ धर्म के समान है, यह अर्थ स्वतः बोधगम्य हो जाता है; किन्तु इतना होने पर भी साक्षात् शब्द के द्वारा 'अर्थ धर्म के समान है' यह कहना 'प्राप्तस्य पुनर्वचनं तदितरपरिसंख्यार्थम्' इस न्याय के अनुसार है, जिससे धर्म तथा अर्थ से इतर पदार्थ की समानता निषिद्ध हो जाय । अथवा जैसे:—

यथा वा—

खमिव जलं जलमिव खं हंस इव चन्द्रश्चन्द्र इव हंसः।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥

पूर्वत्र पूर्णश्रीरिति धर्म उपात्तः। इह निर्मलत्वादिधर्मो नोपात्त इति भेदः। उदाहरणद्वयेऽपि प्रकृतयोरेवोपमानोपमेयत्वकल्पनम्। राज्ञि धर्मार्थसमृद्धेः शरदि गगनसलिलादिनैर्मल्यस्य च वर्णनीयत्वात् प्रकृताप्रकृतयोरप्येषा संभवति।

यथा वा—

गिरिरिव गजराजोऽयं गजराज इवोच्चकैर्विभाति गिरिः।
निर्झर इव मदधारा मदधारेवास्य निर्झरः स्रवति ॥ ११ ॥

४ प्रतीपालङ्कारः

प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः ॥ १२ ॥

'शरद ऋतु में जल आकाश के समान (निर्मल) है, आकाश जल के समान (निर्मल) है, चन्द्रमा हंस के समान (धवल) है, हंस चन्द्रमा के समान (धवल) है। तारागण कुमुदिनी की भाँति सुशोभित हो रहे हैं, और कुमुदिनियाँ तारागणों की भाँति सुशोभित हो रही हैं।

(यहाँ जल-आकाश, चन्द्र-हंस, तारागण-कुमुदिनी परस्पर पर्याय से एक दूसरे के उपमानोपमेय हैं। इस पद्य को वामन ने भी उपमेयोपमा के प्रकरण में उदाहृत किया है।)

प्रथम उदाहरण में 'पूर्ण श्रीः' साधारण धर्म का प्रयोग किया गया है। द्वितीय उदाहरण में 'निर्मलत्वादि' साधारण धर्म का प्रयोग नहीं हुआ है, यह दोनों उदाहरणों का अन्तर है। इन उदाहरणों में उपमान तथा उपमेय दोनों ही पदार्थ प्रकृत हैं। राजा के वर्णन में धर्म तथा अर्थ दोनों का अस्तित्व प्रकृत है, इसी तरह शरद ऋतु के वर्णन में जल-आकाश, हंस-चन्द्र, तारा-कुमुदिनी सभी प्रकृत विषय हैं। अतः इन दोनों उदाहरणों में यह प्रकृतपदार्थनिष्ठ उपमेयोपमा है। यह प्रकृताप्रकृत की भी हो सकती है, जहाँ एक पदार्थ प्रकृत हो अन्य अप्रकृत। जैसे—

'यह हाथी पर्वत के समान सुशोभित है, पर्वत ऊँचाई में हाथी के समान सुशोभित होता है। इस हाथी की मदधारा झरने के सदृश बहती है, पर्वत के झरने इस हाथी की मदधारा के समान बहते हैं,'

यहाँ हाथी तथा मदधारा प्रकृत पदार्थ हैं, पर्वत तथा निर्झर अप्रकृत। हाथी के साथ प्रयुक्त 'अयं' पद उसके प्रकृतत्व का बोधक है। प्रथम अंश में प्रकृत उपमेय हैं, अप्रकृत) उपमान, द्वितीय अंश में अप्रकृत उपमेय हैं, प्रकृत उपमान। पूर्वार्ध में ऊँचाई (उच्चैः साधारण धर्म है, उत्तरार्ध में 'स्रवण' क्रिया।

४. प्रतीप अलंकार

१२—जहाँ (प्रसिद्ध) उपमान को उपमेय बना दिया जाय, वहाँ प्रतीप अलङ्कार होता है, जैसे हे सुन्दरि, कमल तुम्हारे नेत्र के समान (सुन्दर) है, और चन्द्रमा तुम्हारे मुख के समान (आह्लाददायक)।

प्रसिद्धोपमानोपमेयभावः प्रातिलोम्यात्प्रतीपम् ।

यथा वा—

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये ! तव मुखच्छायानुकारी शशी ।
येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥ १२ ॥

अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यस्यानादरश्च तत् ।
अलं गर्वेण ते वक्त्र ! कान्त्या चन्द्रोऽपि तादृशः ॥ १३ ॥

जहाँ उपमान (पद्म) को उपमेय बना दिया जाय, तो उपमेय (मुख) स्वतः उपमान बन जायगा, ऐसी दशा में यह शंका उठना सम्भव है कि मुख आदि चन्द्र के उपमेय हैं, तो वे उपमान भी हो सकते हैं और इस प्रकार 'चन्द्र इव मुखं' जैसे लक्ष्यों की तरह 'मुखमिव चन्द्रः' में भी उपमा ही माननी चाहिए। इस उदाहरण में उपमा की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए ही वृत्ति भाग में 'प्रसिद्ध' पद का प्रयोग किया गया है। जहाँ प्रसिद्ध उपमान (कमलचन्द्रादि) को उपमेय बना दिया जाय, वहाँ प्रतीप अलङ्कार इसलिए माना जाता है कि कवि प्रसिद्ध उपमानोपमेय भाव को उलटा कर देता है। कवियों की परम्परा में यह प्रसिद्ध है कि नेत्र का उपमान कमल है और मुख का उपमान चन्द्रमा; पर कोई कवि विशेष चमत्कार उपस्थित कर देने के लिए कमल तथा चन्द्र के प्रकृत होने पर कामिनी-नेत्रादि से उसकी तुलना करता है, इस प्रकार वह प्रख्यात परम्परा से प्रतिकूल (प्रतीप) आचरण करता है। उदाहरण जैसे,

हे प्रिये, वे नील कमल, जो तुम्हारे नेत्रों की शोभा के समान शोभा वाले हैं, जल में मग्न हो गये हैं, तुम्हारे मुख की सुन्दरता का अनुकरण करने वाला चन्द्रमा बादलों में छिप गया है; तुम्हारी गति का चाल में अनुसरण करने वाले ये राजहंस चले गये हैं। बड़े दुःख की बात है कि विधाता तुम्हारे सादृश्य से मेरे मन को बहलाने भी नहीं देता।

इस उदाहरण में प्रसिद्ध उपमान—कमल, चन्द्रमा तथा हंस को उपमेय बना दिया गया है, तथा नेत्र, मुख और गति को उपमान। इस पद्य में कारिका के उत्तरार्ध वाले उदाहरण से यह भेद है कि वहां साधारण धर्म का उपादान नहीं हुआ है, जब कि इसमें 'कान्ति' आदि साधारण धर्म का प्रयोग किया गया है। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उठ सकता है कि उपमान से उपमेय की अधिकता वर्णित करने वाले व्यतिरेक से प्रतीप का क्या अन्तर है ? व्यतिरेक अलंकार में वैधर्म्य के द्वारा उपमेय के आधिक्य का संकेत किया जाता है, यहाँ (प्रतीप में) भी कवि का अभीष्ट तो मुखादि का आधिक्य द्योतित करना ही है, पर उसे उपमान बनाकर साधर्म्य के द्वारा संकेतित किया जाता है। एक वैधर्म्य-मूलक है, दूसरा साधर्म्यमूलक। इस पद्य में प्रतीप के अतिरिक्त काव्यलिंग अलंकार भी है। कान्ता के विरह से दुःखी नायक प्रियामुखादि के दर्शन के न होने पर भी उसके समान कमलादि को देखकर यह समझता है कि मैं इनसे ही कांतामुखादि जैसा आनंद उठा लूँगा, किंतु वर्षाकाल में उनका भी अभाव देखकर दैव को उपालंभ देता है। इस प्रकार यहां प्रथम तीन चरणों में चतुर्थ चरण का समर्थन पाया जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें दैव के प्रति असूया नामक भाव भी ध्वनित होता है।

२३—किसी अन्य पदार्थ (उपमान) को उपमेय बना कर जहां वर्ण्य विषय का

अत्युत्कृष्टगुणतया वर्ण्यमानस्यान्यत्र स्वसादृश्यमसहमानस्योपमेयं किंचित्प्रदर्श्य तावता तस्य तिरस्कारो द्वितीयं प्रतीपं पूर्वस्मादपि विच्छित्तिविशेषशालि।

यथा वा, (रुद्रटालं०)—

गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि भद्रे!।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥ १२ ॥

वर्ण्योपमेयलाभेन तथान्यस्याप्यनादरः।
कः क्रौर्यदर्पस्ते मृत्यो! त्वत्तुल्याः सन्ति हि स्त्रियः ॥१४॥

अत्युत्कृष्टगुणतया क्वचिदप्युपमानभावमसहमानस्यावर्ण्यस्य वर्ण्योपमेयं परिकल्प्य तावता तस्य तिरस्कारः पूर्वप्रतीपवैपरीत्येन तृतीयं प्रतीपम् ॥

यथा वा—

अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल! तात! मा स्म दृप्यः।

अनादर किया जाय, वहां प्रतीप का दूसरा भेद होता है। जैसे हे मुख, तेरा गर्व व्यर्थ है, चन्द्रमा भी सुन्दरता में वैसा ही है (जैसे तुम)।

यहां चन्द्रमा को उपमेय बनाकर वर्ण्य (मुख) का अनादर किया गया है।

अपने अत्यधिक गुणों के कारण अपने समान किसी अन्य वस्तु को सहन नहीं करनेवाले वर्ण्य विषय का उपमेय कुछ बताकर उसी के आधार पर उसका तिरस्कार जहाँ किया जाय वहाँ द्वितीय प्रतीप होता है। यह भेद प्रथम भेद से इस बात में बढ़कर है कि वहां वर्ण्य का तिरस्कार नहीं किया जाता, यहां वर्ण्य का तिरस्कार करने से प्रथम भेद से अधिक चमत्कार-प्रतीति होती है। अथवा जैसे,

हे सुन्दरि, अपने नेत्रों से इस असह्य गर्व का वहन क्यों करती हो (इतना घमण्ड क्यों करती हो)? यह न समझो कि तुम्हारे नेत्रों के समान सुन्दर पदार्थ संसार में हैं ही नहीं। अरे, प्रत्येक दिशा में, सरोवरों में ठीक ऐसे ही सैकड़ों नील कमल विद्यमान हैं।

यहां 'नेत्र' (वर्ण्य) के उपमेयत्व को कुछ वर्णित कर बाद में उसका तिरस्कार करने के लिए काव्य-वाक्य में प्रयुक्त बहुवचन (नलिनानि) के द्वारा वैसे ही अनेकों नील कमलों की सत्ता बताई गई है। कारिका भाग के उदाहरण में साधारण धर्म (कान्त्या) का प्रयोग हुआ है, इस उदाहरण में नहीं।

१४—जहां किसी ऐसे अवर्ण्य विषय को, जिसके अधिक गुणों के कारण वह कहीं भी उपमानभाव की स्थिति सहन नहीं करता, वर्ण्यविषय-सा बनाकर उसके उपमेयत्व की कल्पना की जाय और इस आधार पर उसका भी तिरस्कार किया जाय, तो वहां तीसरा प्रतीप होता है, जो दूसरे प्रतीप का उलटा है। जैसे हे मृत्यु, तुम अपनी क्रूरता पर घमण्ड क्यों करती हो, तुम्हारे समान क्रूर स्त्रियाँ भी हैं।

(दूसरे प्रतीप में उपमेय वर्ण्य-विषय है, जब कि इस प्रतीप-भेद में उपमेय अवर्ण्य है, जिसकी उपमेयत्व-कल्पना कर ली जाती है। यहाँ अवर्ण्य विषय को सम्बोधित कर वर्ण्य (उपमान) की समानता बताकर उसका भी तिरस्कार अभीष्ट होता है।)

जहां ऐसे अवर्ण्य (मृत्यु) को, जो अति उत्कृष्ट गुण होने के कारण कहीं भी उपमान भाव को सहन नहीं करता, वर्ण्योपमेय बनाकर, इसी आधार पर उसका तिरस्कार किया जाय, वहां द्वितीय प्रतीप से उलटा होने के कारण तृतीय प्रतीप है। अथवा जैसे—

हे विष, तुम इस बात का घमण्ड न करो कि संसार में समस्त कठोर पदार्थों के गुरु

ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन्वचनानि दुर्जनानाम् ॥ १४ ॥

वर्ण्येनान्यस्योपमाया अनिष्पत्तिवचश्च तत् ।
मुधापवादो मुग्धाक्षि ! त्वन्मुखाभं किलाम्बुजम् ॥ १५ ॥

अवर्ण्ये वर्ण्योपमित्यनिष्पत्तिवचनं पूर्वेभ्य उत्कर्षशालि चतुर्थं प्रतीपम् । उदाहरणे मुधापवादत्वोक्त्योपमित्यनिष्पत्तिरुद्घाटिता ।

यथा वा—

आकर्णय सरोजाक्षि ! वचनीयमिदं भुवि ।
शशाङ्कस्तव वक्त्रेण पामरैरुपमीयते ॥ १५ ॥

प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते ।
दृष्टं चेद्वदनं तस्याः किं पद्मेन किमिन्दुना ॥ १६ ॥

उपमेयस्यैवोपमानप्रयोजनधूर्वहत्वेनोपमानकैमर्थ्यमुपमानप्रातिलोम्यात् पञ्चमं प्रतीपम् ।

(मूर्धन्य) तुम्हीं हो । हे तात, इस संसार में तुम्हारे ही जैसे अति कठोर दुर्जनों के वचन विद्यमान हैं।

यहाँ कवि को दुर्जनों के वचनों की कठोरता का वर्णन करना अभीष्ट है, यही वर्ण्य है, विष यहां अवर्ण्य है, किन्तु विच्छित्तिविशेष की सृष्टि के लिए कवि अवर्ण्य (विष) को उपमेय बना कर उसका वर्ण्य के ढंग से वर्णन करता है, तथा अभीष्ट विषय को उपमान बना देता हैं । इस प्रकार यहाँ कल्पित वर्ण्योपमेय का तिरस्कार किया गया है।

१५—जहां कोई अन्य पदार्थ वर्ण्य विषय (उपमेय) के समान है, इस बात को निष्प्रयोजन बताकर इसे झूठा घोषित किया जाय, वहां चौथा प्रतीप होता है। जैसे, हे सुन्दर आंखों वाली सुन्दरि ! यह बात बिलकुल झूठ है कि कमल तुम्हारे मुख के समान है।

जहां अवर्ण्य (कमल) वर्ण्य (मुख) के समान है, इस उक्ति को निष्प्रयोजन घोषित किया जाय, वहां पहले के तीन प्रतीपों से भी अधिक चमत्कार होता है; यह चौथा प्रतीप है । इस प्रतीप में उपमान (कमल) का तिरस्कार करना कवि को अभीष्ट होता है। ऊपर के उदाहरण में 'मुधापवाद' शब्द के द्वारा उपमा की उक्ति को निष्प्रयोजन बताया गया है।

अथवा जैसे—

हे सुन्दरि (कमल के समान आँखों वाली), सुनो, संसार में यह बात झूठी समझी जा रही है, तथा इसकी निन्दा हो रही है कि नीच लोग तुम्हारे मुख से चन्द्रमा की तुलना करते हैं।

यहां 'चन्द्रमा की क्या बिसात कि तुम्हारे मुख के समान हो सके' यह भाव कवि का अभीष्ट है । यहां चन्द्रमा (अवर्ण्य) को मुख (वर्ण्य) के समान बताकर फिर इस उक्ति की निष्प्रयोजकता घोषित की गई है।

१६—उपमान का कैमर्थ्य (व्यर्थता) बताने पर भी प्रतीप अलङ्कार माना जाता है, जैसे यदि उस नायिका का मुख देख लिया, तो फिर कमल से क्या मतलब और चन्द्रमा से क्या लाभ ?

इस सम्बन्ध में यह शंका हो सकती है कि पद्म, चन्द्रादि उपमान आह्लाददायक

यथा वा—(नै० १-१४)

> तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ
> वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा ।
> तनोति भानोः परिवेषकैतवा-
> त्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥

केचिदनन्वयोपमेयोपमाप्रतीपानामुपमाविशेषत्वेन तदन्तर्भावं मन्यन्ते । अन्ये तु पञ्चमं प्रतीपप्रकारमुपमानाक्षेपरूपत्वादाक्षेपालङ्कारमाहुः ॥ १६ ॥

होते हैं, अतः वे अनर्थक कैसे हो सकते हैं। इस शंका का निराकरण करने के लिए ही बताते हैं कि समस्त उपमानों का वास्तविक लक्ष्य उपमेय ही होता है, अतः उपमान की व्यर्थता बताई जा सकती है। यह व्यर्थता एक तरह से उपमान की प्रतिकूलता ही है। उपमान के प्रतिकूल होने के कारण ही यह प्रकारविशेष भी प्रतीप का ही एक भेद है। पंचम प्रतीप के उदाहरण के रूप में नैषध का निम्न पद्य उपस्थित किया जा सकता है:—

'राजा नल के तेज तथा यश के विद्यमान होने पर सूर्य तथा चन्द्रमा व्यर्थ हैं—जब कभी ब्रह्मा इस प्रकार का विचार मन में करता है, तभी वह सूर्य तथा चन्द्रमा की वैयर्थ्यसूचक रेखा को परिधि (परिवेष) के व्याज से निर्मित कर देता है।'

यहाँ नल के तेज तथा यश के उपमानरूप सूर्य और चन्द्रमा को व्यर्थ बताया गया है। यह पञ्चम प्रकार का प्रतीप अलङ्कार है। सूर्य, चन्द्रमा का कार्य प्रताप तथा धवलीकरण है। उस कार्य को नल के तेज तथा यश करने में समर्थ हैं ही, साथ ही सूर्य तथा चन्द्रमा सदा उदित नहीं रहते, जब कि नल के तेज तथा यश सदा उदित रहते हैं, अतः सूर्य एवं चन्द्रमा की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है। इस व्यर्थता के लिए कवि ने परिवेष को कुण्डलना के द्वारा अपह्नुत कर दिया है-अतः यहाँ अपह्नुति अलंकार भी है-यहाँ ब्रह्मा के द्वारा वैयर्थ्यसूचक कुण्डलना खींच देने की उत्प्रेक्षा की गई है। इस प्रकार इसमें अपह्नुति, प्रतीप तथा उत्प्रेक्षा इन तीनों का संकर पाया जाता है।

कुछ आलङ्कारिक अनन्वय, उपमेयोपमा तथा प्रतीप को अलग से अलङ्कार न मानकर उपमा में ही इनका अन्तर्भाव मानते हैं। अन्य विद्वान् पञ्चम प्रकार के प्रतीप को आक्षेप अलङ्कार मानते हैं, क्योंकि यहां उपमान का आक्षेप किया जाता है।

टिप्पणी—चन्द्रिकाकार ने इसको निम्न प्रकार से स्पष्ट करके पूर्वपक्षीम तका खण्डन किया है:-

केचित्—दण्डिप्रभृतयः। अनन्वयोपमेयोपमाप्रतीपानामिति। प्रतीपपदेन चात्राद्यभेदत्रयमेव गृह्यते, न त्वन्त्यभेदद्वयमपि। तत्रोपमितिक्रियानिष्पत्तेरभावेनोपमान्तर्भावस्यासम्भवात्। वस्तुतस्त्वाद्यभेदत्रयस्यापि नोपमान्तर्गतिर्युक्ता। चमत्कारं प्रति साधर्म्यस्य प्राधान्येनाप्रयोजकत्वात्। सामर्थ्यनिबन्धन उपमानतिरस्कार एव हि तत्र चमत्कृतिप्रयोजकतया विवक्षितः, न तु साधर्म्यमेव मुखतश्चमत्कारितया विवक्षितमिति सहृदयसाक्षिकम्। एवमनन्वयोपमेयोपमयोरपि न सादृश्यस्य चमत्कारितया प्राधान्येन विवक्षा, किंतु द्वितीयतृतीयसदृशव्यवच्छेदोपायतयेति न तयोरप्युपमान्तर्गतिर्युज्यते। अन्यथा सादृश्यवर्णनमात्रेणोपमान्तर्भावे 'धैर्यलावण्यगाम्भीर्यप्रमुखैस्त्वमुदन्वतः। गुणैस्तुल्योऽसि भेदस्तु वपुषैवेदृशेन ते ॥' इति व्यतिरेकालंकारस्याप्युपमान्तर्गतिः स्यात्। तत्र साधर्म्यसमानाधिकरण्यं वैधर्म्यमेव चमत्कारे प्रधानम्, न तु साधर्म्यमिति चेत्तुल्यमिदं प्रतीपादिष्वपीति सहृदयैराकलनीयम्। एतावदेवास्वरसबीजमभिसंधायोक्तं केचिदिति। (चन्द्रिका पृ० १४)

५ रूपकालङ्कारः

विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत् ।
रूपकं तत्त्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिभिः ॥ १७ ॥
अयं हि धूर्जटिः साक्षाद्येन दग्धाः पुरः क्षणात् ।
अयमास्ते विना शम्भुस्तार्तीयीकं विलोचनम् ॥ १८ ॥
शम्भुर्विश्वमवत्यद्य स्वीकृत्य समदृष्टिताम् ।
अस्या मुखेन्दुना लब्धे नेत्रानन्दे किमिन्दुना ॥ १९ ॥
साध्वीयमपरा लक्ष्मीरसुधासागरोदिता ।
अयं कलङ्किनश्चन्द्रान्मुखचन्द्रोऽतिरिच्यते ॥ २० ॥

वामन ने उपमान कैमर्थ्य वाले प्रतीप में उपमान का आक्षेप मानकर इसे आक्षेप अलंकार की कोटि में माना है :—

'उपमानकैमर्थ्यस्योपमानाक्षेपश्चाक्षेपः । (काव्यलंकारसूत्र ४.३.२७)

५. रूपक अलङ्कार

१७, १८–जहाँ विषय (उपमेय) में विषयी (उपमान) का अभेद एवं ताद्रूप्य वर्णित किया जाय, वहां रूपक अलङ्कार होता है। यह रूपक तीन प्रकार का होता है उपमान का आधिक्यरूप, न्यूनत्वरूप तथा अनुभयरूप। इन्हीं के क्रमशः ये उदाहरण हैं:—यह (राजा) साक्षात् शिव है, क्योंकि इसने (शत्रु के) पुरों (नगरों, त्रिपुर) को जला दिया है। यह राजा तृतीय नेत्र से रहित शिव है। यह राजा शिव ही है, जिन्होंने समदृष्टित्व (तृतीय नेत्र-विषम नेत्र-का अभाव) को धारण कर विश्व की रक्षा करने का बीड़ा उठाया है। इस नायिका के मुखरूपी चन्द्रमा से ही नेत्रानन्द प्राप्त होने पर फिर चन्द्रमा की क्या आवश्यकता है। यह सुन्दरी दूसरी लक्ष्मी ही है, जो सुधासागर से उत्पन्न नहीं हुई है। यह मुखरूपी चन्द्रमा कलङ्की चन्द्रमा से बढ़ कर है।

टिप्पणी—रूपक का लक्षणः—

'उपात्तबिंबाविशिष्टविषयधर्मिकाहार्यारोपनिश्चयविषयीभूतमुपमानाभेदताद्रूप्यान्यतरद्रूपकम्।

इस लक्षण में अतिशयोक्ति का वारण करने के लिए 'उपात्त' पद के द्वारा विषय का विशेषण उपन्यस्त किया गया है, क्योंकि अतिशयोक्ति में 'विषय' (उपमेय) अनुपात्त होता है। इस लक्षण में 'आरोप' पद का प्रयोग निषेध के अंग के रूप में नहीं किया गया है, अतः अपह्नुति की अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि अपह्नुति में निषेध विषयक आरोप होता है। भ्रांति का वारण करने के लिए 'आहार्य' पद का प्रयोग किया गया है, क्योंकि भ्रांति में मिथ्याज्ञान अनाहार्य होता है, जब कि यहाँ विषय पर विषयी का आरोप कल्पित (आहार्य) होता है। निदर्शना का वारण करने के लिए 'आहार्य' पद का प्रयोग किया गया है, क्योंकि भ्रांति में मिथ्याज्ञान अनाहार्य होता है, जब कि यहाँ विषय पर विषयी का आरोप कल्पित (आहार्य) होता है। निदर्शना का वारण करने के लिए यहाँ 'बिंबाविशिष्ट' यह विषय का विशेषण दिया गया है, क्योंकि निदर्शना में बिंबप्रतिबिंबभाव होता है, यहाँ नहीं, यहाँ आरोप्यारोपकभाव होता है। संशय तथा उत्प्रेक्षा का निरास करने के लिए 'निश्चय' पद का प्रयोग किया गया है, क्योंकि यहाँ निश्चय ज्ञान नहीं होता, संशय (संदेह) में चित्तवृत्ति दोलायित रहती है, जब की उत्प्रेक्षा में संभावना की जाती है। इस संबन्ध में एक प्रश्न उठता है। निदर्शना का वारण करने के लिए 'बिंबाविशिष्ट' का प्रयोग किया गया है,

विषय्युपमानभूतं पद्मादि, विषयस्तदुपमेयभूतं वर्णनीयं मुखादि। विषयिणो रूपेण विषयस्य रञ्जनं रूपकम्; अन्यरूपेण रूपवत्त्वकरणात्। तच्च क्वचित्प्रसिद्धविषय्यभेदे पर्यवसितं, क्वचिद्भेदे प्रतीयमान एव तदीयधर्मारोपमात्रे पर्यवसितम्। ततश्च रूपकं तावद्द्विविधम्—अभेदरूपकं, ताद्रूप्यरूपकं चेति। द्विवि-

---

इसका यह अर्थ है कि निदर्शना में बिंबप्रतिबिंबभाव होता है, रूपक में नहीं। पर हम देखते हैं कि बिंबप्रतिबिंबभाव रूपक में भी देखा जाता है। पंडितराज ने इसी आधार पर दीक्षित की चित्रमीमांसागत रूपकपरिभाषा—जिसके आधार पर वैद्यनाथ ने ऊपरी लक्षण बनाया है—का खंडन किया है। वे कहते हैं:—

यदपि रूपके बिंबप्रतिबिंबभावो नास्तीत्युक्तं तदपि भ्रान्त्यैव। (रस० पृ० २०१)

पण्डितराज ने निम्न पद्य जयद्रथ की अलंकारसर्वस्वविमर्शिनी से उद्धृत किया है, जहाँ जयद्रथ ने रूपक में बिंबप्रतिबिंबभाव माना है:—

> कंदर्पद्विपकर्णकम्बु मलिनैर्दानाम्बुभिर्लाञ्छितं,
> संलग्नाञ्जनपुञ्जकालिमकलं गण्डोपधानं रतेः।
> व्योमानोकहपुष्पगुच्छमलिभिः संछाद्यमानोदरं
> पश्यैतत् शशिनः सुधासहचरं बिम्बं कलङ्काङ्कितम्॥

यहाँ चन्द्रबिंब तथा उसके कलंक क्रमशः कामदेव के हाथी का कर्णस्थ शंख तथा मदजल; रति के गाल का तकिया तथा कज्जल का चिह्न, एवं आकाशपुष्पस्तवक एवं भ्रमरसमूह तत्तत् विषयी के विषय हैं। यहाँ इनमें परस्पर बिंबप्रतिबिंबभाव पाया जाता है। अतः स्पष्ट है कि रूपक में कभी कभी विषय तथा विषयी में बिंबप्रतिबिंबभाव भी हो सकता है।

इस बात को दीक्षित के टीकाकार गंगाधर वाजपेयी ने भी स्वीकार किया है कि कभी-कभी रूपक में भी बिंबप्रतिबिंबभाव होता है। किंतु अप्पयदीक्षित ने रूपक के लक्षण में बिंबाविशिष्ट का प्रयोग इसलिये किया है कि यहाँ निदर्शना की तरह बिंबवैशिष्ट्य हो ही यह आवश्यक नहीं है, साथ ही हम देखते हैं कि निदर्शना में रञ्जन (विषयीरूपेण विषय का रञ्जन) भी नहीं पाया जाता, अतः जहाँ इस प्रकार का रञ्जन पाया जाता है, वहाँ बिंबप्रतिबिंबभाव हो भी तो रूपक हो ही जायगा। अतः पण्डितराज का खण्डन व्यर्थ है।

एतेन 'बिंबाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते। उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा॥' इति चित्रमीमांसायां ग्रन्थकृदुक्तं लक्षणमपि बिंबवैशिष्ट्यनियमराहित्यगर्भतया तादृगुपाधिमत्त्वघटिततया वा संगमनीयम्। अन्यथा उक्तदोषप्रसङ्गात्। अतो रसगंगाधरोक्तिर्नादर्तव्येति दिक्। (रसिकरंजनी पृ० ३६)

विषयी का अर्थ है—उपमानभूत पद्म, चन्द्र आदि से विषय का अर्थ है। उपमेयभूत वर्ण्य विषय जैसे मुख आदि। जहाँ विषयी अर्थात् उपमान के रूप से विषय अर्थात् उपमेय को रंग दिया जाय, वहाँ रूपक अलङ्कार होता है। क्योंकि यहाँ किसी अन्य पदार्थ के रूप से किसी पदार्थ का रूप बना दिया जाता है। (यहाँ 'रञ्जन' शब्द का प्रयोग गौण अर्थ में पाया जाता है, जैसे लाल, पीले आदि रंग से रंगने पर वस्तु को अन्यथा कर दिया जाता है, वैसे ही अभेद तथा ताद्रूप्य के कारण अन्य (विषयी) वस्तु के धर्म से दूसरी (विषय) वस्तु भी उसके रूप को प्राप्त कर लेती है।) यह विषय का विषयी के रूप में रंग देना दो प्रकार का होता है—कभी तो यह प्रसिद्ध (कविपरम्परागत) विषयी (उपमान) के साथ विषय का अभेद स्थापित करता है; कभी विषयी तथा विषय का परस्पर भेद व्यंग्य होता है, तथा 'रञ्जन' केवल इतना ही होता है कि विषयी के धर्मों का विषय पर आरोप

धमपि प्रत्येकं त्रिविधम्। प्रसिद्धविषय्याधिक्यवर्णनेन तन्न्यूनत्ववर्णनेनानुभयोक्त्या चैवं रूपकं षड्विधम्। 'अयं हि' इत्यादिसार्धश्लोकेनाभेदरूपकाणि, 'अस्या मुखेन्दुना' इत्यादिसार्धश्लोकेन ताद्रूप्यरूपकाणि, आधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्त्युद्देशक्रमप्रातिलोम्येनोदाहृतानि। 'येन दग्धा' इति विशेषणेन वर्णनीये राज्ञि प्रसिद्धशिवाभेदानुरञ्जनाच्छिवस्य पूर्वावस्थातो वर्णनीयराजभावावस्थायां न्यूनत्वाधिक्ययोरवर्णनाच्चानुभयाभेदरूपकमाद्यम्। तृतीयलोचनप्रहाणोक्त्या पूर्वावस्थातो न्यूनताप्रदर्शनान्न्यूनाभेदरूपकं द्वितीयम्। न्यूनत्ववर्णनमप्यभेददाढर्योपादकत्वाच्चमत्कारि। विषमदृष्टित्वपरित्यागेन जगद्रक्षकत्वोक्त्या शिवस्य पूर्वावस्थातो वर्णनीयराजभावावस्थायामुत्कर्षविभावनादधिकाभेदरूपकं तृतीयम्। एवमुत्तरेषु ताद्रूप्यरूपकोदाहरणेष्वपि क्रमेणानुभयन्यूनाधिकभावा उन्नेयाः। अनेनैव क्रमेणोदाहरणान्तराणि—

चन्द्रज्योत्स्नाविशदपुलिने सैकतेऽस्मिन्सरय्वा
वादद्यूतं चिरतरमभूत्सिद्धयूनोः कयोश्चित्।
एको वक्ति प्रथमनिहतं कैटभं, कंसमन्य-

कर दिया जाता है। इस प्रकार सर्वप्रथम रूपक दो तरह का होता है—अभेदरूपक, तथा ताद्रूप्यरूपक। ये दोनों फिर तीन-तीन तरह के होते हैं। कविपरंपरासिद्ध विषयी से विषय के आधिक्य वर्णन से, उसके न्यूनत्ववर्णन से, तथा अनुभयवर्णन से, इस प्रकार रूपक छः तरह का होता है। 'अयं हि' इत्यादि डेढ़ श्लोक के द्वारा अभेदरूपक के तीनों भेद उदाहृत किये गये हैं। 'अस्या मुखेन्दुना' इत्यादि डेढ़ श्लोक के द्वारा ताद्रूप्यरूपक के तीनों भेदों के उदाहरण दिये गये हैं। इन उदाहरणों में प्रातिलोम्य (विपरीत क्रम) से आधिक्य, न्यूनत्व तथा अनुभय उक्ति के उदाहरण दिये गये हैं, अर्थात् क्रम से पहले अनुभय उक्ति का, तदनन्तर न्यूनत्व उक्ति का, फिर आधिक्य उक्तिका उदाहरण है। 'अयं हि धूर्जटिः' इत्यादि श्लोकार्ध में 'येन दग्धाः' इस विशेषण के द्वारा वर्णनीय (उपमेयभूत) राजा में कविप्रसिद्ध शिव का अभेद स्थापित कर दिया गया है, ऐसा करने पर शिव की पूर्वावस्था (उपमानावस्था) तथा वर्णनीय राजा बन जाने की अवस्था (उपमेयावस्था) में किसी न्यूनत्व या आधिक्य का वर्णन नहीं किया गया है, अतः यह अनुभय कोटि का अभेदरूपक है। दूसरे श्लोकार्ध ('अयमास्ते विना' आदि) में शिव के तीसरे नेत्र की रहितता बताकर पहली अवस्था से इस उपमेयावस्था की न्यूनता बताई गई है, इसलिए यह न्यूनत्व उक्ति वाला अभेदरूपक है। यह न्यूनत्ववर्णन भी विषयी तथा विषय की अभिन्नता को दृढ करता है, अतः चमत्कारोत्पादक है। तीसरे श्लोकार्ध ('शम्भुर्विश्व' इत्यादि) में शिव ने विषम दृष्टि छोड़ दी है तथा वे विश्व के रक्षक हैं इस उक्ति के द्वारा शिव की पूर्वावस्था से वर्णनीय राजा बन जाने की अवस्था में उत्कृष्टता बताई गई है, अतः यहाँ आधिक्य-उक्ति वाला अभेदरूपक है। इसी प्रकार बाकी तीन श्लोकार्धों में ताद्रूप्यरूपक की अनुभय, न्यूनत्व तथा आधिक्य की उक्तियाँ क्रमशः देखी जा सकती हैं। इसी क्रम से और उदाहरण दिये जा रहे हैं।

कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा में उसे स्वयं भगवान् विष्णु का अवतार बताता कह रहा है:—'हे राजन्, सरयू नदी के चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के समान श्वेत इस रेतीले तट पर किन्हीं दो युवक सिद्धों में बड़ी देर तक विवाद होता रहा। उनमें से एक कहता

स्तत्त्वं स त्वं कथय भगवन् ! को हतस्तत्र पूर्वम् ॥

अत्र 'स त्वम्' इत्यनेन यः कंसकैटभयोर्हन्ता गरुडध्वजस्तत्तादात्म्यं वर्णनीयस्य राज्ञः प्रतिपाद्य तं प्रति कंसकैटभवधयोः पौर्वापर्यप्रश्नव्याजेन तत्तादात्म्यदाढर्यकरणात्पूर्वावस्थात उत्कर्षापकर्षयोरविभावनाच्चानुभयाभेदरूपकम् ।

वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च ।
तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद्भर्गो नराकृतिः ॥

अत्र साक्षादिति विशेषणेन विरक्तस्य प्रसिद्धशिवतादात्म्यमुपदर्श्य नराकृतिरिति दिव्यमूर्तिवैकल्यप्रतिपादनान्न्यूनाभेदरूपकम् ।

त्वय्यागते किमिति वेपत एष सिन्धुस्त्वं
सेतुमन्थकृदतः किमसौ बिभेति ।
द्वीपान्तरेऽपि न हि तेऽस्त्यवशंवदोऽद्य
त्वां राजपुङ्गव ! निषेवत एव लक्ष्मीः ॥

था कि विष्णु ने पहले कैटभ दैत्य को मारा था, दूसरा कहता था कि विष्णु ने पहले कंस को मारा था। बताइये, इन विरोधी मतों में कौन सा मत सच है, कौन सा दैत्य (आपने) पहले मारा था।

यहाँ 'स त्वम्' इस पदद्वय के द्वारा कंस तथा कैटभ के मारने वाले भगवान् विष्णु का वर्णनीय राजा के साथ तादात्म्य बताकर उससे यह पूछना कि उसने कंस तथा कैटभ में से पहले किसे मारा, उस तादात्म्य को और दृढ कर देता है, इस उक्ति में पूर्वावस्था (विष्णुरूप अवस्था) से राजावस्था के उत्कृष्ट या अपकृष्ट न बताने के कारण यह अनुभय कोटि का अभेदरूपक है।

न्यूनत्वमय उक्ति वाले अभेदरूपक का उदाहरण निम्न है :—

'ब्रह्मा जी ने स्त्रियों में तथा सुवर्ण में दो प्रकार का भ्रम उत्पन्न किया; किन्तु मनुष्य के रूप में स्थित यह (विरक्त मुनि के रूप में स्थित) साक्षात् महादेव उन स्त्रियों तथा सुवर्ण-राशि में आसक्त नहीं है।

यहाँ 'साक्षात्' शब्द के प्रयोग से विरक्त मुनि तथा शिव के तादात्म्य को प्रदर्शित किया गया है, पर 'नराकृतिः' पद के द्वारा यह शिव दिव्यमूर्तिधारी नहीं हैं, इस प्रकार दिव्यमूर्ति की रहितता बताकर न्यूनता द्योतित की गई है। यह न्यूनत्व-उक्ति वाला अभेदरूपक है।

अधिकाभेदरूपक का उदाहरण निम्न है :—

कोई कवि किसी राजा की स्तुति कर रहा है। हे राजन्, तुम्हारे समुद्र तट पर जाने पर यह समुद्र क्यों काँपता है; तुम इस समुद्र में सेतु बांधने वाले तथा इसका मंथन करने वाले (विष्णु) हो, ऐसा समझ कर यह क्यों डर रहा है ? तुम्हें सेतु बाँधकर किसी अन्य द्वीप को जीतने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अन्य द्वीपों में भी कोई (राजा) ऐसा नहीं है, जो तुम्हारा वशवर्ती न हो, साथ ही तुम्हें समुद्र का मंथन करने की भी जरूरत नहीं है, क्योंकि तुम्हारी सेवा में लक्ष्मी पहले से ही विद्यमान है। विष्णु ने रामावतार में लङ्का को वश करने के लिए समुद्र का सेतुबन्धन किया था, तथा लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए समुद्रमंथन किया था। पर तुम्हारी ये दोनों इच्छाएँ पूर्ण हैं, अतः विष्णुरूप में स्थित तुमसे समुद्र का डरना व्यर्थ है।

अत्र 'त्वं सेतुमन्थकृत्' इति सेतोर्मन्थनस्य च कर्त्रा पुरुषोत्तमेन सह वर्णनीयस्य तादात्म्यमुक्त्वा तथापि त्वदागमनं सेतुबन्धाय वा मन्थनाय वेति समुद्रेण न भेतव्यम्। द्वीपान्तराणामपि त्वद्वशंवदत्वेन पूर्ववद्द्वीपान्तरे जेतव्याभावात् प्राप्तलक्ष्मीकत्वेन मन्थनप्रसक्त्यभावाच्चेति पूर्वावस्थात उत्कर्षविभावनादधिकाभेदरूपकम्।

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे॥

अत्र 'अपरः शीतांशुः' इत्यनेन वक्त्रेन्दोः प्रसिद्धचन्द्राद्भेदमाविष्कृत्य तस्य च प्रसिद्धचन्द्रकार्यकारित्वमात्रप्रतिपादनेनोत्कर्षापकर्षयोरप्रदर्शनादनुभयताद्रूप्यरूपकम्।

यहाँ 'तुम सेतुमन्थकृत् हो' इस उक्ति के द्वारा कवि ने सेतुबन्धन तथा समुद्रमंथन करनेवाले पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु के साथ वर्णनीय राजा का तादात्म्य वर्णित किया है। इतना होते हुए भी कवि ने, समुद्र को तुमसे डरने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि तुम्हारा आगमन सेतुबन्धन या समुद्रमंथन के लिए नहीं हुआ है—इस उक्ति का भी विधान किया है। इस उक्ति के समर्थन के लिए कवि ने दो हेतु दिये हैं, प्रथम तो इस राजा के लिए कोई भी अन्य द्वीप अवशंवद नहीं है, जब कि पहली अवस्था (रामावस्था) में विष्णु के लिए द्वीपान्तर (लंका) जीतने को बाकी था, यहाँ इस नयी अवस्था में किसी अन्यदेश को जीतना बाकी नहीं है, साथ ही इस नई अवस्था में (राजरूप) विष्णु ने लक्ष्मी को भी प्राप्त कर रखा है, अतः समुद्रमंथन के प्रति उनका व्यस्त होना भी अनावश्यक है, इसलिए यहाँ भी पूर्वावस्था से उत्कर्षता पाई जाती है। इस उदाहरण में राजरूप विष्णु की नई अवस्था में केवल विष्णुरूप पूर्वावस्था से उत्कर्ष बताया गया है, अतः यह अधिकाभेद रूपक का उदाहरण है।

अभेदरूपक के तीनों भेदों के बाद अब ताद्रूप्यरूपक के तीनों भेदों को लेते हैं।

कोई कवि नायिका के मुखचन्द्र की शोभा का वर्णन कर रहा है। हे सुन्दरि, तुम्हारे मुखचन्द्र के होते हुए यह दूसरा चन्द्रमा (शीतांशु) प्रकाशित होता है, तो क्या यह कमल की शोभा का अपहरण नहीं करता, क्या यह नेत्रों को आनन्दित नहीं करता, क्या यह देखने भर से कामदेव (चन्द्रपक्ष में, समुद्र—झषकेतन) की वृद्धि नहीं करता? यदि चन्द्रमा को अमृत का घमण्ड हो, तो वह भी इस मुखरूपी चन्द्रमा के बिम्ब के समान अधरोष्ठ में विद्यमान है ही।

यहाँ 'अपरः शीतांशुः' इस उक्ति के द्वारा प्रसिद्ध चन्द्र से मुखचन्द्र का भेद बताकर उसमें केवल प्रसिद्ध चन्द्र के गुणों का ही प्रतिपादन किया गया है। इस उक्ति में विषय (मुख) का विषयी (चन्द्र) से न तो उत्कर्ष ही बताया गया है, न अपकर्ष ही, इसलिए अनुभयताद्रूप्यरूपक का उदाहरण है। (इस पद्य में 'झषकेतनस्य' में श्लेष है, जो समुद्र एवं कामदेव का अभेदाध्यवसाय स्थापित करता है, 'बिंबाधर' में उपमा है। इस प्रकार यह अतिशयोक्ति तथा उपमा दोनों रूपक के अंग हैं, अतः यहाँ अंगांगिभाव सङ्कर है।)

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः
अभाललोचनः शंभुर्भगवान्बादरायणः ॥

अत्र हर्यादौ 'अपर' इति विशेषणात्त्रिष्वपि ताद्रूप्यमात्रविवक्षा विभाविता, चतुर्वदनत्वादिवैकल्यं चोक्तमिति न्यूनताद्रूप्यरूपकम्। इदं विशेषोक्त्युदाहरणमिति वामनमतम्। यदाह (काव्या० सू० ४।३।२३)—'एकगुणहानिकल्पनायां गुणसाम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः' इति।

किमसुभिर्ग्लपितैर्जड! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुधः स्मरः॥ (नै० ४।५२)

अत्र दमयन्तीकृतचन्द्रोपालम्भे प्रसिद्धचन्द्रो न निर्याणकालिकमनः प्रवेश-

---

न्यूनताद्रूप्यरूपक का उदाहरण निम्न है:—

'भगवान् व्यास विना चार मुँह वाले ब्रह्मा, दो हाथ वाले दूसरे विष्णु, तथा विना ललाटनेत्र वाले शिव हैं।'

यहाँ व्यास विषय (उपमेय) हैं, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव विषयी (उपमान)। इस उक्ति में विष्णु आदि के साथ 'अपरः' (दूसरे) यह विशेषण दिया गया है, जिससे इनके साथ विषय की केवल ताद्रूप्यविवक्षा कवि को अभीष्ट है। इस पद्य में कवि ने तत्तत् विषयी के साथ चतुर्वदनरहितता आदि न्यूनता का संकेत किया है, अतः यह न्यूनताद्रूप्यरूपक का उदाहरण है। काव्यालंकारसूत्रकार वामन के मतानुसार इस पद्य में विशेषोक्ति अलंकार पाया जाता है। जैसा कि काव्यालङ्कारसूत्र (सू० ४।३।२३) में कहा गया है:—जहाँ किसी एक गुण की हानि की कल्पना में (शेष गुणों के आधार पर) दो वस्तुओं के गुणसाम्य को पुष्ट किया जाय, वहाँ विशेषोक्ति होती है। (अप्पय दीक्षित को वामन का मत सम्मत नहीं जान पड़ता है। वामन के मतानुसार यहाँ विशेषोक्ति इसलिए है कि तत्तत् विषयी का एक गुण चतुर्वदनत्वादि विषय में नहीं पाया जाता, किन्तु फिर भी अन्य गुणों के आधार पर ब्रह्मा, विष्णु, तथा शिव के साथ व्यास की समानता को दृढ़ किया गया है। अप्पय दीक्षित इसे रूपक ही मानते हैं, क्योंकि यहाँ जिस न्यूनता का वर्णन किया गया है, वह रूपक के ढंग पर चमत्कारोत्पत्ति कर रही है, अतः इसे अलग से अलङ्कार (विशेषोक्ति) मानना ठीक नहीं।)

अब प्रसंगप्राप्त अधिकताद्रूप्यरूपक का उदाहरण देते हैं:—

यह पद्य श्रीहर्ष के नैषधीयचरित के चतुर्थ सर्ग से उद्धृत है। दमयन्ती चन्द्रमा की भर्त्सना करती कह रही है:—हे मूर्ख (शीतल, जड़) चन्द्रमा, तू मुझे क्यों सता रहा है क्या तू यह समझ रहा है कि दमयन्ती के प्राणों के नष्ट होने से इसका मन तुझ में जाकर लीन हो जायेगा। (एक वैदिक उक्ति के अनुसार मरने वाले व्यक्ति का मन चन्द्रमा में जाकर लीन होता है।) पर तू मूर्ख जो ठहरा, तुझे उस वैदिक मंत्र के वास्तविक अर्थ का पता क्या? अरे मुझे तो पण्डित कामदेव ने उस वैदिक मंत्र (श्रुति) का वास्तविक अर्थ कुछ और ही बताया है, उसकी व्याख्या के अनुसार उस मंत्र का अर्थ तुझसे संबद्ध न होकर नल के मुखरूपी चन्द्रमा से सम्बद्ध है। अतः मेरे मरने पर मेरा मन तुझमें लीन होगा, यह न समझना, वह नल के मुखचन्द्र में लीन होगा।

यहाँ दमयन्ती के द्वारा चन्द्रमा की भर्त्सना की जा रही है। इस चन्द्रोपालम्भमय उक्ति में बताया गया है कि मरने के समय चन्द्रमा में मन के प्रवेश करने से सम्बद्ध वैदिक

श्रुतितात्पर्यविषयः, किंतु नलमुखचन्द्र एवेति ततोऽस्याधिक्यप्रतिपादनादधिकताद्रूप्यरूपकम्। रूपकस्य सावयवत्वनिरवयवत्वादिभेदप्रपञ्चनं तु चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यम् ॥ १८–२० ॥

मन्त्र का तात्पर्य प्रसिद्ध चन्द्र में न होकर नलमुख चन्द्र में ही है। इस प्रकार नलमुखचन्द्र प्रसिद्ध चन्द्र से उत्कृष्ट बताया गया है। यह अधिकताद्रूप्यरूपक का उदाहरण है। रूपक के सावयव, निरवयव, परम्परित आदि भी भेद होते हैं, इनका विस्तार चित्रमीमांसा में देखा जा सकता है।

टिप्पणी—रूपक के अन्य प्रकार से आठ भेद होते हैं। सावयव रूपक के दो भेद होते हैं:—१. समस्तवस्तुविषय, तथा २. एकदेशविवर्तिरूपक। निरवयव रूपक के भी दो भेद होते हैं:—३. केवल निरवयव रूपक, तथा ४ माला निरवयव रूपक। परम्परित रूपक के प्रथमतः श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट तदनन्तर दोनों भेदों के केवल तथा माला वाले दो-दो भेद होते हैं:—५. केवल श्लिष्टपरम्परित, ६. मालाश्लिष्ट परम्परित, ७. केवल अश्लिष्ट परम्परित, तथा ८. माला अश्लिष्ट परम्परित। इनके चन्द्रिकाकार ने क्रमशः ये उदाहरण दिये हैं:—

१. समस्तवस्तुविषयसावयवः—

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।
द्वीपाद्द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धांजनपरिमलं लाञ्छनस्यच्छलेन ॥

यहाँ 'कापालिकी' के धर्म का आरोप 'रात्रि' पर किया गया है, साथ ही उसके अवयव 'भस्मादि' के धर्म का आरोप रात्रि के अवयव 'ज्योत्स्नादि' पर किया गया है, अतः यह समस्त वस्तुविषयसावयव रूपक है।

२. एकदेशविवर्तिसावयवरूपकः—

प्रौढमौक्तिकरुचः पयोमुचां बिन्दवः कुटजपुष्पबन्धवः।
विद्युतां नभसि नाट्यमण्डले कुर्वते स्म कुसुमांजलिश्रियम्।

यहाँ 'आकाश' पर 'नाट्यमण्डलत्व' का आरोप किया गया है, इसके द्वारा 'बिजलियों' पर नर्तकीत्व का आरोप श्रौत न होकर आर्थ है, अतः एकदेश में होने के कारण यह एकदेशविवर्ती है।

३. केवलनिरवयवरूपकः—

कुरंगीवांगानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्,
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत्।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः कामलतिकाम् ॥

यहाँ रूपक केवल 'प्रेमलतिका' में ही है, जहाँ प्रेम पर लतात्व का आरोप किया गया है, अतः यह अमाला (केवल) निरवयव रूपक है।

४. मालानिरवयवरूपकः—

सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः
कान्तेः कार्मणकर्म नर्मरहसामुल्लासनावासभूः।
विद्या वक्रगिरां विधेरनवधिप्रावीण्यसाक्षात्क्रिया
बाणाः पञ्चशिलीमुखस्य ललनाचूडामणिः सा प्रिया ॥

यहाँ 'प्रिया' पर तत्तत् विषयी पदार्थों का आरोप है, अतः यह निरवयव माला रूपक है।

६ परिणामालङ्कारः

परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना ।
प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा ॥ २१ ॥

५. केवलश्लिष्टपरम्परितः—

अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रयः ।
स्तूयते देव, सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान् ॥

यहां 'सद्वंशमुक्तारत्नं' में केवलश्लिष्टपरम्परित रूपक है। यहां सद्वंश के दो अर्थ हैं एक अच्छा बाँस, दूसरा उच्च कुल।

६. मालाश्लिष्टपरम्परितः—

विद्वन्मानसहंसवैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते,
दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर ।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीम प्रभो
साम्राज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥

यहां राजा (विषय) पर हंसादि तत्तत् विषयी पदार्थों का आरोप पाया जाता है, इसमें 'मानस (मन) ही मानस (मानसरोवर) है' इस प्रकार तत्तत् पदों में श्लेष का आधार पाया जाता है।

७. अश्लिष्टकेवलपरम्परितः—

'चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः' (इस वाक्य में राजा पर कन्द का तथा लोक पर 'लता' का आरोप किया गया है, अतः यह परम्परित है, यह शुद्ध तथा अश्लिष्ट दोनों है।

८. अश्लिष्टमालापरम्परितः—

पर्यंको राजलक्ष्म्या हरितमणिमयः पौरुषाब्धेस्तरंगो
भग्नप्रत्यर्थिवंशोल्वणविजयकरिस्त्यानदानाम्बुपट्टः ।
संग्रामत्रासताम्यन्मुरलपतियशोहंसनीलाम्बुवाहः
खड्गः क्ष्मासौविदल्लः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ॥

यह मालारूपक का उदाहरण है यहां मालवनरेश के खड्ग पर राजलक्ष्मीपर्यंकत्व, पौरुषाब्धितरङ्गत्व, विजयहस्तिदानाम्बुपट्टत्व, मुरलराज के यशरूपी हंस के लिए बादल इस प्रकार यशोहंसमेघत्व, तथा पृथिवी के कंचुकित्व का आरोप पाया जाता है, अतः एक विषय पर अनेक विषयी का आरोप है।

६ परिणाम अलङ्कार

२१—'जहां विषयी (उपमान) विषय के स्वरूप को ग्रहण कर किसी प्रकृत कार्य का उपयोगी हो सके, वहां परिणाम अलंकार होता है, जैसे, मादकनेत्रों वाली नायिका प्रसन्न नेत्रकमलों से देखती है।'

यहां यद्यपि 'दृक्' (विषय) पर 'अब्ज' (विषयी) का आरोप कर दिया गया है, तथा 'प्रसन्न' रूप सामान्यधर्म का प्रयोग भी किया गया है, किंतु 'वीक्षण' क्रिया (देखना) कमल के द्वारा नहीं हो सकती, अतः प्रकृत कार्य (वीक्षण) में विषयी (कमल) तभी उपयोगी हो सकता है, जब वह स्वयं विषय (नेत्र) के रूप में परिणत हो। इसलिए यहां परिणाम अलङ्कार है।

यत्रारोप्यमाणो विषयी किंचित्कार्योपयोगित्वेन निबध्यमानः स्वतस्तस्य तदुपयोगित्वासंभवात्प्रकृतात्मना परिणतिमपेक्षते तत्र परिणामालङ्कारः। अत्रोदाहरणम्–प्रसन्नेति। अत्र हि अब्जस्य वीक्षणोपयोगित्वं निबध्यते, न तु दृशः। मयूरव्यंसकादिसमासेनोत्तरपदार्थप्राधान्यात्। न चोपमितसमासाश्रयणेन दृगब्जमिवेति पूर्वपदार्थप्राधान्यमस्तीति वाच्यम्। प्रसन्नेति सामान्यधर्मप्रयोगात्। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (पा० २।१।५६) इति तदप्रयोग एवोपमितसमासानुशासनात्। अब्जस्य वीक्षणोपयोगित्वं न स्वात्मना संभवति। अतस्तस्य प्रकृतदृगात्मना परिणत्यपेक्षणात् परिणामालङ्कारः।

यथा वा—

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनासौ तृतीय-
स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपकृतवानातरं नाविकाय।
व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्षं
कृच्छ्रादन्वीयमानः क्षणमचलमथो चित्रकूटं प्रतस्थे॥

जिस स्थल में आरोप्यमाण अर्थात् विषयी (चन्द्रकमलादि) काव्य में किसी कार्य-विशेष के लिए प्रयुक्त किया गया हो, किन्तु वह विषयी स्वयं उस कार्य के उपयोग में समर्थ नहीं हो पाये और उस कार्य के समर्थ होने के लिए वह प्रकृत (विषय) के स्वरूप को धारण करने की अपेक्षा रखता हो, वहाँ परिणाम अलंकार होता है। इसका उदाहरण 'प्रसन्नेन' इत्यादि श्लोकार्ध से उपन्यस्त किया गया है। इस श्लोकार्ध के 'दृगब्ज' पद को वीक्षण क्रिया का उपयोगी माना गया है, यहाँ उत्तर पद 'अब्ज' की प्रधानता है, जो वीक्षणक्रिया से सम्बद्ध होता है, पूर्वपद 'दृक्' नहीं। क्योंकि यहाँ 'मयूरव्यंसकादि' समास के अनुसार उत्तर पदार्थ की प्रधानता है। संभवतः पूर्वपक्षी इस सम्बन्ध में यह शंका करे कि यहाँ उपमा अलंकार क्यों न माना जाय, क्योंकि 'दृकअब्जमिव' (नेत्र, कमल के समान) इस तरह विग्रह करके उपमित समास माना जा सकता है, तथा इस सरणि का आश्रय लेने पर यहाँ पूर्व पदार्थ (दृक्) का प्राधान्य हो जायगा। इस शंका का उठाना ठीक नहीं। क्योंकि उपमित समास वहीं हो सकता है, जहाँ कोई सामान्य धर्म प्रयुक्त न हुआ हो। इस पद्य में 'प्रसन्न' इस सामान्य धर्म का प्रयोग पाया जाता है। पाणिनिसूत्र 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' के अनुसार सामान्य धर्म का प्रयोग न होने पर ही उपमित समास का विधान किया गया है। अतः यहाँ मयूरव्यंसकादि समास ही मानना पड़ेगा। अब 'अब्ज' (उत्तर पदार्थ) की प्रधानता होने पर भी, वह स्वयं (स्वरूप से) दर्शनक्रिया में उपयोगी नहीं हो सकता। इसलिए उसको प्रकृत (दृक्) के रूप में परिणत होना अपेक्षित है, अतः यहाँ परिणाम अलंकार है।

ऊपर का उदाहरण समासगत है, अब समासभिन्न स्थल से परिणाम का उदाहरण देते हैं:—

अपने आप तीसरे (अर्थात् सीता एवं लक्ष्मण इन दो व्यक्तियों से युक्त) इन रामचन्द्र ने शिवजी के मस्तक की माला देवनदी गंगा को पार कर, उस केवट के लिए लक्ष्मण के मित्रतारूपी किराये (तरणमूल्य-आतर) को देकर उसका उपकार किया। इसके बाद वे कुछ देर तक भीलों की युवतियों के द्वारा—जिनके अतिपुष्ट स्तन देहे फैलाये हुए

अत्रारोप्यमाण आतरः सौमित्रिमैत्रीरूपतापत्त्या गुहोपकारलक्षणकार्योपयोगी न स्वात्मना, गुहस्य रघुनाथप्रसादैकार्थित्वेन वेतनार्थित्वाभावात् ॥२१॥

७ उल्लेखालङ्कारः

बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते ।
स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः स्वर्द्रुः कालः शत्रुभिरैक्षि सः ॥ २२ ॥

यत्र नानाविधधर्मयोग्येकं वस्तु तत्तद्धर्मयोगरूपनिमित्तभेदेनानेकेन ग्रहीत्रानेकधोल्लिख्यते तत्रोल्लेखः । अनेकधोल्लेखने रुच्यर्थित्वभयादिकं यथार्हं प्रयोजकम् । रुचिरभिरतिः । अर्थित्वं लिप्सा । 'स्त्रीभिः' इत्याद्युदाहरणम् अत्रैक एक राजा सौन्दर्यवितरणपराक्रमशालीति कृत्वा स्त्रीभिरर्थिभिः प्रत्यर्थिभिश्च रुच्यर्थित्वभयैः कामकल्पतरुकालरूपो दृष्टः । यथा वा—

हाथों के अन्तराल (व्याम) में ग्रहण करने योग्य हैं—कुतूहल से विकसित नेत्रों से बड़ी देर तक अनुगत होकर चित्रकूट पर्वत की ओर रवाना हो गये ।

इस उदाहरण में आरोप्यमाण आतर है, आरोपित सौमित्रिमैत्री । अतः सौमित्रिमैत्री पर आतर का आरोप किया गया है, किंतु किराया (आतर) सौमित्रिमैत्री के स्वरूप को धारण करके ही केवट के उपकाररूप कार्य में उपयोगी हो सकता है, क्योंकि केवट तो केवल रामचन्द्र की कृपा का ही इच्छुक था, किराये का इच्छुक नहीं । अतः आतर (विषयी) के सौमित्रिमैत्री (विषय) रूप में परिणत होकर प्रकृतक्रियोपयोगी होने के कारण यहाँ परिणाम अलंकार है ।

७ उल्लेख अलङ्कार

२२—जहाँ एक ही वस्तु का अनेक व्यक्तियों के संबन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया जाय, वहाँ उल्लेख अलंकार होता है । 'जैसे, उस राजा को स्त्रियों ने कामदेव के रूप में, याचकों ने कल्पवृक्ष के रूप में तथा शत्रुओं ने काल के रूप में देखा ।

यहाँ एक ही विषय (उपमेय) अर्थात् राजा तत्तत् व्यक्ति स्त्र्यादि के संबंध में अनेक प्रकार से वर्णित किया गया है, अतः उल्लेख अलंकार है ।

जहाँ नाना प्रकार के धर्मों से युक्त कोई एक पदार्थ (वर्ण्य विषय) तत्तत् धर्म के योग के कारण अनेक व्यक्तियों के संबंध में अनेक प्रकार से वर्णित किया जाय, वहाँ उल्लेख अलंकार होता है । अनेक प्रकार के इस उल्लेख में प्रेम (रुचि), धनेच्छा (अर्थित्व) तथा भय आदि तत्तत् निमित्त तत्तत् कामदेवादि विषयी के साथ प्रयोजक हैं । रुचि शब्द का अर्थ है अभिरति । अर्थित्व शब्द का अर्थ है लिप्सा । उपर्युक्त कारिका में 'स्त्रीभिः' इत्यादि कारिकार्ध उल्लेख अलंकार का उदाहरण है । यहाँ एक ही विषय (राजा) सौन्दर्य, वितरणशीलता (दानशीलता) तथा पराक्रम तीनों धर्मों से युक्त है, इसलिए स्त्रियों को अभिरुचि के कारण वह कामदेव दिखाई दिया, याचकों को लिप्सा के कारण कल्पवृक्ष, तथा शत्रुओं को भय के कारण यमराज । इस प्रकार यहाँ एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के संबन्ध से अनेकशः उल्लेख होने के कारण उल्लेख अलंकार है । अथवा, जैसे इस दूसरे उदाहरण में—

गजत्रातेति वृद्धाभिः श्रीकान्त इति यौवतैः।
यथास्थितश्च बालाभिर्दृष्टः शौरिः सकौतुकम् ॥

अत्र यस्तथा भीतं भक्तं गजं त्वरया त्रायते स्म सोऽयमादिपुरुषोत्तम इति वृद्धाभिः संसारभीत्या तदभयार्थिनीभिः कृष्णोऽयं मथुरापुरं प्रविशन् दृष्टः। यस्तथा चञ्चलत्वेन प्रसिद्धायाः श्रियोऽपि कामोपचारवैदग्ध्येन नित्यं वल्लभः सोऽयं दिव्ययुवेति युवतिसमूहैः सोत्कण्ठैर्दृष्टः। बालाभिस्तु तद्वाह्यगतरूपवेषालङ्कारदर्शनमात्रलालसाभिर्यथास्थितवेषादियुक्तो दृष्ट इति बहुधोल्लेखः। पूर्वः कामत्वाद्यारोपरूपकसंकीर्णः। अयं तु शुद्ध इति भेदः ॥ २२ ॥

एकेन बहुधोल्लेखेऽप्यसौ विषयभेदतः।
गुरुर्वचस्यर्जुनोऽयं कीर्तौ भीष्मः शरासने ॥ २३ ॥

ग्रहीतृभेदाभावेऽपि विषयभेदाद्बहुधोल्लेखनादसावुल्लेखः। उदाहरणं श्लेषसंकीर्णम्। वचोविषये महान्पटुरित्यादिवद्बृहस्पतिरित्याद्यर्थान्तरस्यापि क्रोडीकरणात्।

जब कृष्ण मथुरा में पहुँचे, तो बूढ़ी औरतों ने उन्हें कुवलयापीड हाथी को मारकर लोगों की रक्षा करने वाला (अथवा ग्राह से गज की रक्षा करने वाला भगवान्) समझा, युवती स्त्रियों ने साक्षात् विष्णु के समान सुन्दर तथा आकर्षक समझा, तथा बालिकाओं ने उन्हें बालक समझा। इस प्रकार प्रत्येक स्त्री ने कृष्ण को कुतूहल से अपने अनुरूप देखा।

यहाँ 'मथुरा में प्रवेश करते कृष्ण' को संसारभय से अभयप्रार्थिनी वृद्धाओं ने उन साक्षात् पुरुषोत्तम के ही रूप में देखा, जिन्होंने भयभीत गज की ग्राह से रक्षा की थी। युवती रमणियों ने उन्हें उत्कण्ठापूर्वक स्वयं दिव्ययुवक विष्णु के रूप में देखा, जो चञ्चलता के कारण प्रसिद्ध लक्ष्मी को भी कामोपचार चतुर होने के कारण बड़े प्रिय हैं। बालिकाओं ने कृष्ण को यथास्थित रूप में ही देखा, क्योंकि उनकी लालसा केवल कृष्ण के बाह्यरूप वेष, अलंकार आदि के दर्शन ही में थी। इस प्रकार यहाँ कृष्ण का अनेक प्रकार से उल्लेख किया गया है। यहाँ भी उल्लेख अलंकार है। 'स्त्रीभिः' इत्यादि उदाहरण तथा इस उदाहरण में यह भेद है कि वह रूपक अलंकार से संकीर्ण है, वहाँ विषय (राजा) पर कामदेवादि विषयित्रय के धर्म का आरोप पाया जाता है, जब कि यह शुद्ध उल्लेख का उदाहरण है।

२३—जहाँ एक ही व्यक्ति अनेक विषयों का (विषयभेद के कारण) बहुत प्रकार से वर्णन करे, वहाँ भी उल्लेख होता है। यह उल्लेख अलंकार का दूसरा भेद है। यह राजा वाणी में गुरु (बृहस्पति, महान् पटु) है, कीर्ति में अर्जुन (कुन्तीपुत्र अर्जुन के समान; श्वेत) है, धनुर्विद्या में भीष्म (शान्तनुपुत्र भीष्म, भयंकर है)

जहाँ विषय का ग्रहीता एक ही हो, फिर भी विषय के भेद से उनका अनेक प्रकार से उल्लेख किया जाय, वहाँ उल्लेख अलंकार होता है। उपर्युक्त कारिकार्ध का उदाहरण श्लेषसंकीर्ण है, क्योंकि गुरु, अर्जुन, भीष्म के दो-दो अर्थ हैं। 'गुरुर्वचसि' में वाणी के संबंध में 'महान् पटु' इस अर्थ की भाँति 'बृहस्पति' इस द्वितीय अर्थ की भी प्रतीति हो रही है। इसी प्रकार 'अर्जुन' तथा 'भीष्म' इन शब्दों से भी 'धवल' तथा 'भयंकर' इन अर्थों के अतिरिक्त 'कुन्तीपुत्र अर्जुन' तथा 'शान्तनुपुत्र भीष्म' वाले अर्थ की भी प्रतीति होती है।

शुद्धो यथा—

अकृशं कुचयोः कृशं विलग्ने विपुलं चक्षुषि विस्तृतं नितम्बे ।
अधरेऽरुणमाविरस्तु चित्ते करुणाशालि कपालिभागधेयम् ॥ २३ ॥

८–१० स्मृति-भ्रान्ति-संदेहालङ्काराः

स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसंदेहैस्तदङ्कालङ्कृतित्रयम् ।
पङ्कजं पश्यतः कान्तामुखं मे गाहते मनः ॥ २४ ॥
अयं प्रमत्तमधुपस्त्वन्मुखं वेत्ति पङ्कजम् ।
पङ्कजं वा सुधांशुर्वेत्यस्माकं तु न निर्णयः ॥ २५ ॥

अब शुद्ध उल्लेख का उदाहरण देते हैं, जहाँ किसी अन्य अलंकार से संकीर्णता नहीं पाई जाती ।

कोई भक्त देवी पार्वती की वंदना कर रहा है । उन खप्पर को धारण करने वाले कपाली (दरिद्री) शिव का वह (अपूर्व) सौभाग्य (पार्वती), जो करुणामय है, तथा स्तनों में पुष्ट (अकृश), मध्यभाग में पतला (कृश), नेत्रों में लंबा (कर्णान्तायतलोचन), नितंबबिंब में विशाल, तथा अधर में (बिंब के समान) लाल है, मेरे चित्त में प्रकट होवे ।

यहाँ पार्वती के लिए 'कपालिभागधेय' कहना अध्यवसाय है । इसमें अतिशयोक्ति अलंकार है । पार्वती के तत्तदंगरूप विषयों का (कृशत्वादिरूप) अनेक प्रकार से वर्णन करने के कारण यहां उल्लेख अलंकार है ।

८–१० स्मृति, भ्रांति तथा सन्देह

२४–२५—जहां स्मृति, भ्रांति तथा संदेह हों, वहां तत्तत् अलंकार होते हैं । (१) स्मृति जहां किसी चमत्कारी सदृश वस्तु को देखकर पूर्वपरिचित वस्तु का स्मरण हो, वहां स्मृति अलंकार होता है । (२) भ्रांति—जहां किसी चमत्कारी सदृश वस्तु में किसी वस्तु की भ्रांति (मिथ्याज्ञान) हो, जैसे शुक्ति में रजत का भान, वहां भ्रांति अलंकार होता है । (३) संदेह—जहां (कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा) प्रकृत विषय में अप्रकृत विषयों की उद्भावना कर, किसी निश्चित ज्ञान पर न पहुँच पाये, जैसे यह 'शुक्ति है या रजत' है, वहां संदेह अलंकार होता है । इन्हीं तीनों के क्रमशः तीन उदाहरण देते हैं :—

(१) स्मृति का उदाहरण—कमल को देखते हुए, मेरा मन प्रिया के मुख की याद करने लगता है ।

(२) भ्रान्ति का उदाहरण—यह मस्त भौंरा तेरे मुख को कमल समझता है ।

(३) संदेह का उदाहरण—यह (कांतामुख) कमल है या चन्द्रमा, इस प्रकार हम किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच पाते ।

इन उदाहरणों में प्रथम उदाहरण में प्रिया के मुख के सदृश कमल को देखकर प्रिया-मुख की याद हो आना स्मृति है, अतः यहां स्मृति अलंकार है । दूसरे उदाहरण में मस्त भौंरा मुख तथा कमल के सादृश्य के कारण नायिका के मुख को भ्रांति से कमल समझ रहा है, अतः यह भ्रांति अलंकार है । तीसरे उदाहरण में कांतामुख में कमल और चन्द्रमा का संदेह हो रहा है, तथा द्रष्टा की चित्तवृत्ति दोलायित हो रही है, अतः यह सन्देह अलंकार है ।

स्मृतिभ्रान्तिसंदेहैः सादृश्यान्निबध्यमानैः स्मृतिभ्रान्तिमान्संदेह इति स्मृत्यादिपदाङ्कितमलङ्कारत्रयं भवति। तच्च क्रमेणोदाहृतम्।

यथा वा (माघ० ८।६४)—

दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्ताद-
म्भस्तः स्फुरदरविन्दचारुहस्ताम्।
उद्वीक्ष्य श्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्ती-
मस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः॥

पूर्वत्र स्मृतिमदुदाहरणे सदृशस्यैव स्मृतिरत्र सदृशलक्ष्मीस्मृतिपूर्वकं तत्सम्बन्धिनो जलनिधिमन्थनस्यापि स्मृतिरिति भेदः।

पलाशमुकुलभ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलिः।
सोऽपि जम्बूफलभ्रान्त्या तमलिं धर्तुमिच्छति॥

सादृश्य के आधार पर काव्य के प्रकृत तथा अप्रकृत पदार्थों में स्मृति, भ्रांति या संदेह के निबद्ध करने पर स्मृति, भ्रांतिमान् तथा संदेह नामक अलंकार होते हैं। भाव यह है जहाँ सादृश्य के आधार पर उपमान को देखकर उपमेय का स्मरण हो वहाँ स्मृति अलंकार होता है। जहाँ सादृश्य के आधार पर उपमेय में भ्रांति से उपमान का भान हो, वहाँ भ्रांति अलंकार होता है। जहाँ सादृश्य के आधार पर उपमेय में उपमानों की सत्ता का संदेह हो तथा यह निश्चय न हो पाये कि यह उपमेय ही है, वहाँ संदेह होता है इन्हीं के क्रमशः उदाहरण दे रहे हैं:—

स्मृति का उदाहरणः—

माघ के अष्टम सर्ग का जलक्रीडा वर्णन है। भगवान् कृष्ण ने जल से निकलती हुई लक्ष्मी के समान सुन्दर किसी ऐसी रमणी को आगे देखकर जिसका सौंदर्य देवताओं को भी आश्चर्यचकित कर देने वाला था, तथा जो चंचल कमल से सुशोभित हाथ वाली थी— समुद्रमन्थन का स्मरण किया।

इस पद्य में दो अलंकार हैं, एक 'श्रियमिव' इस स्थल में उपमा. दूसरा 'अस्मार्षीज्जल-निधिमंथनस्य' इस स्थल में स्मृति। इन दोनों अलंकारों में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव है। यहाँ स्मृति अलंकार अङ्गी है, उपमा उसका अङ्ग। पूरे काव्य में इनदोनों का संकर है।

इस उदाहरण में कारिकार्ध वाले स्मृति अलंकार से कुछ भेद पाया जाता है। वहाँ कमल को देखकर प्रियामुख की याद आती है, इस प्रकार उस स्मृति के उदाहरण में सदृश वस्तु का ही स्मरण होता है, जब कि इस उदाहरण में लक्ष्मी के समान नायिका को जल से निकलते देखकर कृष्ण को लक्ष्मी के समुद्र से निकलने का स्मरण हो आता है, इस प्रकार यहाँ नायिका के सदृश सुन्दर लक्ष्मी के स्मरण के द्वारा उससे संबद्ध जलनिधिमं-थन की स्मृति हो आती है। प्रथम तत्सदृश वस्तु का स्मरण वाला उदाहरण है, दूसरा तत्सदृश वस्तु संबन्धिवस्तु का स्मरण वाला उदाहरण। यहाँ उपमानोपमेयभाव उक्त नायिका तथा लक्ष्मी में है।

भ्रांति का उदाहरणः—

कोई भौंरा तोते की चोंच को पलाश की कलिका समझ कर उस पर गिर रहा है, और तोता भी भौंरे को जामुन का फल समझ कर उसे पकड़ना चाहता है।

अत्रान्योन्यविषयभ्रान्तिनिबन्धनः पूर्वोदाहरणाद्विशेषः ।

जीवनग्रहणे नम्रा गृहीत्वा पुनरुन्नताः ।
किं कनिष्ठाः किमु ज्येष्ठा घटीयन्त्रस्य दुर्जनाः ॥

पूर्वोदाहृतसंदेहः प्रसिद्धकोटिकः, अयं तु कल्पितकोटिक इति भेदः ॥२४-२५॥

११ अपह्नुत्यलङ्कारः

शुद्धापह्नुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिह्नवः ।
नायं सुधांशुः, किं तर्हि ? व्योमगङ्गासरोरुहम् ॥ २६ ॥

वर्णनीये वस्तुनि तत्सदृशधर्मारोपफलकस्तदीयधर्मनिह्नवः कविमतिविकाः सोत्प्रेक्षितधर्मान्तरस्यापि निह्नवः शुद्धापह्नुतिः । यथा चन्द्रे वियन्नदीपुण्डरीकत्वारोपफलकस्तदीयधर्मस्य चन्द्रत्वस्यापह्नवः ।

यहाँ भौंरा तोते की चोंच को भ्रांति से पलाशमुकुल समझता है और तोता भौंरे को भ्रांति से जामुन का फल समझ रहा है, अतः भ्रांति या भ्रांतिमान् अलंकार है। इस उदाहरण में पहले वाले उदाहरण ('अयं प्रमत्तमधुपः' इत्यादि) से यह भेद है कि यहाँ प्रत्येक विषय (भौंरा व तोता) एक दूसरे के प्रति भ्रांति का प्रयोग करते हैं, अतः यहाँ अन्योन्यविषयभ्रांति का निबंधन किया गया है ।

संदेह का उदाहरणः—

दुष्ट लोग जीवन को लेने में नम्र हो जाते हैं तथा जीवन (प्राण) लेकर फिर से उद्धत हो जाते हैं (रहट भी पानी लेते समय झुक जाता है और पानी लेकर फिर ऊँचा चढ़ आता है)। दुर्जन लोग घटीयंत्र (रहट) से छोटे हैं, या बड़े हैं ।

यहाँ रहट से दुर्जनों के कनिष्ठ या ज्येष्ठ होने के संबंध में कोई निश्चित बात न बताकर संदेह वर्णित किया गया है, अतः संदेह अलंकार है। संदेह के पहले उदाहरण तथा इस उदाहरण में यह भेद है कि पहले में मुख के विषय में 'कमल है या चन्द्रमा' यह कहना प्रसिद्ध कोटिक संदेह है, जब कि यहाँ दुर्जन के रहट से कनिष्ठत्व या ज्येष्ठत्व के विषय में ससंदेह होना कल्पना पर आधृत है, अतः यह कल्पितकोटिक है। भाव यह है, प्रथम संदेह कविपरम्परा पर आधृत है, दूसरा कविनिबद्ध प्रौढोक्ति पर । क्योंकि घटीयंत्र से बड़े छोटे होने की कोई प्रसिद्धि नहीं है ।

११ अपह्नुति अलंकार

२६—अपह्नुति अलंकार का प्रकरण उपन्यस्त करते समय सर्वप्रथम शुद्धापह्नुति का लक्षण देते हैं। इसे ही जयदेव तथा अन्य आलंकारिक केवल अपह्नुति कहते हैं ।

शुद्धापह्नुति वह अलंकार है, जहाँ अप्रकृत के आरोप के लिए प्रकृत का निषेध किया जाय अर्थात् जहाँ प्रकृत धर्म का गोपन (निह्नव) कर अप्रकृत का उसपर आरोप हो। (यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि रूपक में भी आरोप होता है, किंतु वहाँ निषेधपूर्वक आरोप नहीं होता, अतः वह भिन्नकोटिक अलंकार है।) जैसे, यह चन्द्रमा नहीं हैं, तो फिर क्या है ? यह तो आकाशगंगा में खिला हुआ कमल है ।

जहाँ वर्णनीय वस्तु में तत्सदृश अप्रकृत वस्तु के धर्म का आरोप करने के लिए उसके वास्तविक धर्म का गोपन कर दिया जाय अथवा कविकल्पना के द्वारा उत्प्रेक्षित किसी अन्य धर्म का गोपन किया जाय वहाँ शुद्धापह्नुति होती है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में

यथा वा—

अङ्कं केऽपि शशङ्किरे, जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे,
सारङ्गं कतिचिच्च संजगदिरे, भूच्छायमैच्छन् परे।
इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
तत्सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे ॥

अत्रोत्प्रेक्षिकधर्माणामप्यपह्नवः परपक्षत्वोपन्यासादर्थसिद्धः ॥ २६ ॥

स एव युक्तिपूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपह्नुतिः।
नेन्दुस्तीव्रो न निश्यर्कः, सिन्धोरौर्वोऽयमुत्थितः ॥ २७ ॥

अत्र चन्द्र एव तीव्रत्व-नैशत्वयुक्तिभ्यां चन्द्रत्वसूर्यत्वापह्नवो वडवानलत्वारोपार्थः।

यथा वा—

मन्थानभूमिधरमूलशिलासहस्र-
संघट्टनव्रणकिणः स्फुरतीन्दुमध्ये।
छायामृगः शशक इत्यतिपामरोक्ति-
स्तेषां कथंचिदपि तत्र हि न प्रसक्तिः ॥

चंद्र में आकाशगंगा के कमल से सम्बद्ध धर्म आकाशगंगासरोरुहत्व का आरोप करने के लिये चन्द्र के वास्तविक धर्म चन्द्रत्व का निषेध किया गया है। अतः यहाँ अपह्नुति का शुद्धावाला भेद है। इसी का अन्य उदाहरण निम्न है:—

कुछ लोग चन्द्रमा के काले धब्बे को कलंक मानते हैं, तो कुछ लोग समुद्र का कीचड़, कुछ उसे हिरन बताते हैं, तो कुछ पृथ्वी की छाया। टूटे हुए इन्द्रनील मणि के टुकड़े के समान जो कालापन चन्द्रमा में दिखाई दे रहा है, वह हमारे मतानुसार तो चन्द्रमा के द्वारा रात में पीया हुआ सघन अन्धकार है, जो चन्द्रमा के पेट में जम गया है।

यहाँ पद्य के पूर्वार्ध में वर्णित तत्तत् धर्म कविकल्पित हैं तथा उनका निषेध पाया जाता है। कारिका के उत्तरार्ध वाले उदाहरण तथा इसमें यह भेद है कि वहाँ कवि ने निषेध स्पष्टतः किया है अर्थात् वहाँ शाब्दी अपह्नुति पाई जाती है, जब कि यहाँ कवि ने तत्तत् उत्प्रेक्षित धर्म का निषेध शब्दतः नहीं किया है, केवल उन मतों को अन्यसम्मत बताकर उनका अर्थसिद्ध निषेध किया है। अतः यहाँ आर्थी अपह्नुति है।

२७—यही शुद्ध अपह्नुति जब युक्तिपूर्वक हो, तो वह हेत्वपह्नुति कहलाती है। जैसे कोई विरहिणी चन्द्रमा की जलन का अनुभव कर कह रही है—यह चन्द्रमा तो नहीं है, क्योंकि यह तीव्र (जलन करने वाला) है, यह सूर्य भी नहीं है, क्योंकि रात में सूर्य नहीं होता; यह तो समुद्र की वडवाग्नि जल रही है।

यहाँ तीव्रता तथा रात्रिसंबद्धता इन दो हेतुओं को देकर वास्तविक चन्द्र के संबंध में चन्द्रत्व तथा उत्प्रेक्षित सूर्यत्व रूप धर्मों का निषेध इसलिए किया गया है कि उस पर वडवानल का आरोप हो सके, अतः यह हेत्वपह्नुति है। इसका दूसरा उदाहरण यह है:—

चन्द्रमा में जो काला धब्बा दिखाई देता है, वह मन्दराचल पर्वत की जड़ की हजारों शिलाओं से टकराने से उत्पन्न घाव का धब्बा है। मूर्ख लोग इसे पृथ्वी की छाया, मृग, शशक आदि कहते हैं, भला चन्द्रमा में हिरन और खरगोश कहाँ से आये।

अत्र चन्द्रमध्ये मन्थनकालिकमन्दरशिलासंघट्टनव्रणकिणस्यैव छायादीनां संभवो नास्तीति छायात्वाद्यपह्नवः पामरवचनत्वोपन्यासेनाविष्कृतः ॥ २७ ॥

अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तु सः ।
नायं सुधांशुः, किं तर्हि ? सुधांशुः प्रेयसीमुखम् ॥ २८ ॥

यत्र क्वचिद्वस्तुनि तदीयधर्मनिह्नवः, अन्यत्र वर्णनीये वस्तुनि तस्य धर्मस्यारोपार्थः स पर्यस्तापह्नुतिः । यथा चन्द्रे चन्द्रत्वनिह्नवो वर्णनीये मुखे तदारोपार्थः ।

यथा वा—
हालाहलो नैव विषं, विषं रमा, जनाः परं व्यत्ययमत्र मन्वते ।
निपीय जागर्ति सुखेन तं शिवः, स्पृशन्निमां मुह्यति निद्रया हरिः ॥
पूर्वोदाहरणे हेतूक्तिर्नास्ति, अत्र तु सास्तीति विशेषः । ततश्च पूर्वापह्नुतिवदत्रापि द्वैविध्यमपि द्रष्टव्यम् ॥ २९ ॥

यहाँ पृथ्वी की छाया, हिरन या खरगोश वाले मतों को पामरवचन बताकर कवि ने छायादि का निषेध किया है, छायादि की तो वहाँ सम्भावना ही नहीं हो सकती तथा इस बात की पुष्टि की है कि चन्द्रमा के बीच में जो काला धब्बा है, वह समुद्रमन्थन के समय मंदराचल की शिलाओं से टकराने से पैदा हुए घाव का चिह्न ही है ।

२८—जहाँ वस्तु के धर्म का निषेध कर साथ ही साथ उस धर्म का आरोप अन्य वस्तु पर किया जाय, वहाँ पर्यस्तापह्नुति होती है । जैसे यह (दृश्यमान चन्द्रमा) सुधांशु नहीं है; तो फिर सुधांशु कौन है ? सुधांशु तो प्रिया का मुख है ।

यहाँ चन्द्रमा (सुधांशु) के 'सुधांशुत्व' धर्म का उसमें निषेधकर उसका आरोप रमणीवदन पर कर दिया गया है, अतः यहाँ पर्यस्तापह्नुति है ।

जहाँ किसी वस्तु के अन्दर उसके धर्म का निषेध इस लिए किया जाय कि अन्य वर्ण्य वस्तु पर उसका आरोप हो सके उसे पर्यस्तापह्नुति कहते हैं । जैसे चन्द्रमा में चन्द्रत्व का निषेध वर्ण्य विषय 'प्रियामुख' में उसके आरोप करने के लिए किया गया है ।

इसी का दूसरा उदाहरण यह है:—

लोग जहर को जहर समझते हैं । वस्तुतः हालाहल (जहर) विष नहीं है, यदि कोई जहर है तो वह लक्ष्मी है । लोग भ्रांति से यहाँ हालाहल में विषत्व मान बैठते हैं । भगवान् शंकर हालाहल को पीकर भी जगते रहते हैं, अतः सिद्ध है कि उसमें विषत्व नहीं है (नहीं तो वह उन्हें मोहाविष्ट करता), जब कि भगवान् विष्णु लक्ष्मी का स्पर्श करते ही नींद से मोहित हो जाते हैं । अतः स्पष्ट है कि विषत्व लक्ष्मी में ही है ।

पर्यस्तापह्नुति के कारिकार्ध के उदाहरण तथा इस उदाहरण में यह भेद है कि उसमें हेतु का उपन्यास नहीं किया गया है, जब कि यहाँ लक्ष्मी पर विषत्व का आरोप करने तथा हालाहल में विषत्व का निषेध करने का हेतु भी दिया गया है । इस प्रकार पहली अपह्नुति की तरह यह भी निर्हेतुक तथा सहेतुक दो तरह की हो जाती है ।

टिप्पणी—मम्मट तथा जगन्नाथ पण्डितराज पर्यस्तापह्नुति को अपह्नुति का भेद नहीं मानते । जगन्नाथ पण्डितराज के मत से यह रूपक अलंकार का ही क्षेत्र है ।

अत्र 'चिन्त्यते—नायमपह्नुतेर्भेदो वक्तुं युक्तः, अपह्नुतिसामान्यलक्षणानाक्रान्तत्वात् ।... तस्मात् 'नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इत्यत्र दृढारोपं रूपकमेव भवितुमर्हति, नापह्नुतिः ।' (रसगंगाधर पृ० ३१८-९)

भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शङ्कायां भ्रान्तिवारणे ।
तापं करोति सोत्कम्पं, ज्वरः किं ? न, सखि ! स्मरः ॥ २९ ॥

अत्र तापं करोतीति स्मरवृत्तान्ते कथिते तस्य ज्वरसाधारण्यादृजुबुद्धया सख्या 'ज्वरः किम्' इति पृष्टे, 'न, सखि ! स्मरः' इति तत्त्वोक्त्या भ्रान्तिवारणं कृतम् ।

यथा वा—

नागरिक ! समधिकोन्नतिरिह महिषः कोऽयमुभयतः पुच्छः ।
नहि नहि करिकलभोऽयं शुण्डादण्डोऽयमस्य न तु पुच्छम् ॥

इदं संभवद्भ्रान्तिपूर्विकायां भ्रान्तापह्नुतावुदाहरणम् ।

कल्पितभ्रान्तिपूर्वा यथा—

जटा नेयं वेणीकृतकचकलापो न गरलं
गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम् ।

२९—जहाँ किसी विशेष परिस्थिति में किसी व्यक्ति को अन्य वस्तु की शंका हो तथा उस शंका को हटाने के लिए उसकी भ्रांति का वारण किया जाय, वहाँ भ्रान्तापह्नुति होती है । जैसे (वह) मेरे अन्दर कम्प के साथ ताप कर रहा है; क्या ज्वर (ताप कर रहा है) ? नहीं, सखि, कामदेव (ताप कर रहा है)।

यहाँ 'ताप कर रहा है' यह कामदेवजनित पीडा का वर्णन किसी विरहिणी के द्वारा किया जा रहा है, इसे सुनकर भोली सखी ताप का कारण ज्वर समझ बैठती है क्योंकि यह ज्वर की स्थिति में भी पाया जाता है, इसलिए वह 'क्या ज्वर ?' ऐसा प्रश्न पूछ बैठती है, इसे सुनकर विरहिणी उसकी भ्रांति का निवारण करती हुई तथ्य का प्रकाशन करती कहती है 'नहीं सखि, कामदेव' । इस प्रकार यहाँ तत्त्वोक्ति के द्वारा भ्रांति का वारण करने के कारण भ्रांतापह्नुति अलंकार है ।

इसी का दूसरा उदाहरण निम्न है:—

कोई गँवार जिसने कभी हाथी नहीं देखा है हाथी को देखकर किसी नागरिक से कहता है--'हे नागरिक, यह भैंसा दूसरे भैंसों से अधिक ऊँचा है, पर इसके दोनों ओर कौन सी पूँछ है ?' इसे सुनकर नागरिक उत्तर देता है—'नहीं यह भैंसा नहीं है, यह तो हाथी का बच्चा है, यह इसकी सूँड है, पूँछ नहीं है ।'

पहले उदाहरण तथा इस उदाहरण में यह भेद है कि उसमें संदेहरूप भ्रांति के विषय ज्वर का निषेध किया गया है, यहाँ देहाती को 'महिषत्व' का निश्चय हो चुका है अतः यहाँ निश्चित भ्रांति का निवारण कर तत्त्वोक्ति (करिकलभत्व) की प्रतिष्ठापना की गई है ।

यह भ्रांति संदेहगर्भा या निश्चित ही नहीं होती, कविकल्पित भी हो सकती है, जैसे निम्न उदाहरण में कविकल्पित भ्रांति का निवारण पाया जाता है:—

कोई विरहिणी कामदेव से कह रही है । अरे कामदेव, तू मुझे क्यों पीडित कर रहा है ! क्या तू मेरे ऊपर इसलिए प्रहार कर रहा है कि तू मुझे अपना शत्रु महादेव समझ बैठा है । यदि ऐसा है, तो यह तेरी भ्रांति है । अरे मेरे मस्तक पर यह जटा नहीं है, वेणी के बालों का समूह है, यह मेरे गले में जहर की नीलिमा नहीं, कस्तूरी है । मेरे सिर

इयं भूतिर्नाङ्गे प्रियविरहजन्मा धवलिमा
पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर ! किं मां प्रहरसि ।।

अत्र कल्पितभ्रान्तिः 'जटा नेयम्' इत्यादिनिषेधमात्रोन्नेया, पूर्ववत्प्रश्नाभावात् । दण्डी त्वत्र तत्त्वाख्यानोपमेत्युपमाभेदं मेने । यदाह—

'न पद्मं मुखमेवेद, न भृङ्गौ चक्षुषी इमे ।
इति विस्पष्टसादृश्यात्तत्त्वाख्यानोपमैव सा' ।। २६ ।। इति ।।

छेकापह्नुतिरन्यस्य शङ्कातस्तथ्यनिह्नवे ।
प्रजल्पन्मत्पदे लग्नः कान्तः किं ? नहि, नूपुरः ।। ३० ।।

कस्यचित्कञ्चित्प्रति रहस्योक्तावन्येन श्रुतायां स्वोक्तेस्तात्पर्यान्तरवर्णनेन तथ्य निह्नवे छेकापह्नुतिः । यथा नायिकाया नर्मसखीं प्रति 'प्रजल्पन्मत्पदे लग्नः' इति स्वनायकवृत्तान्ते निगद्यमाने तदाकर्ण्य 'कान्तः किम्' इति शङ्कितवतीमन्यां प्रति 'नहि, नूपुरः' इति निह्नवः ।

पर यह चन्द्रकला न होकर जूड़े में लगाये फूल हैं। यह जो तुम्हें मेरे शरीर पर पांडुता दिखाई दे रही है, वह भस्म नहीं, किंतु प्रिय के विरह से उत्पन्न पाण्डुता है। हे कामदेव, तू मुझे भ्रांति से पुराराति (महादेव) समझ कर मेरे ऊपर प्रहार क्यों कर रहा है।

यहाँ 'जटा नेयम्' इत्यादि के द्वारा व्यक्त कल्पित भ्रांति केवल निषेधमात्र से प्रतीत हो रही है, पहले उदाहरणों की भांति यहां प्रश्नपूर्विका सरणि नहीं पाई जाती। दण्डी इस प्रकार के स्थलों में तत्त्वाख्यानोपमा नामक उपमाभेद मानते हैं। जैसा कि कहा गया है—

'यह कमल नहीं मुँह ही है, ये भौंरे नहीं आँखें हैं' इस प्रकार जहां स्पष्ट सादृश्य के कारण तत्त्व (तथ्य) की प्रतिष्ठापना की जाय, वहाँ उपमा अलंकार ही होता है।'

३०—जहाँ अन्य वस्तु की शंका होने पर वास्तविकता को छिपाकर अवास्तविकता की प्रतिष्ठापना की जाय, वहाँ छेकापह्नुति अलंकार होता है। जैसे, वह शब्द करता हुआ मेरे पैरों में आ लगा; क्या प्रिय, नहीं सखि नूपुर।

टिप्पणी—छेकापह्नुति को कुछ विद्वान् अलग से अलंकार नहीं मानते, वे इसका समावेश व्याजोक्ति में ही करते हैं।

(छेक शब्द का अर्थ है चतुर व्यक्ति। चतुर व्यक्ति के द्वारा वास्तविकता का गोपन करने के लिए प्रयुक्त अपह्नुति को छेकापह्नुति कहा जाता है। इसका लक्षण यह है कि जहाँ प्रयुक्त वाक्य की अन्य प्रकार से योजना करके शंकित तात्त्विक वस्तु की निह्नुति (निषेध) की जाय, वहाँ छेकापह्नुति होगी।

छेको विदग्धः, तत्कृतापह्नुतिश्छेकापह्नुतिरिति लक्ष्यनिर्देशो वाक्यान्यथायोजनाहेतुकः शंकिततात्त्विकवस्तुनिषेध इति लक्षणम् ।(चन्द्रिका पृ० २९)

कोई व्यक्ति किसी विश्वस्त व्यक्ति से रहस्य की बात कह रहा हो और कोई अन्य व्यक्ति उसे सुन ले तो अपनी उक्ति का अन्य तात्पर्य बताकार जहाँ उस अन्य व्यक्ति से तथ्य का गोपन किया जाय वहाँ छेकापह्नुति अलंकार होता है। जैसे कारिकार्ध के उदाहरण में कोई नायिका अपनी नर्मसखी से 'प्रजल्पन्मत्पदे लग्नः' इस प्रकार अपने नायक का वृत्तान्त कह रही है, उसे सुनकर दूसरी सखी प्रिय के विषय में शंका कर पूछ बैठती

सीत्कारं शिक्षयति व्रणयत्यधरं तनोति रोमाञ्चम्।
नागरिकः किं मिलितो ? नहि नहि, सखि ! हैमनः पवनः ॥

इदमर्थयोजनया तथ्यनिह्नवे उदाहरणम्।

शब्दयोजनया यथा—

पद्मे ! त्वन्नयने स्मरामि सततं भावो भवत्कुन्तले
नीले मुह्यति किं करोमि महितैः क्रीतोऽस्मि ते विभ्रमैः।
इत्युत्स्वप्नवचो निशम्य सरुषा निर्भर्त्सितो राधया
कृष्णस्तत्परमेव तद्व्यपदिशन् क्रीडाविटः पातु वः ॥

सर्वमिदं विषयान्तरयोजने उदाहरणम्।

विषयैक्येऽप्यवस्थाभेदेन योजने यथा—

वदन्ती जारवृत्तान्तं पत्यौ धूर्ता सखीधिया।

है क्या, प्रिय, उस सखी से तथ्य का गोपन करने के लिए वह 'नहीं, नूपुर' यह उत्तर देकर अपनी उक्ति का भिन्न तात्पर्य बता देती है । अतः यहाँ छेकापह्नुति है।

इसी का दूसरा उदाहरण यह है :—

कोई नायिका नर्मसखी से नायक के मिलने के विषय में कह रही है। 'वह सीत्कार सिखाता है, अधर को व्रणयुक्त बना देता है तथा रोमांच प्रकट करता है।' इसे सुनकर अन्य सखी प्रिय के विषय में शंकाकर पूछ बैठती है—क्या नागरिक मिलने पर ऐसा करता है ?' नायिका तथ्य गोपन करने के लिए कहती है—'नहीं सखि, नहीं, हेमन्त का शीतल पवन ऐसा करता है।'

इन दोनों उदाहरणों में अर्थयोजना के द्वारा तथ्य का गोपन किया गया है।

कहीं-कहीं शब्दयोजना (शब्दश्लेष) के द्वारा ऐसा किया जाता है, जैसे—

कृष्ण स्वप्न के समय लक्ष्मी की याद कर कह उठते हैं—'हे लक्ष्मी, मैं तेरे नेत्रों का सदा स्मरण किया करता हूँ, तुम्हारे नीले केशपाश में मेरा मन रमा रहता है (मेरा भाव मोहित रहता है), मैं क्या करूँ, तुम्हारे अनर्घ (महित) विलासों ने मुझे खरीद लिया है, मैं तुम्हारा दास हूँ।' कृष्ण की इन स्वप्न की बातों को सुन कर क्रोधित राधा उनकी भर्त्सना करती है, किंतु कृष्ण उन वचनों को राधापरक (राधा के प्रति ही कथित) बता देते हैं तथा इसका अर्थ यों करते हैं—'(हे राधे,) मैं कमल के समान तेरे नेत्रों का सदा स्मरण किया करता हूँ······।' इस प्रकार चतुरता से वास्तविकता को छिपाते हुए क्रीडाविट कृष्ण आप लोगों की रक्षा करें।

यहाँ 'पद्मे' पद में श्लेष है, यह लिंग, वचन तथा विभक्तिगत श्लेष है। लक्ष्मीपक्ष में यहाँ स्त्रीलिंग, संबोधन विभक्ति तथा एकवचन का रूप है, राधापक्ष में यह 'नयने' का उपमान है, तथा नपुंसक लिंग, द्वितीया विभक्ति तथा द्विवचन का रूप है। इस प्रकार अपनी उक्ति की राधापरक व्याख्या कर कृष्ण वास्तविकता को छिपाते हैं, अतः यहाँ शब्दयोजनागत छेकापह्नुति है।

ये तीनों उदाहरण अन्य विषय में प्रस्तुत उक्ति की योजना करने के हैं। कभी-कभी विषय के एक ही होने पर भी अवस्थाभेद के द्वारा एक अवस्था का गोपन किया जाता है, जैसे—

कोई धूर्त नायिका भ्रांति से पति को सखी समझ कर अपने जार का वृत्तान्त सुना

पतिं बुद्ध्वा, 'सखि ! ततः प्रबुद्धास्मी'त्यपूरयत् ॥ ३० ॥

कैतवापह्नुतिर्व्यक्तौ व्याजाद्यैर्निह्नुतेः पदैः ।
निर्यान्ति स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात् ॥ ३१ ॥

अत्रासत्यत्वाभिधायिना, 'कैतव' पदेन 'नेमे कान्ताकटाक्षाः, किन्तु स्मरनाराचाः' इत्यपह्नवः प्रतीयते ।

यथा वा—

रिक्तेषु वारिकथया विपिनोदरेषु
मध्याह्नजृम्भितमहातपतापतप्ताः ।
स्कन्धान्तरोत्थितदवाग्निशिखाच्छलेन
जिह्वां प्रसार्य तरवो जलमर्थयन्ते ॥ ३१ ॥

१२ उत्प्रेक्षालङ्कारः

संभावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मना ।
उक्तानुक्तास्पदाद्यात्र सिद्धाऽसिद्धास्पदे परे ॥ ३२ ॥

रही हैं। इसी बीच उसे पता लग जाता है कि वह सखी नहीं उसका पति है। उसे देखकर वह वास्तविकता का गोपन करने के लिए पूर्व अवस्था का गोपन कर अन्य अवस्था की व्याख्या करते हुए कहती है—'हे सखि, इतने में मैं जग गई'। भाव है, यह सारी बात मैंने स्वप्न में देखी थी।

यहाँ वास्तविक जाग्रत् अवस्था की बात को छिपाकर उसे स्वप्न की घटना बता दिया गया है, अतः अवस्थाभेद की योजना की गई है।

३१—जहाँ व्याज आदि पदों के द्वारा प्रस्तुत के निषेध की व्यंजना हो, वहाँ कैतवापह्नुति होती है। जैसे कामदेव के बाण प्रिया के कटाक्षपात के कैतव (व्याज) से निकल रहे हैं।

यहाँ 'कैतव' पद का प्रयोग किया गया है, जो असत्यता का वाचक है। इस पद के द्वारा 'ये प्रिया के कटाक्ष नहीं हैं, अपितु कामदेव के बाण हैं' इस प्रकार प्रस्तुत का निषेध व्यक्त हो रहा है।

अथवा जैसे—

ग्रीष्म ऋतु का वर्णन है। वन में कहीं भी जल का नामनिशान न रहने पर (वन के मध्यभाग के पानी के वृत्तान्त से रिक्त होने पर) मध्याह्न में फैले हुए महान् सूर्यताप से तप्त वृक्ष अपनी शाखाओं के बीच से उठती हुई दावाग्नि की ज्वाला के व्याज से अपनी जीभ फैलाकर पानी की याचना कर रहे हैं।

यहाँ 'दावाग्नि की ज्वाला के व्याज से' (दवाग्निशिखाच्छलेन) इसमें प्रयुक्त 'छल' पद से यह प्रतीति हो रही है कि 'यह दवाग्निज्वाला नहीं है, अपितु वृक्षों की जीभ है।' इस प्रकार यहाँ कैतवापह्नुति है।

१२. उत्प्रेक्षा अलंकार

३२-३५—जहाँ अप्रकृत के साथ प्रकृत की वस्तु, हेतु तथा फल रूप सम्भावना की जाय, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। इनमें प्रथम (वस्तूत्प्रेक्षा) उक्ता तथा अनुक्ता—

धूमस्तोमं तमः शङ्के कोकीविरहशुष्मणाम् ।
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ॥ ३३ ॥
रक्तौ तवाङ्घ्री मृदुलौ भुवि विक्षेपणाद्ध्रुवम् ।
त्वन्मुखाभेच्छया नूनं पद्मैर्वैरायते शशी ॥ ३४ ॥
मध्यः किं कुचयोर्धृत्यै बद्धः कनकदामभिः ।
प्रायोऽब्जं त्वत्पदेनैक्यं प्राप्तुं तोये तपस्यति ॥ ३५ ॥

अन्यधर्मसंबन्धनिमित्तेनान्यस्यान्यतादात्म्यसंभावनमुत्प्रेक्षा । सा च वस्तु-हेतु-फलात्मतागोचरत्वेन त्रिविधा । अत्र वस्तुनः कस्यचिद्वस्त्वन्तरतादात्म्य-

---

उक्तविषया तथा अनुक्तविषया–दो तरह की होती है। शेष दो (हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा) के सिद्धविषया तथा असिद्धविषया ये दो दो भेद होते हैं। (इन्हीं के उदाहरण क्रमशः ये हैं।)

(१) सायंकालीन अन्धकार मानो चक्रवाकी के विरहरूपी अग्नि का धुआँ है, (उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा)

(२) रात्रि का अन्धकार क्या है, मानो अँधेरा अंगों को लीप रहा हो, मानो आकाश काजल बरसा रहा हो। (अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा)

(३) हे सुन्दरि, जमीन पर चलने के कारण तेरे कोमल चरण रक्त हो गये हैं। (सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा)

(यहाँ सुन्दरी के चरणों का रक्तत्व स्वतःसिद्ध है, कवि ने इसका हेतु भूतल पर चलना सम्भावित किया है।)

(४) हे सुन्दरि, यह चन्द्रमा तुम्हारे मुख की कांति को प्राप्त करने की इच्छा से उस कांतिको धारण करनेवाले कमलों से वैर का आचरण कर रहा है। (असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा)

(यहाँ चन्द्रमा के उदय पर कमल बन्द हो जाते हैं, इस तथ्य में कवि ने यह संभावना की है कि चन्द्रमा कमलों से वैर करता है तथा इस हेतुकी संभावना स्वतः सिद्ध नहीं है।)

(५) हे सुन्दरि, क्या स्तनों को धारण करने के लिए तुम्हारा मध्यभाग सोने की जंजीरों (त्रिवलियों) से बाँध दिया गया है। (सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा)

(यहाँ मध्यभाग में त्रिवलि की रचना इसलिए की गई है कि स्तनों को रोका जा सके, यह फल की सम्भावना है।)

(६) हे सुन्दरि, ये कमल जल में इसलिए तप किया करते हैं कि तुम्हारे चरणों के साथ अद्वैतता प्राप्त कर सकें। (असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा)

(कमल स्वाभाविक रूप से जल में रहते हैं, पर कवि ने उस पर सुन्दरी के चरणों का ऐक्य प्राप्त करने की कामना से जलमग्न हो तपस्या करने की संभावना की है।)

टिप्पणी—यहाँ इस बात की प्रतीति होती है कि कमल वैसे ही जलमग्न हो तपस्या कर रहा है, जैसे कोई तपस्वी उच्चपद की प्राप्ति करने के लिए–ईश्वर के तादूप्य के लिए–तपस्या करता है; इस पंक्ति में 'अब्ज' से किसी एक कमल का तात्पर्य न होकर समस्त कमल-जाति (Lotus as such, Lotus as a class) अभीष्ट है।

जहाँ विषयी (अन्य) के धर्म के आधार पर विषयी के अन्यतादात्म्य की संभावना हो, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। यह उत्प्रेक्षा तीन प्रकार की होती है:—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा। इनमें जहाँ किसी एक वस्तु (उपमेय, प्रकृत) की किसी दूसरी

संभावना प्रथमा स्वरूपोत्प्रेक्षेत्युच्यते। अहेतोर्हेतुभावेनाफलस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षा हेतूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षेत्युच्यते। अत्र आद्या स्वरूपोत्प्रेक्षा उक्तविषयाऽनुक्तविषया चेति द्विविधा। परे हेतुफलोत्प्रेक्षे सिद्धविषयाऽसिद्धविषया चेति प्रत्येकं द्विविधे। एवं षण्णामुत्प्रेक्षाणां धूमस्तोममित्यादीनि क्रमेणोदाहरणानि। रजनीमुखे सर्वत्र विसृत्वरस्य तमसो नैल्यदृष्टिप्रतिरोधकत्वादिधर्मसंबन्धेन गम्यमानेन निमित्तेन सद्यःप्रियविघटितसर्वदेशस्थितकोकाङ्गनाहृदुपगतप्रज्वलिष्यद्विरहानलधूमस्तोम-तादात्म्यसंभावनास्वरूपोत्प्रेक्षा तमसो विषयस्योपादानादुक्तविषया। तमोव्याप-नस्य नभःप्रभृतिभूपर्यन्तसकलवस्तुसान्द्रमलिनीकरणेन निमित्तेन तमःकर्तृक-लेपनतादात्म्योत्प्रेक्षा, नभःकर्तृकाञ्जनवर्षणतादात्म्योत्प्रेक्षा चानुक्तविषया स्वरू-पोत्प्रेक्षा; उभयत्रापि विषयभूततमोव्यापनस्यानुपादानात्। नन्वत्र तमसो व्याप-नेन निमित्तेन लेपनकर्तृतादात्म्योत्प्रेक्षा, नभसो भूपर्यन्तं गाढनीलिमव्याप्तत्वेन

वस्तु के (अप्रकृत) के साथ तादात्म्य संभावना हो, वह पहले ढंग की उत्प्रेक्षा है, इसे ही स्वरूपोत्प्रेक्षा कहते हैं। जहाँ किसी वस्तु के किसी कार्य के हेतु न होने पर उसकी हेतुत्वसंभावना की जाय, वहाँ हेतूत्प्रेक्षा होती है, इसी तरह जहाँ किसी वस्तु के फल (कार्य) न होने पर उसमें प्रकृत के फलत्व की संभावना की जाय, वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है। इनमें पहली स्वरूपोत्प्रेक्षा (वस्तूत्प्रेक्षा) दो तरह की होती है—उक्तविषया तथा अनुक्त-विषया। दूसरी तथा तीसरी उत्प्रेक्षा—हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा–दोनों के–प्रत्येक के सिद्ध-विषया तथा असिद्धविषया ये दो-दो भेद होते हैं। इसी प्रकार उत्प्रेक्षा के छः भेद हुए:— १. उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा, २. अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा, ३. सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा, ४. असिद्ध-विषया हेतूत्प्रेक्षा, ५. सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा, ६. असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा। इन्हीं छहों उत्प्रेक्षाभेदों के उदाहरण 'धूमस्तोम' इत्यादि पद्यार्धों के द्वारा दिये गये हैं। (इन्हीं उदा-हरणों का विश्लेषण करते हैं।) 'धूमस्तोमं' इत्यादि श्लोकार्ध उक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण है। यहाँ रात्रि के आरंभ में सब ओर फैलते अंधकार का वर्णन है, यह सर्वतो विसृत्वर अंधकार नील है तथा दृष्टि का अवरोध करने वाला है, अतः यह धर्म-द्वय उसमें धुएँ के समान ही पाया जाता है। कवि ने इसीलिए नीलता तथा दृष्टिप्रति-रोधकता आदि धर्मों के संबंध के कारण—जिसकी व्यंजना हो रही है—शाम के समय अपने प्रिय से वियुक्त होती समस्त कोक-रमणियों (चक्रवाकियों) के हृदय में स्थित जलने के लिए उद्यत विरहानल के धूमस्तोम (धुएँ के समूह) के तादात्म्य की संभावना की गई है, अतः यहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा पाई जाती है। इस वाक्य में कवि ने स्वयं विषय (उपमेय)–अन्धकार–का साक्षात् उपादान किया है, अतः यह उक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा है। 'लिम्पतीव' इत्यादि पद्यार्ध अनुक्तविषया का उदाहरण है। जब अन्धकार फैलता है, तो आकाश से लेकर पृथ्वी तक समस्त वस्तुएँ घनी मलिन हो जाती हैं, अतः अंधकार के द्वारा समस्त वस्तुओं के मलिन करने के संबन्ध के कारण उस पर अंधकार के द्वारा की गई लेपन क्रिया के तादात्म्य की संभावना की गई है, इसी तरह उस पर आकाश के द्वारा बरसाये गये काजल के तादात्म्य की संभावना की गई है। ये दोनों अनुक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षाएँ हैं, क्योंकि दोनों स्थलों पर ('लिंपतीव तमोंगानि' तथा 'वर्षतीवांजनं नभः' में) विषयभूत (उपमेयरूप, प्रकृत) तमोव्यापन (आकाश से पृथ्वी तक अन्ध-कार के फैलने) का उपादान (स्वशब्दवाच्यत्व) नहीं पाया जाता।

निमित्तेनाञ्जनवर्षणकर्तृतादात्म्योत्प्रेक्षा, चेत्युत्प्रेक्षाद्वयमुक्तविषयमेवास्तु। मैवम्; लिम्पति-वर्षतीत्याख्यातयोः कर्तृवाचकत्वेऽपि 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति स्मृते धात्वर्थक्रियाया एव प्राधान्येन तदुपसर्जनत्वेनान्वितस्य कर्तुरुत्प्रेक्षणीयतया अन्यत्रान्वयासंभवात्। अत एव [आख्यातार्थस्य कर्तुः क्रियोपसर्जनत्वेनान्यत्रान्वयासंभवादेव] अस्योपमायामुपमानतयान्वयोऽपि दण्डिना निराकृतः—

'कर्ता यद्युपमानं स्यान्न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे।

स्वक्रियासाधनव्यग्रो नालमन्यद्व्यपेक्षितुम्॥' (काव्यादर्शे २।२३०) इति।

केचित्तु—तमोनभसोर्विषययोस्तत्कर्तृकलेपनवर्षणस्वरूपधर्मोत्प्रेक्षेत्याहुः। तन्मते स्वरूपोत्प्रेक्षायां धर्म्युत्प्रेक्षा धर्मोत्प्रेक्षा चेत्येवं द्वैविध्यं द्रष्टव्यम्। चर-

---

पूर्वपक्षी इन उदाहरणों में अनुक्तविषयत्व मानने पर आपत्ति करता है, उसके मत से यहाँ उक्तविषयता ही मानना चाहिए। पूर्वपक्षी का मत है कि यहाँ अंधकार की लेपनक्रिया के कर्ता के साथ तादात्म्योत्प्रेक्षा व्यापनरूप धर्मसंबंध के कारण हो रही है, इसी तरह आकाश से पृथ्वी तक गहरे कालेपन के व्याप्त होने के कारण इस धर्मसंबंध से कज्जलवर्षणक्रिया के कर्ता के साथ तादात्म्योत्प्रेक्षा हो रही है, इस प्रकार दोनों स्थानों पर अन्धकार की उक्त विषयता मानकर दोनों उत्प्रेक्षाओं को उक्तविषया माना जा सकता है। सिद्धान्तपक्षी इस मत से सहमत नहीं। वह कहता है, ऐसा नहीं हो सकता। पूर्वपक्षी का मत तभी माना जा सकता है जब कि 'तमः' का अन्वय अन्यत्र हो सके, ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि यद्यपि 'लिम्पति' तथा 'वर्षति' ये दोनों क्रियाएँ (आख्यात) हैं तथा इनके कर्ता का स्पष्टरूप से उपादान होता है, तथापि निरुक्तकार के 'भावप्रधानमाख्यातं' इस वचन के अनुसार धात्वर्थक्रिया का ही प्राधान्य मानना होगा (कर्ता का नहीं), कर्ता यहाँ क्रिया का उपस्कारक बनकर आया है तथा उस क्रिया के अंगरूप में वह भी उत्प्रेक्षा का विषय हो जाता है। इसलिए क्रिया के अंग होने के कारण इस स्थल में कर्ता (तमः) का अन्यत्र अन्वय न हो सकेगा। इसलिए दण्डी ने, उन स्थलों पर जहाँ कर्ता क्रिया का अंग हो गया है, तथा क्रिया के सादृश्य की प्रतीति कराई जाती है, वहाँ कर्ता का उपमान के रूप में अन्वय होना नहीं माना है। जैसा कि कहा गया है:—'यदि कोई कर्ता उपमान हो, किंतु वह क्रियापद का गौण (न्यग्भूत) हो जाय, वहाँ वह अपनी क्रिया की सिद्धि में ही संलग्न होता है तथा उससे भिन्न इतर कार्य (उपमासिद्धि) की सिद्धि में समर्थ नहीं होता। (इस प्रकार निराकांक्ष होने के कारण उपमान के रूप में उसका अन्वय नहीं हो पाता।)

टिप्पणी—यहाँ अप्पय दीक्षित ने अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक के इस मत का खण्डन किया है कि 'अन्धकार में ही लेपन क्रिया का कर्तृत्व सम्भावित किया गया है'। 'एतेन' तमसि 'लेपनकर्तृत्वमुत्प्रेक्ष्यम्' इति अलंकारसर्वस्वकारमतमपास्तम्' (चन्द्रिका पृ० ३५)

कुछ विद्वानों के मत से यहाँ अन्धकार तथा आकाश रूप विषयों की अन्धकारकर्तृक-लेपन तथा वर्षणरूप स्वरूपधर्मोत्प्रेक्षा की गई है। इन लोगों के मत से स्वरूपोत्प्रेक्षा दो तरह की होगी, धर्म्युत्प्रेक्षा तथा धर्मोत्प्रेक्षा।

टिप्पणी—चन्द्रिकाकार के मतानुसार 'केचित्' इस पद से ग्रन्थकार का अनभिमत व्यक्त होता है। इसका कारण यह है कि इस सरणि में 'तमस्' तथा 'नभस्' का दो बार अन्वय करना पड़ता एक बार कर्ता के रूप में, दूसरी बार विषय के रूप में।

णयोः स्वतः सिद्धे रक्तिमनि वस्तुतो विक्षेपणं न हेतुरित्यहेतोस्तस्य हेतुत्वेन संभावना हेतूत्प्रेक्षा विक्षेपणस्य विषयस्य सत्त्वात्सिद्धविषया। चन्द्रपद्मविरोधे स्वाभाविके नायिकावदनकान्तिप्रेप्सा न हेतुरिति तत्र तद्धेतुत्वसंभावना हेतूत्प्रेक्षा वस्तुतस्तदिच्छाया अभावादसिद्धविषया। मध्यः स्वयमेव कुचौ धरति न तु कनकदामबन्धत्वेनाध्यवसितायाः वलित्रयशालितायाः बलादिति मध्यकर्तृककुचधृतेस्तत्फलत्वेनोत्प्रेक्षा सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा। जलजस्य जलावस्थितेरुदवासतपस्त्वेनाध्यवसितायाः कामिनीचरणसायुज्यप्राप्तिर्न फलमिति तस्या गगनकुसुमायमानायास्तपःफलत्वेनोत्प्रेक्षणादसिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा।

अनेनैव क्रमेणोदाहरणान्तराणि—

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥

'केचिदिति तम (तन्मते?) इति चास्वरसोद्भावनम्। तद्बीजं तु तमोनभसोः कर्तृत्वेन विषयत्वेन च वारद्वयमन्वयक्लेशः।' (चन्द्रिका पृ० ३५)

'रक्तौ तवांघ्री' इत्यादि पद्यार्ध सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण है। सुन्दरी के दोनों पैर स्वतः लाल हैं (उनकी ललाई स्वतःसिद्ध है), अतः उनकी ललाई का कारण—पृथ्वी पर संचरण करना नहीं है, इस प्रकार पृथ्वीसंचरण के चरणरक्तत्व के कारण न होने पर भी यहाँ उसमें कारणत्व की संभावना की गई है, अतः यह हेतूत्प्रेक्षा है। यहीं विक्षेपण रूप विषय के प्रयोग के कारण यह सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है।

'त्वन्मुखाभेच्छया' इत्यादि पद्यार्ध असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण है। यहाँ चन्द्रमा तथा कमल का विरोध स्वाभाविक है, इस विरोधिता में नायिका के वदन की शोभा को प्राप्त करने की इच्छा कारण नहीं है, इतना होने पर भी इस इच्छा में उस विरोध के हेतुत्व की संभावना की गई है, अतः यहाँ हेतूत्प्रेक्षा है। कवि ने यहाँ चन्द्रमा की इस इच्छा (विषय) का, कि वह नायिका की वदन कांति को प्राप्त करना चाहता है, प्रयोग नहीं किया है, अतः यह असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है।

'मध्यः किं' इत्यादि पद्यार्ध सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण है। नायिका का मध्यभाग स्वयं ही स्तनों को धारण किये है, इसका कारण सोने की जंजीर के रूप में अध्यवसित (अतिशयोक्ति अलंकार के द्वारा निगीर्ण) त्रिवलि का मध्यभाग में होना नहीं, इतना होते हुए भी कवि ने मध्यभाग के द्वारा कुचों के धारण करने को त्रिवलि (कनकदाम) के होने का फल माना है। इस प्रकार यहाँ सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है।

'प्रायोऽब्जं' आदि पद्यार्ध असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण है। यहाँ कवि ने कमल के स्वभावतः पानी में रहने को, जलवासवाली तपस्या के द्वारा अध्यवसित (निगीर्ण) किया है। कमल की इस तपस्या का फल कामिनीचरणसायुज्यप्राप्ति हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह तो गगनकुसुम की भाँति असिद्ध है, फिर भी कवि ने उसे तपस्या के फल के रूप में संभावित किया है, अतः असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है।

यहाँ इसी क्रम से दूसरे उदाहरण उपन्यस्त कर रहे हैं।

'विकसित न होने के कारण बालचन्द्रमा के समान टेढ़े, अत्यधिक रक्त पलाशमुकुल ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो वसन्त (नायक) के साथ रतिक्रीड़ा करने के कारण वनस्थानियों (नायिकाओं) के ताजा नखक्षत हों।'

अत्र पलाशकुसुमानां वक्रत्वलोहितत्वेन संबन्धेन निमित्तेन सद्यःकृतनखक्षततादात्म्यसंभावनादुक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा।

पूर्वोदाहरणे निमित्तभूतधर्मसंबन्धो गम्यः, इह तूपात्त इति भेदः। नन्विवशब्दस्य सादृश्यपरत्वेन प्रसिद्धतरत्वादुपमैवास्तु। 'लिम्पतीव' इत्युदाहरणे लेपनकर्तुरुपमानत्वाहस्य क्रियोपसर्जनत्ववदिह नखक्षतानामन्योपसर्जनत्वस्योपमाबाधकस्याभावादिति चेत्, उच्यते—उपमाया यत्र कचित्स्थितैरपि नखक्षतैः सह वक्तुं शक्यतया वसन्तनायकसमागतवनस्थलीसंबन्धित्वस्य विशेषणस्यानपेक्षितत्वादिह तदुपादानं पलाशकुसुमानां नखक्षततादात्म्यसंभावनायामिवशब्दमवस्थापयति। तथात्व एव तद्विशेषणसाफल्यात्। अस्ति च संभावनायां 'इव'शब्दो 'दूरे तिष्ठन्देवदत्त इवाभाति' इति।

यहाँ पलाशमुकुलों के टेढ़ेपन तथा ललाई के सम्बन्ध के कारण हाल में किये गये नखक्षत के साथ उनकी तादात्म्य सम्भावना की गई है। यहाँ उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा (स्वरूपोत्प्रेक्षा) है।

पहले उदाहरण ('धूमस्तोम' इत्यादि) तथा इस उदाहरण में यह भेद है कि वहाँ संभावना के निमित्त, धर्मसंबंध का साक्षात् उपादान नहीं किया गया है, वह गम्य (व्यंग्य) है, जब कि यहाँ 'वक्रत्व' तथा 'लोहितत्व' के द्वारा उसका वाच्यरूप में उपादान पाया जाता है। इस उदाहरण में 'इव' (नखक्षतानीव) शब्द का प्रयोग देखकर पूर्वपक्षी को शंका होती है कि यहाँ 'इव' शब्द का प्रयोग होने से उपमा अलङ्कार हो सकता है, क्योंकि इव सादृश्यवाचक शब्द है। यदि सिद्धान्तपक्षी यह कहे कि 'लिंपतीव तमोंगानि' आदि में भी 'इव' शब्द का प्रयोग था, जैसे वहाँ उत्प्रेक्षा मानी गई वैसे ही यहाँ भी होगी—तो इस पर पूर्वपक्षी की यह दलील है कि वहाँ तो सिद्धान्तपक्षी के ही मत से 'तमस्' के लेपनक्रिया के उपसर्जनीभूत (अंग) बनने के कारण उसे लेपनकर्ता का उपमानत्व मानने में प्रतिबन्धक दिखाई पड़ता है, किन्तु 'नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्' वाले प्रकरण में तो नखक्षतों में गौणत्व नहीं पाया जाता, जो उसके उपमान बनने में बाधक हो। सिद्धान्तपक्षी पूर्वपक्षी के इस मत से सहमत नहीं। उसका कहना है कि यदि ऐसी शंका उठाई जाती है, तो उसका समाधान यों किया जा सकता है।

यदि उपमा अलङ्कार माना जाय, तो हम देखते हैं कि उपमा में तो किन्हीं नखक्षतों के साथ (पलाशकुसुमों की) उपमानिबद्ध करना संभव है, तथा उपमा अलङ्कार में नखक्षतों के इस विशेषण की कोई आवश्यकता नहीं कि वे वसन्त नायक के द्वारा संयुक्त वनस्थली (नायिका) से संबद्ध हैं। अतः उपमा तो इस विशेषण के बिना ही संभव थी। पर हम देखते हैं कि कवि ने इस विशेषण का प्रयोग किया है, अतः यह प्रयोग इसीलिए किया गया है कि वह पलाशकुसुमों की नखक्षत के साथ तादात्म्यसंभावना करना चाहता है, इस प्रकार 'इव' शब्द इस संभावना को दृढ करता है। अतः पलाशकुसुमों की नखक्षततादात्म्यसंभावना मानने पर ही (तथात्वे एव) कवि के द्वारा उपन्यस्त विशेषण (सद्यो वसन्तेन समागतानां) सफल माना जायगा। यदि कोई यह पूछे कि 'इव' शब्द तो केवल सादृश्यवाचक है, उत्प्रेक्षा में उसका प्रयोग कैसे हो सकता है, तो इसका समाधान करते सिद्धान्तपक्षी कहता है कि 'इव' शब्द का प्रयोग संभावना में भी होता देखा जाता है, उदाहरण के लिए इस वाक्य में—'दूर

पिनष्टीव तरङ्गाग्रैः समुद्रः फेनचन्दनम् ।
तदादाय करैरिन्दुर्लिम्पतीव दिगङ्गनाः ॥

अत्र तरङ्गाग्रैः फेनचन्दनस्य प्रेरणं पेषणतयोत्प्रेक्ष्यते । समुद्रादुत्थितस्य चन्द्रस्य प्रथमं समुद्रपूरे प्रसृतानां क... दिक्षु व्यापनं च समुद्रोपान्तफेनचन्दनकृतलेपनत्वेनोत्प्रेक्ष्यते । उभयत्र क्रमेण समुद्रप्रान्तगतफेनचन्दनपुञ्जीभवनं दिशां धवलीकरणं च निमित्तमिति फेनचन्दनप्रेरण-किरणव्यापनयोर्विषययोरनुपादानादनुक्तविषये स्वरूपोत्प्रेक्षे । येषां तूपात्तयोः समुद्र-चन्द्रयोरेव तत्कर्तृकपेषण-लेपनरूपधर्मोत्प्रेक्षेति मतं, तेषां मते पूर्वोदाहरणे धर्मिणि धर्म्यन्तरतादात्म्योत्प्रेक्षा । इह तु धर्मिणि धर्मसंसर्गोत्प्रेक्षेति भेदोऽवगन्तव्यः ।

रात्रौ रवेर्दिवा चेन्दोरभावादिव स प्रभुः ।
भूमौ प्रतापयशसी सृष्टवान् सततोदिते ॥

व्यक्ति दूर से ऐसा बैठा दिखाई देता है, मानो देवदत्त बैठा हो।' अतः स्पष्ट है कि 'बालेन्दुवक्राणि' इत्यादि पद्य में उक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा ही है, उपमा अलङ्कार नहीं।

अब अनुक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण देते हैं। 'यह समुद्र लहरों (—हाथों) के अग्रभाग से मानो फेनरूपी चन्दन को पीस रहा है; चन्द्रमा अपनी किरणों (हाथों) से उस (फेन—) चन्दन को लेकर दिशारूपी कामिनियों का मानो अनुलेपन कर रहा है।

यहाँ लहरों के टकराने से उनके अग्रभाग से फेन (रूपी चन्दन) उत्पन्न होता है, इस क्रिया में पेषणक्रिया (चन्दन पीसने) की संभावना की गई है। समुद्र से निकलते हुए चन्द्रमा की किरणें सबसे पहले समुद्र के आसपास ही फैलती हैं तथा वहीं से सारी दिशाओं में व्याप्त होती हैं, अतः चन्द्रकिरणों का समुद्रपूर में प्रसरण तथा दिशाओं में व्याप्त होना समुद्र के प्रान्तभाग में फैले हुए फेनचन्दन के द्वारा दिशाओं के अनुलेपन के रूप में संभावित (उत्प्रेक्षित) किया गया है। (इस प्रकार यहाँ दो उत्प्रेक्षाएँ हैं, एक पेषणक्रिया की संभावना वाली उत्प्रेक्षा (पिनष्टीव), दूसरी लेपनक्रिया की संभावना वाली उत्प्रेक्षा (लिम्पतीव)। दोनों उत्प्रेक्षाओं की संभावना इस आधार पर की गई है कि समुद्र के प्रान्तभाग में फेनचन्दन का एकत्रित होना तथा दिशाओं का धवलीकरण ये दोनों धर्म समानरूप से पाये जाते हैं, इस धर्मसंबंध के कारण ही यह संभावना की गई है, साथ ही यहाँ फेनचन्दन को उत्पन्न करना (प्रेरण) तथा चन्द्रकिरणों का समस्त दिशाओं में व्याप्त होना—इन तत्तत् उत्प्रेक्षा के तत्तत् विषयों का कवि ने काव्य में साक्षात् उपादान नहीं किया है, अतः इन विषयों का उपादान न होने से यहाँ अनुक्तविषया स्वरूपोत्प्रेक्षा पाई जाती है। (इसी संबंध में उनलोगों का मत देना आवश्यक समझा गया है, जो धर्म्युत्प्रेक्षा तथा धर्मोत्प्रेक्षा ये दो उत्प्रेक्षा भेद मानते हैं।) जो लोग (रुय्यकादि) समुद्र तथा चन्द्ररूप विषयों के उपादान के कारण यहाँ उनके द्वारा की गई पेषणक्रिया तथा लेपनक्रिया का निर्देश होने के कारण धर्मोत्प्रेक्षा मानते हैं, उनके मत से पहले उदाहरण ('बालेन्दु' आदि) में धर्मी में दूसरे धर्मी की तादात्म्य—संभावना पाई जाती है। यहाँ धर्मी (समुद्र तथा चन्द्र) में अन्य धर्म के संसर्ग की संभावना पाई जाती है—यह दोनों उदाहरणों की उत्प्रेक्षा का भेद है।

निम्न पद्य सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण है :—

'उस राजा ने सदा प्रकाशित रहने वाले अपने प्रताप तथा यश की सृष्टि इसलिए की

रात्रौ रवेर्दिवा चन्द्रस्याभावः सन्नपि प्रताप-यशसोः सर्गे न हेतुरिति तस्य तद्धेतुत्वसंभावना सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा।

विवस्वताऽनायिषतेव मिश्राः स्वगोसहस्रेण समं जनानाम्।
गावोऽपि नेत्रापरनामधेयास्तेनेदमान्ध्यं खलु नान्धकारैः॥

अत्र विवस्वता कृतं स्वकिरणैः सह जनलोचनानां नयनमसदेव रात्रावान्ध्यं प्रति हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इत्यसिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा।

कि पृथ्वी पर सूर्य रात्रि में प्रकाशित नहीं होता और चन्द्रमा का दिन में अभाव रहता है।'

रात्रि में सूर्य का अभाव रहता है तथा दिन में चन्द्रमा का, यह एक स्वाभाविक तथ्य है, किन्तु यह तथ्य राजा के प्रताप तथा यश की रचना का कारण नहीं है। इतना होने पर भी कवि ने तत्तत् काल में सूर्यचन्द्राभाव को नृपतिप्रतापयशःसृष्टि का हेतु संभावित (उत्प्रेक्षित) किया है। यहाँ सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है।

(इस उदाहरण में 'रक्तौ' इत्यादि कारिकार्ध के उदाहरण से यह भेद है कि वहाँ हेतु भावरूप (—भू पर चलना) है, जब कि यहाँ यह अभावरूप है।)

असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण अगला पद्य है :—

शाम के समय सूर्य के अस्त हो जाने पर अन्धकार फैल जाता है, अन्धकार के कारण लोगों को कुछ भी दिखाई नहीं देता, इसी तथ्य को लेकर कवि ने एक उत्प्रेक्षा की है। —'सूर्य अपनी गायों (—किरणों) के साथ मिली हुई लोगों की नेत्र इस दूसरे नाम वाली गायों (—नेत्रों) को भी घेर ले गया है (जिस तरह कोई ग्वाला अपनी गायों के साथ दूसरी गायों को भी चरागाह से गाँव की ओर घेर ले जाता है)—यह रात्रिकालीन अन्धता इसीलिए हो गई है (—क्योंकि लोगों के नेत्र तो सूर्य के साथ चले गये हैं), यह अन्धता अन्धकार के कारण नहीं है।'

टिप्पणी—'गौः स्वर्गे च बलीवर्दे रश्मौ च कुलिशे पुमान्।
स्त्री सौरभेयीदृग्बाणदिग्वाग्भूष्वप्सु भूम्नि च॥' (मेदिनी)

यहाँ 'सूर्य अपनी किरणों के साथ लोगों के नेत्रों को नहीं ले गया है' किन्तु इतना होने पर भी सूर्य के द्वारा लोकगो (—नयन) नयनक्रिया की संभावना की गई है, जो असत्य है तथा कवि ने उसी को रात्रिगत आन्ध्य का कारण उत्प्रेक्षित किया है। इस प्रकार यहाँ असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

(इस उदाहरण में कारिकार्धवाले उदाहरण से यह भेद है कि यहाँ 'अनायिषत इव' इस विषयोत्प्रेक्षा के द्वारा उसे हेतु के रूप में संभावित किया गया है। 'त्वन्मुखा-भेच्छया' में 'इच्छया' पद के कारण गुणरूप हेतु पाया जाता है, जब कि यहाँ 'अनायिषत इव' के द्वारा क्रियारूप हेतु पाया जाता है। यद्यपि इस पद्य में दो उत्प्रेक्षायें पाई जाती हैं, एक स्वरूपोत्प्रेक्षा दूसरी हेतूत्प्रेक्षा—तथापि स्वरूपोत्प्रेक्षा (अनायिषत इव) वस्तुतः हेतूत्प्रेक्षा का अङ्ग बन कर आई है, अतः यहाँ हेतूत्प्रेक्षा की ही प्रधानता होने से इसको हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया गया है।)

टिप्पणी—इस पद्य में कई अलंकार हैं। सूर्य दोनों गायों (किरणों तथा नेत्रों) के घुल मिल जाने के कारण उनके भेद को न जान सका, यह सामान्य अलंकार व्यंग्य है। 'स्वगोसहस्रेण समं' में सहोक्ति अलंकार है। इसका तथा सामान्य अलंकार का 'सह' शब्द में प्रवेश होने के कारण एकवाचकानुप्रवेश संकर पाया जाता है। यह संकर 'गो' शब्द के श्लिष्ट प्रयोग पर आधृत है, अतः

पूरं विधुर्वर्धयितुं पयोधेः शङ्केऽयमेणाङ्कमणिं कियन्ति।
पयांसि दोग्धि प्रियविप्रयोगे सशोककोकीनयने कियन्ति॥

अत्र चन्द्रेण कृतं समुद्रस्य बृंहणं सदेव तदा तेन कृतस्य चन्द्रकान्तद्रावणस्य कोकाङ्गनाबाष्पस्रावणस्य च फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इति सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा।

रथस्थितानां परिवर्तनाय पुराणानामिव वाहनानाम्।
उत्पत्तिभूमौ तुरगोत्तमानां दिशि प्रतस्थे रविरुत्तरस्याम्॥

अत्रोत्तरायणस्याश्वपरिवर्तनमसदेव फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इत्यसिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा। एता एवोत्प्रेक्षाः।

श्लेष तथा उपर्युक्त संकर का अंगांगिभाव संकर है। इसके द्वारा उत्प्रेक्षा की प्रतीति होती है, अतः उसके साथ इस संकर का अंगांगिभाव संकर है। इस उत्प्रेक्षा से अचेतन सूर्य पर श्लिष्ट विशेषणों के कारण किसी चेतन व्यक्ति (ग्वाले) का व्यवहार समारोप पाया जाता है, अतः समासोक्ति के ये सभी पूर्वोक्त अलंकार अङ्ग बन जाते हैं। साथ ही यहाँ 'मनुष्यों की आँखों का ज्योतिरहित होना' इस उक्ति के समर्थन के लिए समर्थक पूर्व वाक्यार्थ का प्रयोग किया गया है, अतः काव्यलिंग अलंकार भी है। इसका उत्प्रेक्षा व समासोक्ति के साथ एकवाचकानुप्रवेश संकर पाया जाता है। साथ ही ज्योतिरहितता के कारण अंधकार के हेतुत्व का निषेध कर सूर्य के द्वारा गौ (नेत्रों) के अपहरण रूप कारण को उपस्थित करने से उत्प्रेक्षा अपह्नुतिगर्भा है।

सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण निम्न पद्य है :—

'चन्द्रमा समुद्र के जल को बढ़ाने के लिए चन्द्रकान्तमणि के कितने ही (अत्यधिक) द्रव को तथा चक्रवाक (प्रिय) के वियोग के कारण दुखी चक्रवाकी के नेत्रों के कितने ही जल को दुहता है।'

यहाँ चन्द्रमा के कारण समुद्र का उत्तरलित होना स्वतः सिद्ध है, किंतु कवि ने उस उत्तरलता को चन्द्रकांतमणि के द्रव तथा कोकांगना (चकवी) के आँसुओं का फल संभावित किया है, अतः यह सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है। (यहाँ कोकांगना के आँसुओं का कारण 'प्रियवियोग' बताया गया है, अतः काव्यलिंग अलंकार भी है।)

असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा जैसेः—

'सूर्य, मानो अपने रथ में जुते पुराने घोड़ों को बदलने के लिए, उत्तम जाति के घोड़ों के उत्पत्तिस्थान उत्तर दिशा को रवाना हो गया।'

यहाँ उत्तरायण का कारण घोड़ों को बदलना नहीं है (घोड़ों को बदलने का फल उत्तरायण नहीं है), किंतु फिर भी कवि ने उत्तरायण को घोड़ों के बदलने का फल संभावित किया है, अतः असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है। साथ ही यहाँ साधारण विशेषणों के कारण सूर्य पर चेतन तुरंगाधिप का व्यवहारसमारोप भी प्रतीत होता है अतः समासोक्ति भी है। 'प्रायोऽब्जं' तथा इस उदाहरण में यह भेद है कि वहां गुण की फलरूप में संभावना की गई है, यहाँ परिवर्तन क्रिया की।)

(इस संबंध में पूर्वपक्षी को यह शंका हो सकती है कि अलंकार सर्वस्वकार ने तो और प्रकार की भी उत्प्रेक्षायें मानी हैं, यथा जात्युत्प्रेक्षा, क्रियोत्प्रेक्षा, गुणोत्प्रेक्षा, द्रव्योत्प्रेक्षा—तो अप्पय दीक्षित ने उनका संकेत क्यों नहीं किया, इसी का समाधान करते हैं:—)

टिप्पणी—सा च जातिक्रियागुणद्रव्याणामप्रकृताध्यवसेयत्वेन चतुर्धा। (अ०स०पृ० ७२)

(साथ ही इनके उदाहरणों के लिए देखिये वहीं, पृ० ७३-७४)

'मन्ये-शङ्के-ध्रुवं-प्रायो-नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः' ॥

इत्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वेन परिगणितानां शब्दानां प्रयोगे वाच्याः। तेषामप्रयोगे गम्योत्प्रेक्षा ।

यथा—

त्वत्कीर्तिर्भ्रमणश्रान्ता विवेश स्वर्गनिम्नगाम् ॥ ३३-३५ ॥

उत्प्रेक्षा केवल इतने ही प्रकार की होती हैं। ये सभी दो तरह की होती हैं:—वाच्योत्प्रेक्षा तथा गम्योत्प्रेक्षा। जहाँ उत्प्रेक्षा-व्यञ्जकों की कोटि में परिगणित शब्दों में से किसी का प्रयोग हो, वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा होती है। जैसा कि कहा है—'मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः' नूनं इत्यादि शब्दों के द्वारा उत्प्रेक्षा की व्यंजना की जाती हैं तथा 'इव' शब्द भी ऐसा (उत्प्रेक्षाव्यञ्जक) ही है।' इनमें से किसी शब्द का प्रयोग न होने पर गम्योत्प्रेक्षा होती हैं। जैसे इस उदाहरण में—'हे राजन्, तुम्हारी कीर्ति घूमते-घूमते थककर आकाश गंगा में मिल गई।' (यहाँ कीर्ति के स्वर्गंगा में प्रवेश की सम्भावना में वस्तूत्प्रेक्षा हैं, तथा संसार में घूमने से थकने की संभावना में हेतूत्प्रेक्षा की गई हैं।)

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा के दो भेद माने जाते हैं—वाच्या तथा प्रतीयमाना। अतः यह शंका होनी आवश्यक है कि प्रतीयमाना को अलंकार मानना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ तो व्यंग्य होने के कारण वह ध्वनि में अन्तर्भावित हो जायगी। इसका निराकरण करते हुए रसिकरंजनीकार गंगाधर ने बताया है कि जहाँ उत्प्रेक्षाप्रतीति के बिना वाक्यार्थ ठीक नहीं बैठ पाता, वहाँ वह उत्प्रेक्षा अलंकार वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो जाता है। 'त्वत्कीर्ति' इत्यादि उदाहरण में 'श्रान्ता इव' (मानो थककर) इस अर्थ की प्रतीति के बिना वाक्यार्थ संगत नहीं बैठ पाता। इसलिए यह उत्प्रेक्षा ध्वनि में कैसे अन्तर्भावित हो सकती है। वहाँ तो व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक नहीं होता। उत्प्रेक्षा ध्वनि तो वहाँ होगी जहाँ वाक्यार्थ स्वतः पर्यवसित हो जाता हो, तदनन्तर शब्दशक्ति या अर्थशक्ति के द्वारा उत्प्रेक्षा की प्रतीति हो। जैसे 'केशेषु'''संस्थापितः' में, जहाँ वाक्यार्थ पूर्ण हो जाने पर भी इस बात की व्यंजना होती है कि 'राजा के द्वारा जयश्री का सुरतार्थ केशग्रहण करने पर उसे रति करते देखकर मानो कामोद्दीप्त हुई गुफाएँ राजा के शत्रुओं को अपने कंठ में ग्रहण करती हैं (मानो आलिंगन कर लेती हैं)। यह उत्प्रेक्षाध्वनि वाक्यार्थशक्ति से अनुप्राणित होती है।

'ननु, प्रतीयमानोत्प्रेक्षायाः कथमलङ्कारवर्गे परिगणनं, व्यंग्यतया तस्याः ध्वनावन्तर्भावादिति चेन्न। व्यंग्यत्वेऽपि नास्याः ध्वनावन्तर्भावः। यत्र हि उत्प्रेक्षाप्रतीतिमन्तरेण न वाक्यार्थनिर्वाहः तत्र प्रतीयमानाया अपि तस्या वाच्यार्थोपस्कारत्वेन गुणीभावात्। न हि 'त्वत्कीर्तिर्भ्रमणश्रान्ते' त्यत्र श्रान्तेवेति इवार्थप्रतीतिमन्तरेण वाक्यार्थपरिपोषः। अतः प्रतीयमानोत्प्रेक्षायाः न ध्वनावन्तर्भावः। यत्र पुनः पर्यवसिते वाक्यार्थं शब्दशक्त्यर्थशक्तिभ्यामुत्प्रेक्षाभिव्यक्तिस्तत्रैवोत्प्रेक्षाध्वनिः। यथा 'केसेसु बलामोडिअतेण समरम्मि जअसिरी गहिआ। जह कंदाराहि विहुरा तस्स दिढं कण्ठअम्मि संठविआ॥ केशेषु बलात्कृत्य तेन समरे जयश्रीर्गृहीता। तथा कंदराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः॥ इति। वाक्यार्थबोधे पर्यवसिते जयश्रीकेशग्रहावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तान्विधुरान्कण्ठे गृह्णन्तीवेत्युत्प्रेक्षाध्वनिरर्थशक्त्युद्भवोऽनुरणनरूप इति।' (रसिकरंजनी टीका पृ० ६७)

१३ अतिशयोक्त्यलङ्कारः

रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः ।
पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निःसरन्ति शिताः शराः ॥ ३६ ॥

विषयस्य स्वशब्देनोल्लेखनं विनापि विषयिवाचकेनैव शब्देन ग्रहणं विषयनिगरणं तत्पूर्वकं विषयस्य विषयिरूपतयाऽध्यवसानमाहार्यनिश्चयस्तस्मिन्सति रूपकातिशयोक्तिः । यथा नीलोत्पल-शरशब्दाभ्यां लोचनयोः कटाक्षाणां च ग्रहणपूर्वकं तद्रूपताध्यवसानम् ।

यथा वा—

वापी कापि स्फुरति गगने तत्परं सूक्ष्मपद्या
सोपानालीमधिगतवती काञ्चनीमैन्द्रनीली ।

---

१३. अतिशयोक्ति अलंकार

३६—जहां विषयी (उपमान) विषय (उपमेय) का निगरण कर उसके साथ अध्यवसान (अभेद) स्थापित करे, वहां रूपकातिशयोक्ति अलंकार होता है । जैसे, देखो, नीलकमल से तीक्ष्ण बाण निकल रहे हैं ।

यहाँ सुन्दरी के नेत्रों (विषय) का नीलोत्पल (विषयी) ने निगरण कर लिया है इसी तरह उसके कटाक्षों (विषय) का तीक्ष्ण बाणों (विषयी) ने निगरण कर लिया है अतः यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार है ।)

टिप्पणी—रूपकातिशयोक्ति का लक्षणपरिष्कार चन्द्रिकाकार के द्वारा यों किया गया है :—'अनुपात्तविषयधर्मिकाहार्यनिश्चयविषयीभूतं विषय्यभेदताद्रूप्यान्यतरद्रूपकातिशयोक्तिः ।' यहाँ 'अनुपात्तविषयधर्मिक' विशेषण रूपक अलंकार का वारण करता है, क्योंकि वहाँ विषय (उपमेय) का उपादान होता है, 'आहार्यविषयीभूतं' पद से भ्रांतिमान् अलंकार का वारण होता है, क्योंकि यहाँ विषय में विषयी का ज्ञान कल्पित होता है, भ्रांति में वह अनाहार्य होता है, निश्चयविषयीभूत पद से उत्प्रेक्षा का वारण होता है, क्योंकि उत्प्रेक्षा में संभावना होती है, निश्चय नहीं । उत्प्रेक्षा में विषय तथा विषयी की अभिन्नता साध्य होती है, जब कि अतिशयोक्ति में वह सिद्ध होती है, अतः यहाँ उसका निश्चय होता है ।

जहाँ विषय (उपमेय) का स्वशब्द से उपादान न किया गया हो और विषयी (उपमान) के वाचक शब्द के द्वारा ही उसका बोध कराया जाय, वहाँ विषयी के द्वारा विषय का निगरण कर लिया जाता है । इस विषय-निगरण के द्वारा विषय का विषयी के रूप में अध्यवसान होना आहार्यनिश्चय है, इस अध्यवसान के होने पर रूपकातिशयोक्ति अलंकार होता है । उदाहरण के लिए, कारिका के उत्तरार्ध में नीलोत्पल तथा शर शब्द विषयी (उपमान) के वाचक हैं, इनके द्वारा नेत्र तथा कटाक्ष रूप विषयों (उपमेय) का निगरण कर उनके रूप में उनकी अध्यवसिति हो गई है, अतः यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार है । इसका अन्य उदाहरण निम्न है :—

कोई कवि नायिका के अंगों का—मध्यदेश से लेकर मुख तक का—वर्णन कर रहा है । आकाश (आकाश के समान दुर्लक्ष्य मध्यभाग) में कोई अतिशय सुंदर (बावली के समान गम्भीर नाभि) सुशोभित हो रही है । उसके ऊपर इन्द्रनीलमणि से बनी एक

अग्रे शैलौ सुकृतिसुगमौ चन्दनच्छन्नदेशौ
तत्रत्यानां सुलभममृतं संनिधानात्सुधांशोः ॥

अत्र वाप्यादिशब्दैर्नाभिप्रभृतयो निगीर्णाः । अत्रातिशयोक्तौ रूपकविशेषणं रूपके दर्शितानां विधानामिहापि संभवोऽस्तीत्यतिदेशेन प्रदर्शनार्थम् । तेनात्राप्यभेदातिशयोक्तिस्ताद्रूप्यातिशयोक्तिरिति द्वैविध्यं द्रष्टव्यम् । तत्राप्याधिक्यन्यूनताविभागश्चेति सर्वमनुसंधेयम् ।

छोटी सी पगडंडी (काली रोमावली) दिखाई दे रही है, जो सोने की सीढ़ियों (त्रिवलि) तक जा रही है। इसके आगे चंदन के द्वारा ढके हुए दो पर्वत (स्तन) हैं, जहाँ पुण्यशाली व्यक्ति ही पहुँच सकते हैं। जो व्यक्ति इन पर्वतों तक पहुँच जाते हैं, उन्हें चन्द्रमा (मुख) के समीप होने से अमृत (अधररस) की प्राप्ति सुख से हो सकती है।

यहाँ वापी, गगन, सूक्ष्मपद्या, सोपानाली, शैल, अमृत तथा सुधांशु रूप विषयी (उपमानों) के द्वारा क्रमशः नाभि, मध्यभाग, रोमावलि, त्रिवलि, स्तन, अधररस तथा मुख रूप विषय (उपमेयों) का निगरण कर लिया गया है। इस भेद अभेदरूपा अतिशयोक्ति को रूपकातिशयोक्ति इसलिए कहा गया है कि 'रूपक' विशेषण के प्रयोग के द्वारा इस बात का निर्देश करना अभीष्ट है कि रूपक में प्रदर्शित भेद यहाँ भी हो सकते हैं। अतः यहाँ इस अलङ्कार के उद्देश्य (नाम) में 'रूपक' का प्रयोग अतिदेश (सादृश्य) के आधार पर उक्त तथ्य का निर्देश करने के लिये किया गया है। इसलिए जिस प्रकार रूपक में अभेदरूपक तथा ताद्रूप्यरूपक दो भेद माने गये हैं, वैसे ही यहाँ भी अभेदातिशयोक्ति तथा ताद्रूप्यातिशयोक्ति ये दो भेद माने जाने चाहिए। इसी तरह जैसे रूपक में आधिक्य तथा न्यूनता का विभाग बताया गया है, वैसे ही यहाँ भी यह भेद मानना चाहिए।

टिप्पणी—अप्पय दीक्षित के मतानुसार रूपकातिशयोक्ति में भी विषय्यभेद पाया जाता है। नव्य आलंकारिक इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मत से अतिशयोक्ति में खास चीज विषयी के द्वारा विषय का निगरण होता है। अतः निगरण में सर्वत्र विषय की प्रतीति विषयितावच्छेदकधर्म के रूप में होती है। (यथा मुख की प्रतीति चन्द्रत्वावच्छेदकधर्मरूपेण होती है), विषय्यभिन्नत्व (विषयी से अभिन्न होने) के रूप में नहीं। अतः अप्पय दीक्षित का अभेद मानकर रूपक की समस्त विधाओं की यहाँ कल्पना करना व्यर्थ है। इस मत का संकेत करते पंडितराज लिखते हैं:—

'एवं च निगरणे सर्वत्रापि विषयितावच्छेदकधर्मरूपेणैव विषयस्य भानम्, न विषय्यभिन्नत्वेनेति स्थिते 'रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः' इत्युक्त्वा 'अत्रातिशयोक्तौ रूपकविशेषणं रूपके दर्शितानां विधानामिहापि संभवोऽस्तीत्यतिदेशेन प्रदर्शनार्थम्' तेनात्राप्यभेदातिशयोक्तिस्ताद्रूप्यातिशयोक्तिरिति' कुवलयानन्दे यदुक्तं तन्निरस्तम्' इति नव्याः।'

(रसगंगाधर पृ० ४१४)

प्राच्य आलंकारिक अतिशयोक्ति में भी विषय्यभेद मानते हैं। यह अवश्य है कि यहाँ प्रधानता (विधेयता) निगरण की ही होती है। यही रूपक से इसकी विशिष्टता बताता है। अध्यवसाय (विषय्यभेदप्रतीति) यहाँ सिद्ध होता है, उत्प्रेक्षा की भाँति साध्य नहीं होता, साथ ही यह अध्यवसाय निश्चयात्मक होता है, जब कि उत्प्रेक्षा में संभावना मात्र होती है, अतः इस दृष्टि से यह उत्प्रेक्षा से विशिष्ट है। रूपक से इसका यह भेद है कि यहाँ विषयी के द्वारा निगीर्ण विषय में अध्यवसाय (विषय्यभेदप्रतिपत्ति) होता है।

यथा वा (विद्ध. भं.)—

सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैरनुसृतां
किरज्ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना-
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥

इत्यत्र 'कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरण' इत्युक्त्या प्रसिद्धचन्द्राद्भेदस्तत उत्कर्षश्च गर्भितः । एवमन्यत्राप्यूहनीयम् ॥ ३६ ॥

'प्राञ्चस्तु' रूपक इवात्रापि विषयविषयिभेदो भासते । परं तु निगीर्णे विषये इति रूपकादस्या विशेषः । अध्यवसायस्य सिद्धत्वेनाप्राधान्यान्निश्चयात्मकत्वाच्च साध्याध्यवसानायाः संभावनात्मकोत्प्रेक्षाया वैलक्षण्यम्' इत्याहुः ।'''अत एवातिशयोक्तावभेदोऽनुवाद्य एव, न विधेय इति प्राचामुक्तिः संगच्छते ॥' (वहीं पृ० ४१५)

रूपकातिशयोक्ति का दूसरा उदाहरण निम्न है :—

'जरा इस परकोटे के अगले हिस्से पर तो दृष्टि डालो, कुछ अनुमान तो लगाओ कि आकाश के बिना ही, उस परकोटे पर बिना हिरण वाला (जिसका हिरण का कलंक गल गया है), यह चन्द्रमा कौन है ? यह चन्द्रमा चारों ओर स्वच्छ चाँदनी को छिटका रहा है, और लवलीलता के पके फलों के समान श्वेत चन्द्रिका को अमृत का ग्रास समझ कर ग्रहण करने वाले, उपवन के चकोरों के द्वारा उसका पान किया गया है ।

(यह विद्धशालभंजिका नाटिका में राजा की उक्ति है । राजा विदूषक से नायिका के मुख की प्रशंसा कर रहा है । यहाँ नायिकामुख (विषय) का निगरण कर चन्द्रमा (विषयी) के साथ उसका अध्यवसाय स्थापित किया गया है ।)

यहाँ 'कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः' पद से इस चन्द्र (मुख) का प्रसिद्ध चन्द्र से भेद एवं उत्कर्ष व्यञ्जित किया गया है । इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी ऐसा ही समझना चाहिए ।

टिप्पणी—चन्द्रिकाकार ने इसी ढंग का एक दूसरा पद्य दिया है, जहाँ भी विषयी (उपमान) इसी तरह कल्पित है :—

अलुच्छिष्टो देवैरपरिदलितो राहुदशनैः कलंकेनाश्लिष्टो न खलु परिभूतो दिनकृता ।
कुहूभिर्नो लिप्तो न च युवतिवक्त्रेण विजितः कलानाथः कोऽयं कनकलतिकायामुदयते ॥

यहाँ प्रसिद्ध चन्द्र से इस चन्द्र (मुख) की अधिकता वाली उक्ति है । यह उक्ति न्यूनतापरक भी हो सकती है, जैसे—'कोऽयं भूमिगतश्चन्द्रः' में जहाँ चन्द्रमा की 'अदिव्यता' (भूमिगतत्व) रूप न्यूनता पाई जाती है । दीक्षित तथा चन्द्रिकाकार द्वारा उदाहृत पद्यों में 'अयं' का प्रयोग होने से यहाँ विषय (उपमेय) का उपादान हो गया है, अतः अतिशयोक्ति कैसे हो सकती है (रूपक अलंकार होना चाहिए) इस शंका का समाधान चन्द्रिकाकार ने यों किया है । यहाँ 'अयं' का प्रयोग विषयी के विशेषण के रूप में किया गया है । (यह यहाँ 'चन्द्रमा' का विशेषण है, 'मुख' का बोधक नहीं) इस स्थिति में यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार ही होगा, यदि इसमें विषय (मुख) की विशेषणता मानना अभीष्ट हो तो रूपक अलंकार होगा । इसीलिए मम्मट ने रूपक तथा अतिशयोक्ति के सन्देह सङ्कर में—'नयनानन्ददायींदोर्बिम्बमेतत् प्रसीदति' यह उदाहरण दिया है, जहाँ 'एतत्' को 'बिम्ब' का विशेषण मानने पर अतिशयोक्ति होगी, 'मुखं' का बोधक मानने पर रूपक ।

रूपकातिशयोक्ति के बाद अतिशयोक्ति के अन्य भेदों को ले रहे हैं ।

यद्यपह्नुतिगर्भत्वं सैव सापह्नवा मता ।

त्वत्सूक्तिषु सुधा राजन्भ्रान्ताः पश्यन्ति तां विधौ ॥ ३७ ॥

अत्र 'त्वत्सूक्तिमाधुर्यमेवामृतम्' इत्यतिशयोक्तिश्चन्द्रमण्डलस्थममृतं न भवतीत्यपह्नुतिगर्भा ।

यथा वा—

मुक्ताविद्रुममन्तरा मधुरसः पुष्पं परं धूर्वहं
प्रालेयद्युतिमण्डले खलु तयोरेकासिका नार्णवे ।
तश्चोदञ्चति शङ्खमूर्ध्नि न पुनः पूर्वाचलाभ्यन्तरे
तानीमानि विकल्पयन्ति त इमे येषां न सा दृक्पथे ॥

अत्राधररस एव मधुरस इत्याद्यतिशयोक्तिः पुष्परसो मधुरसो न भवतीत्यपह्नुतिगर्भा । अलङ्कारसर्वस्वकृता तु स्वरूपोत्प्रेक्षायां सापह्नवत्वमुदाहृतम्—

३७—यदि यही अतिशयोक्ति अपह्नुति अलंकार से युक्त हो, तो सापह्नवा अतिशयोक्ति होती है। (भाव यह है, अतिशयोक्ति दो तरह की होती है—सापह्नवा तथा निरपह्नवा।) सापह्नवा का उदाहरण यह है। 'हे राजन्, तेरी सूक्ति में ही अमृत है, मूर्ख लोग उसे चन्द्रमा में देखा करते हैं।'

यहाँ 'तेरी सूक्ति की मधुरता ही अमृत है' यह अतिशयोक्ति है, इसके साथ कवि ने चन्द्रमण्डलस्थित अमृत अमृत नहीं है, इस प्रकार वास्तविक अमृतत्व का निषेध किया है, अतः यह अतिशयोक्ति अपह्नुतिगर्भा है।

टिप्पणी—पंडितराज जगन्नाथ ने दीक्षित के इस अतिशयोक्तिभेद का खण्डन किया है। पंडितराज पर्यस्तापह्नुति को ही अपह्नुति नहीं मानते। अतः एतन्मूलक अपह्नुतिगर्भा अतिशयोक्ति को मानने के पक्ष में भी नहीं हैं :—

यत्तु कुवलयानन्दे—'यद्यपह्नवगर्भत्वं......तां विधौ' इत्यत्र पर्यस्तापह्नुतिगर्भामतिशयोक्तिमाहुस्तच्चिन्त्यम्। पर्यस्तापह्नुतेरपह्नुतित्वं न प्रामाणिकसंमतमिति प्रागेवावेदनात्।
(रसगंगाधर पृ० ४२०)

इसका अन्य उदाहरण निम्न है :—

कोई कवि किसी सुन्दरी के अंगों का वर्णन कर रहा है :—सच्चा मधुरस यदि कहीं है, तो वह मोती (दंतपंक्ति) तथा विद्रुम (अधर) के बीच में है, पुष्पों का रस सच्चा मधुरस नहीं है, खाली उसने मधुरस का नाम धारण कर रखा है। ये मोती और विद्रुम समुद्र में नहीं पाये जाते, यदि ये कहीं एक साथ पाये जाते हैं तो चन्द्रमा के मंडल (मुख) में ही। यह चन्द्रमा पूर्व दिशा के आँचल में नहीं उदित होता, अपितु शंख (ग्रीवा) के सिर पर उदित होता है—जिन लोगों के नयनपथ में वह सुंदरी अवतरित नहीं होती, वे ही लोग इन तत्तत् वस्तुओं के विषय में विकल्प (तर्कवितर्क) किया करते हैं।

यहाँ 'अधररस ही मधुरस है' यह अतिशयोक्ति 'पुष्परस मधुरस नहीं' इस अपह्नुति के द्वारा गर्भित है। (इसी तरह 'मुख ही चन्द्र है' 'ग्रीवा ही शंख है' ये दोनों अतिशयोक्तियाँ भी 'मोती और विद्रुम समुद्र में नहीं पाये जाते' तथा 'चन्द्रमा पूर्व दिशा में उदित नहीं होता' इन अपह्नुतियों से संयुक्त हैं।)

अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने तो स्वरूपोत्प्रेक्षा में भी सापह्नव भेद माना है। इसके उदाहरण में उन्होंने निम्न पद्य दिया है :—

गतासु तीरं तिमिघट्टनेन ससंभ्रमं पौरविलासिनीषु।
यत्रोल्लसत्फेनततिच्छलेन मुक्ताट्टहासेव विभाति शिप्रा ॥' इति।

ततस्त्वियानत्र भेदः। एतत्तु शुद्धापह्नुतिगर्भम्। यत्र फेनततित्वमपह्नुतं तत्रैवाट्टहासत्वोत्प्रेक्षणात्, इह तु पर्यस्तापह्नुतिगर्भत्वमिन्दुमण्डलादावपह्नुतस्यामृतादेः सूक्त्यादिषु निवेशनात्। इदं च पर्यस्तापह्नुतिगर्भत्वमुत्प्रेक्षायामपि संभवति।

तत्र स्वरूपोत्प्रेक्षायां यथा (नै० ७।३९)—

जानेऽतिरागादिदमेव बिम्बं बिम्बस्य च व्यक्तमितोऽधरत्वम्।
द्वयोर्विशेषावगमाक्षमाणां नाम्नि भ्रमोऽभूदनयोर्जनानाम् ॥

अत्र प्रसिद्धबिम्बफले बिम्बतामपह्नुत्यातिरागेण निमित्तेन दमयन्त्यधरे तदुत्प्रेक्षा पर्यस्तापह्नुतिगर्भा। हेतूत्प्रेक्षायां तद्गर्भत्वं प्राग्लिखिते हेतूत्प्रेक्षोदाहरण एव दृश्यते। तत्र चान्धकारेष्वान्ध्यहेतुत्वमपह्नुत्यान्यत्र तन्निवेशितम्।

'जब जल क्रीडा करती पुररमणियाँ मछलियों के संघर्षण से डर कर तीर पर चली जाती हैं, तो सिप्रा नदी उफनते हुए फेन के बहाने (उनको डरा देखकर) अट्टहास करती सुशोभित होती है।'

इस उदाहरण से ऊपर वाले सापह्नव अतिशयोक्ति के प्रकार में यह भेद है कि 'गतासु तीरं' इत्यादि पद्य में शुद्धापह्नुतिगर्भा उत्प्रेक्षा पाई जाती है, क्योंकि जहाँ फेनतति के धर्म (फेनततित्व) का निषेध किया गया है, वहीं अट्टहास की उत्प्रेक्षा (सम्भावना) की गई है। जब कि 'स्वत्सूक्तिषु' तथा 'मुक्ता विद्रुममन्तरा' आदि उदाहरणों में पर्यस्तापह्नुतिगर्भा अतिशयोक्ति पाई जाती है, क्योंकि यहाँ चन्द्रमण्डलादि में अमृतत्वादि का निषेध कर उसकी स्थिति सूक्ति आदि में बताई गई है। यह पर्यस्तापह्नुति उत्प्रेक्षा में भी प्रयुक्त हो सकती है। स्वरूपोत्प्रेक्षा में पर्यस्तापह्नुतिगर्भत्व का उदाहरण निम्न है :—

नैषधीय चरित के सप्तम सर्ग से दमयंती के नखशिख वर्णन का पद्य है। कवि दमयंती के अधर का वर्णन कर रहा है—मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सच्चा 'बिम्ब', बिंबाफल तो यही (दमयन्ती का अधर ही) है, क्योंकि इसमें बिंब नाम से प्रसिद्ध फल से अधिक ललाई पाई जाती है, और बिंब नामक फल इससे सचमुच निकृष्ट कोटि का (अधर) है। साधारण बुद्धि वाले लोग इस बात का तारतम्य न समझ पाये कि सच्चा बिंब यह है, और सच्चा बिंबाधर (बिंब से अधर, निकृष्ट) वह फल। इस भेद के न जानने के कारण ही लोगों को इनके नाम में भ्रम हो गया। (फलतः वे बिंब को बिंबाधर कहने लगे और बिम्बाधर को बिम्ब।)

यहाँ प्रसिद्ध बिम्बाफल में बिम्बता (धर्म) का निषेध कर अतिराग रूप संबंध के कारण दमयन्ती के अधर में बिम्बत्व की सम्भावना की गई है, अतः यह पर्यस्तापह्नुतिगर्भा उत्प्रेक्षा है। हेतूत्प्रेक्षा में पर्यस्तापह्नुति का गर्भत्व पिछले हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरण (—गावोऽपि नेत्रापरनामधेयास्तेनेदमान्ध्यं खलु नान्धकारैः) में ही देखा जा सकता है। यहाँ अन्धकार में आन्ध्यहेतुस्वरूप धर्म का निषेध कर उसका अन्यत्र संनिवेश किया गया है। फलोत्प्रेक्षा में पर्यस्तापह्नुतिगर्भत्व का उदाहरण निम्न है :—

फलोत्प्रेक्षायां यथा—

रवितप्तो गजः पद्मांस्तद्गृह्यान्बाधितुं ध्रुवम् ।
सरो विशति न स्नातुं गजस्नानं हि निष्फलम् ॥

अत्र गजस्य सरःप्रवेशं प्रति फले स्नाने फलत्वमपह्नुत्य पद्मबाधने तन्निवेशितम् । अलमनया प्रसक्तानुप्रसक्त्या, प्रकृतमनुसरामः ॥ ३७ ॥

भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम् ।
अन्यदेवास्य गाम्भीर्यमन्यद्धैर्यं महीपतेः ॥ ३८ ॥

अत्र लोकप्रसिद्धगाम्भीर्याद्यभेदेऽपि भेदो वर्णितः ।

यथा वा—

अन्येयं रूपसंपत्तिरन्या वैदग्ध्यधोरणी ।
नैषा नलिनपत्राक्षी सृष्टिः साधारणी विधेः ॥ ३८ ॥

संबन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम् ।
सौधाग्राणि पुरस्यास्य स्पृशन्ति विधुमण्डलम् ॥ ३९ ॥

'हाथी सरोवर में इसलिए घुसता है कि वह उसे तपाने (परेशान करने) वाले सूर्य के पक्ष वाले (मित्र) कमलों को परेशान करना चाहता है, वह इसलिए सरोवर में नहीं घुसता कि नहाना चाहता है, क्योंकि हाथी का स्नान तो निष्फल है।'

यहाँ 'हाथी सरोवर में नहाने के लिए घुसता है' सरःप्रवेश क्रिया के इस वास्तविक फल का गोपन कर 'कमलों को परेशान करना' उसका फल सम्भावित किया गया है। (इस उदाहरण में प्रत्यनीक अलंकार भी है।) इस प्रसंगवश उपस्थित प्रकरण (उत्प्रेक्षा अलंकार के विषय) का अधिक विचार करना व्यर्थ है, प्रकृत प्रकरण (अतिशयोक्ति) का अनुसरण करते हैं।

(भेदकातिशयोक्ति)

३८—जहां उसी (विषय ही) को अन्य के रूप में वर्णित किया जाय, वहां भी भेदकातिशयोक्ति होती है। जैसे, इस राजा का गांभीर्य दूसरे ही ढंग का है, इसका धैर्य भी अन्य प्रकार का है।

यहाँ राजा का गाम्भीर्य तथा धैर्य प्रसिद्ध गांभीर्य तथा धैर्य से भिन्न नहीं है, फिर भी कवि ने उसके अन्यत्व की कल्पना की है। इस प्रकार यहाँ गांभीर्यादि के अभिन्न होने पर भी भिन्नता बताई गई है। (इसी को प्राचीन आलंकारिकों ने अभेदे भेदरूपा अतिशयोक्ति कहा है।) इसका अन्य उदाहरण यह है :—

यह कमल के समान आँखों वाली सुन्दरी ब्रह्मा की साधारण सृष्टि नहीं है। इसकी रूपशोभा कुछ दूसरी ही है, इसकी चातुर्यपरिपाटी (चतुरता) भी दूसरे ही प्रकार की है।

यहाँ सुन्दरी की रूप सम्पत्ति तथा चातुरी का अन्यत्ववर्णन किया गया है, अतः भेदकातिशयोक्ति अलंकार है।

३९—जहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध का वर्णन किया जाय, वहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार होता है, जैसे, इस नगर के महलों के अग्रभाग चन्द्रमा के मण्डल को छूते हैं।

(यहाँ सौधाग्र तथा चन्द्रमण्डल के असंबंध में भी संबंध का वर्णन किया गया है।)

यथा वा—

कतिपयदिवसैः क्षयं प्रयायात् कनकगिरिः कृतवासरावसानः।
इति मुदमुपयाति चक्रवाकी वितरणशालिनि वीररुद्रदेवे॥

अत्र चक्रवाक्याः सूर्यास्तमयकारकमहामेरुक्षयसंभावनाप्रयुक्तसंतोषासंबन्धेऽपि तत्संबन्धो वर्णितः॥ ३६॥

टिप्पणी—इस उदाहरण के सम्बन्ध में चन्द्रिकाकार ने एक शंका उठा कर उसका समाधान किया है। उनका कहना है कि 'सौधाग्राणि पुरस्यास्य स्पृशंतीवेंदुमण्डलम्' पाठ रखने पर 'इव' के प्रयोग से यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार हो जाता है। अतः 'स्पृशंति विधुमण्डलम्' वाले पाठ में इवादि के अप्रयोग वाली गम्योत्प्रेक्षा क्यों नहीं मानी जाती? क्योंकि हम देखते हैं कि जहाँ इवादि का प्रयोग होने पर वाच्योत्प्रेक्षा होती है, वहीं इवादि के अप्रयोग में गम्योत्प्रेक्षा होती है। साथ ही ऐसा न मानेंगे तो गम्योत्प्रेक्षा के उदाहरण 'त्वत्कीर्तिर्भ्रमणश्रांता विवेश स्वर्गनिम्नगाम्' में भी गम्योत्प्रेक्षा न हो सकेगी।

चन्द्रिकाकार ने इस शंका का समाधान यों किया है :—आपका यह नियम वहीं लागू होगा, जहाँ कोई अन्य (उत्प्रेक्षा भिन्न) अलंकार का विषय न हो। अगर ऐसा न माना जायगा, तो 'नूनं मुखं चन्द्रः' में वाच्योत्प्रेक्षा मानने पर 'नून' के अप्रयोग पर 'मुखं चन्द्रः' में गम्योत्प्रेक्षा माननी पड़ेगी, जब कि यहाँ रूपक अलंकार होगा। इस स्थल में भी असंबंधे संबंधरूपा अतिशयोक्ति का विषय है, अतः गम्योत्प्रेक्षा नहीं मानी जा सकती। साथ ही 'त्वत्कीर्तिः' वाले उदाहरण में गम्योत्प्रेक्षा हमने 'भ्रमणश्रांता' इस हेत्वंश में मानी है 'स्वर्गगाप्रवेशांश' में नहीं। ऊपर जिस शंका का संकेत कर चन्द्रिकाकार ने समाधान किया है, वह पंडितराज जगन्नाथ का मत है। (दे०—रसगंगाधर पृ० ४२०–४२१) पंडितराज जगन्नाथ स्पष्ट कहते हैं कि असंबंधे संबंधरूपा अतिशयोक्ति का उदाहरण ऐसा देना चाहिए जिसमें गम्योत्प्रेक्षा न हो सके। वे स्वयं अपने द्वारा उदाहृत पद्य का संकेत करते हैं, जो उत्प्रेक्षा से असंश्लिष्ट है।

'तस्मादुत्प्रेक्षासामग्री यत्र नास्ति तादृशमुदाहरणमुचितम्।' (वही पृ० ४२१)

इसका शुद्ध उदाहरण पंडितराज का यह पद्य है।

'धीरध्वनिभिरलं ते नीरद मे मासिको गर्भः।
उन्मदवारणबुद्ध्या मध्येजठरं समुच्छलति॥'

कोई शेरनी बादल से कह रही है—'हे बादल, गम्भीर ध्वनि न कर, मेरा एक महीने का गर्भ, यह समझ कर कि बाहर कोई मस्त हाथी चिंघाड़ रहा है, पेट के भीतर उछल रहा है।'

यहाँ 'शेरनी के गर्भ का उछलना' इस असंबंध में भी उछलने रूप संबंध की उक्ति शेर के शौर्यातिशय की द्योतक है, अतः यह असंबंधे संबंधरूपा अतिशयोक्ति है। (अत्र सिंहीवचने समुच्छलनाऽसंबंधेऽपि समुच्छलनसंबंधोक्तिः शौर्यातिशायिका।) (वही पृ० ४१६) इस उदाहरण में उत्प्रेक्षा सामग्री का सर्वथा अभाव है।

इसका अन्य उदाहरण यह है :—

कोई कवि रुद्रदेव नामक राजा की दानवीरता का वर्णन करता है :—

'वीर रुद्रदेव के दानशील होने पर चक्रवाकी इसलिए प्रसन्न हो रही है कि अब दिन का अन्त करने वाला सुवर्ण का पर्वत (मेरु) कुछ ही दिनों में समाप्त हो जायगा।'

यहाँ 'सूर्यास्त को करनेवाला मेरु पर्वत शीघ्र ही समाप्त हो जायगा' इस सम्भावना के द्वारा प्रयुक्त चक्रवाकी के संतोष के असंबंध में भी उसके संबंध का वर्णन किया गया है। इसी को अन्य आलंकारिकों ने असंबंधे संबंधरूपा अतिशयोक्ति माना है।

योगेऽप्ययोगोऽसंबन्धातिशयोक्तिरितीर्यते ।
त्वयि दातरि राजेन्द्र ! स्वर्द्रुमान्नाद्रियामहे ॥ ४० ॥

अत्र स्वर्द्रुमेष्वादरसंबन्धेऽपि तदसंबन्धो वर्णित इत्यसंबन्धातिशयोक्तिः ।

यथा वा—

अनयोरनवद्याङ्गि ! स्तनयोर्जृम्भमाणयोः ।
अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे ॥ ४० ॥

अक्रमातिशयोक्तिः स्यात् सहत्वे हेतुकार्ययोः ।
आलिङ्गन्ति समं देव ! ज्यां शराश्च पराश्च ते ॥ ४१ ॥

अत्र मौर्व्या यदा शरसंधानं कृतं तदानीमेव शत्रवः क्षितौ पतन्तीति हेतु-कार्ययोः सहत्वं वर्णितम् ।

यथा वा—

मुञ्चति मुञ्चति कोशं भजति च भजति प्रकम्पमरिवर्गः ।
हम्मीरवीरखड्गे त्यजति त्यजति क्षमामाशु ॥

(असंबंधातिशयोक्ति)

४०—जहाँ सम्बन्ध (योग) होने पर भी असम्बन्ध की उक्ति पाई जाय, वहाँ असम्बन्धा-तिशयोक्ति होती है। (यह अतिशयोक्ति पहले वाली अतिशयोक्ति की उलटी है। इसे ही अन्य आलंकारिकों ने सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति माना है।) जैसे, कोई कवि किसी राजा की दानशीलता की प्रशंसा करता कहता है—हे राजन्, तुम जैसे दानी के होने पर हम कल्पवृक्षों का भी आदर नहीं करते।

यहाँ याचक लोगों का स्वर्द्रुमों (कल्पवृक्षों) के प्रति आदर पाया ही जाता है, तथापि इस सम्बन्ध में असम्बन्ध (आदर न होने) का वर्णन किया गया है, अतः यह असम्बन्धातिशयोक्ति का उदाहरण है।

असम्बन्धातिशयोक्ति का अन्य उदाहरण निम्न है:—

कोई कवि (अथवा नायक) किसी सुन्दरी के स्तनविस्तार का वर्णन कर रहा है:—हे अनिन्द्य अंगोंवाली सुन्दरी, तेरे बढ़ते हुए स्तनों के लिए बाँहों के बीच पर्याप्त अवकाश नहीं है।

यहाँ बाहुलताओं के बीच में स्तनों के लिए पर्याप्त अवकाश है, किन्तु फिर भी कवि ने अवकाशाभाव बताया है, अतः संबंध में असंबंध का वर्णन पाया जाता है।

(अक्रमातिशयोक्ति)

४१—जहाँ कारण तथा कार्य दोनों साथ-साथ हों, वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है, जैसे (कोई कवि किसी राजा की वीरता की प्रशंसा करते कहता है) हे राजन्, तुम्हारे बाण और तुम्हारे शत्रु दोनों साथ-साथ ही ज्या (प्रत्यञ्चा; पृथिवी) का आलिंगन करते हैं।

प्रत्यञ्चा में जब बाणसंधान किया जाय (कारण) तभी शत्रु पृथिवी पर गिरेंगे (कार्य) इस प्रकार कारण का कार्य से पहले होना आवश्यक है, किन्तु यहाँ जिस समय प्रत्यञ्चा में बाणसंधान किया गया ठीक उसी समय शत्रु राजा जमीन पर गिर पड़े—इस वर्णन में कारण तथा कार्य का सहभाव निर्दिष्ट है, अतः यहाँ अक्रमातिशयोक्ति अलङ्कार है। अथवा जैसे—

कोई कवि राजा हम्मीर की वीरता का वर्णन कर रहा है। जब वीर हम्मीर का खड्ग

अत्र खड्गस्य कोशत्यागादिकाल एव रिपूणां धनगृहत्यागादि वर्णितम् ॥४१॥

चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे ।
यास्यामीत्युदिते तन्व्या वलयोऽभवदूर्मिका ॥ ४२ ॥

अत्र नायकप्रवासप्रसक्तिमात्रेण योषितोऽतिकार्श्यं कार्यमुखेन दर्शितम् ।

यथा वा—

आदातुं सकृदीक्षितेऽपि कुसुमे हस्ताग्रमालोहितं
लाक्षारञ्जनवार्तयापि सहसा रक्तं तलं पादयोः ।
अङ्गानामनुलेपनस्मरणमप्यत्यन्तखेदावहं
हन्ताऽधीरदृशः किमन्यदलकामोदोऽपि भारायते ॥

अपना स्थान छोड़ता है, तो उसके शत्रु खजाने का त्याग करते हैं, जब खड्ग शत्रुओं का संहार करने के लिए हिलता है, तो वे कम्पित होने लगते हैं और जब खड्ग क्षमा छोड़ता है, तो वे पृथिवी को छोड़ देते हैं (रणस्थल को छोड़कर या राज्य को त्याग कर भाग खड़े होते हैं)।

यहाँ हम्मीर के खड्ग के कोशादित्यागरूप कारण के साथ-साथ ही शत्रुओं के धन-गृहत्यागादि कार्य का होना वर्णित किया गया है, अतः अक्रमातिशयोक्ति अलङ्कार है। (इन दोनों उदाहरणों में ज्या; कोश, क्षमाशब्दों के श्लिष्ट प्रयोग पर अतिशयोक्ति आश्रित है)।

टिप्पणी—अक्रमातिशयोक्ति का एक अश्लिष्ट उदाहरण यह है :—

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥ (रघुवंश)

(चपलातिशयोक्ति)

४२—जहाँ कारण के ज्ञानमात्र से ही कार्य की उत्पत्ति हो जाय, वहाँ चपलातिशयोक्ति होती है। जैसे, प्रवास के लिए तत्पर नायक के यह कहने ही पर कि 'मैं जाऊँगा', नायिका की अँगूठी हाथ का कंगन बन गई।

नायिका के कार्श्यरूप कार्य का कारण नायक का विदेशगमन है। इस उक्ति में नायक के विदेश जाने के पहले ही, उसके प्रवास की बात सुनने भर से (कारण के ज्ञानमात्र से) नायिका के अतिकार्श्य (अत्यधिक दुबला होने) रूप कार्य का वर्णन किया गया है, अतः यहाँ चपलातिशयोक्ति अलंकार है।

किसी विरहिणी की सुकुमारता का वर्णन है। जब वह फूल को ग्रहण करने के लिए एक बार देखती है, तो उतने भर से उसका करतल लाल हो जाता है, फूल को हाथ में लेने की बात तो दूर रही, जब उसके सामने महावर लगाने की बात की जाती है, तो उसके पैरों के तलुए लाल हो उठते हैं, पैरों में महावर लगाना तो दूर रहा; अंगों में अनुलेपन लगाने का स्मरण करने भर से उसे अत्यधिक कष्ट होता है, अंगलेप लगाने की बात तो दूर है। बड़े दुःख की बात है कि उस चञ्चल (अधीर) नेत्रों वाली सुकुमार युवती के लिए और तो क्या, बालों को सुगन्धित बनाना भी बोझ-सा लगता है।

यहाँ फूल को ग्रहण करने के लिए देखने भर से हाथों का लाल हो जाना तथा तत्तत् कारण से तत्तत् क्रिया के उत्पन्न होने का वर्णन कारणप्रसक्ति मात्र से कार्योत्पत्ति का वर्णन है, अतः चपलातिशयोक्ति अलंकार पाया जाता है। अथवा जैसे—

यथा वा—

> यामि न यामीति धवे वदति पुरस्तात्क्षणेन तन्वङ्ग्याः ।
> गलितानि पुरो वलयान्यपराणि तथैव दलितानि ॥ ४२ ॥

अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यव्यतिक्रमे ।
अग्रे मानो गतः पश्चादनुनीता प्रियेण सा ॥ ४३ ॥

(अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे ।
यास्यामीत्युदिते तन्व्या वलयोऽभवदूर्मिका ॥)

'मैं जाता हूँ' 'अच्छा, मैं नहीं जाता हूँ' इस प्रकार पति के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के वचन कहने पर कोमलांगी के कुछ कंकण तो हाथ से खिसक पड़े और कुछ कंकण टूट गये।

यहाँ पति के 'मैं जाता हूँ' वाक्य को सुनकर वह एकदम दुबली हो गई, फलतः उसके हाथ में कंकण न रह पाये, वे नीचे खिसक पड़े; दूसरी ओर उसी क्षण पति के 'मैं नहीं जाता हूँ' वाक्य को सुनकर वह हर्षित होने के कारण प्रसन्नता से फूल उठी और उसके रहे सहे कंकण (चूड़ियाँ) हाथ में न समाने के कारण चटक पड़े।

टिप्पणी—यहाँ नायक के विदेशगमन तथा विदेशागमन के ज्ञानमात्र से नायिका का कृश तथा पुष्ट होना वर्णित हुआ है, अतः यह चपलातिशयोक्ति का उदाहरण है। प्राचीन विद्वान् इस भेद को कार्यकारणसम्बन्धमूला अतिशयोक्ति में नहीं मानते, क्योंकि उनका मत है कि जहाँ कहीं कारण का अभाव होने पर भी कार्योत्पत्ति हो, वहां विभावना होती है। कार्यहेतुज्ञानमात्र से कार्योत्पत्ति में एक तरह से कारणाभाव में कार्योत्पत्ति होने वाली विभावना का ही चमत्कार है। इसी बात को गंगाधर वाजपेयी ने रसिकरंजनी में निर्दिष्ट किया है :—

'अत्र प्रसिद्धप्रवासादिकारणाभावेऽपि वनितांगकार्श्यादिरूपकार्योत्पत्तिवर्णनात् विभावनालंकारेणैव चमत्कारात् न चपलातिशयोक्तिर्नामातिरिक्तोऽलङ्कार उररीकार्यः। 'नहलाक्षारसासिक्तं रक्तं त्वच्चरणद्वयम्।' इति लाक्षारसासेचनरूपकारणविरहेऽपि रक्तिमरूपकार्योत्पत्तिवर्णनरूपविभावनातो नात्र वैलक्षण्यं पश्यामः। इयांस्तु भेदः। यत्तत्र कारणाभावो वाच्यः। अत्र कारणप्रसक्त्युक्त्या कारणाभावो गम्यत इत्यनेनैवाभिप्रायेण प्राञ्चो नैनां व्यवजह्रुरिति।' (रसिकरंजनी पृ० ७८)

४३—(अत्यन्तातिशयोक्ति) जहाँ कारण तथा कार्य के पौर्वापर्य का व्यतिक्रम कर दिया जाय, अर्थात् कार्य की प्राग्भाविता का वर्णन किया जाय और कारण की परभाविता का, वहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार होता है, जैसे नायिका का मान तो पहले ही चला गया, पीछे नायक ने उसका अनुनय किया।

(यहाँ नायिका का मानापनोदन कार्य है, यह नायक की अनुनय क्रियारूप कारण के पूर्व ही हो गया है। यद्यपि कारण सदा कार्य के पूर्व होता है, तथा कार्य कारण के बाद ही, किंतु कवि अपनी प्रतिभा से इनके पौर्वापर्य में उलटफेर कर देते हैं। यह व्यतिक्रम कार्य की क्षिप्रता (शीघ्रता) की व्यंजना कराने के लिए किया जाता है। कारण तथा कार्य का सहभाव, कारणज्ञानमात्र से कार्योत्पत्ति, कारण के पूर्व ही कार्योत्पत्ति, ये तीनों कविता की बातें हैं, लोक में तो कारण के बाद ही कार्य होता है, क्योंकि कारण में कार्य से भिन्न प्राग्भाविता का होना आवश्यक है।)

यथा वा—

कवीन्द्राणामासन् प्रथमतरमेवाङ्गणभुव-
श्चलद्भृङ्गासङ्गाकुलकरिमदामोदमधुराः।
अमी पश्चात्तेषामुपरि पतिता रुद्रनृपतेः
कटाक्षाः क्षीरोदप्रसरदुरुवीचीसहचराः॥

एतास्तिस्रोऽप्यतिशयोक्तयः कार्यशैघ्र्यप्रत्यायनार्थाः॥ ४३॥

इसका अन्य उदाहरण निम्न है।

कोई कवि राजा रुद्र की दानवीरता का वर्णन कर रहा है। 'महाकवियों के आँगन पहले ही चञ्चल भौंरों के कारण व्याकुल हाथियों के मद की सुगन्ध से सुगन्धित हो जाते हैं, इसके बाद वहीं जाकर राजा रुद्र के दुग्धसमुद्र की विशाल लहरों के समान (कृपा-) कटाक्ष उन पर गिरते हैं।'

(यहां राजा रुद्र का प्रसन्न होना, उसके कृपाकटाक्ष का पात, कारण है, जिससे कवियों के आँगन का हस्तिसंकुल होना रूप कार्य उत्पन्न होता है। यहाँ कवि ने कार्य का पहले होना वर्णित किया है, कारण का बाद में, अतः यह अत्यन्तातिशयोक्ति है।)

ये तीनों अतिशयोक्तियाँ कार्य की शीघ्रता की व्यंजना कराती हैं।

टिप्पणी—अतिशयोक्ति के प्रकरण का उपसंहार करते हुए चन्द्रिकाकार ने इस बात पर विचार किया है कि रूपकातिशयोक्ति से इतर भेदों का अतिशयोक्ति में क्यों समावेश किया गया? पूर्वपक्षी की शंका है कि उपर्युक्त भेदों में समान प्रवृत्तिनिमित्तत्व नहीं पाया जाता, फलतः उन सभी को अतिशयोक्ति क्यों कहा जाता है? चन्द्रिकाकार इसका समाधान करते कहते हैं कि इन भेदों में से कोई एक भेद का होना यही सबको अतिशयोक्ति सिद्ध करता है, अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण भी इतना ही है कि जहाँ इनमें से कोई एक भेद होगा, वहाँ अतिशयोक्ति होगी। चन्द्रिकाकार ने इसी सम्बन्ध में नव्य आलंकारिकों का मत भी दिया है। नव्य आलंकारिकों के मत से केवल निगीर्याध्यवसानत्व ही अतिशयोक्ति का लक्षण है, फलतः रूपकातिशयोक्ति से भिन्न भेदों में अन्य अलंकार माने जाने चाहिए, अतिशयोक्ति के भेद नहीं। यदि आप यह कहें कि और भेदों में भी अन्यत्वादि के द्वारा विषय का निगरण पाया जाता है, तो यह दलील ठीक नहीं। क्योंकि अन्यत्वादि (यथा अभेदे भेदरूपा अतिशयोक्ति) में उसकी अभिन्न वस्तु होने की प्रतीति ही चमत्कारकारी होती है, अतः उसे अभेदप्रतीति का कारण मानना अनुभव-विरुद्ध जान पड़ता है।

चन्द्रिकाकार इस नव्य मत से सहमत नहीं। वे अतिशयोक्ति का लक्षण देकर उसकी मीमांसा करते हैं। अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण यह है:—रूपकभिन्नत्वे सति चमत्कृतिजनकाहार्यारोपनिश्चयविषयत्वम् (एव) अतिशयोक्तिसामान्यलक्षणम्। यहाँ 'रूपकभिन्नत्वे सति' के द्वारा रूपक का, आहार्यादि के द्वारा भ्रांति का तथा निश्चयादि के द्वारा उत्प्रेक्षा का वारण किया गया है। इस सामान्य लक्षण के मानने पर तद्विशिष्ट 'चमत्कृतिजनकविषयत्व' इन सभी भेदों में पाया जाता है। रूपकातिशयोक्ति में यह अभेद का है, द्वितीय भेद में अन्यत्व का, तीसरे भेद में सम्बन्ध का, चौथे में असम्बन्ध का, पंचम में सहत्व का, षष्ठ में हेतुप्रसक्तिजन्यत्व का तथा सप्तम में पूर्वापरत्व का। इस प्रकार ऐसे आरोपविषयत्व के कारण सभी भेदों में लक्षण समन्वय हो जाता है। यदि पूर्वपक्षी यह शंका करे कि ऐसा मानने पर तो रूपक तथा स्वभावोक्ति से इतर सभी अलंकारों में अतिश-

१४ तुल्ययोगितालङ्कारः

वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता ।
संकुचन्ति सरोजानि स्वैरिणीवदनानि च ॥ ४४ ।
त्वदङ्गमार्दवे दृष्टे कस्य चित्ते न भासते ।

हम अलंकारों का नामकरण करते हैं, वहाँ 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय का अनुसरण करते हैं। अतिशयोक्ति से इतर अलंकारों में अतिशयोक्ति निःसन्देह रहती है किंतु वह वहाँ प्रधानतया स्थित नहीं होती। वहाँ चमत्कार का प्रमुख कारण कोई दूसरा ही अलंकार होता है, तथा उसके अंग रूप में अतिशयोक्ति पाई जाती है। अतः उन स्थलों में हम अतिशयोक्ति का नाम कैसे दे सकते हैं। क्योंकि दूसरे अलंकार प्रधान हैं, अतः उन्हीं का नामकरण करना होगा। इसीलिए काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने विशेषालंकार के प्रकरण में यह बताया है कि ऐसे स्थलों पर सर्वत्र अतिशयोक्ति प्राणरूप में विद्यमान होती है, क्योंकि उसके बिना अलंकार नहीं रह पाता।

सर्वत्रैवं विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तां विना प्रायेणालंकारत्वाभावात्।

ठीक यही बात भामह ने भी कही है, जहाँ उनकी वक्रोक्ति अन्य आलंकारिकों की या कुन्तक की वक्रोक्ति न होकर अतिशयोक्ति का ही दूसरा नाम जान पड़ता है। भामह ने भी वक्रोक्ति (-अतिशयोक्ति) को समस्त अलंकारों का जीवित माना है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना ॥

दण्डी ने भी अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों में निहित माना है :—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥ काव्यादर्श (२.२२०)

१४. तुल्ययोगिता अलंकार

४४—जहाँ प्रस्तुतों (वर्ण्यों) अथवा अप्रस्तुतों में एकधर्माभिसम्बन्ध (धर्मैक्य) हो, वहाँ तुल्ययोगिता नामक अलंकार होता है, जैसे, चन्द्रोदय के होने पर कमल तथा कुलटाओं के मुख संकुचित होते हैं।

(यहाँ कमल तथा स्वैरिणीवदन दोनों प्रस्तुत हैं, इनके वर्णन में संकोचक्रियारूप एकधर्माभिसम्बन्ध का उपन्यास किया गया है, अतः यह तुल्ययोगिता है। चन्द्रोदय के समय कुलटाओं के मुख इसलिए संकुचित होते हैं, कि वे अन्धकार में ही अभिसरणादि करना पसंद करती हैं, चन्द्रोदय के कारण उनके स्वैरविहार में विघ्न होता है।)

टिप्पणी—तुल्ययोगिता का लक्षण चन्द्रिकाकार ने यह दिया है :—अनेकप्रस्तुतमात्रसंबद्धैकचमत्कारिधर्मानेकाप्रस्तुतमात्रसंबद्धैकधर्मान्यतरत्वं लक्षणं बोध्यम्। यहाँ 'अनेक' विशेषण का प्रयोग इसलिए किया गया है कि 'मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितम्' इत्यादि पद्य में इसकी अतिव्याप्ति न हो सके, क्योंकि यहाँ मुख में अनेक वर्ण्यों के साथ एक ही धर्म का प्रयोग नहीं पाया जाता। साथ ही दीपक अलङ्कार का वारण करने के लिए 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया है—भाव यह है, तुल्ययोगिता वहीं होगी, जहाँ केवल प्रस्तुतों या केवल अप्रस्तुतों का एकधर्माभिसंबन्ध होगा, जहाँ प्रस्तुत अप्रस्तुत दोनों होंगे वहाँ दीपक होगा। लक्षण में 'अन्यतरत्व' शब्द का संनिवेश इसलिए किया गया है कि इस अलंकार के दो भेद होते हैं, एक प्रस्तुतगत तुल्ययोगिता, दूसरी अप्रस्तुतगत तुल्ययोगिता।

(ऊपर वाले कारिकार्ध का उदाहरण प्रस्तुतगत तुल्ययोगिता का है, अब अप्रस्तुतगत तुल्ययोगिता का उदाहरण देते हैं।)

मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥ ४५ ॥

प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा गुणक्रियारूपैकधर्मान्वयस्तुल्ययोगिता। संकुचन्तीति प्रस्तुततुल्ययोगिताया उदाहरणम्। तत्र प्रस्तुतचन्द्रोदयकार्यतया वर्णनीयानां सरोजानां प्रकाशभीरुस्वैरिणीवदनानां च संकोचरूपैकक्रियान्वयो दर्शितः। उत्तरश्लोके नायिकासौकुमार्यवर्णने प्रस्तुतेऽप्रस्तुतानां मालत्यादीनां कठोरतारूपैकगुणान्वयः।

यथा वा—

संजातपत्रप्रकरान्वितानि समुद्वहन्ति स्फुटपाटलत्वम्।
विकस्वराण्यर्ककराभिमर्शाद्दिनानि पद्मानि च वृद्धिमीयुः ॥

४५—कोई प्रिय प्रेयसी से कह रहा है—'हे प्रिये, तुम्हारे अङ्गों की कोमलता देखने पर ऐसा कौन होगा, जो मालती, चन्द्रकला तथा कदली में कठोरता का अनुभव न करे।'

(यहाँ मालत्यादि अप्रस्तुतों का कठोरता धर्म के कारण एकधर्माभिसंबंध पाया जाता है।)

जहाँ प्रस्तुतों या अप्रस्तुतों का गुणक्रियारूप एकधर्माभिसंबंध (एकधर्मान्वय) हो, वहाँ तुल्ययोगिता होती है। 'संकुचन्ति' इत्यादि पद्यार्ध प्रस्तुत तुल्ययोगिता का उदाहरण है। वहाँ प्रस्तुत चन्द्रोदय के कार्यरूप में प्रस्तुतरूप में वर्णनीय कमलों तथा प्रकाश से डरी हुई कुलटाओं के मुखों में संकोचरूप एक ही क्रिया का संबंध वर्णित किया गया है। दूसरे श्लोक में नायिका की सुकुमारता के वर्णन में मालती आदि पदार्थों का वर्णन अप्रस्तुत है। इन अप्रस्तुत पदार्थों में कठोरतारूप गुण का संबंध वर्णित किया गया है। (अतः यह अप्रस्तुत तुल्ययोगिता का उदाहरण है।)

टिप्पणी—पंडितराज जगन्नाथ ने दीक्षित के तुल्ययोगिता के लक्षण में प्रयुक्त 'गुणक्रियारूपैकधर्मान्वयः' पद में दोष बताया है कि यह संकुचित लक्षण है। दीक्षित का लक्षण रुय्यक के मतानुसार है। पंडितराज दोनों का खंडन करते कहते हैं कि तुल्ययोगिता में गुण तथा क्रिया के अतिरिक्त अभावादि धर्मों का अन्वय भी हो सकता है, अतः लक्षण में 'गुणक्रियादिरूपैकधर्मान्वयः' का प्रयोग करना आवश्यक है, जैसा कि हमने किया है। रुय्यक तथा अप्पय दीक्षित के लक्षण के अनुसार तो निम्न पद्य में तुल्ययोगिता न हो सकेगी—

शासति त्वयि हे राजन्नखण्डावनिमण्डलम्।
न मनागपि निश्चिन्ते मण्डले शत्रुमित्रयोः ॥

यहाँ शत्रु तथा मित्र रूप पदार्थों में 'चिन्ताभाव' (निश्चिन्ते) रूप एकधर्मान्वय पाया जाता है, जो गुण या क्रिया में से अन्यतर नहीं है। अतः इसका समावेश करने के लिए हमें 'आदि' पद का प्रयोग करना उचित है। (दे. रसगंगाधर पृ. ४२५-२६)

इन्हीं के क्रमशः दो उदाहरण देते हैं:—

ग्रीष्म ऋतु का वर्णन है। (पुराने पत्तों के वसंत में झड़ जाने के कारण) नये पत्तों के समूह से युक्त, प्रफुल्लित पाटल के वृक्ष वाले तथा सूर्य की किरणों से देदीप्यमान दिन तथा नये पत्तों वाले, विकसित एवं लाल रंग वाले तथा सूर्य की किरणों के सम्पर्क से विकसित कमल दोनों ही वृद्धि को प्राप्त हो गये।

यहाँ ग्रीष्म का वर्णन अभिप्रेत है, उसके अङ्गभूत होने के कारण दिवस तथा पद्मों का वर्णन भी प्रस्तुत है, इन दोनों प्रस्तुतों के साथ 'वृद्धिमीयुः' का प्रयोग कर वर्द्धन क्रियारूप एकधर्म का संबंध वर्णित किया गया है, अतः यहाँ प्रस्तुत तुल्ययोगिता है।

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात् कदलीविशेषाः ।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः ॥

अत्र ग्रीष्मवर्णने तदीयत्वेन प्रस्तुतानां दिनानां पद्मानां चैकक्रियान्वयः । ऊरुवर्णनेऽप्रस्तुतानां करिकराणां कदलीविशेषाणां चैकगुणान्वयः ॥ ४४-४५ ॥

हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता ।
प्रदीयते पराभूतिर्मित्रशात्रवयोस्त्वया ॥ ४६ ॥

अत्र हिताऽहितयोर्मित्र-शात्रवयोरुत्कृष्टभूतिदानस्य पराभवदानस्य च श्लेषेणाभेदाध्यवसायाद् वृत्तितौल्यम् ।

यथा वा—

यश्च निम्बं परशुना, यश्चैनं मधुसर्पिषा ।
यश्चैनं गन्धमाल्याद्यैः सर्वस्य कटुरेव सः ॥

पार्वती के ऊरुयुगल का वर्णन है। श्रेष्ठ हाथियों की सूँड में यह दोष है कि उनकी चमड़ी बड़ी खुरदरी है (जब कि पार्वती के ऊरुयुगल की चमड़ी बहुत चिकनी व मुलायम है), कदली में यह दोष है कि वह सदा शीतल रहती है (जब कि पार्वती का ऊरुयुगल कभी उष्ण रहता है, तो कभी शीतल) इसलिए विशाल रूप को प्राप्त करने पर भी ये दोनों पदार्थ पार्वती के ऊरुयुगल की उपमान—कोटि से बाहर निकाल दिये गये हैं।

यहाँ पार्वती के ऊरुवर्णन में हाथी के शुण्डादण्ड तथा कदलियों का उपादान अप्रस्तुत के रूप में किया गया है, यहाँ इन अप्रस्तुतों में 'पार्वती के उपमान से बाह्य हो जाना' (तदूरूपमानबाह्यत्व) रूप गुण का एकधर्माभिसंबंध वर्णित किया गया है। यह अप्रस्तुत तुल्ययोगिता का उदाहरण है।

४६—जहाँ हित तथा अहित, मित्र तथा शत्रु के प्रति समान व्यवहार (वृत्तितौल्य, व्यवहार-साम्य) वर्णित किया जाय, वहाँ तुल्ययोगिता का दूसरा भेद होता है। जैसे, हे राजन्, तुम मित्र तथा शत्रु दोनों के लिए पराभूति [मित्र-पक्ष में, अतुलनीय उत्कृष्ट विभूति (संपत्ति); शत्रुपक्ष में पराभूति (पराजय)] प्रदान करते हो।

यहाँ मित्र तथा शत्रु दोनों के प्रति राजा पराभूति का दान करता है। यहाँ पराभूति शब्द के द्वारा श्लेष से तत्तत् पक्ष में उत्कृष्ट भूतिदान तथा पराभवदान अभिप्रेत है। यह दान श्लेष के अभेदाध्यवसाय के कारण भिन्न होते हुए भी अभिन्न वर्णित किया गया है। अतः हित तथा अहित दोनों के साथ एक सा बर्ताव (वृत्तितौल्य) पाये जाने के कारण यहाँ तुल्ययोगिता का अपर भेद पाया जाता है।

टिप्पणी—पंडितराज जगन्नाथ ने इसे अलग तुल्ययोगिता मानने का विरोध किया है, क्योंकि इसके अलग से लक्षण मानने की कोई जरूरत नहीं। यह भी 'वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता' वाले लक्षण में समाहित हो जाती है।

'एतेन—'हिताहिते ''समा' इत्यादिना तुल्ययोगितायाः प्रकारान्तरं यत्कुवलयानन्दकृता लक्षितमुदाहृतं च तत्परास्तम्। अस्या अपि 'वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता।' इति पूर्वलक्षणाक्रान्तत्वात्।' (रसगंगाधर पृ. ४२६)

अथवा जैसे—

जो नीम को फरसे से काटता है, जो इसे शहद और घी से सींचता है, जो इसकी गंध-मालादि से पूजा करता है, उन सभी के लिए यह नीम का पेड़ कड़वा ही रहता है।

अत्र वृश्चति-सिञ्चति-अर्चति इत्यध्याहारेण वाक्यानि पूरणीयानि। पूर्वोदाहरणं स्तुतिपर्यवसायि, इदं तु निन्दापर्यवसायीति भेदः। इयं सरस्वतीकण्ठाभरणोक्ता तुल्ययोगिता ॥ ४६ ॥

गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचोऽन्या तुल्ययोगिता।
लोकपालो यमः पाशी श्रीदः शक्रो भवानपि ॥ ४७ ॥

(यहाँ नीम को काटने वाले, सींचने वाले तथा पूजा करने वाले सभी तरह के लोगों के साथ एक सा ही व्यवहार पाया जाता है।)

इस पद्य में 'वृश्चति, सिञ्चति तथा अर्चति' (काटता है, सींचता है, पूजा करता है) इन क्रियाओं का अध्याहार करके तत्तत् वाक्यों को पूर्ण बनाना होगा। इन दोनों उदाहरणों में कारिकार्ध वाला उदाहरण स्तुति (राजा की स्तुति) में पर्यवसित होता है, दूसरा उदाहरण नीम की निंदा में पर्यवसित हो रहा है। तुल्ययोगिता का यह भेद भोजदेव के सरस्वतीकंठाभरण में निर्दिष्ट है, अतः तदनुसार ही वर्णित किया गया है।

टिप्पणी—तुल्ययोगिता के इन भेदों के विषय में चन्द्रिकाकार ने एक शंका उठाकर उसका समाधान किया है। अत्र केचिदाहुः—नेयं तुल्ययोगिता पूर्वोक्ततुल्ययोगितातो भेदमर्हति। 'वर्ण्यानामितरेषां वा' इत्यादि पूर्वोक्तलक्षणाक्रान्तत्वात्। एकानुपूर्वीबोधितवस्तुकर्मकदानमात्रत्वस्य परम्परया तादृशशब्दस्य वा धर्मस्यैक्यात्। 'यश्च निम्बम्' इत्यत्रापि कटुत्वविशिष्टनिम्बस्यैव परम्परया छेदक-सेचक-पूजकत्वधर्मसंभवात्, इति तदेतदपेशलम्। तथा हि—यत्रानेकान्वयित्वेन ज्ञातो धर्मस्तेषामौपम्यगमकत्वेन चमत्कृतिजनकस्तत्र पूर्वोक्तप्रकारः, यत्र तु हिताहितोभयविषयशुभाशुभरूपैकव्यवहारस्य व्यवहर्तृगतस्तुतिनिन्दान्यतरद्योतकतया चमत्कृतिजनकत्वं तत्रापर इति भेदात्। नन्वत्र 'पराभूति' शब्दस्य तदर्थकर्मदानस्य वा परम्परया शत्रुमित्रत्वेन भानम्, अपि तु श्लेषबलादेकत्वेनाध्यवसितस्य तादृशदानस्य राजगतत्वेनैवेति कथं पूर्वोक्तलक्षणाक्रान्तत्वम्? एतेन 'यश्च निम्बम्' इत्यत्र कटुत्वविशिष्टनिम्बस्यैव परम्परया छेदक-सेचक-पूजकधर्मत्वमिति निरस्तम्। वस्तुगत्या तद्धर्मत्वस्यालंकारतासम्पादकत्वाभावात्। अन्यथा 'संकुचन्ति सरोजानि' इत्येतावतैव तुल्ययोगितालंकारापत्तेः। किं त्वनेकगतत्वेन ज्ञायमानधर्मत्वस्यैव तुल्ययोगिताप्रयोजकत्वमिति तदभावे तदन्तर्गतकथनमसमंजसमेव। अथाप्युक्तोदाहरणयोस्तथा भानमस्तीत्याग्रहः, तथापि न पूर्वोक्तलक्षणस्यात्र सम्भवः। 'धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीस्त्वयि राजन्, विराजते' इति प्रकृतयोरुपमायामतिव्याप्तिवारणार्थमनेकानुगतधर्मत्वपर्याप्तविषयितासंबन्धावच्छिन्नावच्छेदकताकचमत्कृतिजनकताश्रयज्ञानविषयधर्मत्वमिति विवक्षायास्तत्रावश्यकत्वात्, प्रकृते च हितत्वाहितत्वादेर्विषयस्याधिकस्यानुप्रवेशादिति विभावनीयम्।' (चन्द्रिका पृ० ५०)

४७—जहाँ श्रेष्ठ गुणों वाले पदार्थों के साथ साम्यविवक्षा कर वचन का प्रतिपादन किया जाय, वहाँ तुल्ययोगिता का इतर भेद होता है। जैसे, हे राजन्, यमराज, वरुण, कुबेर (श्रीद), इन्द्र और आप भी लोकपाल हैं।

टिप्पणी—सरस्वतीकंठाभरण में इस तुल्ययोगिता का लक्षण यों दिया है :—

विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत्समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता ॥

कुवलयानन्द के निर्णयसागर संस्करण के सम्पादक ने गलती से इस लक्षण को ४६ वीं कारिका वाले तुल्ययोगिता भेद की पादटिप्पणी में दिया है। यद्यपि दीक्षित ने 'इयं सरस्वतीकण्ठाभरणोक्ता

अत्र वर्णनीयो राजा शक्रादिभिर्लोकपालत्वेन समीकृतः ।

यथा वा—

संगतानि मृगाक्षीणां तडिद्विलसितान्यपि ।
क्षणद्वयं न तिष्ठन्ति घनारब्धान्यपि स्वयम् ॥

पूर्वत्र स्तुतिः, इह तु निन्दा । इयं काव्यादर्शे दर्शिता । इमां तुल्ययोगितां सिद्धिरिति केचिद्व्यवजह्रुः । यदाह जयदेवः—

सिद्धिः ख्यातेषु चेन्नाम कीर्त्यते तुल्यतोक्तये ।
युवामेवेह विख्यातौ त्वं बलैर्जलधिर्जलैः ॥

इति । मतान्तरेऽत्र वक्ष्यमाणं दीपकमेव ॥ ४७ ॥

१५. दीपकालङ्कारः

वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः ।
मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः ॥ ४८ ॥

तुल्ययोगिता! यह वृत्ति ४६ वीं कारिका में दी दी है, तथापि प्रस्तुत लक्षण ४७ वीं कारिका वाले तुल्ययोगिता के लक्षण से मेल खाता है—यह सुधियों के द्वारा विचारणीय है ।

यहाँ वर्णनीय राजा को लोकपालत्व के आधार पर शक्रादि के समान बताया गया है ।

अथवा जैसे—

हिरनों के नेत्रों के समान नेत्रवाली सुन्दरियों की आरम्भ में अत्यधिक निबिड संगति तथा मेघों के द्वारा आरब्ध बिजली की चमक, दोनों ही दो क्षण भी नहीं ठहरतीं ।

इस तुल्ययोगिता भेद के उदाहरणों में प्रथम उदाहरण में राजा की स्तुति अभिप्रेत है, जब कि द्वितीय उदाहरण में स्त्रियों के प्रेम तथा बिजली की चमक की क्षणिकता बताकर उनकी निंदा अभिप्रेत है । दण्डी ने काव्यादर्श में इस तुल्ययोगिता भेद को दर्शाया है । कुछ विद्वान् इसी तुल्ययोगिता को सिद्धि भी कहते हैं । जैसा कि चन्द्रालोककार जयदेव ने बताया है:—

'जहाँ प्रसिद्ध पदार्थों में तुल्यता बताने के लिए उनका वर्णन किया जाय, वहाँ सिद्धि नामक अलंकार होता है । हे राजन्, आप दोनों ही इस संसार में प्रसिद्ध हैं, आप बल के कारण और समुद्र जल के कारण ।'

दूसरे आलंकारिकों के मत से यहाँ वक्ष्यमाण दीपक अलंकार ही पाया जाता है, क्योंकि यहाँ अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत के धर्मैक्य का वर्णन पाया जाता है ।

१५. दीपक अलंकार

४८—विद्वान् लोग दीपक उसे कहते हैं, जहाँ वर्ण्य (प्रस्तुत) तथा अवर्ण्य (अप्रस्तुत) का धर्मैक्य (एकधर्माभिसम्बन्ध) वर्णित किया जाता है । जैसे, हाथी मद से सुशोभित होता है, और राजा प्रताप से सुशोभित होता है ।

टिप्पणी—चन्द्रिकाकार ने दीपक का लक्षण यों दिया है—वर्ण्यावर्ण्यान्वितैकचमत्कारिधर्मो दीपकम् । यहाँ लक्षणकार ने सादृश्य शब्द का प्रयोग न कर उपमा का वारण किया है तथा 'वर्ण्यावर्ण्यान्वित' के द्वारा तुल्ययोगिता का वारण किया है, क्योंकि वहाँ 'वर्ण्य या अवर्ण्य' में से अन्यतर का एकधर्माभिसम्बन्ध पाया जाता है ।

प्रस्तुताप्रस्तुतानामेकधर्मान्वयो दीपकम्। यथा, कलभ-महीपालयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्भानक्रियान्वयः।

यथा वा—

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितो
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः॥

अत्र प्रस्तुतानां नृपाणामप्रस्तुतानां मण्यादीनां च शोभैकधर्मान्वयः। प्रस्तुतैकनिष्ठः समानो धर्मः प्रसङ्गादन्यत्रोपकरोति प्रासादार्थमारोपितो दीप इव रथ्यायामिति दीपसाम्याद्दीपकम्। 'संज्ञायां च' (वा० २४५८) इति इवार्थे कन् प्रत्ययः। यद्यपि—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत पदार्थों का एकधर्मान्वय दीपक कहलाता है जैसे, इस उदाहरण में हाथी तथा राजा रूप प्रस्तुताप्रस्तुत का 'भान' क्रिया रूप एक धर्म के साथ अन्वय किया गया है। अथवा जैसे,

शाण पर उल्लिखित मणि, आयुधों के द्वारा क्षत-विक्षत संग्रामजेता योद्धा, मदजल से क्षीण हाथी, शरद ऋतु में स्वच्छ एवं शुष्क तीरवाली सरिताएँ, कलामात्रावशिष्ट चन्द्रमा, सुरतक्रीडा के कारण म्लान नवयौवना तथा याचकों को समृद्धि देकर गलित-विभव राजा लोग कृशता के कारण सुशोभित होते हैं।

यहाँ प्रस्तुत राजा तथा अप्रस्तुत मणि आदि पदार्थों का शोभन क्रिया रूप एकधर्मान्वय पाया जाता है। इस अलंकार को दीपक इसलिए कहा गया है, कि यहां प्रस्तुत के लिए प्रयुक्त समान धर्म प्रसंगतः अन्यत्र (अप्रस्तुतों में) भी अन्वित होता है, यह ठीक वैसे ही है, जैसे महल पर प्रकाश के लिए जलाया गया दीपक गली में भी प्रकाश करता है, अतः दीपक के समान होने से यह दीपक कहलाता है। 'संज्ञायां च' इस वार्तिक के आधार पर यहाँ 'दीप इव दीपकः' (दीप+कन्) इस इवार्थ में यहाँ कन् नामक तद्धित प्रत्यय पाया जाता है।

(इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार एक शंका उठाकर उसका समाधान करते हैं। शंका यह है कि दीपक अलंकार के नामकरण में दीपक का साम्य प्रवृत्तिनिमित्त होने के कारण यह आवश्यक है कि जहाँ धर्म का पहले प्रस्तुत पदार्थ में अन्वय हो जाय, पश्चात् अन्यत्र (अप्रस्तुतों में) उसका प्रसंगतः अन्वय (प्रसंगोपकारित्व) हो, वहीं यह अलंकार हो सकेगा, फिर तो ऐसे स्थलों पर जहां पहले अप्रस्तुतों के साथ धर्म का अन्वय पाया जाता है, बाद में प्रस्तुत के साथ, वहाँ दीपक कैसे होगा? इसी का समाधान करते हैं।)

हम देखते हैं कि कई ऐसे स्थल हैं, जहाँ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत पदार्थों के साथ समान धर्म का अन्वय साथ-साथ ही होता है, जैसे निम्न पद्य में—

'इस सुवर्णपुष्पा पृथिवी का चयन तीन लोग ही कर पाते हैं; वीर, प्रसिद्ध विद्वान्, तथा वह व्यक्ति जो सेवा करना जानता है।'

(यहाँ शूर, कृतविद्य तथा सेवनक्रियाविद् व्यक्ति इन प्रस्तुताप्रस्तुत पदार्थों के समान धर्म 'सुवर्णपुष्पपृथिवीचयनक्रिया' का एक साथ वर्णन किया गया है।)

इत्यत्र प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां युगपद्धर्मान्वयः प्रतिभाति। 'मदेन भाति कलभ' इत्यत्राप्रस्तुतस्यैव प्रथमं धर्मान्वयः, तथापि प्रासङ्गिकत्वं न हीयते, वस्तुगत्या प्रस्तुतोद्देशेन प्रवृत्तस्यैव वर्णनस्याप्रस्तुतेऽन्वयात्। नहि दीपस्य रथ्याप्रासादयोर्युगपदुपकारित्वेन जामात्रर्थं अर्पितस्य सूपस्यातिथिभ्यः प्रथमपरिवेषणेन च प्रासङ्गिकत्वं हीयते। तुल्ययोगितायां त्वेकं प्रस्तुतम्, अन्यदप्रस्तुतमिति विशेषाग्रहणात् सर्वोद्देशेनैव धर्मान्वय इति विशेषः। अयं चानयोरपरो विशेषः—उभयोरनयोरुपमालङ्कारस्य गम्यत्वाविशेषेऽप्यत्राप्रस्तुतमुपमानं प्रस्तुतमुपमेयमिति व्यवस्थित उपमानोपमेयभावः, तत्र तु विशेषाग्रहणादैच्छिकः स इति ॥ ४८ ॥

इसी तरह 'मदेन भाति कलभः' वाले उदाहरण में पहले 'कलभ' रूप अप्रस्तुत के साथ शोभनक्रियारूप धर्म का अन्वय होता है, तदनन्तर राजा (प्रस्तुत) के साथ। तो ऐसे स्थलों पर धर्म का 'प्रसंगोपकारित्व' कैसे घटित हो सकेगा, जैसे महल का दीपक प्रसंगतः रथ्या को उपकृत करता है? यह पूर्वपक्षी की शंका है।

(समाधान) यद्यपि 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादि उदाहरण में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का धर्मान्वय साथ-साथ ही होता दिखाई पड़ता है, तथा 'मदेन भाति कलभः' में पहले अप्रस्तुत का ही धर्मान्वय पाया जाता है, तथापि इससे प्रस्तुत के धर्म का अप्रस्तुत के लिए प्रासंगिक होना अपास्त नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि प्रस्तुत के लिए प्रयुक्त अप्रस्तुत का पहले अन्वय हो जाता है, किंतु वह अप्रस्तुत प्रस्तुत के उद्देश से ही तो काव्य में वर्णित हुआ है। दीपक एक साथ गली तथा प्रासाद को प्रकाशित करता है, तो इसी कारण से उसका प्रासंगिकत्व नहीं हट जाता, इसी तरह यदि जामाता के लिए बनाये गये सूप को पहले अन्य अतिथियों को रख दिया जाय, तो उन्हें पहले परोस देने भर से सूप का प्रासंगिकत्व नहीं हट जाता। भाव यह है—दीपक वैसे तो महल के लिए जलाया गया है, पर वह साथ-साथ गली को भी प्रकाशित करता है, इसी तरह सूप खास तौर पर जामाता के लिए बनाया गया है, पर पहले दूसरे मेहमानों को परोस दिया गया—तो क्या इतने भर से इसका प्रसंगोपकारित्व लुप्त हो जायगा? अतः अप्रस्तुत के साथ-साथ ही प्रस्तुत का एकधर्माभिसम्बन्ध वर्णित करने से या अप्रस्तुत के साथ धर्म का अन्वय पहले होने भर से, वहाँ दीपक अलंकार न होगा, ऐसी शंका करना व्यर्थ है। तुल्ययोगिता अलंकार में इस तरह की कोई विशेषता नहीं पाई जाती कि एक पदार्थ प्रस्तुत हो और दूसरा अप्रस्तुत (क्योंकि वहाँ या तो सभी प्रस्तुत होते हैं, या सभी अप्रस्तुत), अतः सभी के साथ समान रूप से धर्म का अन्वय हो जाता है, दीपक से तुल्ययोगिता में यह भेद पाया जाता है। साथ ही इन दोनों में दूसरा भेद यह भी है। वैसे तो तुल्ययोगिता तथा दीपक दोनों ही अलंकारों में उपमालंकार व्यंग्य रहता है, इस समानता के होते हुए भी दीपक अलंकार में (यहाँ) अप्रस्तुत उपमान होता है, प्रस्तुत उपमेय, इस प्रकार दोनों में उपमानोपमेयभाव पाया जाता है, तुल्ययोगिता में ऐसा कोई भेदक नहीं पाया जाता, अतः किसे उपमान माना जाय तथा किसे उपमेय, यह कवि की इच्छा पर निर्भर (ऐच्छिक) है।

१६ आवृत्तिदीपकालङ्कारः

त्रिविधं दीपकावृत्तौ भवेदावृत्तिदीपकम् ।
वर्षत्यम्बुदमालेयं वर्षत्येषा च शर्वरी ॥ ४९ ॥
उन्मीलन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजोद्गमाः ।
माद्यन्ति चातकास्तृप्ता माद्यन्ति च शिखावलाः ॥ ५० ॥

दीपकस्यानेकोपकारार्थतया दीपस्थानीयस्य पदस्यार्थस्योभयोर्वाऽऽवृत्तौ त्रिविधमावृत्तिदीपकम् । क्रमेणार्धत्रयेणोदाहरणानि दर्शितानि ।

---

१६. आवृत्तिदीपक अलंकार

४९-५०—जहाँ दीपक की आवृत्ति हो, वहाँ आवृत्तिदीपक अलंकार होता है। (यह तीन प्रकार का होता है, पदावृत्तिदीपक, अर्थावृत्तिदीपक तथा उभयावृत्तिदीपक। इन्हीं के उदाहरण क्रमशः उपस्थित करते हैं।)

टिप्पणी—दण्डी ने भी आवृत्तिदीपक के तीन भेद माने हैं :—

अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरित्यपि ।
दीपकस्थानमेवेष्टमलंकारत्रयं यथा ॥ (काव्यादर्श २.११६)

जैसे, (१) यह मेघपंक्ति बरस रही है, और यह रात्रि वर्ष के समान आचरण कर रही है (किसी विरहिणी नायिका को प्रिय के वियोग के कारण रात वर्ष के समान लम्बी तथा दुःसह लग रही है।)

(यह पदावृत्तिदीपक का उदाहरण है, यहाँ 'वर्षति' क्रिया रूप एक धर्म की पुनः आवृत्ति की गई है। यह आवृत्ति केवल 'वर्षति' पद की ही है, क्योंकि दोनों स्थानों पर उसका एक ही अर्थ नहीं है, प्रथम स्थान पर उसका अर्थ 'बरस रही है' है दूसरे स्थान पर 'वर्ष के समान आचरण कर रही है।')

(२) कदम्ब के फूल विकसित हो रहे हैं, कुटज की कलियाँ फूल रही हैं।

(यह अर्थावृत्तिदीपक का उदाहरण है, यहाँ कदम्ब तथा कुटज रूप पदार्थों के साथ 'विकास' क्रियारूप एकधर्माभिसंबंध वर्णित किया गया है। इसमें कवि ने दोनों स्थानों पर विभिन्न पदों 'उन्मीलन्ति' तथा 'स्फुटन्ति' का प्रयोग किया है, अतः यह अर्थावृत्ति दीपक का उदाहरण है।)

(३) बादल को देखकर चातक तृप्त हो खुश (मस्त) हो रहे हैं और मयूर भी मस्त हो रहे हैं।

(यहाँ चातक तथा मयूर इन पदार्थों के साथ मोदक्रिया रूप एकधर्माभिसंबन्ध पाया जाता है, इसके लिए कवि ने उसी अर्थ में उसी पद की पुनरावृत्ति की है, अतः यह उभयावृत्तिदीपक का उदाहरण है।)

दीपक अलंकार में समानधर्म अनेक पदार्थों का उपकार करता है, अतः वह दीप के समान होता है। इस प्रकार दीपक के समान एकधर्मबोधक पद या एकधर्मबोधक अर्थ या एकधर्मबोधक पदार्थोभय में से किसी एक की आवृत्ति होने पर आवृत्तिदीपक होगा इस प्रकार यह तीन प्रकार होगा। कारिकाभाग के तीन पद्यार्धों के द्वारा क्रमशः इनका उदाहरण दिया गया है।

यथा वा—

उत्कण्ठयति मेघानां माला वर्गं कलापिनाम् ।
यूनां चोत्कण्ठयत्यद्य मानसं मकरध्वजः ॥
शमयति जलधरधारा चातकयूनां तृषं चिरोपनताम् ।
क्षपयति च वधूलोचनजलधारा कामिनां प्रवासरुचिम् ॥
वदनेन निर्जितं तव निलीयते चन्द्रबिम्बमम्बुधरे ।
अरविन्दमपि च सुन्दरि ! निलीयते पाथसां पूरे ॥

एवं चावृत्तीनां प्रस्तुताप्रस्तुतोभयविषयत्वाभावेऽपि दीपकच्छायापत्तिमात्रेण दीपकव्यपदेशः ॥ ४९-५० ॥

१७ प्रतिवस्तूपमालङ्कारः

वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता ।

अथवा जैसे—

वर्षाकाल में मेघों की पंक्ति मयूरों के समूह को उत्कण्ठ (उन्मुख, ऊँचे कण्ठ वाला) बना देती है; साथ ही कामदेव युवकों के मन को उत्कण्ठित कर देता है ।

(यहाँ मयूरवृन्द तथा युवकमन इन पदार्थों का उत्कण्ठित होना रूप एकधर्माभिसंबंध वर्णित है । यहाँ पदावृत्तियमक है, क्योंकि 'उत्कण्ठयति' पद की आवृत्ति पाई जाती है ।)

मेघों की जलधारा चातकों की बड़े दिनों से उत्पन्न प्यास को शांत करती है, नायिकाओं की अश्रुधारा नायकों की विदेश जाने की इच्छा को समाप्त कर देती है ।

यहाँ 'मेघधारा' तथा 'वधूलोचनजलधारा' रूप पदार्थों का तत्तत् पदार्थ को शांत कर देना रूप एकधर्माभिसंबंध वर्णित है । यहाँ कवि ने एक स्थान पर 'शमयति' का प्रयोग किया है, दूसरे स्थान पर 'क्षपयति' का, किंतु अर्थ दोनों का एक ही है, अतः यह अर्थावृत्तिदीपक का उदाहरण है ।)

'हे सुंदरि, तेरे मुख के द्वारा पराजित चन्द्रमा मेघ में छिप रहा है, साथ ही तेरे मुख के द्वारा पराजित कमल भी जलसमूह में छिप रहा है ।

(यहाँ कमल तथा चन्द्रमा दोनों के साथ निलीन होना रूप समानधर्म वर्णित है । इसके लिए कवि ने एक ही अर्थ में उसी पद (निलीयते) का दो बार प्रयोग किया है, अतः यह उभयावृत्तिदीपक का उदाहरण है ।)

आवृत्तिदीपक में दीपकसामान्य की भाँति कोई ऐसा नियम नहीं है कि यह वहीं होता हो; जहाँ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत पदार्थों का धर्मैक्य पाया जाता हो, यहाँ तो प्रस्तुत या अप्रस्तुत दोनों तरह के पदार्थों का ऐच्छिक नियंधन पाया जाता है, (उदाहरण के लिए 'उत्कण्ठयति मेघानाम्' तथा 'शमयति जलधारा' इन दोनों पद्यों में वर्षाकाल के वर्णन में दोनों पदार्थ प्रस्तुत हैं, जब कि 'वदनेन निर्जितम्' में चन्द्रबिंब तथा कमल दोनों अप्रस्तुत हैं—इस प्रकार आवृत्तिदीपक के उदाहरणों से स्पष्ट है कि यहाँ वैसा कोई नियम नहीं पाया जाता जैसा तुल्ययोगिता तथा दीपक में पाया जाता है) इतना होने पर भी दीपक के सादृश्यमात्र के कारण इसे भी दीपक (आवृत्तिदीपक) की संज्ञा दे दी गई है ।

१७. प्रतिवस्तूपमालंकार

५१—जहाँ उपमान वाक्य तथा उपमेय वाक्य में एक ही समानधर्म पृथक्-पृथक्

तापेन भ्राजते सूरः शूरश्चापेन राजते ॥ ५१ ॥

यत्रोपमानोपमेयपरवाक्ययोरेकः समानो धर्मः पृथङ् निर्दिश्यते सा प्रतिवस्तूपमा। प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमा समानधर्मोऽस्यामिति व्युत्पत्तेः। यथाऽत्रैव भ्राजते राजत इत्येक एव धर्म उपमानोपमेयवाक्ययोः पृथग्भिन्नपदाभ्यां निर्दिष्टः।

यथा वा—

स्थिरा शैली गुणवतां खलबुद्ध्या न,बाध्यते।
रत्नदीपस्य हि शिखा वात्ययापि न नाश्यते ॥

यथा वा—

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते ॥

अत्र यद्यपि उपमेयवाक्ये अनिच्छा उपमानवाक्ये अवीक्षेति धर्मभेदः प्रति-

---

रूप से निर्दिष्ट हो, वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है। जैसे सूर्य तेज के कारण प्रकाशित होता है, वीर धनुष से सुशोभित होता है।

जहाँ उपमानपरक तथा उपमेयपरक वाक्यों में एक ही समान धर्म पृथक् रूप से निर्दिष्ट हो, वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है। प्रतिवस्तूपमा शब्द की व्युत्पत्ति यह है—जहाँ प्रतिवस्तु अर्थात् प्रत्येक वाक्यार्थ में उपमा अर्थात् समानधर्म पाया जाय। जैसे, ऊपर के कारिकार्ध में 'भ्राजते' तथा 'राजते' पदों के द्वारा एक ही समानधर्म पृथक्-रूप से निर्दिष्ट हुआ है। यहाँ 'भ्राजते' उपमानवाक्य में प्रयुक्त हुआ है, 'राजते' उपमेयवाक्य में।

प्रतिवस्तूपमा के अन्य उदाहरण निम्न हैं :—

'दुष्टों की बुद्धि गुणवान् व्यक्तियों के स्थिर सद्व्यवहार को बाधा नहीं पहुँचा सकती; रत्नदीप की ज्योति को तूफान भी नहीं बुझा सकता।'

(यहाँ 'स्थिरा' इत्यादि पूर्वार्ध उपमेयवाक्य है, 'रत्नदीपस्य' इत्यादि उपमानवाक्य। इनके 'खलबुद्ध्या न बाध्यते' तथा 'वात्ययापि न नाश्यते' के द्वारा समानधर्म का पृथक् पृथक् निर्देश पाया जाता है।)

कोई भक्त इष्टदेवता से प्रार्थना कर रहा है :—'हे भगवन्, तुम्हारे अमृतवर्षी चरणकमल में अनुरक्तचित्त व्यक्ति दूसरी वस्तु की इच्छा कैसे कर सकता है? मकरन्द से परिपूर्ण कमल के रहते हुए भौंरा इक्षुरस को नहीं देखता।'

इस पद्य के उपमेयवाक्य में 'अनिच्छा' तथा उपमानवाक्य में 'अवीक्षा' नामक धर्म का उपादान किया गया है, अतः यह शंका उठना संभव है कि दोनों धर्मों में समानता नहीं दिखाई देती, फिर इसे प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण कैसे माना जा सकता है? इस शंका का समाधान करते कहते हैं :—

यद्यपि इस पद्य के उपमेयवाक्य में अनिच्छा तथा उपमानवाक्य में अवीक्षा का प्रयोग होने से आपाततः धर्मभेद प्रतीत होता है, तथापि अभिष्ट वीक्षणमात्र को हम किसी तरह नहीं रोक सकते, यह प्रतिपेधार्थ है इसलिए 'अवीक्षा' के द्वारा हम इच्छा

भाति, तथापि वीक्षणमात्रस्यावर्जनीयस्य प्रतिषेधानर्हत्वादिच्छापूर्वकवीक्षाप्रतिषेधोऽयमनिच्छापर्यवसित एवेति धर्मैक्यमनुसंधेयम्। अर्थावृत्तिदीपकं प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा; प्रतिवस्तूपमा तु प्रस्तुताप्रस्तुतानामिति विशेषः। अयं चापरो विशेषः—आवृत्तिदीपकं वैधर्म्येण न संभवति, प्रतिवस्तूपमा तु वैधर्म्येणापि दृश्यते। यथा—

पूर्वक वीक्षाप्रतिषेध (इच्छा से किसी वस्तु को देखने से अपने आपको रोकना) की प्रतीति करेंगे, इस प्रकार 'अवीक्षा' रूप अर्थ अनिच्छा में ही पर्यवसित हो जाता है। अतः दोनों में समान धर्म (धर्मैक्य) ढूँढ़ा जा सकता है।

टिप्पणी—इस पद्य का रसिकरंजनीकार सम्मत पाठ दूसरा ही है, उसका चतुर्थ चरण 'मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते' है। यही पाठ पण्डितराज तथा नागेश ने माना है। उसका अर्थ होगा '......भौंरा तालमखाने (इक्षुरक) को नहीं देखता'। पण्डितराज ने अप्पय दीक्षित के इस पद्य में दोष माना है। वे बताते हैं कि कुवलयानन्दकार ने यद्यपि किसी तरह इस पद्य में 'वीक्षण' को भी इच्छाप्रतिषेधरूप धर्म में पर्यवसित करके उपमेयवाक्य तथा उपमानवाक्य में धर्मैक्य प्रतिपादित कर दिया है, नहीं तो यहां 'इच्छति' तथा 'वीक्षति' एक ही सामान्य धर्म न मानने पर (वस्तुप्रतिवस्तुभाव घटित न होने पर) बिम्बप्रतिबिम्बभाव मानकर दृष्टान्त मानना होगा, तथापि इस पद्य का जिस रूप में पाठ दिया गया है, उसमें उपमेयवाक्य में 'पादपंकजे निवेशितात्मा' भक्त का विशेषण है, तथा यहां आधार सप्तमी पाई जाती है, जब कि उपमानवाक्य में 'स्थितेऽरविन्दे (सति)' इस सतिसप्तमी का प्रयोग करने पर यह अंश भ्रमर (मधुव्रत) का विशेषण नहीं बन सकता। इस प्रकार यह सति सप्तमी न तो वस्तुप्रतिवस्तुभाव के ही अनुरूप है, न बिम्बप्रतिबिम्बभाव के ही, इस तरह इस पद्य में शिथिलता तो बनी ही रहती है। यदि इसके तृतीय पद में हेर-फेर कर पद्य को यों बना दिया जाय तो सुन्दर रहेगा :—

'तवामृतस्यन्दिनि पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितोऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते॥'

'एवम्—'तव......वीक्षते' इति कुवलयानन्दोदाहृते आलुवन्दारुस्तोत्रपद्ये वीक्षणमात्रस्यावर्जनीयस्य प्रतिषेधानर्हत्वादिच्छापूर्वकवीक्षणप्रतिषेधस्य च 'सविशेषणे हि—' इति न्यायेनेच्छाप्रतिषेधधर्मपर्यवसायितया यद्यपि धर्मैक्यं सुसंपादम्। अस्तु वा दृष्टान्तालङ्कारः तथापि पादपङ्कजे निवेशितात्मेत्याधारसप्तम्याः स्थितेऽरविन्दे इति सतिसप्तमी वस्तुप्रतिवस्तुबिम्बप्रतिबिम्बभावयोरन्यतरेणापि प्रकारेण नानुरूपा, इत्यसंप्लुलता स्थितैव। 'स्थितोऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे' इति चेत्क्रियते तदा तु रमणीयम्।' (रसगंगाधर पृ. ४५१-५२)

साथ ही देखिये रसिकरंजनी—'अत्रोदाहरणे 'स्थितेऽरविन्दे' इति न युक्तः पाठः। तथात्वे निवेशितात्मेति उपमेयविशेषणस्योपमाने प्रतिविशेषणाभावेन विच्छित्तिविशेषाभावप्रसंगात्। अतः 'स्थितोऽरविन्दे' इति युक्तः पाठः।' (पृ. ८६)

अर्थावृत्तिदीपक में भी तत्तत् वाक्य में पृथक् पदों के द्वारा समान धर्म का निर्देश पाया जाता है, तो फिर प्रतिवस्तूपमा में उससे क्या भेद है—इस जिज्ञासा का समाधान करते कहते हैं—अर्थावृत्तिदीपक में उपमान तथा उपमेय दोनों या तो प्रस्तुत होते हैं, या अप्रस्तुत, जब कि प्रतिवस्तूपमा में एक वाक्य प्रस्तुतपरक (उपमेय) होता है, दूसरा अप्रस्तुतपरक (उपमान)। साथ ही इनमें दूसरा भेद भी पाया जाता है, वह यह कि आवृत्तिदीपक सदा साधर्म्य में ही पाया जाता है, उसे वैधर्म्यशैली से उपन्यस्त

विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।
न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम् ॥
यदि सन्ति गुणाः पुंसां विकसन्त्येव ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते ॥ ५१ ॥

नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रतिवस्तूपमा वैधर्म्य के द्वारा भी उपस्थित की जा सकती है, जैसे निम्न उदाहरणों में :—

टिप्पणी—प्रतिवस्तूपमा का लक्षण चन्द्रिकाकार ने यों दिया है :—'भिन्नशब्दबोध्यैकधर्मगम्यं प्रस्तुताप्रस्तुतवाक्यार्थसादृश्यं प्रतिवस्तूपमा ।' इसमें 'भिन्नशब्द' इत्यादि पदके द्वारा दृष्टान्तका वारण किया गया है, क्योंकि दृष्टान्त में एक ही धर्म नहीं पाया जाता, वहां तो बिंबप्रतिबिंबभाव-रूप सादृश्य पाया जाया है । प्रतिवस्तूपमा में वस्तुप्रतिवस्तुभाव होता है, दृष्टान्त में बिंबप्रति-बिंबभाव । इसी पद के 'गम्यं' शब्द के द्वारा वाक्यार्थोपमा (—दिवि भाति यथा भानुस्तथा त्वं भ्राजसे भुवि) का वारण किया गया है, क्योंकि उक्त उपमा में सादृश्य वाच्य होता है, यहां गम्य (व्यंग्य) । अर्थावृत्तिदीपक के वारण के लिए 'प्रस्तुताप्रस्तुत' इत्यादि पद का प्रयोग किया गया है, क्योंकि 'प्रस्तुताप्रस्तुत' प्रतिवस्तूपमा में होते हैं, जब कि अर्थावृत्तिदीपक में या तो दोनों प्रस्तुत होंगे या दोनों अप्रस्तुत । 'वाक्यार्थसादृश्यं' का प्रयोग स्मरण का वारण करने के लिए हुआ है । स्मरण अलंकार, जैसे इस पद्य में—'आननं मृगशावाक्ष्या वीक्ष्य लोलालकावृतम् । भ्रमद्भ्रमरसंकीर्णं स्मरामि सरसीरुहम्' । इस पद्य में भी स्मरण को हटा लेने पर 'लोलालकावृत आनन भ्रमद्-भ्रमरसंकीर्ण सरसीरुह के समान है' (तादृशसरोरुहसदृशं तादृशमाननं) इस पदार्थगता उपमा की ही प्रतीति होती है । अतः इसके द्वारा स्मरण का भी वारण हो जाता है ।

'विद्वान् के परिश्रम को विद्वान् ही जानता है । बांझ महती प्रसववेदना को नहीं जानती ।'

'यदि लोगों में गुण हैं, तो वे स्वयं ही विकसित होते हैं । कस्तूरी की सुगन्ध सौगन्द से नहीं लायी जा सकती ।'

(यहां प्रथम श्लोक में पूर्वार्ध उपमेयवाक्य है, उत्तरार्ध उपमानवाक्य, इसी तरह द्वितीय श्लोक में भी पूर्वार्ध उपमेयवाक्य है, उत्तरार्ध उपमानवाक्य । यहां दोनों स्थानों पर वैधर्म्य के द्वारा समान धर्म का पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है ।)

टिप्पणी—'यदि सन्ति गुणाः' इत्यादि पद्य में वैधर्म्यगतप्रतिवस्तूपमा कैसे हो सकती है ? इस शंका का समाधान यों किया जा सकता है । शंकाकार की शंका यह है—'वैधर्म्य उदाहरण' हम उसे कहते हैं, जहां प्रस्तुत धर्मिविशेष के साथ प्रयुक्त अर्थ को दृढ बनाने के लिए अप्रकृत अर्थ के रूप में किसी ऐसे अन्य धर्मी का वर्णन किया गया हो, जो प्रस्तुत धर्मी के द्वारा आक्षिप्त अपने व्यतिरेक (प्रतियोगी) का समानजातीय हो । (वैधर्म्योदाहरणं हि प्रस्तुतधर्मिविशेषोपारूढा-र्थद्रढिम्ने स्वाक्षिप्तस्वव्यतिरेकसमानजातीयस्य धर्म्यन्तरारूढस्याप्रकृतार्थस्य कथनम् ।) इसका उदाहरण यह है:—

वंशभवो गुणवानपि संगविशेषेण पूज्यते पुरुषः ।
नहि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम् ॥

इस पद्य में 'संगविशेषेण पूज्यते' इस प्रस्तुत अर्थ के द्वारा 'संगविशेष के बिना नहीं पुजासकता' इस व्यतिरेकरूप अर्थ का आक्षेप होता है, इस व्यतिरेकरूप अर्थ के समान जातीय अन्य धर्मी से संबद्ध अप्रकृत अर्थ का प्रयोग 'तूँबी के फल से रहित वीणादण्ड आदर प्राप्त नहीं करता' इस रूप

१८ दृष्टान्तालङ्कारः

चेद्बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः।
त्वमेव कीर्तिमान् राजन्! विधुरेव हि कान्तिमान् ॥ ५२ ॥

में किया गया है। इस प्रकार यह वैधर्म्योदाहरण है। 'यदि संति गुणाः पुंसां' इत्यादि पद्य में उपमेयवाक्य में 'गुण स्वयं विकसित हो रहे हैं' कोई दूसरा पदार्थ उनका विकास नहीं करता, इस प्रस्तुत अर्थ का सजातीय अप्रकृत अर्थ ही 'शपथेन न विभाव्यते किंतु स्वयमेव' इसके द्वारा प्रतीत हो रहा है, क्योंकि अप्रकृत अर्थ प्रकृत अर्थ के समान (अनुरूप) ही पर्यवसित हो जाता है। भाव यह है यहाँ 'शपथ से नहीं जानी जा सकती अपितु स्वयं ही जानी जा सकती है' इस अर्थापत्तिगम्य अर्थ के द्वारा उपमानवाक्य वाला अर्थ उपमेय वाक्य का सजातीय ही बन जाता है, फिर यह उदाहरण वैधर्म्य का कैसे हुआ? यह शंका पण्डितराज जगन्नाथ की है। (दे० रसगंगाधर पृ० ४४६-४८)

चन्द्रिकाकार ने यह शंका उठा कर इसका समाधान यों किया है :—आपके 'वंशभवो गुणवानपि' इत्यादि पद्य में भी वैधर्म्योदाहरणत्व कैसे है? वहाँ भी 'तुम्बीफलविकल वीणादण्ड आदर नहीं पाता, किन्तु तुम्बीफलयुक्त ही आदर पाता है' इस प्रकार अप्रकृत प्रकृत का सजातीय (अनुरूप) हो जाता है। जहाँ कहीं वैधर्म्योदाहरण होगा, वहाँ सभी जगह साधर्म्यपर्यवसान मानना ही होगा, क्योंकि उसके बिना उपमा हो ही न सकेगी, यदि ऐसा न करेंगे तो साधर्म्य ही समाप्त (उच्छिन्न) हो जायगा। यदि उस पद्य को आपने इसलिए वैधर्म्योदाहरण के रूप में दिया है कि वहाँ आपाततः वैधर्म्य पाया जाता है, तो यह बात 'यदि संति गुणाः' वाले अस्मदुदाहृत पद्य पर भी लागू होती है। साथ ही आपने 'वैधर्म्योदाहरणं हि' इत्यादि के द्वारा जो वैधर्म्योदाहरण का निर्वचन किया वह भी दुष्ट है, क्योंकि ऐसा निर्वचन करने पर तो निम्न वैधर्म्यदृष्टान्त में उसकी अव्याप्ति पाई जाती है :—

'भटा परेषां विशरारुतामगुरर्दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः।'

क्योंकि यहाँ 'भटाः परेषां विशरारुताम् अगुः' (शत्रुओं के योद्धा मुक्तबाण हो गये) यह प्रस्तुतवाक्यार्थ अपने व्यतिरेक का आक्षेप नहीं करता, जब कि यहाँ 'अवाते पांसवः स्थिरतां दधति' (हवा न चलने पर धूल के कण शांत रहते हैं) यह अप्रस्तुत वाक्यार्थ अपने व्यतिरेक (वाते वाति सति पांसवः स्थिरतां न दधति) का आक्षेप करता है तथा उससे उपमेयवाक्य के साथ बिम्बप्रतिबिम्बभाव घटित होता है। तब फिर आपके निर्वचन का 'स्वाक्षिप्तस्वव्यतिरेक-समानजातीयस्य धर्म्यन्तरारूढाप्रकृतार्थस्य' वाला अंश कैसे संगत हो सकेगा? अतः स्पष्ट है वैधर्म्योदाहरण में व्यतिरेक का आक्षेप प्रस्तुतार्थ या अप्रस्तुतार्थ में से कोई एक कर सकता है।

१८. दृष्टान्त अलङ्कार

५२—जहाँ उपमेय वाक्य तथा उपमान वाक्य में निर्दिष्ट भिन्न धर्मों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो, वहाँ दृष्टान्त नामक अलंकार होता है। जैसे, हे राजन्, संसार में अकेले तुम ही यशस्वी हो तथा अकेला चन्द्रमा ही कांतिमान् है।

(यहाँ प्रथम वाक्य (उपमेय वाक्य) में कीर्तिमत्त्व धर्म निर्दिष्ट है, द्वितीय वाक्य (उपमान वाक्य) में कांतिमत्त्व, यहाँ कीर्ति तथा कांति में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।)

यत्रोपमानोपमेयवाक्ययोर्भिन्नावेव धर्मौ बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टौ तत्र दृष्टान्तः। 'त्वमेव कीर्तिमान्' इत्यत्र कीर्ति-कान्त्योर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः।

यथा वा (रघु० ६।२२)—

कामं नृपाः सन्ति सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥

यथा वा—

देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः।
अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किं त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

नन्वत्रोपमानोपमेयवाक्ययोर्ज्ञानमेक एव धर्म इति प्रतिवस्तूपमा युक्ता। नैवम्; अचेतने मन्थाचले ज्ञानस्य बाधितत्वेन तत्र जानातीत्यनेन सागराध-

---

जहाँ उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्य में भिन्न-भिन्न धर्मों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश किया गया हो, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। जैसे 'त्वमेव कीर्तिमान्' इत्यादि उदाहरण में कीर्ति तथा कांति में बिम्बप्रतिबिम्बभाव पाया जाता है।

टिप्पणी—उपमानोपमेयवाक्यार्थघटकधर्मयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावो दृष्टान्त इति लक्षणम्।
(चन्द्रिका पृ. ५७)

अथवा जैसे—

सुनन्दा नामक प्रतिहारिणी इन्दुमती से मगधराज का वर्णन कर रही है। यद्यपि इस पृथ्वी पर अनेकों राजा हैं, तथापि इसी राजा के कारण पृथ्वी राजन्वती कही जाती है। यद्यपि रात्रि सैकड़ों नक्षत्र तथा तारों से युक्त होती है, तथापि वह चन्द्रमा के ही कारण ज्योतिष्मती कहलाती है।

(यहाँ राजन्वती तथा ज्योतिष्मती में बिम्बप्रतिबिम्बभाव पाया जाता है। पहले उदाहरण से इस उदाहरण में यह भेद है कि वहाँ कीर्ति तथा कांति के बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव के द्वारा उपमेय (राजा) तथा उपमान (चन्द्रमा) के मनोहारित्वरूप सादृश्य की प्रतीति आर्थी है, जब कि इस उदाहरण में राजा तथा चन्द्रमा के प्रशंसनीयत्व (प्राशस्त्य) रूप सादृश्य की प्रतीति शाब्दी है।) अथवा जैसे—

'वैसे तो अनेकों लोग वाग्देवी सरस्वती की उपासना करते हैं, किन्तु गुरुकुल में परिश्रम से अध्ययन करने वाला अकेला (यह) मुरारि कवि ही सरस्वती के रहस्य (सार) को जानता है। अनेकों बन्दरों ने समुद्र को पार किया है, किन्तु इस समुद्र की गम्भीरता को अकेला मन्दराचल ही जानता है, जो अपने पुष्ट शरीर से पाताल तक समुद्र में डूब चुका है।'

यहाँ उपमेयवाक्य तथा उपमानवाक्य दोनों स्थानों पर 'ज्ञान रूप धर्म' (जानीते, जानाति) का ही प्रयोग किया गया है, अतः यह शंका होना सम्भव है कि यहाँ दृष्टान्त न हो कर प्रतिवस्तूपमा अलंकार होना चाहिए। इसी शंका का निषेध करते कहते हैं कि इन दोनों वाक्यों में ज्ञान रूप एक ही धर्म का निर्देश पाया जाता है, अतः यहां प्रति-वस्तूपमा होनी चाहिए—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि अचेतन मन्दराचल के साथ 'जानाति' क्रिया का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में बाधित होता है (भला अचेतन पर्वत ज्ञान-

स्तलावधिसंस्पर्शमात्रस्य विवक्षितत्वात्। अत्रोदाहरणे पदावृत्तिदीपकाद्विशेषः पूर्ववत्प्रस्तुताप्रस्तुतविषयत्वकृतो द्रष्टव्यः। वैधर्म्येणाप्ययं दृश्यते—

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम्॥ ५२॥

१९ निदर्शनालङ्कारः

वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना।
यद्दातुः सौम्यता सेयं पूर्णेन्दोरकलङ्कता॥ ५३॥

क्रिया का कर्ता कैसे बन सकता है, जो चेतन का धर्म है)। इसलिए मंथाचल के पद्य में 'जानाति' पद से (लक्षणा से) कवि की विवक्षा सिर्फ यह है कि उसने सागर के निम्न तल तक का स्पर्श किया है। (इस प्रकार यहाँ सार-ज्ञान तथा निम्नतलस्पर्श दोनों में बिंब-प्रतिबिंबभाव घटित हो ही जाता है, तथा दृष्टान्त भी घटित होता है।) इस उदाहरण में पदावृत्ति दीपक से यह भेद है कि वहाँ या तो दोनों प्रस्तुत या दोनों अप्रस्तुत का ही उपादान होता है, यहाँ एक (मुरारिवृत्तान्त) प्रस्तुत है, दूसरा (मन्दरवृत्तान्त) अप्रस्तुत।

टिप्पणी—तथा च धर्मभेदान्न प्रतिवस्तूपमा, किन्तु सारस्वतसारज्ञानसागराधस्तलाव-धिसंस्पर्शयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावाद् दृष्टान्तालंकार एवेत्याशयः। (चन्द्रिका पृ० ५८)

दृष्टान्त का वैधर्म्यगत प्रयोग भी देखा जाता है:—

कोई मंत्री राजा से कह रहा है:—'हे राजन्, तुमने अपने मन को गर्वाभिमुख बना दिया है (अर्थात् स्वयं मन को गर्वयुक्त नहीं किया है), और क्या चाहिए, हमारे शत्रु ऐसे ही (शस्त्रादि के बिना ही) मार दिये गये (न कि अब मारे जायँगे)। जब तक सूर्य उदया-चल के मस्तक पर उदित नहीं होता, तभी तक अन्धकार खड़ा रह पाता है।'

(यहाँ मन का गर्वाभिमुखीकरण तथा वैरिहनन राजा का धर्म है; इनका वैधर्म्य से 'सूर्य का उदयाचलमस्तक पर न आना' तथा 'अन्धकार की स्थिति' रूप सूर्य के धर्म के साथ क्रमशः बिंबप्रतिबिंबभाव पाया जाता है।)

टिप्पणी—अत्र मनोगर्वाभिमुखीकरणवैरिहननयोरंशुमदुदयाचलमस्तकानागमनतमः-स्थित्योश्च यथाक्रमं वैधर्म्येण बिंबप्रतिबिंबभावः। (वही पृ० ५८)

रसिकरंजनीकार का कहना है कि दृष्टान्तालंकार में सर्वत्र मूल में काव्यलिंग अलंकार पाया जाता है। किन्तु इस बात से यह शंका करना व्यर्थ है कि फिर दृष्टान्तालंकार मानना ही व्यर्थ है। यद्यपि दृष्टान्त सर्वत्र काव्यलिंग के द्वारा संकीर्ण होता है तथापि यहाँ दृष्टान्त वाले विशेष चमत्कार की सत्ता होती है, अतः उसका अनुभव होने के कारण इसे अलग से अलंकार मानना ही होगा। जैसे सहोक्ति आदि कई अलंकार सदा अतिशयोक्तिसंकीर्ण ही होते हैं, अतिशयोक्ति के बिना उनकी सत्ता नहीं होती, तथापि उन्हें अलग अलंकार मानने का कविसिद्धान्त है ही; ठीक वैसे ही यहाँ भी दृष्टान्त को अलग ही मानना चाहिए।

'सर्वत्र दृष्टान्तस्य काव्यलिंगसंकीर्णतैव। न चासंकीर्णतदुदाहरणाभावेनास्यालंकारत्वं न स्यादिति वाच्यम्। संकीर्णत्वेऽपि तत्कृतविच्छित्तिविशेषस्यानुभूयमानतया अलंकारत्वो-पपत्तेः। सहोक्त्यादीनामतिशयोक्तिविविक्तविषयत्वाभावेऽप्यलंकारान्तरत्वस्य सिद्धान्तस-म्प्रतिपन्नत्वात्।' (रसिकरञ्जनी पृ० ८९)

१९. निदर्शना अलंकार

५३—जहाँ दो समान वाक्यार्थों में ऐक्यारोप हो अर्थात् जहाँ उपमेयवाक्यार्थ पर

अत्र दातृपुरुषसौम्यत्वस्योपमेयवाक्यार्थस्य पूर्णेन्दोरकलङ्कत्वस्योपमानवाक्यार्थस्य यत्तद्भ्यामैक्यारोपः।

यथा वा—

अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितं
स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम्।
श्वपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजापः कृतो
धृतोऽन्धमुखदर्पणो यदबुधो जनः सेवितः॥

अत्राबुधजनसेवाया अरण्यरोदनादीनां च यत्तद्भ्यामैक्यारोपः॥ ५३॥

उपमानवाक्यार्थ का अभेदारोप हो, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है, जैसे, दानी व्यक्ति में जो सौम्यता है ठीक वही पूर्ण चन्द्रमा में निष्कलङ्कता है।

यहाँ दानी व्यक्ति की सौम्यतारूप उपमेयवाक्यार्थ तथा पूर्णेन्दु की निष्कलंकतारूप उपमानवाक्यार्थ में यत्-तत् इन दो पदों के द्वारा ऐक्यारोप किया गया है।

टिप्पणी—पंडितराज जगन्नाथ इस लक्षण से सहमत नहीं। उनके मतानुसार निदर्शना में आर्थ अभेद होना जरूरी है, जहाँ श्रौत (शाब्द) अभेद पाया जाता है, वहाँ रूपक ही होगा। अतः रूपक की अतिव्याप्ति के वारण के लिए यहाँ आर्थ अभेद का संकेत करना आवश्यक है। वे स्पष्ट कहते हैं रूपक तथा अतिशयोक्ति से निदर्शना का भेद यह है कि वहाँ क्रमशः शाब्द आरोप तथा अध्यवसान पाया जाता है, जब कि यहाँ आर्थाभेद होता है। 'एवं चारोपाध्यवसानमार्गबहिर्भूत आर्थ एवाभेदो निदर्शनाजीवितम्'—(रसगंगाधर पृ० ४६३) तभी तो पंडितराज निदर्शना का लक्षण यों देते हैं:—

'उपात्तयोरर्थयोरार्थाभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना।' (वही पृ० ४५९)

इसी आधार पर वे 'यद्दातुः सौम्यता सेयं पूर्णेन्दोरकलंकता' में रूपक ही मानते हैं तथा दीक्षित की इस परिभाषा तथा उदाहरण दोनों का खण्डन करते हैं। (दे० पृ० ४६२)

अथवा जैसे—

'जिस व्यक्ति ने मूर्ख की सेवा की, उसने अरण्यरोदन किया है, मुर्दे के शरीर पर उबटन किया है, जमीन पर कमल को लगाया है, ऊसर जमीन में बड़ी देर तक वर्षा की है, कुत्ते की पूँछ को सीधा किया है, बहरे के कान में चिल्लाया है और अंधे के मुख के सामने दर्पण रक्खा है।'

(यहाँ उपमानरूप में अनेक वाक्यार्थों का प्रयोग किया गया है, जो निरर्थकता रूप धर्म की दृष्टि से समान है। इन वाक्यार्थों का मूर्ख पुरुष की सेवा रूप उपमेय वाक्यार्थ पर आरोप किया गया है। पहले उदाहरण से इसमें यह भेद है कि वहाँ उपमेय वाक्यार्थ पर एक ही उपमान वाक्यार्थ का ऐक्यारोप पाया जाता है, जब कि यहाँ अनेकों उपमान वाक्यार्थों का ऐक्यारोप वर्णित है। इस प्रकार यह मालारूपा निदर्शना का उदाहरण है।)

यहाँ अबुधजनसेवन तथा अरण्यरोदन आदि का यत्-तत् पदों के प्रयोग के द्वारा ऐक्यारोप वर्णित है।

टिप्पणी—इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक होगा कि रत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने इस उदाहरण में निदर्शना नहीं मानी है। वे इस उदाहरण में स्पष्टरूपेण मालावाक्यार्थरूपक मानते हैं। उनका कहना है कि यहाँ तत् शब्द तथा यत् शब्द के प्रयोग से विषय (अबुधजनसेवन)

तथा विषयी (अरण्यरोदनादि) का सामानाधिकरण्य पाया जाता है। यह शाब्द होने के कारण इसमें शाब्द मालावाक्यार्थरूपक है :—'अरण्यरुदितं'''सेवितः' इत्यादौ सामर्थ्यलभ्यस्य तच्छब्दस्य यच्छब्देन सामानाधिकरण्याच्छाब्दं मालावाक्यार्थरूपकम् ।' (रत्नाकर पृ० ३७) इसी से आगे वे आर्थ वाक्यार्थरूपक का निम्न उदाहरण देते हैं, जहाँ भी संभवतः कुछ लोग निदर्शना ही मानने का विचार प्रकट करेंगे।

'स वक्तुमखिलाञ्शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान्।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं कर्तुं शक्तो महोदधेः॥'

यत्र हयग्रीवगुणवर्णनं तत् समुद्राम्बुकुम्भपरिच्छेद इति प्रतीतेः वाक्यार्थरूपकस्यार्थत्वम्। (पृ० ३८)

शोभाकरमित्र ने निदर्शना एक ही तरह की मानी है। वे केवल असंभवद्वस्तु सम्बन्ध में ही निदर्शना मानते हैं :—'असति सम्बन्धे निदर्शना' (सू० १८)

इसी सम्बन्ध में एक शास्त्रार्थ चल पड़ा है। अलंकारसर्वस्वकार ने वाक्यार्थनिदर्शना का एक प्रसिद्ध उदाहरण दिया है :—

'त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः॥'

इस उदाहरण को लेकर शोभाकरमित्र ने बताया है कि यह उदाहरण वाक्यार्थनिदर्शना का है ही नहीं।

वे बताते हैं कि यहाँ पादनखों का अलक्तकमार्जन तथा चन्द्रमा का श्रीखण्डलेपन इन दोनों वाक्यार्थों में 'इदं' के द्वारा श्रौत सामानाधिकरण्य पाया जाता है, अतः यह वाक्यार्थरूपक ही है, निदर्शना नहीं। यदि यहाँ रूपक न मानेंगे तो 'मुखं चन्द्रः' जैसे पदार्थरूपक में भी निदर्शना का प्रसंग उपस्थित होगा। इस तरह तो रूपक अलंकार ही समाप्त हो जायगा।

'त्वत्पादनखरत्नानां'''विधोः' इत्यादौ वाक्यार्थयोः सामानाधिकरण्यनिर्देशाच्छ्रौतारोपसद्भावेन वाक्यार्थरूपकं वचयत इति निदर्शनाबुद्धिर्न कार्या। अन्यथा 'मुखं चन्द्र' इत्यादौ पदार्थरूपकेऽपि निदर्शनाप्रसंग इति रूपकाभावः स्यात्'। (रत्नाकर पृ० २१)

पंडितराज जगन्नाथ ने भी रसगंगाधर में इस प्रकरण को लिया है। वे भी रत्नाकर की ही दलील देते हैं। वे अलंकारसर्वस्वकार की खबर लेते हैं तथा यहाँ वाक्यार्थरूपक ही मानते हैं। यदि कोई यह कहे कि रूपक तथा निदर्शना में यह भेद है कि रूपक में बिंबप्रतिबिंबभाव नहीं होता, निदर्शना में होता है, अतः यहाँ बिंबप्रतिबिंबभाव होने से निदर्शना ही होगी, वाक्यार्थरूपक नहीं, तो यह दलील थोथी है, हम रूपक के प्रकरण में बता चुके हैं कि रूपक में बिंबप्रतिबिंबभाव भी हो सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी आलंकारिकंमन्य ने तुम्हें भुलावा दे दिया है कि रूपक में बिंबप्रतिबिंबभाव नहीं होता 'रूपके बिंबप्रतिबिंबभावो नास्तीति, केनाप्यालंकारिकंमन्येन प्रतारितोऽसि' (रस० पृ० ३०१)। वस्तुतः यहाँ भी बिंबप्रतिबिंबभाव हो सकता है।

(दे० हमारी टिप्पणी रूपकप्रकरण)

'अलंकारसर्वस्वकारस्तु—'त्वत्पाद'''विधोः' इति पद्यं वाक्यार्थनिदर्शनाया उदाजहार। आह च—'यत्र तु प्रकृतवाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्यते सामानाधिकरण्ये न तत्र सम्बन्धानुपपत्तिमूला निदर्शनैव युक्ता' इति। तन्न। वाक्यार्थरूपकस्य दुरुद्धरत्वापत्तेः ''''''
रूपके बिम्बत्वं नास्तीति तु शपथमात्रम्, युक्त्यभावात्।' (रस० पृ० ४६१-६२)

रसगंगाधरकार ने बताया है कि इस पद्य को यों कर देने से निदर्शना हो सकेगी।

'त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकैः।
इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः॥' (वही पृ० ४६२)

पदार्थवृत्तिमप्येके वदन्त्यन्यां निदर्शनाम् ।
त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनोः ॥ ५४ ॥

अत्र नेत्रयुगले नीलाम्बुजगतलीलापदार्थारोपो निदर्शना ।

यथा वा—

वियोगे गौडनारीणां यो गण्डतलपाण्डिमा ।
अदृश्यत स खर्जूरीमञ्जरीगर्भरेणुषु ॥

पूर्वस्मिन्नुदाहरणे उपमेये उपमानधर्मारोपः, इह तूपमाने उपमेयधर्मारोप इति भेदः । उभयत्राप्यन्यधर्मस्यान्यत्रासंभवेन तत्सदृशधर्माक्षेपादौपम्ये पर्यवसानं तुल्यम् । इयं पदार्थवृत्तिनिदर्शना ललितोपमेति जयदेवेन व्याहृता । यद्यपि 'वियोगे गौडनारीणाम्' इति श्लोकः प्राचीनैर्वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनायामुदाहृतः,

---

किंतु रत्नाकरकार इस रूप में भी निदर्शना मानने को तैयार न होंगे, ऐसा जान पड़ता है, वे यहाँ आर्थ वाक्यार्थरूपक मानना चाहेंगे । ध्यान दीजिये, ऊपर शोभाकरमित्र ने आर्थ वाक्यार्थरूपक का जो उदाहरण दिया है ('स वक्तुमखिलान्शक्तो' इत्यादि पद्य), वह इस पद्य से ठीक मिलता है। दोनों में समानता है । रसगंगाधरकार का मत इस अंश में शोभाकर से भिन्न है, वे बताते हैं कि जहाँ शाब्द आरोप होगा वहाँ रूपक होगा, जहाँ आर्थ अभेद होगा वहाँ निदर्शना—'एवं चारोपाध्यवसायमार्गबहिर्भूत आर्थ एवाभेदो निदर्शनाजीवितम् ।' (वही पृ० ४६३) शोभाकर आर्थ अभेद में भी निदर्शना नहीं मानते, रूपक ही मानते हैं । हम बता चुके हैं, शोभाकर केवल एक ही तरह की निदर्शना मानते हैं ।

५४—कुछ आलंकारिक पदार्थ सम्बन्धिनी (दूसरी) निदर्शना को भी मानते हैं । जैसे, हे सुंदरि, तुम्हारे दोनों नेत्र दो नील कमलों की शोभा को धारण करते हैं ।

यहाँ नेत्रयुगल पर नीलकमलगत (नीलकमलसम्बन्धी) लीला रूप पदार्थ का आरोप पाया जाता है, अतः यह निदर्शना है । अथवा जैसे—

'अपने प्रिय के वियोग के समय गौड देश की स्त्रियों के कपोलों पर जो पीलापन होता था वह खर्जूरी लता की मंजरी के पराग में दिखाई दिया ।'

पहले उदाहरण से इस उदाहरण में यह भेद है कि वहाँ उपमेय (नेत्र) पर उपमान के धर्म (नीलाब्जलीला) का आरोप पाया जाता है, जब कि यहाँ उपमान (खर्जूरी-मंजरी) पर उपमेयधर्म (गण्डतलपाण्डिमा) का आरोप पाया जाता है । दोनों ही स्थानों पर एक वस्तु का धर्म अन्यत्र नहीं पाया जाता, उसका वहाँ होना असंभव है, अतः इस वर्णन से उसके समान तद्वस्तुधर्म का आक्षेप कर लिया जाता है, इस प्रकार यह अन्य धर्म-सम्बन्ध दोनों उदाहरणों में समान रूप से उपमा में पर्यवसित होता है । इस पदार्थ-वृत्ति-निदर्शना को जयदेव ने ललितोपमा माना है । (ऊपर जिस उदाहरण को दिया गया है, वह प्राचीन आलंकारिकों के मत से वाक्यार्थनिदर्शना का उदाहरण है, किन्तु अप्पय दीक्षित ने उसे पदार्थनिदर्शना के उदाहरण रूप में उपन्यस्त किया है । अतः शंका होना आवश्यक है । इसी शंका का समाधान करते दीक्षित कहते हैं ।)

यद्यपि 'वियोगे गौडनारीणाम्' इत्यादि पद्य को प्राचीन आलंकारिकों ने वाक्यार्थवृत्ति-निदर्शना का उदाहरण माना है (क्योंकि उनके मत से उपमेय में उपमानधर्मारोप होने पर पदार्थवृत्तिनिदर्शना पाई जाती है, उपमान में उपमेयधर्मारोप होने पर वे वाक्यार्थ-

तथापि विशिष्टयोर्धर्मयोरैक्यारोपो वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना। उपमानोपमेययोरन्यतरस्मिन्नन्यतरधर्मारोपः पदार्थवृत्तिनिदर्शनेतिव्यवस्थामाश्रित्यास्माभिरिहोदाहृतः। एवं च—

'त्वयि सति शिव ! दातर्यस्मदभ्यर्थितानामितरमनुसरन्तो दर्शयन्तोऽर्थिमुद्राम्।
चरमचरणपातैर्दुर्ग्रहं दोग्धुकामाः करभमनुसरामः कामधेनौ स्थितायाम्॥'
'दोर्भ्यामब्धिं तितीर्षन्तस्तुष्टुवुस्ते गुणार्णवम्॥'

वृत्तिनिदर्शना मानते हैं), तथापि हमारे मत से वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना वहाँ होती है, जहाँ उपमेय तथा उपमान दोनों के विशिष्ट धर्मों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव निबद्ध किया जाय तथा पदार्थवृत्तिनिदर्शना वहाँ होगी, जहाँ उपमान तथा उपमेय में से किसी एक के धर्म का किसी दूसरे पर आरोप किया जाय। (भाव यह है, जहाँ उपमेय के धर्म तथा उपमान के धर्म का पृथक्-पृथक् रूप से उपादान कर उनका बिम्बप्रतिबिम्बभाव निबद्ध किया गया हो, वहाँ वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना होगी, जहाँ केवल एक ही के धर्म का उपादान कर या तो उपमेय पर उपमान के धर्म का आरोप किया गया हो या उपमान पर उपमेय के धर्म का आरोप हो, वहाँ पदार्थवृत्तिनिदर्शना होगी।) निदर्शना के दोनों भेदों के इस मानदण्ड को मानकर हमने 'वियोगे गौडनारीणां' इत्यादि पद्य को पदार्थवृत्तिनिदर्शना के उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया है।

(यदि कोई पूर्वपक्षी इस भेद का मानदण्ड यह माने कि एकवाक्यगत निदर्शना पदार्थवृत्ति होती है, अनेकवाक्यगत (वाक्यभेदगत) निदर्शना वाक्यार्थवृत्ति, तो यह ठीक नहीं, इसलिए अप्पयदीक्षित ऐसे स्थल देते हैं, जहाँ वाक्यभेद न होने पर भी वाक्यार्थनिदर्शना पाई जाती है।)

हम कुछ उदाहरण ले लें, जिनमें वाक्यभेद न होने पर भी वाक्यार्थनिदर्शना पाई जाती है :—

कोई भक्त शिव से कह रहा है :—'हे शिव, हमारी समस्त अभीप्सित वस्तुओं के दाता तुम्हारे होते हुए, अन्य तुच्छ देवादि का अनुसरण कर याचक बनते हुए हमलोग कामधेनु के होते हुए भी, पिछले चरणों के फटकारने से दुःख से वश में आने वाले ऊँट के बच्चे के पास दुहने की इच्छा से जाते हैं।'

(यहाँ शिव को छोड़ कर अन्य देवादि की सेवा करने की क्रिया पर कामधेनु के होते भी दूध की इच्छा से करभ का अनुसरण करने की क्रिया का आरोप किया गया है। यद्यपि यहाँ एक ही वाक्य है, उपमेयवाक्य तथा उपमानवाक्य भिन्न-भिन्न नहीं हैं, तथापि उपमेय के विशिष्ट धर्म (शिव के होने पर भी तुच्छ देवों से याचना करना) तथा उपमान के विशिष्ट धर्म (कामधेनु के होते हुए भी दूध के लिए उष्ट्रशिशु का अनुसरण) में ऐक्यारोप पाया जाता है, अतः यहाँ वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना पाई जाती है।)

'हे राजन्, 'अपने दोनों हाथों से समुद्र के तैरने की इच्छावाले उन लोगों ने तुम्हारे गुण-समुद्र का स्तवन किया।'

टिप्पणी—इसी का मालारूप निम्न पद्य में है :—

दोर्भ्यां तितीर्षति तरंगवतीभुजंगमादातुमिच्छति करे हरिणांकबिम्बम्।
मेरुं विलंघयिषति ध्रुवमेव देव यस्ते गुणान् गदितुमुद्यममादधाति॥

इत्यादिषु वाक्यभेदाभावेऽपि वाक्यार्थवृत्तिरेव निदर्शना; विशिष्टयोरैक्यारोपसद्भावात्। 'वाक्यार्थयोः सदृशयोः' इति लक्षणवाक्ये वाक्यार्थशब्देन बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नवस्तुविशिष्टस्वरूपयोः प्रस्तुताप्रस्तुतधर्मयोर्विवक्षितत्वादिति।

एवं च—

'राजसेवा मनुष्याणामसिधारावलेहनम्।
पञ्चाननपरिष्वङ्गो व्यालीवदनचुम्बनम्॥'

इत्यत्र प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयोरेकैकपदोपात्तत्वेऽपि वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनाया न क्षतिः। तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नवस्तुविशिष्टव्यवहाररूपत्वात्। अत एव निदर्शनाया रूपकाद्भेदः। रूपके ह्यविशिष्टयोरेव मुखचन्द्रादिकयोरैक्यारोपः।

(इस उदाहरण में भी वाक्य एक ही है, उपमेयवाक्य तथा उपमानवाक्य अलग अलग नहीं पाये जाते, किन्तु एक ही वाक्य में उपमेय के विशिष्ट धर्म (गुणस्तवन) तथा उपमान के विशिष्ट धर्म (हाथों के द्वारा समुद्रतितीर्षा) में ऐक्यारोप पाया जाता है, अतः यह भी वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना है।)

इन उदाहरणों में उपमेय तथा उपमान एवं उनके विशिष्ट धर्मों का उपादान एक ही वाक्य में पाया जाता है, फिर भी यहाँ वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना ही है, क्योंकि उपमानोपमेय के तत्तत् विशिष्ट धर्मों में ऐक्यारोप पाया जाता है। (इस पर पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि ऐसा मानने पर वाक्यार्थनिदर्शना का युष्मदुदाहृत लक्षण 'वाक्यार्थयोः सदृशयोः' कैसे ठीक बैठेगा, इसी शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं।) वाक्यार्थनिदर्शना के लक्षण 'वाक्यार्थयोः सदृशयोः' में 'वाक्यार्थ' शब्द के द्वारा केवल यही विवक्षित नहीं है कि उपमानोपमेय दो वाक्य में ही हों, अपितु यह विवक्षित है कि प्रस्तुत (उपमेय) तथा अप्रस्तुत (उपमान) के तत्तत् धर्म बिंबप्रतिबिंबभावरूप विशिष्ट स्वरूप वाले हों—भाव यह है 'वाक्यार्थयोः सदृशयोः' के द्वारा वाक्यद्वयभाव विवक्षित न होकर बिंबप्रतिबिंबभावरूप से ऐक्यारोप प्राप्त करते प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के धर्मों का उपादान विवक्षित है। (इसीलिए यदि कहीं प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के धर्मों का अलग-अलग उपादान न कर समस्त प्रस्तुत वृत्तान्त एक ही पद में, तथा समस्त अप्रस्तुत वृत्तान्त का भी केवल एक ही पद में वर्णन किया गया हो, वहाँ भी वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना ही होगी।)

इस प्रकार—

'मनुष्यों के लिए राजसेवा तलवार की धार का चाटना, शेर का आलिंगन तथा सर्पिणी के मुख का चुम्बन है।'

(यहाँ 'राजसेवा' प्रस्तुत वृत्तान्त है, जो एक ही पद में वर्णित है, इसी तरह 'असिधारावलेहन' आदि अप्रस्तुत वृत्तान्त हैं, वे भी एक ही पद में वर्णित हैं, किंतु यहाँ उपमेय धर्म पर तत्तत् उपमानधर्म का ऐक्यारोप स्पष्ट है, अतः वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना हो जाती है। इसमें मालारूपा वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना है।)

इस उदाहरण में प्रस्तुत वृत्तान्त तथा अप्रस्तुत वृत्तान्त का एक-एक ही पद में उपादान किया है, फिर भी यहाँ वाक्यार्थनिदर्शना क्षुण्ण नहीं होती, क्योंकि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में बिंबप्रतिबिंबभाव को प्राप्त होने के कारण उनके विशिष्ट धर्मों का ऐक्यारोप पाया जाता है। यही वह भेदक तत्त्व है, जिसके कारण निदर्शना रूपक से भिन्न सिद्ध होती है। रूपक में अविशिष्ट (धर्मादि से रहित) मुखचन्द्रादि (विषयविषयी) का

'अङ्घ्रिदण्डो हरेरूर्ध्वमुत्क्षिप्तो बलिनिग्रहे।
विधिविष्टरपद्मस्य नालदण्डो मुदेऽस्तु वः॥'

इति विशिष्टरूपकोदाहरणेऽपि न बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नवस्तुविशिष्टरूपता; विधिविष्टरकमलदण्डविशिष्टत्वरूपसाधारणधर्मवत्तासंपादनार्थमेव तद्विशेषणोपादानात्। 'यद्दातुः सौम्यता' इत्यादिनिदर्शनोदाहरणेषु दातृपूर्णेन्द्वादीनामानन्दकरत्वादिनेवात्र विशेषणयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावात्। यत्र तु विषयविषयिविशेषणानां परस्परसादृश्येन बिम्बप्रतिबिम्बभावोऽस्ति।

'ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।

ऐक्यारोप पाया जाता है। (यहां तक कि जहां विषय मुखादि) तथा विषयी (चन्द्रादि) दोनों के तत्तत् विशिष्ट धर्मों का प्रयोग रूपक के प्रकरण में देखा जाता है, वहां भी उनमें बिंबप्रतिबिंबभाव नहीं पाया जाता, इसे स्पष्ट करने के लिए हम रूपक का एक उदाहरण ले लें।)

दैत्यराज बलि के बन्धन के समय ऊपर उठाया हुआ विष्णु का चरण, जो ब्रह्मा के आसनरूपी पद्म का नालदण्ड है, आप लोगों को प्रसन्न करे।'

यहां विष्णु का चरण (अंघ्रिदण्डः) विषय है, इस पर 'नालदण्डः' इस विषयी का आरोप किया गया है, यद्यपि यहां विशिष्ट (धर्मविशिष्ट) विषयविषयी का उपादान हुआ है (अर्थात् ऊर्ध्वोत्क्षिप्तत्वविशिष्टांघ्रिदण्ड (विषय) तथा विधिविष्टरपद्मसम्बन्धित्वविशिष्टनालदण्ड (विषयी) का उपादान हुआ है) तथापि बिंबप्रतिबिंबभाव वाले तत्तत् धर्म से विशिष्ट होने के कारण होने वाला ऐक्यारोप यहां नहीं पाया जाता, क्योंकि ब्रह्मा के आसनरूप कमलदण्ड से विशिष्टभाव के साधारण धर्म को बताने के लिए ही इन दोनों विशेषणों का उपादान हुआ है। जिस तरह 'दातुः सौम्यता' आदि निदर्शना के उदाहरणों में दाता (प्रस्तुत) पूर्णेन्दु (अप्रस्तुत) आदि के 'सौम्यता' तथा 'अकलंकता' रूप विशेषणों में 'आनन्दकरत्व' पाया जाता है, अतः इनमें बिंबप्रतिबिंबभाव घटित हो जाता है, ठीक इसी तरह इस रूपक के उदाहरण में नहीं है। (भाव यह है, यहां तत्तत् उपमेयोपमान (विषयविषयी) के साथ जिन विशेषणों (धर्मों) का प्रयोग हुआ है, वह केवल समान धर्म का संकेत करने के लिए हुआ है, 'ऊर्ध्वोत्क्षिप्त' तथा 'विधिविष्टरपद्म' में कोई बिंबप्रतिबिंबभाव नहीं पाया जाता और जब तक बिंबप्रतिबिंबभाव नहीं होगा, तब तक निदर्शना न होगी।)

(पूर्वपक्षी को पुनः यह शंका हो सकती है कि उक्त रूपकोदाहरण से निदर्शना वाले प्रकरण में भेद हो सकता है, किन्तु सावयवरूपक से क्या भेद है? इसी का समाधान करने के लिए कहते हैं।)

हम ऐसा उदाहरण ले लें, जहाँ सावयवरूपक के प्रकरण में विषय तथा विषयी के तत्तत् विशेषणों (धर्मों) में परस्पर सादृश्य के कारण बिंबप्रतिबिंबभाव पाया जाता है, जैसे निम्न उदाहरण में—

'चाँदनी की भस्म लपेटे उजली बनी, तारों की अस्थियाँ धारण करती, अपने अन्तर्धान

द्वीपाद्द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ॥'

इति सावयवरूपकोदाहरणे। तत्रापि विषयविषयिणोस्तद्विशेषणानां च प्रत्येकमेवैक्यारोपः, न तु ज्योत्स्नादिविशिष्टरात्रिरूपविषयस्य भस्मादिविशिष्टकापालिकीरूपविषयिणश्च विशिष्टरूपेणैक्यारोपोऽस्तीति। तस्मात् 'राजसेवा मनुष्याणाम्' इत्यादावपि वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनैव युक्ता। मतान्तरे त्विह पदार्थवृत्त्यैव निदर्शनया भाव्यमिति ॥ ५४ ॥

अपरां बोधनं प्राहुः क्रियायाऽसत्सदर्थयोः।
नश्येद्राजविरोधीति क्षीणं चन्द्रोदये तमः ॥ ५५ ॥

के व्यसन में अनुरक्त यह रात्रिरूपिणी योगिनी अपने चन्द्रमारूपी मुद्राकपाल (खप्पर) में कलंक के बहाने सिद्धांजन का चूर्ण रखकर प्रत्येक द्वीप में विचरण कर रही है।

(यहाँ सावयव रूपक है, क्योंकि रात्रि (विषय) पर कापालिकी (विषयी) का तथा उसके तत्तत् अवयव ज्योत्स्नादि (विषय) पर कापालिकी के तत्तत् अवयव भस्मादि (विषयी) का आरोप किया गया है। यहाँ ज्योत्स्नादि तथा भस्मादि में परस्पर सादृश्य होने के कारण बिंबप्रतिबिंबभाव पाया जाता है; अतः तत्तत् धर्मों के बिंबप्रतिबिंबभाव होने पर इससे निदर्शना का क्या भेद है, यह शंकाकार का अभिप्राय है।)

यद्यपि यहाँ तत्तत् विषयविषयिविशेषणों (ज्योत्स्नाभस्मादि) के परस्पर सादृश्य के कारण उनका बिंबप्रतिबिंबभाव पाया जाता है, तथापि यहाँ भी विषय (रात्रि) तथा विषयी (कापालिकी) एवं उनके तत्तत् विशेषणों (ज्योत्स्नाभस्मादि) का एक-एक पर ऐक्यारोप पाया जाता है। यह आरोप व्यस्तरूप में होता है, विशिष्टरूप में नहीं कि ज्योत्स्नादिविशिष्ट रात्रि रूप विषय पर भस्मादिविशिष्ट कापालिकीरूप विषयी का ऐक्यारोप होता हो। (भाव यह है यहाँ, एक-एक विषय रात्रि तथा तदवयव ज्योत्स्नादि पर स्वतन्त्रतः एक-एक विषयी कापालिकी तथा तदवयव भस्मादि का आरोप पाया जाता है, तदनन्तर संपूर्ण सावयव रूपक की निष्पत्ति होती है, ऐसा नहीं होता कि पहले ज्योत्स्नादि विशेषणों का अन्वय रात्रि के साथ घटित हो जाता हो, इसी तरह भस्मादि का अन्वय कापालिकी के साथ, तदुपरान्त तद्विशिष्ट रात्रि पर तद्विशिष्ट कापालिकी का ऐक्यारोप होता हो। यदि दूसरा विकल्प होता तो निदर्शना में और सावयवरूपक के उदाहरणों में भेद न मानने का प्रसंग उपस्थित हो सकता है।) अतः स्पष्ट है कि 'राजसेवा मनुष्याणां' इत्यादि पद्य में भी वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना मानना ही ठीक है। केवल वाक्यद्वय में ही तथा पृथक् रूप से प्रस्तुताप्रस्तुत तथा उनके तत्तत् धर्म के पृथक्-पृथक् उपादान में ही वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना मानने वाले आलंकारिकों के मत में (मतान्तरे तु) इस पद्य ('राजसेवा' इत्यादि) में पदार्थवृत्ति निदर्शना ही होगी।

(निदर्शना का द्वितीय प्रकार)

५५. जहाँ किसी विशेष क्रिया से युक्त पदार्थ की क्रिया से असत् या सत् अर्थ का बोधन कराया जाय, वहाँ भी निदर्शना होती है। जैसे, 'राजा (चन्द्रमा) का विरोधी नष्ट हो जाता है' इसलिए चन्द्रोदय होने पर अन्धकार नष्ट हो गया।' (यह असत् अर्थरूपा

उद्यन्नेव सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम् ।
विभावयन् समृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रहः ॥ ५६ ॥

कस्यचित्किंचित्क्रियाविशिष्टस्य स्वक्रियया परान्प्रति असतः सतो वाऽर्थस्य बोधनं यन्निबध्यते तदपरां निदर्शनामाहुः । असदर्थबोधने उत्तरार्धमुदाहरणम् । तत्र नश्येदिति बोधयदिति वक्तव्ये बोधयदित्यस्य गम्यमानत्वादप्रयोगः । ततश्च राज्ञा चन्द्रेण सह विरुध्य स्वयं नाशक्रियाविशिष्टं तमः स्वकीयनाशक्रियया दृष्टान्तभूतया अन्योऽप्येवं राजविरुद्धश्चेन्नश्येदित्यनिष्टपर्यवसायिनमर्थं बोधयदेव नष्टमित्यर्थनिबन्धनादसदर्थनिदर्शना । तथा उत्तरश्लोके सविता स्वोदयसमय एव पद्मेषु लक्ष्मीमादधानः स्वया पद्मलक्ष्म्याधानक्रियया परान्प्रति समृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रह एवेति श्रेयस्करमर्थं बोधयन्निबद्ध इति सदर्थनिदर्शना ।

यथा वा—

उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन् ।
शैलशेखरगतः पृषद्गणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः ॥

अत्र गिरिशेखरगतो वृष्टिबिन्दुगणो मन्दमारुतमात्रेणापि कम्पितः पतन् लघोरुन्नतपदप्राप्तिः पतनहेतुरित्यसदर्थं बोधयन्निबद्ध इत्यसदर्थनिदर्शना ।

निदर्शना का उदाहरण है ।) 'समृद्धि का फल यह है कि मित्रों के प्रति कृपा की जाय'—इस बात को संकेतित करता सूर्य उदित होते ही कमलों में शोभा का संचार कर देता है ।'

(यह सत् अर्थरूपा निदर्शना का उदाहरण है ।)

जहाँ किसी विशिष्ट क्रिया से युक्त कोई पदार्थ अपनी क्रिया से अन्य व्यक्तियों के प्रति असत् या सत् अर्थ का बोधन कराये, वहाँ दूसरी निदर्शना होती है । प्रथम पद्य के उत्तरार्ध में असत् अर्थ के बोधन का उदाहरण है । इस उदाहरण में 'नश्येत् इति बोधयत्' का प्रयोग करना अभीष्ट था, किन्तु कवि ने 'बोधयत्' पद को व्यंग्य रखा है, अतः उसका प्रयोग नहीं किया है । इस उदाहरण में राजा अर्थात् चन्द्रमा के साथ विरोध करने पर स्वयं नाशक्रिया से युक्त (अर्थात् नष्ट होता) अन्धकार अपनी नाशक्रिया के दृष्टान्त से इस बात का बोध कराता नष्ट हो रहा है कि राजा से विरोध करने वाला अन्य व्यक्ति भी इसी तरह नष्ट हो जायगा—इस प्रकार यहाँ असत् अर्थ का बोधन कराने के कारण यहाँ असदर्थनिदर्शना है । दूसरे श्लोक में, सूर्य उदय होने के समय ही कमलों में शोभा का संचार कर अपनी पद्मलक्ष्याधान क्रिया (कमलों में शोभा का निक्षेप करने की क्रिया) के द्वारा दूसरे व्यक्तियों को इस सत् अर्थ की सूचना देता है कि 'समृद्धि का फल सुहृदनुग्रह ही है'—इस प्रकार यहाँ सदर्थनिदर्शना पाई जाती है ।

अथवा जैसे—

'पर्वत-शिखर पर आरूढ जलसमूह मन्द हवा के झोंकों से नीचे यह बताते हुए गिर रहा है कि क्षुद्र व्यक्ति को उच्च पद की प्राप्ति हो जाने पर भी, उसे नीचे गिरना ही पड़ता है ।'

यहाँ पर्वतशिखर पर पड़ा हुआ वृष्टिबिन्दुसमूह मन्द हवा के झोंके से काँप कर गिरते हुए इस असत् अर्थ का बोधन कराता है कि तुच्छ व्यक्ति की उच्चपदप्राप्ति उसके पतन का कारण है—अतः यहाँ असदर्थनिदर्शना है ।

चूडामणिपदे धत्ते यो देवं रविमागतम् ।
सतां कार्योऽऽतिथेयीति बोधयन् गृहमेधिनः ॥

अत्र समागतं रविं शिरसा संभावयन्नुदयाचलः स्वनिष्ठया रविधारणक्रियया समागतानां सतामेवं गृहमेधिभिरातिथ्यं कार्यमिति सदर्थं बोधयन्निबद्ध इति सदर्थनिदर्शना। अत्र केचित् वाक्यार्थवृत्ति-पदार्थवृत्तिनिदर्शनाद्वयमसंभवद्वस्तुसंबन्धनिबन्धनमिति, तृतीया तु संभवद्वस्तुसंबन्धनिबन्धनेति च व्यवहरन्ति। तथा हि—आद्यनिदर्शनायां वाक्यार्थयोरैक्यमसंभवत्तयोः साम्ये पर्यवस्यति। द्वितीयनिदर्शनायामपि अन्यधर्मोऽन्यत्रासंभवन् धर्मिणोः साम्ये पर्यवस्यति। तृतीयनिदर्शनायां तु स्वक्रियया परान्प्रति सदसदर्थबोधनं संभवदेव समतां गर्भीकरोति। 'बोधयन् गृहमेधिनः' इत्यादौ हि 'कारीषोऽग्निरध्यापयति' इतिवत्समर्थाचरणे णिचः प्रयोगः। ततश्च यथा कारीषोऽग्निः शीतापनयनेन बटूनध्ययनसमर्थान्करोति एवं वर्ण्यमानः पर्वतः स्वयमुपमानभावेन गृहमेधिन उक्तबोधनसमर्थान्कर्तुं क्षमते। यथाऽयं पर्वतः समागतं रविं शिरसा संभावयति,

---

(सदर्थनिदर्शना का उदाहरण निम्न है।)

'उदय' पर्वत का वर्णन है। 'जो उदय पर्वत गृहस्थों को इस बात का बोधन कराता हुआ कि 'सज्जनों का अतिथिसत्कार करना चाहिए', अपने समीप आये सूर्य देवता को मस्तक पर धारण करता है।'

यहाँ अपने घर आये सूर्य को शिर से आदर करता (सिर पर धारण करता) हुआ उदयाचल अपने में निष्ठ (अपनी) रविधारणक्रिया के द्वारा इस सदर्थ का बोधन कराता वर्णित किया गया है कि घर आये सज्जन व्यक्तियों का गृहस्थों को अतिथिसत्कार करना चाहिए—इस प्रकार यहाँ सदर्थनिदर्शना पाई जाती है।

कुछ आलंकारिक वाक्यार्थनिदर्शना तथा पदार्थनिदर्शना को असंभवद्वस्तुसंबंधरूपा निदर्शना तथा इस तीसरे प्रकार की असत्सदर्थनिदर्शना को संभवद्वस्तुसंबंधरूपा निदर्शना मानते हैं। इस सरणि से पहली निदर्शना (वाक्यार्थनिदर्शना) में प्रस्तुताप्रस्तुत वाक्यार्थों का ऐक्य होना असंभव है, अतः यह वस्तुसंबंध उन दोनों के साम्य में पर्यवसित होता है। इसी तरह दूसरी (पदार्थवृत्ति) निदर्शना में एक (अप्रस्तुत) का धर्म अन्यत्र (प्रस्तुत में) होना असंभव है, अतः वह अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत के साम्य की प्रतीति कराता है। तीसरी (असत्सदर्थनिदर्शना) निदर्शना में अपनी क्रिया के द्वारा दूसरों के प्रति असत् या सत् अर्थ का बोधन कराना संभव है, अतः यह संभव होकर ही उनके साम्य की व्यंजना कराता है। 'बोधयन् गृहमेधिनः' में 'बोधयन्' रूप णिजंतपद का प्रयोग अचेतन पर्वत के साथ कैसे किया गया इस शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं :—'बोधयन् गृहमेधिनः' इस वाक्य में 'कारीषोऽग्निरध्यापयति' (गाय के कंडे की आग बटुओं को पढ़ाती है) की तरह णिच् (प्रेरणार्थक) का प्रयोग समर्थाचरण के अर्थ में किया गया है। इसलिए, जैसे कारीष अग्नि बटुओं की ठंड मिटाकर उन्हें पढ़ने में समर्थ बनाती है, उसी तरह वर्ण्यमान उदयाचल भी स्वयं उपमान के रूप में होकर गृहस्थों को उक्त अर्थ के बोधन में समर्थ बनाता है। बोध्य अर्थ यह है कि 'जिस तरह उदयाचल पास आये (अतिथि) सूर्य को सिर से धारण कर उसका आदर करता है, वैसे ही गृहस्थी को

एवं गृहमेधी समागतं सन्तमुचितपूजया संभावयेदिति। अतः संभवति बोधनसंबन्ध इति ॥ ५५–५६ ॥

गृहागत सज्जन का आदर सत्कार करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ बोधनसंबंध संभाव्य है।

टिप्पणी—इस संबंध में एक विचार हो सकता है कि निदर्शना के इस तीसरे भेद को उत्प्रेक्षा से भिन्न मानना ठीक नहीं। हम देखते हैं कि 'नश्येद्राजविरोधी' आदि उदाहरण में अन्धकार में बोधनक्रिया की संभावना की गई है, जिसका निमित्त 'नाश' है। ठीक इसी तरह 'लिम्पतीव तमोंगानि' में उत्प्रेक्षा है। दोनों में कोई खास भेद नहीं जान पड़ता। दोनों में यह भेद अवश्य है कि वहाँ वह वाच्या है, यहाँ गम्या। हम देखते हैं कि 'उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ध्रुवम्' में ध्रुवं इस उत्प्रेक्षाव्यंजक शब्द का प्रयोग हुआ ही है। अतः निदर्शना केवल असंभवद्वस्तुसंबंधवाली (पदार्थ तथा वाक्यार्थरूपा) ही होती है। इसमें एक धर्मी में अन्य धर्मी का तादात्म्यारोप तथा उसके धर्मों का आरोप इस प्रकार दो ही तरह की होती है। इस बात का संकेत गंगाधर वाजपेयी ने रसिकरंजनी में किया है तथा इसे अपने गुरु का मत बताया है।

'अत्रेदं चिन्त्यम्। तृतीया निदर्शनानातिरिक्ता अभ्युपगन्तव्या। उत्प्रेक्षयैव चारितार्थ्यात्। तथा हि—'नश्येद्राजविरोधी'त्यादौ तमसि बोधनमुत्प्रेक्ष्यते नाशेन निमित्तेन 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इत्यत्रेव। न हि ततोऽत्र मात्रयापि वैलक्षण्यमीक्षामहे। इयांस्तु विशेषः। यत्तत्र सम्भावनाद्योतकेवादिशब्दोपादानाद्वाच्या सा। इह तदनुपादानाद्गम्येति। अत एव 'उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ध्रुवम्।' इत्युदाहरणान्तरे ध्रुवमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकशब्दोपादानम्। एवं चासम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धनमेकमेव निदर्शनम्। तच्च धर्मिणि धर्म्यन्तरतादात्म्यारोपतद्धर्मारोपाभ्यां द्विविधमित्येव युक्तमित्यस्मद्देशिकपरिशीलितः पन्थाः।' (रसिकरंजनी पृ० ९७)

मम्मट ने दीक्षित की पदार्थनिदर्शना तथा वाक्यार्थनिदर्शना में असंभवद्वस्तुसंबंध माना है, तभी तो उनकी निदर्शना की परिभाषा यों है :—'निदर्शना, अभवन् वस्तुसंबन्ध उपमापरिकल्पकः' (१०. ९७)

संभवद्वस्तुसंबंधवाली निदर्शना का लक्षण मम्मट ने यों दिया है :—

'स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा' (१०. ९८)

रुय्यक ने मम्मट की तरह दो लक्षण न देकर एक ही लक्षण में दोनों का समावेश कर दिया है।

'संभवतासंभवता वा वस्तुसंबन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना।' (पृ० ९७)

रुय्यक का यह लक्षण उद्भट के लक्षण के अनुरूप है :—

अभवन् वस्तुसंबन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना ॥ (काव्यालंकारसारसंग्रह ५. १०)

मम्मट तथा रुय्यक ने इसे मालारूपा भी माना है। मम्मट ने इसका उदाहरण 'दोर्भ्यां तितीर्षति' इत्यादि टिप्पणी में पूर्वोदाहृत पद्य दिया है। दीक्षित ने भी वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना के प्रसंग में जो उदाहरण दिया है वह ('अरण्यरुदितं कृतं' इत्यादि) रुय्यक के द्वारा मालारूपा निदर्शना के ही प्रसंग में उद्धृत किया गया है। फलतः दीक्षित भी मालारूपा निदर्शना का संकेत कर रहे हैं।

२० व्यतिरेकालङ्कारः

व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः ।
शैला इवोन्नताः सन्तः किन्तु प्रकृतिकोमलाः ॥ ५७ ॥

अयमुपमेयाधिक्यपर्यवसायी व्यतिरेकः ।

यथा वा—

पल्लवतः कल्पतरोरेष विशेषः करस्य ते वीर ! ।
भूषयति कर्णमेकः परस्तु कर्णं तिरस्कुरुते ॥

सन्न्यूनत्वपर्यवसायी यथा—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्तास्तथा मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक ! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥

---

२०. व्यतिरेक अलंकार

५७—यदि उपमान तथा उपमेय में परस्पर विलक्षणता (विशेष) पाई जाय, तो वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। जैसे, सज्जन पर्वतों के समान उन्नत, किन्तु प्रकृति से कोमल होते हैं।

(यहाँ सज्जन उपमेय है, पर्वत उपमान। पर्वत स्वभावतः कठोर हैं, जब कि सज्जन प्रकृत्या कोमल हैं। इसलिए उपमेय में उपमान से विलक्षणता पाई जाती है।)

यह उदाहरण उपमेय के आधिक्य में पर्यवसित होने वाले व्यतिरेक का है।

टिप्पणी—एवं किंचिद्धर्मप्रयुक्तसाम्यवत्तया प्रतीयमानयोः किंचिद्धर्मप्रयुक्तवैलक्षण्यं व्यतिरेकशरीरम्। वैलक्षण्यं तु क्वचिदुपमेयस्योत्कर्षे, क्वचिच्च तदपकर्षे पर्यवसन्नं, क्वचित्तु तदन्यतरपर्यवसानविरहेऽपि स्ववैचित्र्यविश्रान्तमात्रमिति बोध्यम्। (चन्द्रिका पृ० ६६)

अथवा जैसे—

कोई कवि किसी राजा की दानशीलता की प्रशंसा कर रहा है :—हे वीर, तुम्हारे हाथ में कल्पवृक्ष के पल्लव से यह विशेषता (भेद) पाई जाती है, कि वह तो (देवांगनाओं के) कान को सुशोभित करता है, जब कि तुम्हारा हाथ दानवीरता में (राधापुत्र) कर्ण का तिरस्कार करता है।

(इस उदाहरण में पहले उदाहरण से यह भेद है कि वहाँ उपमानोपमेय का सादृश्य 'उन्नतत्व' के द्वारा शाब्द है, यहाँ वह (रक्तत्वादि) आर्थ (गम्य) है, साथ वह यहाँ कर्ण के श्लिष्ट प्रयोग पर भी आश्रित है।)

उपमेय की न्यूनता वाला व्यतिरेक जैसे निम्न पद्य में—

कोई विरही अशोक वृक्ष से कह रहा है :—'हे अशोक, तुम पल्लवों के कारण लाल (रक्त) हो, मैं प्रेयसी के प्रशस्त गुणों के कारण अनुरक्त (रक्त) हूँ, तुम्हारे पास भौंरे (शिलीमुख) आते हैं, मेरे पास भी कामदेव के धनुष से छूटे बाण (शिलीमुख)आ रहे हैं, प्रेयसी का चरणाघात जिस तरह तेरे मोद के लिये होता है, वैसे ही मुझे खुश करता

अनुभयपर्यवसायी यथा—

दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः॥ ५७॥

है। हे भाई अशोक, तुम और मैं दोनों सभी बातों में समान हैं, 'केवल भेद इतना है कि तुम अशोक (शोकरहित) हो, जब कि विधाता ने मुझे सशोक (शोकसहित) बनाया है।'

(यहाँ 'सशोक' पद के द्वारा उपमेय (विरही) की अनुत्कृष्टता (अपकर्ष) बताई गई है, अतः यह उपमेयन्यूनत्वपर्यवसायी व्यतिरेक है।)

टिप्पणी—उपमान से उपमेय की न्यूनता में व्यतिरेक मानने से पण्डितराज सहमत नहीं। वे रुय्यक के इस मत का खण्डन करते हैं कि उपमान से उपमेय के आधिक्य या न्यूनता की उक्ति में व्यतिरेक होता है। पण्डितराज व्यतिरेक वहीं मानते हैं, जहाँ उपमेय का किसी विशेष गुण के कारण उपमान से उत्कर्ष (आधिक्य) पाया जाय।

'उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः।' (रसगंगाधर पृ० ४६७)

वे अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक के द्वारा उपमान से उपमेय की न्यूनता के उदाहरण वाले पद्य की मीमांसा भी करते हैं।

'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽपि वर्धते नित्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु॥'

इस पद्य में दोनों ही व्यतिरेक मानते हैं। भेद यह है, रुय्यक के मतानुसार यहाँ कवि की विवक्षा चन्द्र की अपेक्षा यौवन की इस न्यूनता में है कि चन्द्र क्षीण होने पर भी बढ़ जाता है, यौवन क्षीण होने पर फिर से नहीं लौटता; जब कि पण्डितराज यहाँ कवि की विवक्षा चन्द्र की अपेक्षा यौवन के इस उत्कर्ष में मानते हैं कि यौवन वापस न लौटने के कारण अतिदुर्लभ है, अतः उसका महत्त्व पुनःपुनरागमनसुलभ चन्द्र की अपेक्षा अधिक है। इसी आधार पर पण्डितराज अप्पय दीक्षित के द्वारा उपमेयन्यूनतोक्ति के रूप में उदाहृत—'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः' आदि की भी जाँच-पड़ताल करते हैं। वे यहाँ व्यतिरेक अलंकार न मानकर उपमाऽभाव ही मानते हैं। कुछ आलंकारिकों के मत से यहाँ उपमाभावरूप असम अलंकार माना जा सकता है—'तदपि चिन्त्यम्। स्याद्यद्यनुकूलतया कुतश्चिदंगाद्भूषणापसारणं यथा शोभाविशेषाय भवति, एवं प्रकृते उपमालङ्कारदूरीकरणमात्रमेव रसानुगुणतया रमणीयम्, न व्यतिरेकः। अत एवासमालङ्कारं प्राञ्चो न मन्यन्ते। अन्यथा सर्वालंकारात्मतया तत्स्वीकारापत्तेः।'(वही पृ. ४७६-७७)

अनुभयपर्यवसायी जैसे—

कृपण तथा कृपाण में यदि कोई भेद है, तो केवल आकार (स्वरूप, आ स्वर ध्वनि) का ही है, बाकी सब विशेषताएँ दोनों में समान हैं। यदि कृपण अपनी मुट्ठी गाढी बन्द किये रहता है, तो कृपाण का मुष्टिग्राह्य मध्यभाग अत्यधिक कसा (संबद्ध) रहता है, कृपण अपने खजाने में ही बैठा रहता है, तो कृपाण अपने म्यान में रहता है, कृपण स्वभाव से ही मलिन होता है, तो कृपाण नीला (मलिन) रंग का होता है।

टिप्पणी—यहाँ भी पण्डितराज व्यतिरेक नहीं मानते, अपितु उपमा अलंकार ही मानते हैं। वे कहते हैं कि व्यतिरेक अलंकार में 'आकारतः' वाला श्लेष अनुकूल नहीं होता, अपितु प्रतिकूल है। वस्तुतः यहाँ शब्दसाधर्म्यपरक श्लेषमूला उपमा ही है।

'तच्च निपुणं निरीक्षितमायुष्मता।''''''तस्मादत्र गम्योपमैव सुप्रतिष्ठितेत्यास्तां कूटकार्षापणोद्घाटनम्।' (वही पृ० ४७१)

२१ सहोक्त्यलङ्कारः

सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरञ्जनः ।
दिगन्तमगमत्तस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ॥ ५८ ॥

यथा वा—

छाया संश्रयते तलं विटपिनां श्रान्तेव पान्थैः समं
मूलं याति सरोजलस्य जडता ग्लानेव मीनैः सह ।
आचामत्यहिमांशुदीधितिरपस्तप्तेव लोकैः समं
निद्रा गर्भगृहं सह प्रविशति क्लान्तेव कान्ताजनैः ॥

'जनरञ्जन' इत्युक्ते 'अनेन सार्धं विहराम्बुराशेः' (रघु० ६।५७) इत्यादौ न सहोक्तिरलङ्कारः ॥ ५८ ॥

(यहाँ उपमेय का न तो आधिक्य वर्णित है, न न्यूनत्व ही पद्य का चमत्कार अपने आप में ही विश्रान्त हो जाता है ।)

२१. सहोक्ति अलङ्कार

५८—यदि दो पदार्थों के साथ रहने का वर्णन चमत्कारी (जनरंजन) हो, तो वहाँ सहोक्ति अलङ्कार होता है, जैसे, उस राजा की कीर्ति शत्रुओं के साथ दिगंत में चली गई ।

(यहाँ शत्रु दिगंत में भग गये और कीर्ति दिगंत में फैल गई, इन दोनों की सहोक्ति चमत्कारी है ।)

टिप्पणी—इस लक्षण में 'जनरंजनः' पद महत्त्वपूर्ण है. तभी तो चन्द्रिकाकार ने सहोक्ति का लक्षण यों दिया है—'चमत्कृतिजनकं साहित्यं सहोक्तिः' । जहाँ अनेक पदार्थों का साहित्य चमत्कारजनक न हो वहाँ यह अलंकार नहीं होगा, इसीलिए निम्न पद्य में 'साहित्य' होने पर उसके चमत्कारजनकत्वाभाव के कारण सहोक्ति अलङ्कार न हो सकेगा :—

'अनेन सार्धं विरहाम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥'

अथवा जैसे—

ग्रीष्मऋतु के मध्याह्न का वर्णन है । पथिकों के साथ छाया मानो थककर वृक्षों के तले जाकर विश्राम ले रही है, शीतलता मानो सिमट कर मछलियों के साथ सरोवर के जल की जड़ में चली गई है, सूर्य की किरणें मानों प्रतप्त होकर लोगों के साथ पानी का आचमन कर रही हैं और निद्रा मानो कुम्हलाकर रमणियों के साथ तहखानों में घुस गई है ।

कारिका के 'जनरंजन' पद से यह भाव है कि 'अनेन सार्धं विहराम्बुराशेः' आदि पद्यों में सहोक्ति अलंकार इसलिए न होगा कि वहाँ जनरंजकत्व (चमत्कृतिजनकत्व) नहीं पाया जाता ।

टिप्पणी—रसिकरंजनीकार ने बताया है कि सहोक्ति दो तरह की हो सकती है—एक कार्यकारणपौर्वापर्यरूप, दूसरी अभेदाध्यवसायरूप । ग्रन्थ का उदाहरण केवल प्रथम प्रकार का है, दूसरे प्रकार का उदाहरण यह है :—'अस्तं भास्वान्प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि',

२२ विनोक्त्यलङ्कारः

विनोक्तिश्चेद्विना किंचित्प्रस्तुतं हीनमुच्यते ।
विद्या हृद्यापि साऽवद्या विना विनयसंपदम् ॥ ५९ ॥

यथा वा—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति ।
निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥

अत्र च रामदर्शनेन विना हीनत्वं 'विना' शब्दमन्तरेणैव दर्शितम् ॥ ५६ ॥

तच्चेत्किंचिद्विना रम्यं विनोक्तिः सापि कथ्यते ।
विना खलैर्विभात्येषा राजेन्द्र ! भवतः सभा ॥ ६० ॥

यथा वा—

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
र्नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा ।

यहाँ 'अस्तगमन' श्लिष्ट है। कभी-कभी रूप के बिना भी अध्यवसाय होता है—'कुमुददलैस्सह सम्प्रति विघटन्ते चक्रवाकमिथुनानि'। यहाँ 'विघटन्ते' इस एक शब्द के द्वारा चक्रवाक तथा कुमुदसम्बन्धि भेद से भिन्न विप्रलंभ तथा विभाजन का अध्यवसाय किया गया है। सहोक्ति के विषय में यह जानना जरूरी है कि यह सदा अतिशयोक्तिमूलक होती है, फिर भी विशेष चमत्कार होने के कारण इसे अलग अलंकार माना जाता है :—'सहभावो ह्यतिशयोक्तिमूलक एव वर्ण्यमानो विच्छित्तिविशेषशालितयाऽलङ्कारः।' (रसिकरंजनी पृ० ९९)

२२. विनोक्ति अलङ्कार

५९—जहाँ विना के प्रयोग के द्वारा किसी वस्तु को हीन बताया जाय, वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है, जैसे, विनय से रहित विद्या मनोहर होने पर भी निंद्य है।

(यहाँ विनय के विना विद्या की हीनता बताई गई है।)

अथवा जैसे—

'जो राम को नहीं देख पाता और जिसे राम नहीं देखता, ऐसा व्यक्ति संसार में निन्दित होता है, उसकी स्वयं की आत्मा भी उसकी निन्दा करती है।'

यहाँ रामदर्शन के बिना मनुष्यजीवन हीन है इसको 'विना' शब्द के प्रयोग के विना ही वर्णित किया गया है।

(ऊपर के उदाहरण से इसमें यह भेद है कि वहाँ विनोक्ति शाब्दी है, यहाँ आर्थी।)

६०—किसी वस्तु के विना (अभाव में) कोई वस्तु सुन्दर वर्णित की जाय, वहाँ भी विनोक्ति अलङ्कार होता है, जैसे हे राजेन्द्र, आपकी सभा दुष्टों के अभाव में (दुष्टों के विना) सुशोभित हो रही है।

अथवा जैसे—

कोई नायक मानवती नायिका के विषय में कह रहा है :—जिस प्रकार चन्द्रमा के उदित होने पर रात्रि अन्धकार से छुटकारा पाती दिखाई देती है, जिस प्रकार अत्यधिक घने अन्धकार के नष्ट होने पर रात में अग्नि की ज्वाला प्रकाशित होती है तथा जिस

मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गा रोधःपतनकलुपा गृह्णतीव प्रसादम् ॥

अत्र तमःप्रभृतीन्विना निशादीनां रम्यत्वं 'विना' शब्दमन्तरेण दर्शितम् ॥

२३ समासोक्त्यलङ्कारः

समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत् ।
अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः ॥ ६१ ॥

यत्र प्रस्तुतवृत्तान्ते वर्ण्यमाने विशेपणसाम्यबलादप्रस्तुतवृत्तान्तस्यापि परिस्फूर्तिस्तत्र समासोक्तिरलङ्कारः, समासेन संक्षेपेण प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयोर्वचनात् । उदाहरणम्–अयमैन्द्रीति । अत्र हि चन्द्रस्य प्राचीप्रारम्भलक्षणमुखसंबन्धलक्षणे उदये वर्ण्यमाने 'मुखशब्दस्य' प्रारम्भवदनसाधारण्यात् 'रक्त' शब्दस्यारुणकामुकसाधारण्यात् 'चुम्बति' इत्यस्य प्रस्तुतार्थसंबन्धमात्रपरस्य शक्यार्थो

प्रकार तट के गिरने से मैली गंगा पुनः निर्मलता को प्राप्त करती सी प्रतीत होती है, ठीक उसी प्रकार यह कोमलाङ्गी अपने हृदय में मोह (मानावेश) के द्वारा थोड़ी-थोड़ी परित्यक्त जान पड़ती है।

यहाँ अन्धकारादि के बिना रात्रि आदि तत्तत् पदार्थ सुन्दर लगते हैं, इस भाव को यहाँ 'बिना' शब्द का प्रयोग किये बिना ही दर्शाया गया है। यहाँ भी विनोक्ति आर्थी ही है।

२३. समासोक्ति अलङ्कार

६१—जहाँ प्रस्तुत वृत्तान्त के वर्णन से अप्रस्तुत वृत्तान्त की परिस्फूर्ति (व्यञ्जना) हो, वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है। जैसे देखो यह लाल रंग का चन्द्रमा पूर्व दिशा (इन्द्र की पत्नी) के मुख को चूम रहा है। (यह अनुरागी उपनायक परवनिता के मुख का चुम्बन कर रहा है।)

जहाँ प्रस्तुत वृत्तान्त के वर्णन में समान विशेषणों के कारण अप्रस्तुत वृत्तान्त की भी परिस्फूर्ति (व्यञ्जना) हो, वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है। यह समासोक्ति इसलिए कही जाती है कि यहाँ समास अर्थात् संक्षेप से प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों वृत्तान्तों की उक्ति (वचन) पाई जाती है। इसका उदाहरण 'अयमैन्द्री' इत्यादि पद्यार्थ है। यहाँ प्राची दिशा के आरम्भिक भाग (मुख) से सम्बद्ध चन्द्रमा के उदय के वर्णन में प्रयुक्त 'मुख' शब्द (प्राची के) आरम्भिक भाग तथा मुख में समान रूप से घटित होता है, इसी तरह 'रक्त' शब्द लाल तथा कामुक (उपनायक) में समान रूप से घटित होता है, साथ ही 'चुम्बति' क्रियापद में यद्यपि उक्त दो शब्दों की भाँति श्लेष नहीं है, तथापि इससे प्रस्तुत अर्थ के संबंध की प्रतीति होने के साथ ही साथ वाच्य तथा लक्ष्य अर्थ समान रूप से प्रतीति हो रहे हैं। इन तत्तत् विशेषणों की समानता 'चन्द्रमाः' (चन्द्रमा) शब्द के पुँल्लिंग तथा 'ऐन्द्री' शब्द के स्त्रीलिंग के कारण साथ ही 'ऐन्द्री' शब्द के 'इन्द्र से संबद्ध स्त्री' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के कारण उपस्कृत हो रही है तथा उससे चन्द्र-पूर्वदिशा रूप वृत्तान्त से उपनायक-परवनिता प्रेम-रूप वृत्तान्त की प्रतीति हो रही है।

न्तरसाधारण्याच्च 'चन्द्रमः'शब्दगतपुंलिङ्गेन 'ऐन्द्री'शब्दगतस्त्रीलिङ्गेन तत्प्रतिपाद्येन्द्रसंबन्धित्वेन चोपस्कृतादप्रस्तुतपरवनितासक्तपुरुषवृत्तान्तः प्रतीयते।

यथा वा—

व्यावल्गत्कुचभारमाकुलकचं व्यालोलहारावलि
प्रेङ्खत्कुण्डलशोभिगण्डयुगलं प्रस्वेदिवक्त्राम्बुजम्।
शश्वद्दत्तकरप्रहारमधिकश्वासं रसादेतया
यस्मात्कन्दुक ! सादरं सुभगया संसेव्यसे तत्कृती॥

टिप्पणी :—तत्र 'चन्द्रमः' शब्दगतेन पुंलिंगेन नायकत्वाभिव्यक्त्या उपस्कारः। 'ऐन्द्रीति स्वरूपपरं तद्गतेन स्त्रीलिङ्गेन तदर्थस्य नायिकात्वाभिव्यक्त्या 'ऐन्द्री'शब्दप्रतिपाद्येनेन्द्रसंबंधित्वेन च परकीयात्वाभिव्यक्त्येति बोध्यम्। वृत्तान्तो व्यवहारो मुखचुम्बनरूपः। (चन्द्रिका पृ. ६९)

(भाव यह है, इस उदाहरण में चन्द्रमा का पुंलिंगगत प्रयोग उस पर नायक का व्यवहारसमारोप करता है, इसी तरह 'ऐंद्री' का स्त्रीलिंगगत प्रयोग उसपर नायिका का व्यवहारसमारोप करता है। यहाँ पूर्व दिशा के लिए प्रयुक्त 'इन्द्रस्य इयं स्त्री' (ऐंद्री) इस भाव वाले पद से यह प्रतीत होता है कि वह परकीया नायिका है। चन्द्रमा (नायक) परकीया इन्द्रवधू (नायिका) का चुम्बन कर रहा है। इस पद्यार्ध में प्रस्तुत चन्द्र-पूर्वदिशारूप वृत्तान्त के लिए जिन विशेषणों—रक्त, मुख, चुम्बति का प्रयोग किया गया है, वे समानरूप से नायक-नायिका-प्रणयव्यापार में भी अन्वित हो जाते हैं। अतः इन समान विशेषणों के कारण ही यहाँ समासोक्ति हो रही है। 'अयमैन्द्रीदिशायां प्रागुदितो रजनीपतिः' पाठान्तर कर देने पर समासोक्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि यहाँ विशेषणसाम्य का अभाव है।)

टिप्पणी—समासोक्ति का चन्द्रिकाकार द्वारा उपन्यस्त लक्षण यह है :—

विशेषणमात्रसाम्यगम्याप्रस्तुतवृत्तान्तत्वं समासोक्तिलक्षणम्।

इस लक्षण में 'विशेषणमात्र' के द्वारा श्लेष अलंकार का वारण किया गया है। श्लेष तथा समासोक्ति में यह भेद है कि समासोक्ति में केवल विशेषण ही प्रस्तुताप्रस्तुतसाधारण होते हैं, जब कि श्लेष में विशेषण तथा विशेष्य दोनों श्लिष्ट तथा प्रस्तुताप्रस्तुत साधारण होते हैं। अतः श्लेष की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए 'विशेषणमात्रसाम्य' का प्रयोग किया गया है।

अथवा जैसे—

नायिका के प्रति अनुरक्त कोई युवक उसके क्रीडाकन्दुक को सम्बोधित कर कह रहा है :—हे कन्दुक, सचमुच तुम धन्य हो कि यह नायिका आदर से प्रेम सहित तुम्हारा सेवन कर रही है, क्योंकि इसका कुचभार विशेष चंचल हो रहा है, इसके केश क्रीडा के आवेश के कारण इधर-उधर बिखर गये हैं, इसका हार हिल रहा है, चंचल कुण्डलों से कपोल सुशोभित हो रहे हैं, मुखकमल में पसीने की बूँदें झलक आई हैं, यह बार-बार हाथ से प्रहार कर रही है, तथा इसका श्वास अधिक चल रहा है।

(यहाँ 'कन्दुक' का प्रयोग पुंलिंगगत है, सुन्दरी का स्त्रीलिंगगत, अतः तत्तत् विशेषणों की समानता के कारण यहाँ कन्दुक-सुन्दरीगत प्रस्तुत वृत्तान्त से नायक-नायिकागत अप्रस्तुत वृत्तान्त की व्यञ्जना हो रही है। विशेषणसाम्य के कारण यहाँ नायक के साथ नायिका की विपरीतरति व्यञ्जित हो रही है।)

अत्र कन्दुकवृत्तान्ते वर्ण्यमाने 'व्यावल्गत्कुचभारम्' इत्यादिक्रियाविशेषण-साम्याद्विपरीतरतासक्तनायिकावृत्तान्तः प्रतीयते। पूर्वत्र विशेषणानि श्लिष्टानि, इह साधारणानीति भेदः। सारूप्यादपि समासोक्तिर्दृश्यते।

यथा वा (उत्तरराम० २।२७)—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति॥

अत्र वनवर्णने प्रस्तुते तत्सारूप्यात्कुटुम्बिषु धनसंतानादिसमृद्ध्यसमृद्धि-विपर्यासं प्राप्तस्य तत्समाश्रयस्य ग्रामनगरादेर्वृत्तान्तः प्रतीयते।

यहाँ कन्दुकवृत्तान्त प्रस्तुत है, किन्तु इस पद्य में प्रयुक्त 'व्यावल्गत्कुचभारम्' इत्यादि क्रियाविशेषणों की समानता के कारण (क्योंकि विपरीतरति में भी स्तनादि का आन्दोलन, मुखकमल का स्वेदयुक्त होना, करप्रहार तथा श्वासाधिक्य पाया जाता है), विपरीत रतिक्रीडा में व्यस्त नायिका के (अप्रस्तुत) वृत्तान्त की व्यञ्जना होती है। पहले उदाहरण से इस उदाहरण में यह भेद है कि वहाँ विशेषण श्लिष्ट (द्व्यर्थक) हैं, यहाँ वे साधारण हैं अर्थात् श्लेष के बिना ही प्रकृत तथा अप्रकृत वृत्तान्तों में अन्वित होते हैं। कभी-कभी सारूप्य या सादृश्य के आधार पर भी समासोक्ति का निबंधन पाया जाता है। जैसे—

उत्तररामचरित के द्वितीय अंक में राम दण्डकारण्य की भूमि के विषय में कह रहे हैं:—जिस स्थान पर पहले नदी का सोता (प्रवाह) था, वहां अब नदी का तीर हो गया है, पेड़ों की सघनता और विरलता अदल-बदल हो गई है (जहां पहले घने पेड़ थे, वहां अब छितरे पेड़ हैं और जहां पहले छितरे पेड़ थे, वहां अब घनापन है)। मैं इस वन को बड़े दिनों बाद देख रहा हूँ, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि यह वही पूर्वानुभूत वन न होकर कोई दूसरा ही वन है। इतना होने पर भी पर्वतों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, अतः पर्वतों की स्थिति इस बात की पुष्टि करती है कि यह वही वन है (दूसरा नहीं)।

यहां वनवर्णन प्रस्तुत है, इसके सारूप्य के कारण किसी ऐसे ग्राम या नगर का अप्रस्तुत वृत्तान्त प्रतीत हो रहा है, जहां के निवासी (कुटुम्बी) धन-संतान आदि समृद्धि तथा असमृद्धि की दृष्टि से बदल गये हैं। भाव यह है, वनवर्णन में प्रयुक्त व्यवहार के सारूप्य के कारण समृद्ध कुटुम्बियों की ऋद्धि का ह्रास तथा असमृद्ध कुटुम्बियों की ऋद्धि की वृद्धि होना—उनकी स्थिति का विपर्यास होना—व्यञ्जित होता है।

टिप्पणी—इस पद्य में 'घनविरल तथा विपर्यास' इनके द्वारा सादृश्यप्रतीति हो रही है। यहाँ सादृश्यगर्भविशेषणोपस्थापितसादृश्यमूला समासोक्ति है। अतः यहाँ ऊपर की कारिका से विरोध नहीं है।

यदि कोई पूर्वपक्षी यह शंका करे कि यहाँ अप्रस्तुत वृत्तान्त में विशेषणसाम्य का व्यंग्यत्व नहीं पाया जाता, अतः इसमें समासोक्ति का लक्षण घटित नहीं होता, तो यह समाधान किया जा

अत्र च प्रस्तुताप्रस्तुतसाधारणविशेषणबलात् सारूप्यबलाद्वा यदप्रस्तुतवृत्तान्तस्य प्रत्यायनं तत्प्रस्तुते विशेष्ये तत्समारोपार्थं सर्वथैव प्रस्तुतानन्वयिनः कविसंरम्भगोचरत्वायोगात्। ततश्च समासोक्तावप्रस्तुतव्यवहारसमारोपश्चारुताहेतुः, न तु रूपक इव प्रस्तुतेऽप्रस्तुतरूपसमारोपोऽस्ति। 'मुखं चन्द्रः'

सकता है कि यहाँ विशेषणसाम्य के द्वारा व्यंजित साइश्य की प्रतीति हो रही है, इससे विशेषणसाम्य का व्यञ्जकत्व तथा उससे प्रतीत साइश्य का व्यंग्यत्व स्पष्ट है। परन्तु यहाँ पर प्रधानता विशेषणसाम्य की न होकर सारूप्य की है, अतः सारूप्य के व्यञ्जकत्व की महत्ता बताने के लिए ग्रन्थकार ने 'सारूप्यात्' कहा है। भाव यह है, सारूप्यगत समासोक्ति में भी विशेषणसाम्य अवश्य होता है, किन्तु यह सारूप्य का उपस्कारक होता है तथा प्रस्तुत वृत्तान्त पर अप्रस्तुत वृत्तान्त का समारोप करने में साइश्य का व्यञ्जकत्व प्रधान कारण होता है। आगे ग्रन्थकार ने समासोक्ति के सम्बन्ध में यह कहा है कि समासोक्ति या तो विशेषणसाम्य से होती है या सारूप्य से, इसका भी यही अभिप्राय है कि एक में विशेषणसाम्य की प्रधानता होती है, दूसरे भेद में सारूप्य की।

पंडितराज जगन्नाथ इस मत से सहमत नहीं। वे कुवलयानन्दकार के द्वारा समासोक्ति के उदाहरण रूप में उपन्यस्त **'पुरा यत्र स्रोतः'''बुद्धिं द्रढयति'** इस पद्य में समासोक्ति ही नहीं मानते, क्योंकि यहाँ समासोक्ति का कारण विशेषणसाम्य नहीं पाया जाता—

'समासोक्तिजीवातोर्विशेषणसाम्यस्यात्राभावेन समासोक्तिताया एवानुपपत्तेः।'

(रसगंगाधर पृ. ५१३)

साथ ही वे इस बात का भी खंडन करते हैं कि समासोक्ति के लक्षण में 'विशेषणसाम्य अथवा साइश्य से जहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत व्यवहार की व्यञ्जना हो' ऐसा समावेश कर दिया जाय। वे इस स्थल में अप्रस्तुतप्रशंसा मानते जान पड़ते हैं। (दे० वहीं पृ० ५१३–१४)

(साथ ही दे० रसगंगाधर पृ० ५४४–५४५)

अप्पय दीक्षित के इस समासोक्तिभेद का खंडन कुवलयानन्दटीका 'रसिकरंजनी' के लेखक गंगाधराध्वरी ने भी किया है। गंगाधर इस पद्य में उपमाध्वनि मानते हैं। वस्तुतः पेड़ों की सघनता और विरलता का विपर्यास होने पर पत्तों के कारण 'यह वही स्थान है' यह प्रत्यभिज्ञा उपमाध्वनि को ही पुष्ट करती है।

'अत्रेदं विचारणीयम्। 'पुरा यत्रे'त्युदाहरणे सारूप्यनिबंधना समासोक्तिरिति तावदुयुक्तम्। प्रस्तुतविशेषणसदृशतया अप्रस्तुतवृत्तान्तावगतिर्हि विशिष्टयोरौपम्यगमिका पर्यवस्यतीति यथा ग्रामनगरादिः पूर्वदृष्टश्चिरकालव्यवधानेन पश्चादवलोक्यमानः प्राग्दृष्टविपरीततया सम्पत्तिदारिद्र्यगृहादिविरलाविरलभावादिना अन्य इव प्रतीयमानः तद्गतचिरकाललुप्यमानप्राकारदीर्घिकातटाकादिभिः स एव ग्रामः, तदेवेदं नगरमिति प्रतीयते। तथेदमपि वनं प्राग्लक्ष्मणसहितेन मया दृष्टं सम्प्रति चिरकालपरावृत्तेन परिदृश्यमानं वनगतनदीस्रोतःपुलिनविपर्यासघनविरलभावादिमत्तया अन्यदिव प्रतीयमानं तदवस्थ एवायं शैलसन्निवेशः तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायत इत्युपमाध्वनेरेवोन्मेषात्समासोक्तिगन्धस्यैवाभावात्। अत एव प्राचां ग्रन्थेषु विशेषणसाधारण्यश्लिष्टत्वसमासभेदाश्रयणैरप्रस्तुतव्यक्तावेव तस्या लक्षणं वर्णितमुपपद्यते। (रसिकरंजिनीटीका पृ० १०८–१०९ कुम्भकोणम् से प्रकाशित)

ऊपर के इन उदाहरणों में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में समान रूप से घटित होने वाले विशेषणों के कारण (जैसे 'अयमैंद्रीमुखं' या 'व्यावल्गत्कुचभारं' इत्यादि में) या सारूप्य के कारण (जैसे पुरा यत्र स्रोतः' इत्यादि में) तत्तद् अप्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति हो

इत्यत्र मुखे चन्द्रत्वारोपहेतुचन्द्रपदसमाभिव्याहारवत् 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा' इत्यादिसमासोक्त्युदाहरणे चन्द्रादौ जारत्वाद्यारोपहेतोस्तद्वाचकपदसमभिव्याहारस्याभावात् ।

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः ।
धारानिपातैः सह किं नु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास ॥'

इत्येकदेशविवर्तिरूपकोदाहरण इव प्रस्तुतेऽप्रस्तुतरूपसमारोपगमकस्याप्य-

---

रही है । इन अप्रस्तुत वृत्तान्तों की व्यंजना इसलिए हो रही है कि उनका प्रस्तुत वृत्तान्त (विशेष्य) में (चन्द्रपूर्वदिशागत वृत्तान्त, नायिकाकन्दुकगत वृत्तान्त तथा तरुघन-विरलभाव विपर्यास में) समारोप हो, क्योंकि कविव्यापार में ऐसा कोई प्रयोग नहीं पाया जाता जो प्रस्तुत वृत्तान्त से सर्वथा असंबद्ध हो । इसलिए समासोक्ति में चमत्कार का हेतु प्रस्तुतवृत्तान्त पर अप्रस्तुतवृत्तान्त का व्यवहार समारोप ही है । व्यवहार समारोप से हमारा यह तात्पर्य है कि रूपक की तरह यहां प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के रूप का समारोप नहीं होता । (भाव यह है, रूपक में रूप का समारोप पाया जाता है, जब कि समासोक्ति में रूप का समारोप नहीं होता, केवल व्यवहार का समारोप होता है ।) उदाहरण के लिए 'मुखं चन्द्रः' इस उक्ति में रूपक अलंकार है, यहां मुख (प्रस्तुत) पर चन्द्रत्व (अप्रस्तुत के धर्म) का आरोप पाया जाता है, इस आरोप के हेतु रूप में कवि ने स्पष्टतः चन्द्र पद का प्रयोग किया है । इस प्रकार रूपक में प्रस्तुत (विषय) के साथ ही साथ अप्रस्तुत (विषयी) का भी प्रयोग किया जाता है समासोक्ति के उदाहरण 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः' यह बात नहीं है, यहां चन्द्रादि के व्यापार पर जार-परनायिका आदि के व्यापार का ही समारोप पाया जाता है, चन्द्रादि पर जारत्वादि के रूप का समारोप नहीं, क्योंकि यदि यहां रूपसमारोप होता, तो जारादि (अप्रस्तुत) के वाचकपद का प्रयोग किया जाता, वह यहां नहीं किया गया है । अतः स्पष्ट है, समासोक्ति में अप्रस्तुत का वाचक प्रयुक्त नहीं होता ।

(इस संबंध में फिर एक शंका होती है कि यहां जारादि के वाचक पद का प्रयोग न होने पर श्रौत (शाब्द) रूपक न मान कर आर्थ रूपक मान लिया जाय तथा रूपसमारोप को आर्थ हो माना जाय, इस प्रकार यहां रूपक अलंकार को व्यंग्य मानकर रूपकध्वनि मान लिया जाय, इसी शंका का समाधान करते है ।)

'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः' आदि में ऐसा कोई हेतु नहीं है, जिससे हम वहां प्रस्तुत (चन्द्रादि) पर अप्रस्तुत (जारादि) का वैसा रूप समारोप मान लें, जैसा कि निम्न एकदेशविवर्तिरूपक के उदाहरण में पाया जाता है :—

'वर्षाकाल का वर्णन है । रात्रि के अन्धकार में प्रिय के पास अभिसरण करती नायिका के मुख को बिजली के नेत्रों से देखकर बादल ने सोचा कि क्या यह चन्द्रमा तो नहीं है, जिसे बूँदों की झड़ी (जलधारा) के साथ मैंने उगल दिया है; और ऐसा सोचकर वह जोर से चिल्लाने लगा ।'

(यहां एकदेशविवर्तिरूपक अलंकार है । 'विद्युन्नयनैः' पद में 'विद्युत् एव नयनम्' इस विग्रह से रूपक अलंकार निष्पन्न होता है । इसके द्वारा मेघ पर दर्शक का आरोप होता है ।

हम देखते हैं कि इस पद्य में 'विद्युन्नयनैः' पद निरीक्षणक्रिया (निरीक्ष्य) का कारण है, अतः उसके अनुकूल होने के कारण इस समासान्तपद में उत्तरपदार्थ (नयन) की

भावात्। तत्र हि 'विद्युन्नयनैः' इत्यत्र निरीक्षणानुगुण्यादुत्तरपदार्थप्रधानरूपमयूरव्यंसकादिसमासव्यवस्थितादुत्तरपदार्थभूतनयनान्वयानुरोधात् पयोदेऽनुक्तमपि द्रष्टृपुरुषत्वरूपणं गम्यमुपगम्यते। न चेह तथानिरीक्षणवत् 'त्वय्यागते किमिति वेपत एष सिन्धुः' इति श्लोके सेतुकृत्त्वादिवद्वाप्रस्तुतसाधारणवृत्तान्त उपात्तोऽस्ति। नापि श्लिष्टसाधारणादिविशेषणसमर्पितयोः प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयोरप्रस्तुतवृत्तान्तस्य विद्युन्नयनवत्प्राधान्यमस्ति। येन तदनुरोधात्त्वं सेतुमन्थकृदित्यत्रेव प्रस्तुतेऽनुक्तमप्यप्रस्तुतरूपसमारोपमभ्युपगच्छेम। तस्माद्विशेषणसम-

---

प्रधानता हो जाती है, क्योंकि निरीक्षण क्रिया में वही घटित होता है। ऐसा मानने पर यहाँ उत्तरपदार्थ प्रधान मयूरव्यंसकादि समास मानना होगा, इस सरणि से उत्तरपदार्थ 'नयन' के संबंध के कारण हमें मेघ में दर्शक (द्रष्टा पुरुष) के आरोप की प्रतीति होती है, यद्यपि कवि ने उसके लिए किसी वाचक शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इसलिए 'विद्युन्नयनैः' के एकदेश में रूपक होने से यहाँ सर्वत्र रूपक की व्यवस्था माननी पड़ेगी। 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः' आदि समासोक्ति के पूर्वोदाहृत तीन उदाहरणों में यह बात नहीं है। जिस तरह 'निरीक्ष्य' इत्यादि पद्य में निरीक्षण क्रिया रूप अप्रस्तुत साधारण वृत्तान्त का उपादान किया गया है, अथवा जैसे 'त्वय्यागते किमिति वेपत एष सिन्धुः' इत्यादि रूपकालंकार के प्रसंग में उदाहृत पद्य में सेतुमन्थनकृत्त्व रूप अप्रस्तुत साधारण-वृत्तान्त का उपादान किया गया है, वैसा यहाँ कोई भी अप्रस्तुतसाधारणवृत्तान्त नहीं दिखाई देता।

टिप्पणी—पूरा पद्य यों है। इसकी व्याख्या रूपक के प्रकरण में देखें।

त्वय्यागते किमिति वेपत एष सिन्धुस्त्वं सेतुमन्थकृदतः किमसौ बिभेति।
द्वीपान्तरेऽपि न हि तेऽस्त्यवशंवदोऽद्य त्वां राजपुङ्गव, निषेवत एव लक्ष्मीः॥

(पूर्वपक्षी को पुनः यह शंका हो सकती है कि यहाँ भी परनायिका मुखचुम्बन रूप अप्रस्तुत वृत्तान्त का प्रयोग हुआ है और अप्रस्तुतसाधारणधर्म होने के कारण अप्रस्तुत रूप समारोप (आरोप) का व्यंजक है—अतः इसका समाधान करते कहते हैं—) माना कि यहाँ (समासोक्ति में) श्लिष्ट; साधारण तथा सादृश्यगर्भ विशेषणों के कारण प्रस्तुत व अप्रस्तुत वृत्तान्तों की प्रतीति होती है, किंतु रूपक तो तब माना जा सकता है, जब इन दोनों में अप्रस्तुत की प्रधानता हो, जिस तरह 'विद्युन्नयन' में नयन (अप्रस्तुत) का प्राधान्य होने से वहाँ रूपक होता है, वैसे यहाँ (रक्तश्चुम्बति' आदि स्थलों में) अप्रस्तुत के प्राधान्य की व्यवस्था करने में कोई नियामक नहीं दिखाई देता। जिससे उस नियामक तत्त्व (हेतु या गमक) के कारण (तदनुरोधात्) हम इन स्थलों में भी अनुक्त अप्रस्तुतरूपसमारोप की प्रतीति ठीक वैसे ही कर लें, जैसे अप्रस्तुतरूपसमारोप के साक्षात् वाचक हेतु के न होने पर भी हम 'त्वं सेतुमन्थकृत्' इत्यादि स्थल में प्रस्तुत (राजा) पर अप्रस्तुत (विष्णु) का रूपसमारोप कर लेते हैं। (भाव यह है, जिस तरह 'निरीक्ष्य' वाले पद्य में 'नयन' के द्वारा निरीक्षण तथा 'त्वय्यागते' वाले पद्य में 'सेतुमन्थकृत्त्व' का प्रयोग अप्रस्तुत (दर्शक तथा विष्णु) को प्रधान बनाकर दर्शकत्व तथा विष्णुत्व का मेघ एवं राजा (प्रस्तुत) पर रूपसमारोप करने में नियामक एवं गमक होता है, ठीक वैसे ही इन तीन समासोक्ति वाले उदाहरणों में ऐसा कोई गमक नहीं, जो क्रमशः जार, कामुक तथा कुटुम्बी वाले तत्तद्

पिंताप्रस्तुतव्यवहारसमारोपमात्रमिह चारुताहेतुः। यद्यपि प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयोरिह श्लिष्टसाधारणविशेषणसमर्पितयोर्भिन्नपदोपात्तविशेषणयोरिव विशेष्येणैव साक्षादन्वयादस्ति समप्राधान्यम्, तथाप्यप्रस्तुतवृत्तान्तान्वयानुरोधान्न प्रस्तुतेऽप्रस्तुतरूपसमारोपोऽङ्गीकार्यः। तथा हि—यथा प्रस्तुतविशेष्ये नास्त्यप्रस्तुतवृत्तान्तस्यान्वययोग्यता तथैव वाऽप्रस्तुतेऽपि जारादौ नास्ति प्रस्तुतवृत्तान्तस्या-

---

अप्रस्तुत को प्रधान बना दे, जिससे चन्द्रमा, कन्दुक तथा वृक्षों पर उनके तत्तत् धर्म का समारोप माना जाय।)

इसलिए यह स्पष्ट है कि समासोक्ति अलंकार में चमत्कार का कारण प्रस्तुत पर केवल अप्रस्तुत का व्यवहारसमारोप ही (रूपसमारोप नहीं) माना जाना चाहिए, जो तत्तत् प्रकार के विशेषण के कारण व्यंजित होता है।

(पूर्वपक्षी को पुनः यह शंका हो सकती है कि यद्यपि यहाँ 'विधुन्नयन' की भाँति, समासगत श्रौत (शाब्द) अप्रस्तुतप्राधान्य नहीं पाया जाता, तथापि अप्रस्तुतवृत्तान्त की प्रतीति विशेषण के सामर्थ्य से हो ही रही है और उसका आर्थ प्राधान्य तो है ही। ऐसी शंका को उपस्थित कर इसका समाधान करते हैं।)

यद्यपि समासोक्ति के इन स्थलों में श्लिष्टविशेषणसाम्य या साधारणविशेषण साम्य के कारण प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्त की प्रतीति ठीक वैसे ही हो रही है, जैसे तत्तत् वृत्तान्त के लिए भिन्न (अश्लिष्ट अलग २) पद विशेषण के रूप में प्रयुक्त किये गये हों तथा उनका साक्षात् अन्वय विशेष्य (प्रस्तुताप्रस्तुत दोनों के साथ न कि केवल प्रस्तुत) के साथ घटित होता है, अतः दोनों का समप्राधान्य हो जाता है, तथापि प्रस्तुत में अप्रस्तुतवृत्तान्त का अन्वय आवश्यक है, इसलिए प्रस्तुत में अप्रस्तुत का रूप समारोप नहीं माना जा सकता।

(भाव यह है, 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः' इत्यादि स्थलों में श्लिष्टादिविशेषणों के द्वारा व्यंजित परनायिका मुखचुम्बनादिरूप अप्रस्तुत वृत्तान्त प्रथम क्षण में ही अप्रस्तुत के रूप में प्रतीत नहीं होता, जिससे हम अप्रस्तुत जारादि का आरोप प्रस्तुत चन्द्रादि पर कर सकें। हमें इस अप्रस्तुतवृत्तान्त की प्रतीति तटस्थ रूप में होती है तथा तदनन्तर जारत्वादिविशिष्ट अनुरागपूर्वकवदनचुम्बनादिरूप अप्रस्तुत वृत्तान्त का प्रस्तुत चन्द्रादिवृत्तान्त पर व्यवहार समारोप होता है। इसी को स्पष्ट करते फिर कहते हैं)।

हम देखते हैं कि जिस तरह प्रस्तुत विशेष्य (चन्द्रादि) में अप्रस्तुत वृत्तान्त (जारवृत्तान्तादि) की अन्वययोग्यता नहीं है (क्योंकि वह समप्रधान है), ठीक इसी तरह अप्रस्तुत जारादि में भी प्रस्तुत वृत्तान्त (चन्द्रनिशावृत्तान्त) की अन्वययोग्यता नहीं। (यहाँ उत्तरपक्षी ने इस शंका को मानकर समाधान किया है कि प्रस्तुत चन्द्रादिवृत्तान्त का अप्रस्तुत जारादिवृत्तान्तरूप धर्मी में अन्वय माना जा सकता है। इसी शंका को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि वस्तुतः न तो प्रस्तुत ही अप्रस्तुतवृत्तान्त का अन्वयी (धर्मी) है, न अप्रस्तुत ही प्रस्तुत वृत्तान्त का अन्वयी है। किसी में भी एक दूसरे के साथ अन्वित होने की योग्यता नहीं पाई जाती। इसीलिए दोनों अर्थ समप्रधान हैं। ऐसा मानने पर पूर्वपक्षी फिर एक शंका उठा सकता है कि यदि किसी में दूसरे के साथ अन्वित होने की योग्यता नहीं है, तो फिर किसी का भी किसी के साथ अन्वय न होगा। इसी का समाधान करते कहते हैं।)

टिप्पणी—अलंकार चन्द्रिका के निर्णयसागर संस्करण में यह पंक्ति अशुद्ध छपी है :—'यथा'...

न्वययोग्यता। एवं च समप्रधानयोः प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयोरन्यतरस्यारोपेऽवश्यमभ्युपगन्तव्ये श्रुत एव प्रस्तुतेऽप्रस्तुतवृत्तान्तस्यारोपश्चारुताहेतुरिति युक्तम्। नन्वेवं सति विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः।

'विशेषणानां साम्येन यत्र प्रस्तुतवर्तिनाम्।
अप्रस्तुतस्य गम्यत्वं सा समासोक्तिरिष्यते॥'

इत्यादीनि प्राचीनानां समासोक्तिलक्षणानि न संगच्छेरन्। प्रस्तुते श्लिष्टसाधारणादिरूपविशेषणसमर्पितानुरागपूर्वकवदनचुम्बनाद्यप्रस्तुतवृत्तान्तसमारोपमात्रस्य चारुताहेतुत्वाभ्युपगमेन विशेषणसाम्यकृतकामुकाद्यप्रस्तुतधर्मिव्यञ्जनानपेक्षणादिति चेत्—उच्यते; स्वरूपतोऽप्रस्तुतवृत्तान्तस्यारोपो न चारुताहेतुः, किंत्व-

---

• नास्त्यप्रस्तुतवृत्तान्तस्यान्वयायोग्यता''''''प्रस्तुतवृत्तान्तस्यान्वययोग्यता।' यहाँ पहले वाक्यांश में 'अन्वयायोग्यता' पाठ है, दूसरे में 'अन्वययोग्यता'। यह गलत पाठ है। वस्तुतः यहाँ दोनों पक्षों में योग्यतारूपविनिगमक का अभाव बताना इष्ट है, जो इस पाठ से प्रतीत नहीं होता। कुम्भकोणम् से प्रकाशित कुवलयानन्द में यह पाठ दोनों स्थानों पर 'अन्वययोग्यता' है, जो दोनों वाक्यांशों में 'नास्ति' के साथ अन्वित होकर 'योग्यतारूप विनिगमकविरह' की प्रतीति कराना है। दे० कुवलानन्दः [रसिकरंजिनी टीका सहित] पृ० १०५)

जब दोनों पक्ष समप्रधान हैं, तो हमें प्रस्तुतवृत्तान्त या अप्रस्तुतवृत्तान्त में से किसी न किसी एक पक्ष का दूसरे पर आरोप अवश्य मानना होगा (अन्यथा ऐसा वर्णन कवि क्यों करता), हम देखते हैं कि काव्यवाक्यार्थ से हमें सर्वप्रथम प्रस्तुत वृत्तान्त की ही प्रतीति होती है, अतः श्रुत प्रस्तुत वृत्तान्त पर ही (व्यंग्य) अप्रस्तुत वृत्तान्त का आरोप चमत्कार का कारण है, ऐसा सिद्धान्त मानना ठीक जान पड़ता है।

(पूर्वपक्षी फिर एक प्रश्न पूछता है कि यह आरोप तो धर्मिविशिष्टतारहित व्यापार का भी हो सकता है, साथ ही आप जो धर्मिविशिष्ट व्यापार का व्यवहार समारोप मानते हैं, वह तो प्राचीन आलंकारिकों के समासोक्ति के लक्षण से ठीक नहीं मिलता। हम प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ का निम्न लक्षण ले लें।)

पूर्वपक्षी की शंका है कि आपके मत को मानने पर तो प्राचीनों का यह मत कि 'विशेषणसाम्य से अप्रस्तुत के व्यंजित होने पर समासोक्ति होती है,' 'जहाँ प्रस्तुत के लिए प्रयुक्त विशेषणों के साम्य से अप्रस्तुत की व्यञ्जना हो, वहाँ समासोक्ति होती है' ये प्राचीन आलंकारिकों के लक्षण ठीक नहीं बैठेंगे। हम देखते हैं कि इनके मतानुसार श्लिष्ट या साधारण विशेषणों के द्वारा प्रत्यायित 'प्रेमपूर्वक मुखचुम्बन' आदि अप्रस्तुतवृत्तान्त के समारोप में ही चारुताहेतु माना जा सकता है, फिर तो विशेषणसाम्य के कारण प्रतीत जारादि अप्रस्तुत धर्मी की व्यञ्जना की कोई जरूरत है ही नहीं (जब कि आप—सिद्धान्तपक्षी—जारादि अप्रस्तुत धर्मी की व्यञ्जना होना भी जरूरी मानते हैं)—यदि पूर्वपक्षी यह शंका करे तो इसका उत्तर यों दिया जा सकता है। अप्रस्तुतवृत्तान्त का स्वरूपतः आरोप किसी भी चमत्कार को उत्पन्न नहीं करता। यहाँ चमत्कारप्रतीति तभी हो पाती है, जब कि अप्रस्तुत कामुकादि से संबद्ध होकर (तद्धर्मिविशिष्ट होकर) वह व्यंग्यरूप अप्रस्तुतवृत्तान्त प्रस्तुतवृत्तान्त पर आरोपित किया जाय। ऐसा होने पर ही वह रसानुगुण हो सकेगा। (भाव यह है, यदि हम यह मानें कि चन्द्रमा पर प्रेमपूर्वक निशावदनचुम्बन

प्रस्तुतकामुकादिसंबन्धित्वेनावगम्यमानस्य तस्यारोपः तथाभूतस्यैव रसानुगुणत्वात्। न च तावदवगमने विशेषणपदानां सामर्थ्यमस्ति। अतः श्लेषादिमहिम्ना विशेषणपदैः स्वरूपतः समर्पितेन वदनचुम्बनादिना तत्संबन्धिनि कामुकादावभिव्यक्ते पुनस्तदीयत्वानुसंधानं तत्र भवति। यथा स्वरूपतो दृष्टेन राजाश्वादिना तत्संबन्धिनि राजादौ स्मारिते पुनरश्वादौ तदीयत्वानुसंधानं तद्वदिति विशेषणसाम्येन वाच्योपस्कारकस्याप्रस्तुतव्यञ्जनस्यास्त्यपेक्षा। अत एव श्लिष्टविशेषणायामिव साधारणविशेषणायामप्यप्रस्तुतव्यवहारसमारोप इत्येव प्राचीनानां प्रवादः कन्दुके व्यावल्गत्कुचभारत्वादिविशिष्टवनितासेव्यत्वस्य कामुकसंबन्धित्वेनैव समारोपणीयत्वात्। स्वरूपतः कन्दुकेऽपि तस्य सत्त्वेनासमारोपणीयत्वात्।

किं च सारूप्यनिबन्धनत्वेनोदाहृतायां समासोक्तावप्रस्तुतवृत्तान्तस्याशब्दार्थस्याप्रस्तुतवृत्तान्तरूपेणैवावगम्यतया तेन रूपेणैव तत्र समारोपसिद्धेरन्यत्रापि तथैव युक्तमिति युक्तमेव प्राचीनानां लक्षणमिति विभावनीयम्॥ ६१॥

क्रिया का आरोप पाया जाता है, तो इसमें कोई चमत्कार नहीं हो सकता, क्योंकि चन्द्रमा (अचेतन पदार्थ) निशा (अचेतन पदार्थ) का चुम्बन करता है, यहाँ तभी चमत्कार माना जा सकता है, जब हम चन्द्रमानिशावृत्तान्त पर इस वृत्तान्त का आरोप करें कि कोई कामुक उपपति किसी परकीया के मुख का सानुराग चुंबन कर रहा है। ऐसा मानने पर यहाँ रति की प्रतीति होगी, तथा यही अर्थ रसानुगुण हो सकता है। यदि कोई यह कहे कि तत्तत् विशेषणों से ही यह प्रतीति हो जायगी, तो इसका उत्तर यह है कि विशेषण पदों में उस जारत्वादिविशिष्ट वदनचुंबनादि की व्यञ्जना कराने की शक्ति नहीं है। वस्तुतः श्लेषादि के कारण पहले तो उन उन प्रस्तुतपरक विशेषणों से हमें अप्रस्तुत वदनचुम्बनादि की प्रतीति होती है, तब इस वदनचुम्बनादि के द्वारा तत्संबंधी चेतन व्यक्ति कामुकादि व्यञ्जित होता है, तदनंतर फिर हम 'यह वदनचुम्बनादि कामुकादि का है' इस प्रतीति पर पहुँचते हैं। दृष्टान्त के लिए मान लीजिये, हमने कोई राजा का घोड़ा (राजाश्व) जैसा पदार्थ देखा, तब हम उस घोड़े आदि को देखकर एक दम उसके संबंधी राजादि का स्मरण करते हैं और फिर पुनः राजा के साथ उस घोड़े का संबंध जोड़कर 'यह राजा का घोड़ा है' ऐसा अनुभव प्राप्त करते हैं, ठीक इसी तरह विशेषणसाम्य के द्वारा वाच्यार्थ के द्वारा उपस्कृत अप्रस्तुत (जारादि) की व्यञ्जना का होना जरूरी होता है। इसलिए प्राचीनों का ऐसा मत रहा है कि श्लिष्टविशेषणा समासोक्ति की तरह साधारण विशेषणा समासोक्ति में भी अप्रस्तुत व्यवहार समारोप पाया जाता है। 'व्यावल्गत्कुचभार' आदि पद्य में कंदुक के 'व्यावल्गत्कुचभारत्वादिविशिष्ट वनिता के द्वारा सेवित किया जाना रूप' विशेषण का कामुक से संबन्ध जोड़कर ही अप्रस्तुत (कामुकवृत्तान्त) का प्रस्तुत (कंदुकवृत्तांत) पर व्यवहार-समारोप हो सकता है। वैसे ये विशेषण कन्दुक में भी पाये जाते हैं, पर इनका आरोप तभी हो सकता है, जब वह अप्रस्तुत कामुक संबन्ध से युक्त हो अन्यथा नहीं। साथ ही सारूप्यनिबंधना समासोक्ति में भी अप्रस्तुतवृत्तान्त (जैसे 'पुरा यत्र स्रोतः' पद्य में कुटुम्बियों की समृद्ध्यसमृद्धि) वाच्यार्थ नहीं है, अतः उसकी प्रतीति अप्रस्तुतवृत्तांतरूप में ही होती है तथा इसी रूप में उसका समारोप प्रस्तुतवृत्तांत (विविक्तवनविरलभावविपर्यास) पर होता है, ठीक यही बात समासोक्ति के अन्य स्थलों में भी मानना ठीक है, अतः प्राचीनों का लक्षण ठीक ही है, यह ध्यान देने योग्य है।

२४ परिकरालङ्कारः

अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे ।
सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः ॥ ६२ ॥

अत्र 'सुधांशुकलितोत्तंसः' इति विशेषणं तापहरणसामर्थ्याभिप्रायगर्भम् । यथा वा (कुमार० ३।१०)—

तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥

अत्र 'पिनाकपाणेः' इति हरविशेषणं 'कुसुमायुध' इत्यर्थलभ्याहमर्थविशेषणं च सारासारायुधत्वाभिप्रायगर्भम् ।

यथा वा—

सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ॥

---

२४ परिकर अलंकार

६२—जहाँ किसी प्रकृत अर्थ से संबद्ध विशेष अभिप्राय की व्यंजना कराने के लिए किसी विशेषण का प्रयोग किया जाय, वहाँ परिकर अलंकार होता है जैसे चन्द्रमा के द्वारा सुशोभित सिर वाले शिव आप लोगों के संताप को दूर करें ।

टिप्पणी—परिकर का लक्षण यह है : –'प्रकृतार्थोपपादकार्थव्यञ्जकविशेषणत्वं परिकर-लक्षणम् ।' परिकर अलंकार में ध्वनि नहीं होती, क्योंकि यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक होता है । अतः ध्वनि का वारण करने के ही लिए 'प्रकृतार्थोपपादक' विशेषण का प्रयोग किया गया है । हेतु अलंकार के वारण के ही लिए 'व्यञ्जकत्व' का समावेश किया गया है, क्योंकि जहां हेतु में 'व्यञ्जकत्व' नहीं होता, वहाँ 'बोधकत्व' होता है । परिकरांकुर अलंकार के वारण के लिए लक्षण में 'विशेषण' का निवेश किया गया है, क्योंकि परिकरांकुर में विशेष्य का प्रयोग साभिप्राय होता है ।

यहाँ 'सुधांशुकलितोत्तंसः' पद 'शिवः' का विशेषण है, जिसका प्रयोग इसलिए किया गया है कि शंकर में ताप को मिटाने की शक्ति है, क्योंकि शीतल चन्द्रमा उनके मस्तक पर स्थित है, इस अभिप्राय की प्रतीति हो सके ।

अथवा जैसे—

कुमारसंभव के तृतीय सर्ग में कामदेव इन्द्र से कह रहा है—'हे देवेन्द्र, तुम्हारी कृपा से अकेले वसंत को साथ पाकर कुसुमायुध होने पर भी मैं पिनाक धनुष को धारण करने वाले शिव तक के धैर्य का भंग कर दूँ, दूसरे धनुर्धारी तो मेरे आगे क्या चीज हैं ?

यहाँ महादेव के लिए प्रयुक्त विशेषण 'पिनाकपाणि' तथा 'कुर्यां' क्रिया के द्वारा अर्थलभ्य (आक्षिप्त) 'अहं' के विशेषण 'कुसुमायुध' के द्वारा कवि पिनाक धनुष के बलशाली होने तथा पुष्पों के धनुष के निर्बल होने की प्रतीति कराना चाहता है । अतः यहाँ परिकर अलंकार है ।

अथवा जैसे—

'यह तुच्छ शरीर समस्त अपवित्रता का घर है तथा कृतघ्न एवं क्षणिक है, फिर भी मूर्ख (अज्ञानी) लोग इसके लिए तरह तरह के पाप कर्म करते रहते हैं ।'

अत्र शरीरविशेषणानि तस्य हेयत्वेनासंरक्षणीयत्वाभिप्रायगर्भाणि।

यथा वा—

व्यास्थं नैकतया स्थितं श्रुतिगणं, जन्मी न वल्मीकतो,
नाभौ नाभवमच्युतस्य, सुमहद्भाष्यं च नाभापिषम्।
चित्रार्थां न बृहत्कथामचकथं, सुत्राम्णि नासं गुरु-
र्देव! त्वद्गुणवृन्दवर्णनमहं कर्तुं कथं शक्नुयाम्?॥

अत्र 'श्रुतिगणं व्यास्थम्' इत्यादीनि विशेषणानि स्वस्मिन् व्यासाद्यसाधारण-कार्यकर्तृत्वनिषेधमुखेन 'नाहं व्यासः' इत्याद्यभिप्रायगर्भाणि। तत्राद्ययोरुदाहरणयोरेकैकं विशेषणम्, समनन्तरयोः प्रत्येकं बहूनि विशेषणानि। तत्रापि प्रथमोदाहरणे सर्वाणि विशेषणान्येकाभिप्रायगर्भाणि पदार्थरूपाणि च द्वितीयोदाहरणे भिन्नाभिप्रायगर्भाणि वाक्यार्थरूपाणि चेति भेदः। एतेषु व्यङ्ग्यार्थसद्भावेऽपि न ध्वनिव्यपदेशः। शिवस्य तापहरणे, मन्मथस्य कैमुतिकन्यायेन

यहाँ शरीर के साथ जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, वे सब साभिप्राय हैं, क्योंकि उनसे शरीर की तुच्छता (हेयत्व) तथा अरक्षणीयता की प्रतीति होती है।

अथवा जैसे—

कोई कवि राजा से कह रहा है, हे देव, बताओ तो सही मैं आपके गुणसमूह का वर्णन करने में कैसे समर्थ हो सकता हूँ—मैंने न तो एक वेद को अनेक शाखा में विस्तारित ही किया है (मैं वेदव्यास नहीं हूँ), न मैं वाल्मीकि से ही जन्मा हूँ, (मैं वाल्मीकि भी नहीं हूँ), मैं विष्णु की नाभि से पैदा नहीं हुआ हूँ (मैं ब्रह्मा नहीं हूँ), न मैंने महाभाष्य की ही रचना की है (मैं महर्षि पतञ्जलि या भगवान् शेष भी नहीं हूँ), मैंने सुंदर अर्थों वाली बृहत्कथा भी नहीं कही है (मैं गुणाढ्य या शिव नहीं हूँ), और न मैं देवराज इन्द्र का गुरु ही रहा हूँ (मैं बृहस्पति भी नहीं हूँ)।

'यहाँ 'श्रुतिगणं व्यास्थम्' इत्यादि विशेषणों के द्वारा वेदव्यास आदि तत्तत् व्यक्ति के असाधारण कार्य को बताकर उनके कर्तृत्व का अपने लिए निषेध करने से 'नाहं व्यासः' (मैं व्यास नहीं हूँ) इत्यादि तत्तत् अभिप्राय की प्रतीति होती है। प्रथम दो उदाहरणों से बाद के दो उदाहरणों का यह भेद है कि वहां एक एक ही साभिप्राय विशेषण पाया जाता है, जब कि इन दो ('सर्वाशुचि' तथा 'व्यास्थं नैकतया') उदाहणों में अनेक अभिप्रायगर्भ विशेषण प्रयुक्त हुये हैं। इन पिछले दो उदाहरणों में भी परस्पर यह भेद है कि प्रथम ('सर्वाशुचि' आदि) में समस्त विशेषण एक ही अभिप्राय के व्यंजक हैं तथा पदार्थरूप हैं, जब कि द्वितीय ('व्यास्थम्' इत्यादि) में सभी विशेषण अलग अलग अभिप्राय से गर्भित हैं तथा वाक्यार्थरूप हैं। यद्यपि इन स्थलों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, तथापि ये ध्वनिकाव्य के उदाहरण नहीं हैं, अपितु यहाँ अपरांगगुणीभूत व्यंग्य ही है। इसका कारण यह है कि यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्य का पोषक बन जाता है। इसे स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त चारों उदाहरणों में तत्तत् व्यंग्यार्थ तत्तत् वाच्यार्थ का उपस्कारक कैसे बन गया है, इसे बताते हैं। 'सुधांशुकलितो०' इत्यादि पद्यार्ध में शिव तापहरण रूप वाच्यार्थ के उपस्कारक हैं, इसी तरह 'वत मदनेन' में कामदेव कैमुतिकन्याय से समस्त धनुर्धारियों के भंजकत्व रूप

सर्वधन्विधैर्यभञ्जकत्वे शरीरसंरक्षणार्थं पापमाचरतां मूढत्वे, स्वस्य वर्णनीय-राजगुणकथनाशक्तत्वे च वाच्य एवोपस्कारकत्वात्। अत एव व्यङ्ग्यार्थस्य वाच्यपरिकरत्वात् परिकर इति नामास्यालङ्कारस्य। केचित्तु-निष्प्रयोजनविशेषणोपादानेऽपुष्टार्थत्वदोषतयोक्तत्वात् सप्रयोजनत्वं विशेषणस्य दोषाभावमात्रं न कश्चिदलङ्कारः। एकनिष्ठतादृशानेकविशेषणोपन्यासे परं वैचित्र्यविशेषात्परिकर इत्यलङ्कारमध्ये परिगणित इत्याहुः। वस्तुतस्त्वनेकविशेषणोपन्यास एव परिकर इति न नियमः। श्लेषयमकादिष्वपुष्टार्थदोषाभावेन तत्रैकस्यापि विशेषणस्य साभिप्रायस्य विन्यासे विच्छित्तिविशेषसद्भावात् परिकरत्वोपपत्तेः।

यथा वा—

अतियजेत निजां यदि देवतामुभयतश्च्यवते जुषतेऽप्यघम्।
१ क्षितिभृतैव सदैवतका वयं वनवताऽनवता किमहिद्रुहा॥

वाच्यार्थ के, शरीर की रक्षा के लिए पाप करते लोग मूर्खत्वरूप वाच्यार्थ के तथा कवि राजा के गुण कहने में अशक्तत्वरूप वाच्यार्थ के उपस्कारक हो गये हैं। (भाव यह है, तत्तत् विशेष्य जिसके लिए साभिप्राय विशेषण का प्रयोग किया गया है, स्वयं वाच्यार्थ के उपस्कारक होने के कारण तत्तत् विशेषण तथा उनसे व्यंजित व्यंग्यार्थ भी उसके अंग (उपस्कारक) बन जाते हैं।)

इसलिए इस अलंकार का नाम परिकर है, क्योंकि यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का परिकर (पोषक) पाया जाता है। कुछ विद्वान् इसे अलग से अलंकार नहीं मानते, उनका कहना है कि काव्य में निष्प्रयोजन विशेषण का प्रयोग तो होना ही नहीं चाहिए, क्योंकि निष्प्रयोजन विशेषण होने पर वहाँ अपुष्टार्थत्व दोष होगा, अतः सप्रयोजन (साभिप्राय) विशेषण का होना अलंकार न होकर दोषाभावमात्र है। यदि परिकर कहीं होगा तो वहीं हो सकता है, जहाँ एक ही विशेष्य के लिए अनेक साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग हो, क्योंकि ऐसे प्रयोग में विशेष चारुता पाई जाती है। इसलिए अनेक साभिप्राय विशेषणों के एक ही विशेष्य के लिए किए गये प्रयोग को ही अलंकारों में गिना गया है। ग्रन्थकार को यह मत अभिमत नहीं। वे कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि अनेक साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग में ही परिकर माना जाय। हम देखते हैं कि श्लेष, यमक आदि में अपुष्टार्थदोष के अभाव के कारण जहाँ एक भी विशेषण का साभिप्राय प्रयोग हो, वहाँ चमत्कारविशेष के कारण परिकरत्व की उपपत्ति होती है।

टिप्पणी—जगन्नाथ पंडितराज उक्त पूर्वपक्ष को मानते हैं। वे परिकर में अनेक विशेषणों का साभिप्रायत्व होना आवश्यक मानते हैं। इसका संकेत उनकी निम्न परिभाषा में 'विशेषणानाम्' पद का बहुवचन है।

'विशेषणानां साभिप्रायत्वं परिपाकरः।' (रसगंगाधर पृ० ५१७)

साथ ही वे दीक्षित के इस मत का भी खण्डन करते हैं कि जहाँ श्लेष-यमकादि के कारण एक साभिप्राय विशेषण भी पाया जाता हो, वहाँ परिकर मानना ही होगा। (दे० वही-पृ० ५१९-५२१)
जैसे निम्न पद्य में—

कृष्ण नन्दादि गोपों से कह रहे हैं:—'जो व्यक्ति अपने निजी देवता को छोड़कर अन्य देवता की पूजा करता है, वह दोनों लोकों से पतित होता है तथा पाप का भागी

अत्र हि पुरुहूतपूजोद्युक्तान्नन्दादीन्प्रति भगवतः कृष्णस्य वाक्ये 'गोवर्धनगिरिरेव चास्माकं रक्षकत्वेन दैवतमिति स एव पूजनीयः, न त्वरक्षकः पुरुहूतः' इत्येवं परम्, वनवतेति गोवर्धनगिरेर्विशेषणं, काननवत्त्वान्निर्झरादिमत्त्वाच्च पुष्पमूलफलतृणजलादिभिरारण्यकानामस्माकमस्मद्धनानां गवां चायमेव रक्षक इत्यभिप्रायगर्भम्। एवमत्र साभिप्रायैकविशेषणविन्यासस्यापि विच्छित्तिविशेषवशादस्य साभिप्रायस्यालङ्कारत्वसिद्धावन्यत्रापि 'सुधांशुकलितोत्तंस' इत्यादौ तस्यात्मलाभो न निवार्यते। अपि च एकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कार इति सर्वसंमतं, तद्वदेकस्यापि विशेषणस्य साभिप्रायस्यालङ्कारत्वं युक्तमेव ॥ ६२ ॥

२५ परिकराङ्कुरालङ्कारः

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः।
चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः ॥ ६३ ॥

वनता है। हम लोग तो वन से युक्त गोवर्धनपर्वत के कारण ही सदैवत हैं (वही हमारा देवता है); हमें अपनी रक्षा न करने वाले (अनवता—अरक्षक) इन्द्र से क्या मतलब?

यह इन्द्रपूजा में संलग्न नन्दादि के प्रति कृष्ण की उक्ति है। यहाँ वाच्यार्थ यह है कि 'गोवर्धनपर्वत ही रक्षक होने के कारण हमारा देवता है, अतः वही पूजनीय है, न कि अरक्षक इन्द्र'। यहां 'वनवता' वह पद गोवर्धनपर्वत (क्षितिभृता) का विशेषण है। इस पद से यह अभिप्राय व्यंजित होता है कि वनमाला तथा निर्झरों वाला होने के कारण यही हम वनवासियों तथा हमारे धन, गायों, की पुष्प, मूल, फल, तृण, जल आदि से रक्षा करता है। हम देखते हैं कि यहाँ एक ही साभिप्राय विशेषण का विन्यास पाया जाता है, किंतु यह भी विशेष चमत्कारजनक है, अतः इस साभिप्राय विशेषण का अलंकारत्व सिद्ध हो ही जाता है। इतना होने पर अन्यत्र भी एक साभिप्राय विशेषण होने पर 'सुधांशुकलितोत्तंसः' आदि स्थलों में परिकरत्व का निवारण नहीं किया जा सकता। साथ ही एक दलील यह भी दी जा सकती है कि जब सभी विद्वान् एकपदार्थहेतुक काव्यलिंग को अलंकार मानते हैं, तो उसी तरह केवल एक ही विशेषण के साभिप्राय होने पर भी अलंकारत्व मानना उचित ही होगा।

टिप्पणी—एकपदार्थहेतुक काव्यलिंग निम्न पद्य में है। इसकी व्याख्या काव्यलिंग के प्रकरण में देखें:—

भस्मोद्धूलन भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले शुभं,
हा सोपानपरम्परे गिरिसुताकान्तालयालंकृते।
अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा-
लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निलीयामहे ॥

२५. परिकरांकुर अलंकार

६३—जहाँ विशेष्य का प्रयोग साभिप्राय हो, वहाँ परिकरांकुर अलंकार होता है। जैसे, भगवान् चतुर्भुज चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के देने वाले हैं।

टिप्पणी—प्रकृतार्थोपपादकार्थव्यञ्जकविशेष्यत्वं परिकराङ्कुरलक्षणम्।

अत्र 'चतुर्भुज' इति विशेष्यं पुरुषार्थचतुष्टयदानसामर्थ्याभिप्रायगर्भम् ।

यथा वा—

फणीन्द्रस्ते गुणान्वक्तुं, लिखितुं हैहयाधिपः ।
द्रष्टुमाखण्डलः शक्तः, क्वाहमेषः क ते गुणाः ? ॥

'फणीन्द्रः' इत्यादिविशेष्यपदानि सहस्रवदनाद्यभिप्रायगर्भाणि ॥ ६३ ॥

२६ श्लेषालङ्कारः

नानार्थसंश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रितः ।
सर्वदो माधवः पायात् स योऽगं गामदीधरत् ॥ ६४ ॥
अब्जेन त्वन्मुखं तुल्यं हरिणाहितसक्तिना ।

यहाँ कवि के द्वारा प्रयुक्त 'चतुर्भुजः' विशेष्य इस अभिप्राय से गर्भित है कि विष्णु चार हाथ वाले होने के कारण चारों पुरुषार्थों को देने में समर्थ हैं ।

अथवा जैसे—

कोई कवि किसी राजा से कह रहा है—हे राजन् , तुम्हारे गुणों का वर्णन करने में (सहस्रजिह्व) शेष ही समर्थ हैं, उनको लिखने में (सहस्रभुज) कार्तवीर्यार्जुन तथा देखने में (सहस्रनेत्र) इन्द्र समर्थ हैं । कहाँ तुच्छ मैं और कहाँ तुम्हारे इतने असंख्य गुण ?

यहाँ 'फणीन्द्र' 'हैहयाधिप' तथा 'आखण्डल' शब्द सहस्रवदनत्व, सहस्रबाहुत्व तथा सहस्रनेत्रत्व की प्रतीति कराते हैं । अतः यहाँ तत्तत् विशेष्य का साभिप्राय प्रयोग है । इस उदाहरण में पहले वाले उदाहरण से यह भेद है कि वहाँ एक ही साभिप्राय विशेष्य का विन्यास है, यहाँ अनेक साभिप्राय विशेष्यों का ।

२६. श्लेष अलङ्कार

६४—जहाँ वर्ण्य, अवर्ण्य या वर्ण्यावर्ण्य अनेक अर्थों से संबद्ध नानार्थक शब्दों का प्रयोग हो, वहाँ श्लेष अलङ्कार होता है । (यह तीन प्रकार का होता है :—१-वर्ण्यानेकविषय, २-अवर्ण्यानेकविषय, ३-वर्ण्यावर्ण्यानेकविषय—इन्हीं के क्रमशः उदाहरण हैं ।)

(१) समस्त वस्तुओं के देनेवाले माधव, तुम्हारी रक्षा करें जिन्होंने गोवर्धन पर्वत तथा पृथ्वी को धारण किया । (विष्णुपक्ष)

उमा (पार्वती) के पति शिव सदा तुम्हारी रक्षा करें, जिन्होंने गंगा को (सिर पर) धारण किया । (शिवपक्ष)

टिप्पणी—इसी तरह का प्रकृतश्लेष इस पद्य में है :—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो,
यश्चोद्वृत्तभुजंगहारवलयो गंगां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः,
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदो माधवः ॥

(२) हे सुन्दरि, तुम्हारा मुख उस कमल (अब्ज) के समान है, जिसने सूर्य से प्रेम कर रक्खा है । (कमलपक्ष)

हे सुन्दरि, तुम्हारा मुख उस चन्द्रमा (अब्ज) के समान है, जिसने (कलङ्करूप में स्थित) हरिण से आसक्ति कर रक्खी है । (चन्द्रपक्ष)

उच्चरद्भूरिकीलालः शुशुभे वाहिनीपतिः ॥ ६५ ॥

अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः। स च त्रिविधः—प्रकृतानेकविषयः, अप्रकृतानेकविषयः, प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च। 'सर्वदा' इत्यादिक्रमेणोदाहरणानि। तत्र 'सर्वदोमाधव, इति स्तोतव्यत्वेन प्रकृतयोर्हरिहरयोः कीर्तनं प्रकृतश्लेषः। अब्जं कमलम्, अब्जश्चन्द्रः, तयोरुपमानमात्रत्वेनाप्रकृतयोः कीर्तनमप्रकृतश्लेषः। वाहिनीपतिः सेनापतिः समुद्रश्च। तत्र समितौ शस्त्रप्रहारोत्पतद्रुधिरस्य सेनापतेरेव वर्णनं प्रकृतमिति प्रकृताप्रकृतश्लेषः।

यथा वा—

त्रातः काकोदरो येन द्रोग्धापि करुणात्मना।
पूतनामारणख्यातः स मेऽस्तु शरणं प्रभुः॥
नीतानामाकुलीभावं लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां त्वदीक्षणे॥

---

(३) वह सेनापति, जिसका रुधिर शस्त्रपात के कारण निकल रहा था, सुशोभित हो रहा था। (सेनापतिपक्ष)

वह समुद्र, जिसका जल उफन रहा था, सुशोभित हो रहा था। (समुद्रपक्ष)

जहाँ अनेकार्थ शब्दों का विन्यास हो, वहाँ श्लेष होता है। यह तीन प्रकार का होता है—अनेक प्रकृतपदार्थविषयक, अनेकाप्रकृतपदार्थविषयक तथा अनेक प्रकृताप्रकृतपदार्थविषयक। 'सर्वदा' इत्यादि तीन श्लोकार्धों के द्वारा क्रमशः एक-एक का उदाहरण दिया गया है। प्रथम उदाहरण में 'सर्वदो माधवः' इत्यादि के द्वारा स्तुतियोग्य प्रकृत (प्रस्तुत) विष्णु तथा शिव दोनों का वर्णन किया गया है, अतः यहाँ दोनों के प्रकृत होने के कारण प्रकृतश्लेष है। दूसरे उदाहरण में अब्ज का एक अर्थ है कमल, अब्ज का दूसरा अर्थ है चन्द्रमा, ये दोनों सुन्दरी के मुख के उपमान हैं, अतः यहाँ दोनों अप्रकृतों का वर्णन पाया जाता है। यहाँ अप्रकृतश्लेष पाया जाता है। तीसरे उदाहरण में वाहिनीपति का अर्थ सेनापति तथा समुद्र दोनों है। यहाँ युद्धस्थल में शस्त्रपात से निकलते रुधिर वाले सेनापति का ही वर्णन प्रस्तुत है; अतः प्रकृताप्रकृतश्लेष है।

अथवा जैसेः—

(१) प्रकृतश्लेष का उदाहरण

जिन करुणात्मा रामचन्द्र ने द्रोहकर्ता भयशून्य कौवे (जयन्त) की भी रक्षा की, जो पवित्रनाम वाले तथा युद्धकौशल में प्रसिद्ध हैं, वे राम मेरे शरण बनें। (राम पक्ष)

जिन करुणात्मा कृष्ण ने द्रोहकर्ता सर्प (कालिय) की भी रक्षा की तथा जो पूतना के मारने के लिए प्रसिद्ध हैं, वे कृष्ण मेरे शरण बनें। (कृष्णपक्ष)

(२) अप्रकृतश्लेष का उदाहरण

हे सुन्दरि, तुम्हारे दोनों नेत्र उन कमलों के समान हैं, जो मधु के लोभी भौंरों के द्वारा व्याप्त हैं तथा जल में वृद्धि को प्राप्त हुए हैं। (कमलपक्ष)

हे सुन्दरि, तुम्हारे दोनों नेत्र उन हरिणों (कमल—एक विशेष जाति का हरिण)

असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः ।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुलैः करैः ॥ इति ।

तत्राद्ये स्तोतव्यत्वेन प्रकृतयो राम-कृष्णयोः श्लेषः । द्वितीये उपमानत्वेनाप्रकृतयोः पद्म-हरिणयोः श्लेषः । तृतीये 'राजा हरति लोकस्य' इति चन्द्रवर्णनप्रस्तावे प्रत्यग्रोदितचन्द्रस्याप्रकृतस्य नवाभिषिक्तस्य नृपतेः श्लेषः । यदत्र प्रकृताप्रकृतश्लेषोदाहरणे शब्दशक्तिमूलध्वनिमिच्छन्ति प्राञ्चः, तत्प्रकृताभिधानमूलकस्योपमादेरलङ्कारस्य व्यङ्ग्यत्वाभिप्रायम्, नत्वप्रकृतार्थस्यैव व्यङ्ग्यत्वाभिप्रायम् । अप्रकृतार्थस्यापि शब्दशक्त्या प्रतिपाद्यस्याभिधेयत्वावश्यंभावेन व्यक्त्यनपेक्षणात् । यद्यपि प्रकृतार्थे प्रकरणबलाज्झटिति बुद्धिस्थे सत्येव पश्चान्नृपतितद्ग्राह्यधनादिवाचिनां राजकरादिपदानामन्योन्यसंनिधान-

---

के समान हैं, जो व्याधों के द्वारा बाणों से व्याकुल बना दिये गये हैं तथा वन में वृद्धि को प्राप्त हुए हैं। (हरिणपक्ष)

(३) प्रकृताप्रकृतश्लेप का उदाहरण

उन्नतिशील सुन्दर राजा, जिसने समस्त देश को अनुरक्त कर रक्खा है, थोड़े कर का ग्रहण करने के कारण प्रजा के हृदय को आकृष्ट करता है। (राजपक्ष)

उदयाचल पर स्थित लाल रंग वाला सुन्दर चन्द्रमा कोमल किरणों से लोगों के हृदय को आकृष्ट कर रहा है। (चन्द्रपक्ष)

इन उपर्युक्त उदाहरणों में प्रथम उदाहरण में राम तथा कृष्ण दोनों की स्तुति अभीष्ट है, अतः राम कृष्ण दोनों प्रकृत होने के कारण, प्रकृतश्लेष पाया जाता है। द्वितीय उदाहरण में कमल तथा हरिण दोनों नायिका के नेत्रों के उपमान हैं, वे दोनों अप्रकृत हैं, अतः यहाँ अप्रकृतश्लेष है। तीसरे उदाहरण में 'राजा हरति लोकस्य' के द्वारा चन्द्रवर्णन कवि को अभीष्ट है, अतः अभिनव उदित चन्द्रमा (अप्रकृत) तथा नवाभिषिक्त राजा (प्रकृत) का श्लेष पाया जाता है। प्राचीन आलंकारिक ऐसे स्थलों पर जहाँ प्रकृत तथा अप्रकृत श्लेष पाया जाता है, (श्लेष अलङ्कार न मानकर) शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानते हैं। इसका एकमात्र अभिप्राय यह है कि यहाँ प्रकृत तथा अप्रकृत पक्षों के वाच्यार्थ से प्रतीत उपमादि अलङ्कार व्यंग्य होता है, वे शब्दशक्तिमूलध्वनि का व्यपदेश इसलिए नहीं करते कि यहाँ अप्रकृत अर्थ भी व्यंग्य (व्यञ्जनागम्य) होता है। अप्रकृत (चन्द्रपक्षगत) अर्थ के भी शब्दशक्ति के द्वारा प्रतिपाद्य होने के कारण उसमें अभिधेयत्व (वाच्यत्व) अवश्य मानना होगा तथा उसके लिए व्यंजना की कोई आवश्यकता नहीं। यदि पूर्वपक्षी (प्राच्य आलङ्कारिक) यह दलील दें कि यहाँ प्रकृतार्थ (राजविषयक प्राकरणिक अर्थ) प्रकरण के कारण एकदम प्रथम क्षण में ही बुद्धिस्थ हो जाता है, जब कि इसके बाद नृपति (राजा) तथा उसके द्वारा ग्राह्य धनादि (कर आदि) प्राकरणिक तत्तत् अर्थों के वाचक राज, कर आदि पदों के एक दूसरे से अन्वित होनेके कारण उस-उस अर्थ के द्वारा अन्य किसी शक्ति के विकसित होनेपर अप्राकरणिक (चन्द्रपक्ष वाले) अर्थ की स्फूर्ति होती है (अतः वह व्यंग्य हो जाता है), तो इस दलील का उत्तर यह है कि इतने भर से अप्राकरणिक अर्थ व्यंग्य नहीं हो जाता। क्योंकि जहाँ अभिधाशक्ति से

बलात्तत्तद्विषयशक्त्यन्तरोन्मेषपूर्वकमप्रस्तुतार्थः स्फुरेत्। न चैतावता तस्य व्यङ्ग्यत्वम्; शक्त्या प्रतिपाद्यमाने सर्वथैव व्यक्त्यनपेक्षणात्। पर्यवसिते प्रकृतार्थाभिधाने पश्चात्स्फुरतीति चेत्,—कामं गूढश्लेषो भवतु।

किसी अर्थ की प्रतीति हो सकती है, वहाँ व्यंजना की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि पूर्वपक्षी पुनः यह दलील दे कि यहाँ अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति प्राकरणिक अर्थ के साथ ही नहीं हो रही है, अपि तु वह प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के समाप्त होने पर प्रतीत होता है, (अतः अभिधा शक्ति या श्लेष कैसे माना जाय), तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि यहाँ श्लेष ही है, हाँ वह गूढश्लेष है, इसीलिए दूसरे (अप्राकरणिक) अर्थ की प्रतीति झटिति नहीं हो पाती।

टिप्पणी—आलंकारिकों में प्रकृताप्रकृतश्लेष वाले प्रकरण को लेकर अनेक वाद-विवाद हुए हैं। इन सब की जड़ मम्मटाचार्य का वह वचन है, जहाँ वे शब्दशक्तिमूलध्वनि में अप्रकृतार्थ को व्यंग्य मानते हैं। मम्मट के मत से अभिधाशक्ति के द्वारा केवल प्रकृत अर्थ (जैसे 'असावुदयमारूढः' में राजा वाला अर्थ) ही प्रतीत होता है, तदनन्तर अभिधाशक्ति के प्रकृत अर्थ में नियन्त्रित होने से व्यञ्जना के द्वारा अप्रकृत अर्थ (चन्द्रमा वाला अर्थ) प्रतीत होता है। अतः चन्द्रपक्ष वाला अर्थ भी व्यंग्य है, साथ ही उससे प्रतीत उपमा अलंकार (उपमानोपमेयभाव) भी। मम्मट के मत से शब्दशक्तिमूलध्वनि का लक्षण यों है :—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥ (काव्यप्रकाश २, १९)

यहाँ 'अवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्' से स्पष्ट है कि मम्मट को अप्रकृतार्थ का व्यंग्यत्व अभीष्ट है। मम्मट के द्वारा उदाहृत इस पद्य में :—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥

राजपक्ष प्रकृत है, हस्तिपक्ष अप्रकृत। मम्मट के मत में हस्तिपक्ष वाला अर्थ तथा हस्तिराजोपमानोपमेयभाव दोनों व्यंग्य हैं। इसीलिए गोविन्दठक्कुर ने प्रदीप में स्पष्ट लिखा है कि गजवाला अर्थ व्यञ्जना से ही प्रतीत होता है :—'अत्र प्रकरणेन 'भद्रात्मन' इत्यादिपदानां राज्ञि तदन्वयायोग्ये चार्थेऽभिधानियन्त्रणेऽपि गजस्य तदन्वययोग्यस्य चार्थस्य व्यञ्जनयैव प्रतीतिः। (प्रदीप पृ० ६९) गोविन्दठक्कुर ने यहीं शब्दशक्तिमूलध्वनि का (अर्थ-) श्लेष से क्या भेद है, इसे भी स्पष्ट किया है। वे बताते हैं कि इसका समावेश अर्थश्लेष में नहीं हो सकता (अर्थात् दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधावृत्ति से ही नहीं हो सकती), क्योंकि अर्थश्लेष वहीं होगा जहाँ कवि का तात्पर्य दोनों अर्थों में हो अर्थात् दोनों अर्थ प्रकृत हों, जहाँ कवि का तात्पर्य एक ही अर्थ में हो, और वहाँ विशिष्ट-सामग्री के कारण (अप्रकृत) द्वितीयार्थ की प्रतीति भी होती हो तो वह व्यञ्जना के ही कारण होती है।

ननूपमानोपमेयभावकल्पनाच्छब्दश्लेषतो भेदेऽपि 'योऽसकृत्परगोत्राणां' इत्याद्यर्थश्लेषतः कुतोऽस्य भेदः। अर्थश्लेषे चोभयत्र शक्तिरेव न व्यञ्जनेति चेदुच्यते।

यत्रोभयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेषः। यत्र त्वेकस्मिन्नेव तत्, सामग्रीमहिम्ना तु द्वितीयार्थप्रतीतिः सा व्यञ्जनेति। (प्रदीप पृ० ६९–७०)

जैसा कि हम ऊपर देखते हैं अप्पयदीक्षित को यह मत मान्य नहीं। वे प्रकृताप्रकृतार्थद्वय प्रतीति में भी ध्वनित्व नहीं मानते, अपि तु अलंकारत्व ही मानते हैं। उनके अनुसार दोनों अर्थ

शक्ति (अभिधा) से ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि तत्तत् श्लिष्ट पदार्थों का अप्रकृतार्थ में भी संकेत पाया जाता है, साथ ही अप्रकृतार्थ में संकेतप्रतीति न हो ऐसा कोई प्रतिबन्धक भी नहीं है। उसे ध्वनि केवल उपचारतः कहा जाता है, इसलिए कि प्रकृत (उपमेय) तथा अप्रकृत (उपमान) का उपमानोपमेयभाव तथा उपमादि अलंकार व्यञ्जनागम्य होता है, अतः अप्पयदीक्षित के मत में प्रकृत तथा अप्रकृत अर्थ दोनों वाच्य हैं, उपमादि अलंकार व्यंग्य। अप्पयदीक्षित तथा मम्मट की सरणियों के भेद को यों स्पष्ट किया जा सकता है।

मम्मट का मत :—

श्लिष्ट शब्द (अभिधा) प्रकृत अर्थ (व्यञ्जना) अप्रकृत अर्थ तथा अलंकार

दीक्षित का मत :—

श्लिष्ट शब्द (अभिधा) प्रकृत अर्थ (अभिधा) अप्रकृत अर्थ (व्यञ्जना) अलंकार

इस विषय का वाद-विवाद मम्मट से भी प्राचीन है। आचार्य अभिनवगुप्त ने ही लोचन में इस संबन्ध में चार मत दिये हैं। 'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः' इस उदाहरण को आनन्दवर्धन ने शब्दशक्तिमूलध्वनि के सम्बन्ध में उदाहृत किया है। वहाँ आनन्दवर्धन स्पष्ट कहते हैं कि जहाँ सामग्री महिमा के सामर्थ्य से किसी अलंकार की व्यञ्जना हो वहाँ ध्वनि होगी।

'यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेर्विषयः।'

(ध्वन्यालोक पृ० २४१)

ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन को अलंकार का ही व्यंग्यत्व अभीष्ट है, अप्रकृतार्थ का नहीं। अभिनवगुप्त ने इसी प्रसंग में लोचन में चार मत दिये हैं।

(१) प्रथम मत के अनुसार जिन लोगों ने इन शब्दों का श्लिष्ट प्रयोग देखा है, उनको प्रकृतार्थ की प्रतीति अभिधा से होती है, तब अभिधाशक्ति के नियन्त्रित हो जाने पर, अप्रकृत अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से होती है।

(२) द्वितीय मत के अनुसार दूसरे (अप्रकृत) अर्थ की प्रतीति भी अभिधा से होती है, किन्तु वह अभिधा महाकाल के सादृश्यात्मक अर्थ को साथ लेकर आती है, अतः उसे व्यञ्जनारूपा कहा जाता है (वस्तुतः वह है अभिधा ही, अर्थात् अप्रकृत वाच्य ही है)।

(३) इस मत में भी द्वितीय अर्थ की उपस्थापक है तो अभिधा ही, किन्तु उस अर्थ को उपचार से व्यंग्यार्थ मानकर उस वृत्ति को भी व्यञ्जना मान लेते हैं।

(४) यह मत दूसरे अर्थ की प्रतीति अभिधा से ही मानता है, वह व्यञ्जना को केवल अलंकारांश का साधन मानता है। (कहना न होगा दीक्षित को यह मत सम्मत है।)

अभिनवगुप्त को ये चारों मत पसन्द नहीं। उनका स्वयं का मत स्पष्टतः निर्दिष्ट नहीं है, फिर भी वे अप्राकरणिक अर्थ को भी व्यञ्जनागम्य मानते जान पड़ते हैं, जिसका स्पष्ट निर्देश सर्वप्रथम मम्मट में मिलता है।

रसगंगाधरकार पण्डितराज ने भी इसका विशद विवेचन करते हुए अपने नये मत का उपन्यास किया है, उनके मत से अप्रकरणिक अर्थ प्रायः अभिधागम्य ही होता है, किन्तु ऐसे स्थल भी होते हैं, जहाँ वे प्राच्य ध्वनिवादी के मत से सन्तुष्ट हैं (अर्थात् जहाँ वे अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य मानते हैं)। पण्डितराज के मत से योगरूढ अथवा यौगिकरूढ शब्दों का नानार्थस्थल में प्रयोग होने पर अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में व्यञ्जनाव्यापार ही होता है।

एवमपि योगरूढिस्थले रूढिज्ञानेन योगापहरणस्य सकलतन्त्रसिद्धया रूढ्यनधिकरणस्य योगार्थालिंगितस्यार्थान्तरस्य व्यक्तिं विना प्रतीतिर्दुरुपपादा' (रसगंगाधर पृ० १४४)

अस्ति चान्यत्रापि गूढः श्लेषः।

यथा (माघ० ४।२९)—

अयमतिजरठाः प्रकाममगुर्वीरलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः।
सततमसुमतामगम्यरूपाः परिणतदिक्करिकास्तटीर्बिभर्ति॥
मन्दमग्निमधुरर्यमोपला दर्शितश्वयथु चाभवत्तमः।
दृष्टयस्तिमिरजं सिषेविरे दोषमोषधिपतेरसंनिधौ॥

पण्डितराज ने इसी संबन्ध में एक प्राचीन प्रमाण भी दिया है :—

योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा॥ (वही पृ० १४७)

इस प्रकार के योगरूढिस्थल का उदाहरण यह है :—

अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम्।
तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः॥

इसी आधार पर पण्डितराज ने अप्पय दीक्षित के प्राकरणिक अप्राकरणिक दोनों अर्थों को वाच्य मानने का खण्डन किया है। इस सम्बन्ध में पण्डितराज इसी मत का संकेत करते हैं।

'वयं तु ब्रूमः—अनेकार्थस्थले ह्यप्रकृताभिधाने शक्तेरुक्तिसंभवोऽप्यस्ति। योगरूढिस्थले तु सापि दूरापास्ता।' (रसगंगाधर पृ० ५३४) (दे० रसगंगाधर पृ० ५३१-५३६)

एक ऐसा भी मत है, जो ऐसे श्लिष्ट स्थलों पर अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति का ही निषेध करता है। यह मत महिमभट्ट का है। वे ऐसे स्थलों पर अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति मानना तो दूर रहा 'वाच्यस्यावचनं दोषः' मानते हैं। 'अत्र ह्यावृत्तिनिबन्धनं न किञ्चिदुक्तमिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः' (दे० व्यक्तिविवेक पृ० ९९)

इस प्रसंग के विशेष ज्ञान के लिए देखिए—

डा० भोलाशंकर व्यासः 'ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त' (प्रथम भाग) पंचम परिच्छेद (पृ० १९२-२२२)

गूढश्लेष का प्रयोग केवल यहीं ('असावुदय' इत्यादि में) नहीं है अन्यत्र भी पाया जाता है, जैसे निम्न पद्यों में :—

माघ के चतुर्थ सर्ग से रैवतक पर्वत का वर्णन है :—

इस रैवतक पर्वत पर अनेकों ऐसी तलहटियाँ हैं, जो अत्यन्त कठोर, विशाल एवं प्रलम्ब मेघों के द्वारा अवरुद्ध हैं, जिन पर दिग्गज अपने दाँतों से टेढ़ा प्रहार करते रहते हैं तथा जो प्राणियों के लिए अगम्य हैं। (तटीपक्ष)

यहाँ ऐसी अनेकों वृद्धाएँ हैं, जो अत्यधिक वृद्धा तथा स्थूलकाय हैं, जिनके स्तन लटक गये हैं, तथा जिनके दशनक्षत और नखक्षत प्रकट हो रहे हैं, और जो युवकों की सुरतक्रीडा के अयोग्य हैं। (वृद्धापक्ष)

(यहाँ श्लेष अलङ्कार नहीं है, अपितु समासोक्ति अलङ्कार है, क्योंकि प्रकृत 'तटी' पर अप्रकृत 'वृद्धा स्त्री' का व्यवहारसमारोप पाया जाता है। इस उदाहरण को दीक्षित ने गूढश्लेष के प्रसंग में इसलिए दिया है, कि यहाँ प्रकृत के लिए तत्तत् प्रयुक्त विशेषण गूढश्लिष्ट हैं तथा उनकी महिमा से अप्रकृत अर्थ का व्यवहारसमारोप व्यक्त होता है। गूढश्लेष का एक और उदाहरण देते हैं।)

ओषधिपति चन्द्रमा के अभाव में सूर्यकान्तमणियों ने अपनी अग्नि को मन्द बना

अत्र हि समासोक्त्युदाहरणयोः प्राकरणिकेऽर्थे प्रकरणवशात् झटिति बुद्धिस्थे विशेषणसाम्यादप्रकृतोऽपि वृद्धवेश्यावृत्तान्तादिः प्रतीयते। तत्र समासोक्तिरभङ्गश्लेष इति सर्वेषामभिमतमेव। एवमन्यत्रापि गूढश्लेषे ध्वनिबुद्धिर्न कार्या।

यथा वा (माघ० ३।५३)—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः॥

अत्र द्वितीयान्तविशेषणसमर्पितार्थान्तराणां न शब्दसामर्थ्येन वधूभिरन्वयः, विभक्तिभेदात्। न च विभक्तिभेदेऽपि तदन्वयाक्षेपकं साधर्म्यमिह निबद्धमस्ति।

यत :—

'एतस्मिन्नधिकपयः श्रियं वहन्त्यः संक्षोभं पवनभुवा जवेन नीताः।
वाल्मीकेरहितरामलक्ष्मणानां साधर्म्यं दधति गिरां महासरस्यः॥'

(माघ. ४।५९)

दिया, अन्धकार ने अपनी पुष्टता व्यक्त की, तथा नेत्रों ने अन्धकार युक्त दोष को प्राप्त किया। (चन्द्रपक्ष)

वैद्य (ओषधिपति) के अभाव में सूर्यकान्तमणियों को मन्दाग्नि रोग हो गया, अंधेरे को शोथ आ गया और दृष्टि को आन्ध्य रोग हो गया। (वैद्यपक्ष)

ये दोनों समासोक्ति अलङ्कार के उदाहरण हैं। इनमें प्रकरण के कारण प्राकरणिक अर्थ (तटीगत तथा चन्द्रगत अर्थ) झटिति प्रतीत होता है, किन्तु समान विशेषणों के कारण अप्रकृत वृद्धवेश्यावृत्तान्त तथा वैद्यवृत्तान्त की भी प्रतीति होती है। इन स्थलों पर समासोक्ति तथा अभंगश्लेष की सत्ता सभी आलङ्कारिक मानते हैं। (ततः अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में ऐसे स्थलों में गूढश्लेष ही होगा।) इसी तरह अन्य स्थलों में भी गूढश्लेष में ध्वनित्व नहीं मानना चाहिए। अथवा जैसे निम्न पद्य में—

माघ के तृतीय सर्ग से द्वारिकावर्णन है :—'जिस द्वारिकापुरी में युवक, रम्य होने के कारण सौभाग्य को प्राप्त करती, पवित्र होने के कारण अनुराग को बढ़ाती नतत्रिवलि वाली सुन्दरियों के साथ, रम्य होने के कारण पताकाओं को प्राप्त करती, जनरहित होने के कारण रति को बढ़ाती, नीचे छाजन वाली वलभियों का सेवन करते थे।'

इस पद्य में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, वे सब द्वितीयान्त हैं। अतः इन विशेषणों से जिन अन्य अर्थों की—वधूपक्ष वाले अर्थ की प्रतीति हो रही है, उनका शब्द के द्वारा 'वधूभिः' पद (विशेष्य) के साथ अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि यह पद तृतीयान्त है तथा दोनों में विभक्तिभेद पाया जाता है। साथ ही इस पद्य में कवि ने ऐसे कोई साधर्म्य का निबन्धन नहीं किया है, जो विभक्तिभेद के होने पर भी विशेष्य के साथ विशेषणों के अर्थान्तर का अन्वय घटित कर दे, जिससे निम्न पद्य की भाँति यहाँ भी आक्षिप्तश्लेष मान लिया जाय :—

(आक्षिप्तश्लेष का उदाहरण निम्न पद्य है, जहाँ अर्थान्तर का विभक्तिभेद होने पर साधर्म्य निबन्धन के कारण विशेष्य के साथ अन्वय हो जाता है।)

माघ के चतुर्थ सर्ग से रैवतक पर्वत का वर्णन है :—इस रैवतक पर्वत में अत्यधिक

इत्यत्रेवाक्षिप्तश्लेषो भवेत्। सममित्येतत्तु क्रियाविशेषणं सहार्थत्वेनाप्युपपन्नं वधूषु श्लिष्टविशेषणार्थान्वयात्प्राक् द्रागप्रतीतं साम्यार्थं नालम्बते। तस्मादर्थसौन्दर्यबलादेव तदन्वयानुसंधानमिति गूढः श्लेषः। तदनु तद्बलादेव 'सम'-शब्दस्य साधर्म्यार्थकल्पनमिति वाच्यस्यैवोपमालङ्कारस्याङ्गमयं श्लेष इत्यलं प्रपञ्चेन। तस्मात्सिद्धं श्लेषत्रैविध्यम्। एवं च श्लेषः प्रकारान्तरेणापि द्विविधः संपन्नः। उदाहरणगतेषु 'अब्ज-कीलाल-वाहिनीपत्या'दिशब्देषु परस्परविलक्षणं पदभङ्गमनपेक्ष्यानेकार्थक्रोडीकारादभङ्गश्लेषः। 'सर्वदो माधवः', 'यो गङ्गां', 'हरिणाहितसक्तिना' इत्यादिशब्देषु परस्परविलक्षणं पदभङ्गमपेक्ष्य नानार्थक्रोडीकारात् सभङ्गश्लेष इति। तत्र सभङ्गश्लेषः शब्दालङ्कारः। अभङ्गश्लेपस्त्वर्था-

---

जल की शोभा को धारण करती, पवन से उत्पन्न वेग के कारण क्षुब्ध तथा सारसों से युक्त लक्ष्मणा (सारसपक्षिणी) वाली बड़ी तलैयाँ; अत्यधिक वन्दरोंवाली, शोभायुक्त, हनुमान् के द्वारा अपने बल के कारण क्षुब्ध बनाई हुई तथा राम और लक्ष्मण से युक्त, वाल्मीकि की वाणी की समानता को धारण करती हैं।

यदि कोई यह कहे कि 'रम्या इति' इत्यादि पद्य में 'समं' पद के द्वारा साधर्म्यनिबंधन पाया जाता है, तो यह समाधान किया जा सकता है कि 'समं' यहाँ क्रियाविशेषण है तथा 'सह' अर्थ में उपपन्न नहीं होता। स्त्रियों के साथ श्लिष्ट विशेषणों का अन्वय होने के पूर्व हमें एकदम साधर्म्य की प्रतीति नहीं हो पाती, अतः 'समं' के द्वारा साधर्म्य की उपपत्ति न होने के कारण साधर्म्यमूलक आक्षेप भी नहीं हो सकता, जिससे यहाँ 'आक्षिप्तश्लेप' मान लिया जाय। इसलिए विभक्तिभेद के द्वारा प्रयुक्त श्लिष्टविशेषणों का अन्वय शब्दसामर्थ्य से नहीं होता, अपितु अर्थसौंदर्य के कारण 'वधूभिः' के साथ उनका अन्वय घटित होता है, अतः यहाँ गूढ़ श्लेप है। तदनंतर उसी अर्थसौंदर्य के कारण 'समं' पद का साधर्म्य वाला अर्थ भी कल्पित किया जाता है—इस प्रकार यह श्लेप वाच्यरूप उपमा अलंकार का ही अंग बन जाता है। इस संबंध में अधिक विवेचन व्यर्थ है। इससे स्पष्ट है कि अर्थश्लेप तीन तरह का होता है। इस प्रकार श्लेप प्रकारान्तर से भी दो तरह का होता है:—अभंगश्लेप तथा सभंगश्लेप। उपर्युक्त उदाहरणों में 'अब्ज', 'कीलाल', 'वाहिनीपति' आदि शब्दों में दोनों अर्थों में एक सी ही पदसिद्धि होती है, भिन्न-भिन्न प्रकार का पदभंग नहीं पाया जाता, अतः पदभंग के बिना ही अनेक अर्थों का समावेश होने के कारण यहाँ अभंगश्लेप है। जब कि 'सर्वदो माधवः' (सर्वदो माधवः, सर्वदा उपमाधवः), यो गंगां (यो अगं गां, यो गंगां) हरिणाहितसक्तिना (हरिणा आहितसक्तिना, हरिण आहितसक्तिना) आदि शब्दों में तत्तत् पद्य में अर्थप्रतीति के लिए परस्पर भिन्न पदच्छेद की आवश्यकता होती है, अतः भिन्न-भिन्न प्रकार के पदभंग के द्वारा अनेकार्थ का समावेश होने से यहाँ सभंगश्लेप है। अभंगश्लेप तथा सभंगश्लेप के विषय में आलंकारिकों में अलग-अलग मत पाये जाते हैं। कुछ आलंकारिक (अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक आदि) सभंगश्लेप को शब्दालंकार मानते हैं, अभंगश्लेप को अर्थालंकार। दूसरे आलंकारिक (मम्मटादि) दोनों को ही शब्दालंकार मानते हैं, (क्योंकि श्लेप में जहाँ शब्दपरिवृत्त्यसहत्व होता है, वहाँ उन्हें शब्दालंकार मानना अभीष्ट है, अतः वे शब्दालंकार श्लेप तथा अर्थालंकार श्लेप का यह भेद मानते हैं कि जहाँ शब्दपरिवृत्ति से

लङ्कार इति केचित् । उभयमपि शब्दालङ्कार इत्यन्ये । उभयमप्यर्थालङ्कार इति स्वाभिप्रायः । एतद्विवेचनं तु चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यम् ॥ ६४–६५ ॥

२७ अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् सा यत्र प्रस्तुताश्रया ।
एकः कृती शकुन्तेषु योऽन्यं शक्रान्न याचते ॥ ६६ ॥

चमत्कार नष्ट हो जाय वहाँ शब्दश्लेष होता है, जब कि शब्दपरिवृत्ति से भी चमत्कार बने रहने पर अर्थश्लेष होता है। इस संबंध में एक बात और ध्यान में रखने की यह है कि मम्मटादि के मत से अर्थश्लेष में प्रकृतद्वय की प्रतीति कराने वाला विशेष्य है तथा विशेषण इस तरह के होते हैं कि उनकी परिवृत्ति कर देने पर भी चमत्कार बना रहता है तथा उनका अनेकार्थकत्व लुप्त नहीं होता, इसी परिवृत्तिसहत्व के कारण उसे अर्थश्लेष कहा जाता है)। अप्पयदीक्षित के मत में दोनों ही प्रकार के श्लेष-अभंगश्लेष तथा सभंगश्लेष-अर्थालंकार हैं। इस विषय का विशेष विवेचन हमारे अन्य ग्रन्थ चित्रमीमांसा में देखा जा सकता है।

टिप्पणी—एष च शब्दार्थोभयगतत्वेन वर्तमानत्वात्त्रिविधः। तत्रोदात्तादिस्वरभेदात्प्रयत्नभेदाच्च शब्दान्यत्वे शब्दश्लेषः। यत्र प्रायेण पदभंगो भवति। अर्थश्लेषस्तु यत्र स्वरादिभेदो नास्ति। अत एव न तत्र सभंगपदत्वम्। संकलनया तूभयश्लेषः।

(अलंकारसर्वस्व पृ० १२३)

मम्मट ने सभंगश्लेष तथा अभंगश्लेष दोनों को शब्दश्लेष माना है। रुय्यक के मत का खंडन करते समय वे बताते हैं :—'द्वावपि शब्दैकसमाश्रयौ इति द्वयोरपि शब्दश्लेषत्वमुपपन्नम्। न त्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम्। अर्थश्लेषस्य तु स विषयो यत्र शब्दपरिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना।

(काव्यप्रकाश–नवम उल्लास पृ० ४२४)

मम्मट ने अर्थश्लेष वहीं माना है, जहाँ शब्दों में परिवृत्तिसहत्व पाया जाय, मम्मट ने अर्थश्लेष का उदाहरण यों दिया है :—

उदयमयते दिङ्मालिन्यं निराकुरुतेतरां
नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्तयति क्रियाः।
रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्तनकर्तनं
बत बत लसत्तेजःपुंजो विभाति विभाकरः ॥

इस पद्य में विभाकर नामक राजा तथा सूर्य दोनों की अर्थप्रतीति हो रही है।

काव्यप्रकाश की प्रदीपटीका के टीकाकार नागेश ने उद्योत में इस विषय पर विचार किया है। वे स्पष्ट कहते हैं कि यहाँ 'विभाकर' (विशेष्य) शब्द परिवृत्त्यसह है, तथा उस अंश में शब्दश्लेष है, किन्तु अनेक विशेषणवाची पदों में अर्थश्लेष होने के कारण यह अर्थश्लेष माना गया है।

'एवं च तदंशे परिवृत्त्यसहत्वेन शब्दश्लेषेऽप्युदयमित्यादिषु बहुष्वर्थश्लेषादुदाहरणत्वमित्याह—उदयमयत इत्यादीनीति।……एतेन अर्थश्लेषे विशेषणानामेव श्लिष्टत्वं न तु विशेष्याणामपीत्यपास्तम्। केचित्तु 'विभाकरपदं शक्त्या सूर्यं, नृपं योगेन बोधयतीत्येतदंशेऽप्यर्थश्लेषः, परिवृत्तिसहत्वात्' इत्याहुः। यदि त्वत्र राजा प्रकृतो रविरप्रकृतस्तदा द्वितीयार्थस्य शब्दशक्तिमूलध्वनिरेवेति बहवः। उद्योत (काव्यप्रकाश पृ० ४७६)

२७. अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार

६६—जहाँ अप्रस्तुतवृत्तान्त के वर्णन के द्वारा प्रस्तुतवृत्तान्त की व्यंजना कराई जाय,

यत्राप्रस्तुतवृत्तान्तवर्णनं प्रस्तुतवृत्तान्तावगतिपर्यवसायि तत्राप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः। अप्रस्तुतवृत्तान्तवर्णनेन प्रस्तुतावगतिश्च प्रस्तुताप्रस्तुतयोः सम्बन्धे सति भवति। सम्बन्धश्च सारूप्यं सामान्यविशेषभावः कार्यकारणभावो वा सम्भवति। तत्र सामान्यविशेषभावे सामान्याद् विशेषस्य विशेषाद्वा सामान्यस्यावगतौ द्वैविध्यम्। कार्यकारणभावेऽपि कार्यात्कारणस्य कारणाद्वा कार्यस्यावगतौ द्वैविध्यम्। सारूप्ये तु एको भेद इत्यस्याः पञ्च प्रकाराः। यदाहु:—

'कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥' इति ॥

तत्र सारूप्यनिबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणं 'एकः कृती' इति। अत्राप्रस्तुतस्य चातकस्य प्रशंसा प्रशंसनीयत्वेन प्रस्तुते तत्सरूपे क्षुद्रेभ्यो याचनान्निवृत्ते मानिनि पर्यवस्यति।

वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है। जैसे, पक्षियों में केवल एक चातक ही कृतार्थ है, जो इन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी से याचना नहीं करता।

(यहाँ चातक के अप्रस्तुतवृत्तान्त के द्वारा क्षुद्र लोगों से याचना न करने वाले अभिमानी याचक का प्रस्तुतवृत्तान्त व्यंजित हो रहा है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में व्यंग्यार्थप्रतीति होने पर भी ध्वनित्व नहीं होता, क्योंकि यहाँ प्रस्तुत वृत्तान्तरूप व्यंग्यार्थ अप्रस्तुतवृत्तान्तरूप वाच्यार्थ का ही पोषक होता है, अतः गुणीभूतव्यंग्यत्व ही होता है।)

जहाँ अप्रस्तुतवृत्तान्तवर्णन प्रस्तुतवृत्तान्त की व्यंजना में पर्यवसित होता है, वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है। अप्रस्तुतवृत्तान्त के वर्णन के द्वारा प्रस्तुतवृत्तान्त की प्रतीति तभी हो पाती है, जब कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में किसी प्रकार का संबंध हो। यह संबंध या तो सारूप्यसंबंध होता है, या सामान्यविशेषभाव संबंध, या कार्यकारणभाव संबंध। इसमें सामान्यविशेषभाव संबंध होने पर दो प्रकार होंगे, या तो सामान्य (अप्रस्तुत) से विशेष (प्रस्तुत) की व्यंजना हो, या विशेष (अप्रस्तुत) से सामान्य (प्रस्तुत) की व्यंजना हो, इसी तरह कार्यकारणभाव संबंध वाली अप्रस्तुतप्रशंसा में भी दो प्रकार होंगे, या तो कार्यरूप अप्रस्तुत से कारणरूप प्रस्तुत की प्रतीति हो, या कारणरूप अप्रस्तुत से कार्यरूप प्रस्तुत की प्रतीति हो। सारूप्य केवल एक ही प्रकार का होता है, इस प्रकार अप्रतुस्तुतप्रशंसा के पाँच प्रकार होते हैं। जैसा कि कहा गया है।

(मम्मट के काव्यप्रकाश से अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँचों भेदों का विवरण उपस्थित किया गया है।) 'कार्य, कारण, सामान्य अथवा विशेष में से किसी एक के प्रस्तुत होने पर उससे भिन्न कारण, कार्य विशेष अथवा सामान्य में से किसी एक अप्रस्तुत के वाच्यरूप में वर्णित करने पर अथवा समान धर्म वाले (तुल्य) प्रस्तुत के होने पर तुल्य अप्रस्तुत का वाच्यरूप में कथन होने पर अप्रस्तुत प्रशंसा पाँच तरह की होती है।'

इन पाँच भेदों में से सारूप्यनिबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण 'एकः कृती' इत्यादि पद्यार्ध है। इसमें अप्रस्तुत चातक का वर्णन (प्रशंसा) किया गया है। यहाँ अप्रस्तुत चातक वृत्तान्त वाच्य है, वह सारूप्य के कारण उसके समानरूप वाले ऐसे मानी याचक के वृत्तान्त की व्यंजना कराता है, जो तुच्छ व्यक्तियों से याचना नहीं करता।

यथा वा—

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्ति-
रारोपितो मृगपतेः पदवीं यदि श्वा।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य
नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य॥

अत्र शुनकस्य निन्दा निन्दनीयत्वेन प्रस्तुते तत्सरूपे कृत्रिमवेषव्यवहारादिमात्रेण विद्वत्ताऽभिनयवति वैधेये पर्यवस्यति।

यथा वा—

अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः।
कथं कमलनालस्य मा भूवन् भङ्गुरा गुणाः॥

अत्र कमलनालवृत्तान्तकीर्तनं तत्सरूपे बहिः खलेषु जाग्रत्सु भ्रातृपुत्रादिभिरन्तःकलहं कुर्वाणे पुरुषे पर्यवस्यति। एवं च लक्ष्यलक्षणयोः प्रशंसाशब्दः स्तुतिनिन्दास्वरूपाख्यानसाधारणकीर्तनमात्रपरो द्रष्टव्यः।

सामान्यनिबन्धना यथा (माघ. २।४२)—

विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम्॥

अथवा जैसे—

'यदि किसी कुत्ते के कंधे पर नकली अयाल बाँध कर उसे सिंह के पद पर बिठा दिया जाय, तो वह मस्त हाथी के गण्डस्थल को विदीर्ण करने में चतुर मृगाधिप (सिंह) का नाद कैसे कर सकेगा?'

(यहाँ वाच्य अर्थ के रूप में अप्रस्तुत श्ववृत्तान्त प्रतीत हो रहा है, इससे सारूप्य के कारण प्रस्तुतरूप में ऐसे व्यक्ति के वृत्तान्त की व्यंजना हो रही है, जो स्वयं मूर्ख हैं, किंतु नकली साधनों के द्वारा विद्वान् के योग्य पद पर आसीन हो गया है।)

यहाँ कुत्ते की निन्दा की गई है। अप्रस्तुत के निंद्य होने के कारण समानरूप वाले (तुल्य) प्रस्तुत–कृत्रिमवेषव्यवहारादि मात्र से विद्वत्ता का अभिनय करने वाले मूर्ख–सम्बन्धी वृत्तान्त की व्यंजना पाई जाती है।

अथवा जैसे—

इस कमलनाल के अन्दर अनेकों छिद्र हैं, बाहर बहुत से काँटे हैं, तो उसके रेशे (गुण) भंगुर (टूटने वाले) कैसे न हों?'

(यहाँ कमलनालवृत्तान्त अप्रस्तुत है, इसके द्वारा तुल्यरूप ऐसे पुरुष के वृत्तान्त की व्यञ्जना हो रही है, जिसके घर के अन्दर दोष हों और बाहर दुष्ट उसके पीछे पड़े हों।)

यहाँ कमलनालवृत्तान्त वाच्य है। इस अप्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा उसके समान किसी ऐसे पुरुष के वृत्तान्त की प्रतीति हो रही है, जो बाहर दुष्टों के होते हुए अपने भाई–पुत्र आदि से घर में कलह करता हो। लक्ष्य (उदाहरण) तथा लक्षण (परिभाषा) में प्रशंसा शब्द से स्तुति, निंदा या स्वरूपाख्यानरूप कीर्तनमात्र समझा जाना चाहिए।

सामान्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा वहाँ होगी, जहाँ सामान्य अप्रस्तुत के द्वारा विशेष प्रस्तुत की व्यंजना हो।

अत्र प्रागेव सामर्षे शिशुपाले रुक्मिणीहरणादिना वैरं दृढीकृतवता कृष्णेन तस्मिन्नुदासितुमयुक्तमिति वक्तव्येऽर्थे प्रस्तुते तत्प्रत्यायनार्थं सामान्यमभिहितम्।

यथा वा—

सौहार्दस्वर्णरेखाणामुच्चावचभिदाजुषाम् ।
परोक्षमिति कोऽप्यस्ति परीक्षानिकषोपलः ॥

अत्र 'यदि त्वं प्रत्यक्ष इव परोक्षेऽपि मम हितमाचरसि, तदा त्वमुत्तमः सुहृत्' इति विशेषे वक्तव्यत्वेन प्रस्तुते सामान्यमभिहितम् ॥

विशेषनिबन्धना यथा (माघ, २।५३)—

अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः ।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः ॥

अत्र कृष्णं प्रति बलभद्रवाक्ये मार्दवदूषणपरे पूर्वप्रस्तावानुसारेण 'क्रूर एव ख्यातिभाग्भवति, न तु मृदुः' इति सामान्ये वक्तव्ये तत्प्रत्यायनार्थमप्रस्तुतो विशेषोऽभिहितः। एवं बृहत्कथादिषु सामान्यतः कञ्चिदर्थं प्रस्तुत्य तद्विवरणार्थमप्रस्तुतकथाविशेषोदाहरणेष्वियमेवाप्रस्तुतप्रशंसा द्रष्टव्या ॥

माघ के द्वितीय सर्ग में बलराम की उक्ति है :—

जो व्यक्ति क्रोधी शत्रु के प्रति वैर करके फिर उसके प्रति उदासीन हो जाते हैं, वे घास के ढेर में आग लगाकर हवा की दिशा में सोते हैं।'

यहाँ पहले से ही क्रोधी शिशुपाल के प्रति रुक्मिणीहरण आदि कार्यों के द्वारा वैर दृढ करके कृष्ण को अब उसके प्रति उदासीन होना ठीक नहीं है'—इस प्रस्तुत (विशेष) वक्तव्य अर्थ की व्यंजना के लिए यहाँ सामान्यरूप अप्रस्तुत वृत्तान्त का प्रयोग किया गया है।

सामान्यरूप अप्रस्तुत वृत्तान्त से विशेषरूप प्रस्तुत वृत्तान्त की व्यंजना का एक और उदाहरण देते हैं :—

कोई व्यक्ति किसी मित्र से कह रहा है :—'मित्रता रूपी स्वर्ण की शुद्धता अशुद्धता की परीक्षा करने के लिए उच्चता व निकृष्टता के अन्तर वाली मित्रता रूपी स्वर्ण रेखाओं की परीक्षा की कसौटी परोक्ष है।'

यहाँ कोई व्यक्ति अपने मित्र से यह कहना चाहता है कि 'तुम उत्तम कोटि के मित्र तभी सिद्ध होवोगे, जब मेरे सामने ही नहीं पीछे भी मेरा हित करोगे'। यह अभीष्ट अर्थ प्रस्तुत है, यहाँ कवि ने इस (विशेष रूप) प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना के लिए सामान्य रूप अप्रस्तुत वाच्यार्थ का प्रयोग किया है।

विशेषनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा वहाँ होगी, जहाँ विशेष रूप अप्रस्तुत के द्वारा सामान्य रूप प्रस्तुत की व्यंजना हो, जैसे—

माघ के द्वितीयसर्ग से ही बलराम की उक्ति है :—

'हिरन को अंक में रखने वाला चन्द्रमा मृगलाञ्छन (हिरन के कलंक वाला) कहलाता है, जब कि निर्दय होकर हिरनों के झुण्ड को परास्त करने वाला सिंह मृगाधिप (हिरनों का स्वामी) कहलाता है।'

यह कृष्ण के प्रति बलभद्र की उक्ति है। इस उक्ति में कोमलता (मार्दव) को बुरा बताने के लिए 'क्रूर व्यक्ति ही ख्याति प्राप्त करता है, कोमल प्रकृति वाला नहीं' इस

कारणनिबन्धना यथा (नैषधीय. २।२५)—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥

अत्र अप्राकरणिकेन्दुमण्डलगततयोत्प्रेक्ष्यमाणेन दमयन्तीवदननिर्माणार्थं सारांशहरणेन तत्कारणेन तत्कार्यरूपं वर्णनीयतया प्रस्तुतं दमयन्तीवदनगत-लोकोत्तरं सौन्दर्यं प्रतीयते । यथा वा मदीये वरदराजस्तवे—

आश्रित्य नूनममृतद्युतयः पदं ते
देहक्षयोपनतदिव्यपदाभिमुख्याः ।
लावण्यपुण्यनिचयं सुहृदि त्वदास्ये
विन्यस्य यान्ति मिहिरं प्रतिमासभिन्नाः ॥

सामान्यभाव की अभिव्यक्ति बलराम को अभीष्ट है । इस सामान्यभाव के अभीष्ट होने पर कवि ने यहाँ इसकी व्यंजना के लिए विशेष रूप अप्रस्तुत वृत्तान्त (सिंहचन्द्रवृत्तान्त) का प्रयोग किया है । इसी तरह बृहत्कथा आदि कथा संग्रहों में जहाँ किसी प्रस्तुत सामान्य अर्थ के प्रस्ताव में उसे स्पष्ट करने के लिए किसी अप्रस्तुत कथाविशेष का प्रयोग किया जाता है, वहाँ भी अप्रस्तुतप्रशंसा देखी जा सकती है ।

कारणनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा वहाँ होगी, जहाँ कारणरूप अप्रस्तुत के द्वारा कार्य रूप प्रस्तुत की व्यंजना पाई जाय । जैसे,

यह पद्य नैषधीय चरित के द्वितीय सर्ग के दमयन्तीसौन्दर्य वर्णन से उद्धृत है :—

ऐसा जान पड़ता है कि दमयन्ती के मुख को बनाने के लिए ब्रह्मा ने चन्द्रमण्डल के सारभाग को ले लिया है, और सारभाग के ले लेने से बीच में छिद्र हो जाने से ही यह चन्द्रमण्डल गम्भीर गड्ढे के कारण आकाश की नीलिमा को धारण करता हुआ दिखाई दे रहा है । (चन्द्रमा का कलंक वस्तुतः वह गड्ढा है, जो दमयन्ती की रचना करने के लिये लिए गये सारभाग के अभाव में हो गया है और इसीलिए कलंक की कालिमा उस गड्ढे से दिखने वाली आकाश की नीलिमा है ।)

यहाँ अप्रस्तुत इन्दुमण्डल में दमयन्तीवदन के निर्माण के लिए सारभाग का ले लेना उत्प्रेक्षित किया गया है । इस उत्प्रेक्षित कारण रूप अप्रस्तुत के द्वारा 'दमयन्तीवदन लोकोत्तरसौन्दर्य वाला है' यह कार्यरूप प्रस्तुत अभिव्यक्त हो रहा है ।

अथवा जैसे अप्पयदीक्षित के ही वरदराजस्तव में—

'हे भगवन्, प्रत्येक मास में भिन्न अनेकों चन्द्रमा, देहक्षय के कारण दिव्यपद के प्रति उन्मुख हो, आपके चरणों (या आपके पद-आकाश) का आश्रय लेकर, अपने सौन्दर्य रूपी पुण्य के समूह को अपने मित्र, आपके मुख के पास रख कर सूर्य के पास चले जाते हैं ।

यहाँ भगवान् के मुख के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन कवि को अभीष्ट है, अतः वह प्रस्तुत है । कवि ने उसका वर्णन वाच्यरूप में न कर उसकी व्यंजना कराई है । इस पद्य में कवि ने अप्रस्तुत चन्द्रमा रूपी कर्ता के द्वारा अपने मित्र (मुख) के पास समस्त लावण्य पुण्य के समूह का रखना उत्प्रेक्षित किया है । यह अप्रस्तुत कारण है । इसके द्वारा इस कार्य की व्यंजना होती है कि भगवान् के मुख में अनन्त कोटि चन्द्रमाओं का लावण्य विद्यमान है, तथा वह अन्य मुखों से असाधारण है ।

अत्राप्राकरणिकचन्द्रकर्तृकतयोत्प्रेक्ष्यमाणेन लावण्यपुण्यनिचयविन्यासेन कारणेन तत्कार्यमनन्तकोटिचन्द्रलावण्यशालित्वमनन्यमुखसाधारणं भगवन्मुखे वर्णनीयतया प्रस्तुतं प्रतीयते। तथा हि-चन्द्रस्तावन्मंत्रलिङ्गाद्वृद्धि-क्षयाभ्याम-भेदेऽपि भेदाध्यवसायाद्वा प्रतिमासं भिन्नत्वेन वर्णितः। तेनातीताश्चन्द्रा अनन्त-कोटय इति लब्धम्, कालस्यानादित्वात्। सर्वेषां च तेषामाकाशसमाश्रयणं श्लेषमहिम्ना भगवच्चरणसमाश्रयणत्वेनाध्यवसितम्। भगवच्चरणं प्रपन्नानां च देहक्षयोपस्थितौ परमपदप्राप्त्याभिमुख्यं, तदानीमेव स्वसुहृद्वर्गे स्वकीयसुकृत-स्तोमनिवेशनं, ततः सूर्यमण्डलप्राप्तिश्चेत्येतत्सर्वं श्रुतिसिद्धमिति तदनुरोधेन तेषां देहक्षयकालस्यामावास्यारूपस्योपस्थितौ सूर्यमण्डलप्राप्तेः प्राक्प्रत्यक्षसिद्धं पुण्य-त्वेन निरूपितस्य लावण्यस्य प्रहाणं निमित्तीकृत्य तस्य चन्द्रसादृश्यस्वरूपोप-चरितत्सौहार्दवति भगवन्मुखे न्यसनमुत्प्रेक्षितम्। यद्यपि सुहृद्बहुत्वे तावदल्प-पुण्यसंक्रमो भवति, तथाप्यत्र 'सुहृदि'इत्येकवचनेन भगवन्मुखमेव चन्द्राणां सुहृद्भूतं, न मुखान्तराणि चन्द्रसादृश्यगन्धस्याप्यास्पदानीनि भगवन्मुखस्येत-रमुखेभ्यो व्यतिरेकोऽपि व्यञ्जितः। ततश्च तस्मिन्नेव सर्वेषां चन्द्राणां स्वस्व-यावल्लावण्यपुण्यविन्यसनोत्प्रेक्षणेन प्राग्वर्णितः प्रस्तुतोऽर्थः स्पष्टमेव प्रतीयते।

इसी को और अधिक स्पष्ट करके कहते हैं:—

यद्यपि चन्द्रमा एक ही है, फिर भी मन्त्र ('नवो नवो भवति जायमानः' इत्यादि मंत्र) के आधार पर अथवा वृद्धिक्षय के कारण अभेद होने पर भेदाध्यवसायरूपा अतिशयोक्ति के द्वारा प्रत्येक मास के चन्द्रमा को भिन्न भिन्न माना गया है। इससे प्राचीन काल के चन्द्रमा अनन्तकोटि सिद्ध होते हैं, क्योंकि काल अनादि है। साथ ही वे सभी चन्द्रमा आकाश में स्थित हैं, इसे श्लेष से भगवच्चरणसमाश्रयत्व (वे भगवान् के चरणों में आश्रित हैं) के द्वारा अध्यवसित कर दिया गया है। भगवान् के चरणों में अनुरक्त व्यक्ति देहक्षय (मृत्यु) के समय परमपद (मोक्ष) की ओर उन्मुख होते हैं, उसी समय वे अपने मित्र-वर्ग में अपने पुण्यसंचय का न्यास कर देते हैं, इसके बाद वे सूर्यमण्डल को प्राप्त होते हैं, ऐसा वेदसम्मत है। इसी के अनुसार कवि ने चन्द्रमाओं के देहक्षयकाल अर्थात् अमावास्या वाली दशा में सूर्यमण्डल में पहुँचने के पहले ही पुण्यत्व के द्वारा निरूपित लावण्य का त्याग रूप कारण बताकर उसका चन्द्रमा के समान स्वरूप के कारण, लक्षण से उसकी मित्रता वाले भगवान् के मुख में धरोहर रखना उत्प्रेक्षित किया है। यद्यपि किसी व्यक्ति के अनेक मित्र होने पर एक मित्र में बहुत थोड़ा पुण्य संक्रांत होता है, तथापि यहाँ कवि ने 'सुहृदि' इस एक वचन के प्रयोग के द्वारा इस व्यतिरेक अलंकार की भी व्यञ्जना कराई है कि चंद्रमाओं का मित्र केवल भगवान् का ही मुख है, दूसरे मुख तो चन्द्रमा की समानता की गन्ध के भी योग्य नहीं हैं, अतः भगवान् का मुख दूसरे मुखों से उत्कृष्ट है। इसके बाद भगवान् के मुख में ही समस्त चन्द्रमाओं के अपने अपने समस्त लावण्यपुण्य का विन्यास करने रूप क्रिया के उत्प्रेक्षित करने से (इस वृत्तिभाग में) पहले वर्णित प्रस्तुत अर्थ-भगवान् का मुख अनंतकोटि चन्द्रमाओं की सुंदरता वाला है तथा दूसरे मुखों से विशिष्ट है—स्पष्ट ही व्यंजित हो जाता है। यद्यपि 'स स्थावरियचेन्द्रस्य ...' इत्यादि (पद

यद्यपि श्रुतौ सूर्यमण्डलप्राप्त्यनन्तरभाविविरजानद्यतिक्रमणानन्तरमेव सुहृत्सुकृतसंक्रमणं श्रूयते, तथापि शारीरकशास्त्रे तस्यार्थवशात्प्राग्भावः स्थापित इति तदनुसारेण विन्यस्य मिहिरं प्रति यान्तीत्युक्तम्।

कार्यनिबन्धना यथा—

नाथ ! त्वदंघ्रिनखधावनतोयलग्ना-
स्तत्कान्तिलेशकणिका जलधिं प्रविष्टाः।
ता एव तस्य मथनेन घनीभवन्त्यो
नूनं समुद्रनवनीतपदं प्रपन्नाः॥

अत्र भगवत्पादाम्बुजक्षालनतोयरूपायां दिव्यसरित्यलक्तकरसादिवल्लग्नानां

टिप्पणी में उद्धृत) श्रुति में, सूर्यमण्डल की प्राप्ति के बाद तथा विरजा नदी को पार करने के बाद मित्रों में पुण्यादि का संक्रमण होता है—ऐसा निर्देश पाया जाता है, तथापि आत्मशास्त्र (शारीरकशास्त्र) में इस पाठक्रम का अर्थक्रम की दृष्टि से बाध होता है, अतः अर्थक्रम के अनुसार उसको पहले वर्णित किया गया है (मित्रों में पुण्यों के संचय का प्राग्भाव स्थापित किया गया है), तथा तदनुसार ही 'विन्यस्य मिहिरं प्रति यांति' ऐसा कहा गया है। (भाव यह है, वेद के अनुसार आत्मा पहले सूर्यमण्डलको पार करता है, उसके बाद विरजा नदी को तैरकर पुण्यादि का मित्रादि में विन्यास करता है, किंतु 'आश्रित्य' इत्यादि पद्य में कवि ने पुण्यसंक्रान्ति के साथ पूर्वकालिक क्रिया—ल्यबन्त पद 'विन्यस्य' का प्रयोग किया है तथा उसका प्राग्भाव बताकर सूर्यमण्डलप्राप्ति का परभाव बताया है, तो यह श्रुतिविरुद्ध है—इस शंका का समाधान करते कहते हैं कि यद्यपि वेद में यही क्रम है, किन्तु मोक्ष की स्थिति में पहले पाप पुण्य का क्षय होने पर ही सूर्यमण्डलप्राप्ति होना संगत बैठता है, अतः हमने इसी अर्थक्रम के विशेष संगत होने के कारण काव्य में इस क्रम का निर्देश किया है।)

टिप्पणी—श्रुति में भगवद्भक्त या ब्रह्मज्ञानी की मृत्यु का वर्णन यों मिलता है, जिसमें उसके पुण्य का मित्रों को प्राप्त होना तथा उसका आदित्यमण्डल को प्राप्त होना संकेतित है :—

'तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयान्ति अप्रिया दुष्कृतम्।' (कौषीतकि) 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छतीति स वायुमागच्छति स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति।'

'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते।

कार्यनिबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा वहाँ होती है, जहाँ कार्यरूप अप्रस्तुत के द्वारा कारण रूप प्रस्तुत की व्यंजना पाई जाती हो, जैसे—

भक्त भगवान् की स्तुति कर रहा है—हे नाथ, आपके चरणों के नखों को धोने के जल में लगे हुए उन नखों के कान्तिलेश के जो कण समुद्र में प्रविष्ट हुए, वे ही उसके मन्थन के कारण सघन बनकर समुद्र के नवनीतत्व को प्राप्त हो गये हैं।

(भाव यह है, वह चन्द्रमा जो समुद्र के मन्थन के समय मक्खन की तरह निकला है, वस्तुतः भगवान् विष्णु के पदधावन के समय धावन जल में मिली नखकान्तिलेशकणिकाओं का घनीभूत रूप है।)

यहाँ भगवान् के चरणनखों के कान्तिलेश की कणिकाओं का समुद्र में प्रवेश वर्णित

तया सह समुद्रं प्रविष्टानां तन्नखकान्तिलेशकणिकानां परिणामतया संभाव्यमानेन 'समुद्रनवनीत' पदवाच्येन चन्द्रेण कार्येण तन्नखकान्त्युत्कर्षः प्रतीयते ।

यथा वा—

अस्याश्चेद्गतिसौकुमार्यमधुना हंसस्य गर्वैरलं
संलापो यदि धार्यतां परभृतैर्वाचंयमत्वव्रतम् ।
अङ्गानामकठोरता यदि दृषत्प्रायैव सा मालती
कान्तिश्चेत्कमला किमत्र बहुना काषायमालम्बताम् ॥

अत्र नायिकागतिसौकुमार्यादिषु वर्णनीयत्वेन प्रस्तुतेषु हंसादिगतगर्वशान्त्यादिरूपाण्यौचित्येन संभाव्यमानानि कार्याण्यभिहितानि । एतानि च पूर्वोदाहरण न वस्तुकार्याणि किन्तु तन्निरीक्षणकार्याणि ।

'लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः ।

तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥' (कुमार. १।४८)
इत्युदाहरणान्तरे तथैव स्पष्टम् । 'अङ्गानामकठोरता' इति तृतीयपादे तु वर्णनीया-

---

है ये कणिकाएँ भगवान् के चरणकमलों के धावनजल, गंगा में अलक्तक की भाँति घुल-मिल गई हैं तथा गंगा के साथ ही समुद्र में भी प्रविष्ट हो गई हैं; इनके परिणामरूप में 'समुद्रनवनीत' पद के द्वारा चन्द्रमा को संभावित किया गया है (यहाँ चन्द्रमा में कान्तिकणिकाओं का फलत्व उत्प्रेक्षित किया गया है—फलोत्प्रेक्षा)। इस प्रकार चन्द्रमा रूप अप्रस्तुत (कार्य) के द्वारा भगवान् के चरणनखों की कान्ति की उत्कृष्टता रूप प्रस्तुत (कारण) की व्यञ्जना की गई है ।

अथवा जैसे :—

किसी नवयौवना के सौन्दर्य का वर्णन है :—

यदि इस सुन्दरी का गतिसौकुमार्य (गति की सुन्दरता) देख लिया, तो हंसों का घमण्ड व्यर्थ है, यदि इसकी वाणी सुन ली, तो कोकिला को मौन धारण कर लेना चाहिए, यदि इसके अंगों की कोमलता का अनुभव किया, तो मालतीलता पत्थर के समान है । और यदि इसकी कान्ति का दर्शन किया, तो लक्ष्मी को काषायवस्त्र धारण कर लेना चाहिए ।

यहाँ नायिका के गतिसौकुमार्यादि का वर्णन करना प्रस्तुत है, किंतु कवि ने उनके कार्य—हंसादि के गर्व का खन्डन करना आदि—की संभावना कर उनका वर्णन किया है। पहले उदाहरण में चन्द्रमा नखकान्ति रूप कारण का कार्य है जब कि इस उदाहरण में गतिसौकुमार्यादि के दर्शन के कार्यरूप में हंसगर्वखण्डनादि कार्य पाया जाता है, यह इन दोनों उदाहरणों का भेद है । इसी तरह का निरीक्षणकार्यत्व निम्न उदाहरण में भी पाया जाता है :—

'यदि पशु आदि प्राणियों के चित्त में भी लज्जा की भावना का उदय होता हो, तो निश्चय ही पार्वती के उस (अत्यधिक सुंदर) केशपाश को देखकर चमरी गायें अपने बालों के मोह को शिथिल कर लें ।

उपर्युक्त 'अस्याश्चेद्गतिसौकुमार्य' इत्यादि उदाहरण के तृतीय चरण में 'अंगानाम-

ङ्गसौकुमार्यातिशयनिरीक्षणकार्यत्वमपि नार्थाक्षिप्यमालतीकठोरत्वे विवक्षितं, प्रतियोगिविशेषापेक्षकठोरत्वस्य तदकार्यत्वात्किंतु तद्बुद्धेरेव। इदमपि 'त्वदङ्ग-मार्दवे दृष्टे' इत्याद्युदाहरणान्तरे तथैव स्पष्टम्। अर्थस्य कार्यत्व इव बुद्धेः कार्यत्वेऽपि कार्यनिबन्धनत्वं न हीयत इति। एतादृशान्यपि कार्यनिबन्धना-प्रस्तुतप्रशंसायामुदाहृतानि प्राचीनैः। वस्तुतस्तु—तदतिरेकेऽपि न दोषः। न ह्यप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुताप्रस्तुतयोः पञ्चविध एव सम्बन्ध इति नियन्तुं शक्यते; सम्बन्धान्तरेष्वपि तद्दर्शनात्।

यथा—

तापत्रयौषधवरस्य तव स्मितस्य
निःश्वासमन्दमरुता निवुसीकृतस्य।
एते कडङ्करचया इव विप्रकीर्णा
जैवातृकस्य किरणा जगति भ्रमन्ति॥

अत्र ह्यप्रस्तुतानां चन्द्रकिरणानां भगवन्मन्दस्मितरूपदिव्यौषधीधान्यविशेष-कडङ्करचयत्वोत्प्रेक्षणेन भगवन्मन्दस्मितस्य तत्सारतारूपः कोऽप्युत्कर्षः प्रतीयते।

कठोरता' इत्यादि के द्वारा नायिका के अंगसौकुमार्यनिरीक्षण के कार्यरूप में यहाँ मालती का प्रस्तरतुल्यत्व (कठोरता) निवद्ध किया गया है। यहाँ वर्णनीय नायिका के अंगसौकुमार्य के कार्यरूप में निबद्ध होने पर भी यह अर्थ के द्वारा आक्षिप्त मालती कठोरता में विवक्षित नहीं है—अर्थात् कवि की विवक्षा यहाँ मालती की कठोरता को ही कार्यरूप में निबद्ध करने की नहीं है, क्योंकि अकठोरता रूप प्रतियोगी (कठोरस्वाभाव) के द्वारा आक्षिप्त कठोरता उसका कार्य नहीं हो सकती। अतः यहाँ 'अंगानामकठोरता' इत्यादि से मालती की प्रस्तरतुल्यता (कठोरता) की बुद्धि होना ही कार्य समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार 'त्वदङ्गमार्दवे दृष्टे' इत्यादि में भी मालती चन्द्रमा या कदली की कठोरता को स्वयं कार्यरूप में न निबद्ध कर उनकी कठोरताविषयक बुद्धि को ही कार्यरूप में निबद्ध किया गया है। अतः जिस प्रकार किसी अप्रस्तुत अर्थ में कार्यत्व माना जाता है, वैसे ही उस प्रकार के अर्थ की बुद्धि (प्रतीति) में भी कार्यनिबन्धन मानना (उसमें भी कार्यत्व मानना) खण्डित नहीं होता। इसीलिए प्राचीनों ने अप्रस्तुत अर्थसंबद्ध बुद्धि वाले स्थलों में भी कार्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा उदाहृत की है। यदि कोई यह शङ्का करे कि ऐसा करने पर तो अप्रस्तुतप्रशंसा कथितभेदों से, अधिक होगी, तो ऐसा होने पर भी कोई दोष नहीं। क्योंकि अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत उपर्युक्त पाँच प्रकार का ही संबंध होता है, ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि इनसे इतर संबंधों में भी अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार देखा जाता है, जैसे निम्न पद्य में—

'हे विष्णो, आपके मन्द निःश्वास-पवन के द्वारा भुसरहित बनाई हुई आपकी मुसकु-राहट के—जो तीनों तापों की औषधि है—भुससमूह के समान इधर-उधर बिखरी हुई ये चन्द्रमा की किरणें संसार में घूम रही हैं।'

यहाँ कवि ने अप्रस्तुत चन्द्रकिरणों के विषय में यह उत्प्रेक्षा की है कि वे भगवान् के मन्दस्मित रूपी दिव्य औषधि धान्य के भुस हैं, इस उत्प्रेक्षा के द्वारा भगवान् का स्मित चन्द्रकिरणों का भी सार है—यह भाव भगवान् के स्मित की उत्कर्षता को व्यञ्जित करता

न च धान्य—कडङ्करचययोः कार्यकारणभावादिसम्बन्धोऽस्ति। अतः सहोत्पत्त्यादिकमपि सम्बन्धान्तरमाश्रयणीयमेव। एवमुपमानोपमेयावाश्रित्य तत्र कविकल्पितकार्यकारणभावनिबन्धने अप्रस्तुतप्रशंसे दर्शिते। ततोऽन्यत्रापि दृश्यते।

यथा—

> कालिन्दि !, ब्रूहि कुम्भोद्भव ! जलधिरहं, नाम गृह्णासि कस्मा-
>
> च्छत्रोर्मे, नर्मदाऽहं, त्वमपि वदसि मे नाम कस्मात्सपत्न्याः ? ।
>
> मालिन्यं तर्हि कस्मादनुभवसि ?, मिलत्कज्जलैर्मालवीनां
>
> नेत्राम्भोभिः, किमासां समजनि ?, कुपितः कुन्तलक्षोणिपालः ॥

अत्र 'किमासां समजनि ?' इति मालवीनां तथा रोदनस्य निमित्ते पृष्टे तत्प्रियमरणरूपनिमित्तमनाख्याय 'कुपितः कुन्तलक्षोणिपालः' इति तत्कारणमभिहितमिति कारणनिबन्धना। मालवान्प्रति प्रस्थितेन कुन्तलेश्वरेण 'किं ते निर्जिताः ?' इति पृष्टे तद्वधानन्तरभावि जलधि-नर्मदाप्रश्नोत्तररूपं कार्यमभिहितमित्यत्रैव कार्यनिबन्धनापि। पूर्वस्यां प्रश्नः शाब्दः, अस्यामार्थ इति भेदः ॥ ६६ ॥

है। यहाँ धान्य तथा बुस में कार्यकारणभावादिसंबंध नहीं माना जा सकता। इसलिए यहाँ हमें दूसरा ही सम्बन्ध मानना होगा, वह होगा सहोत्पत्ति सम्बन्ध—क्योंकि धान्य तथा बुस साथ-साथ पैदा होते हैं। इस प्रकार उपमानोपमेय की कल्पना कर कविकल्पितकार्यकारणभावनिबंधनरूपा अप्रस्तुतप्रशंसा के दोनों भेद बता दिये गये हैं। यह कल्पितकार्यकारणभावनिबंधन अन्यत्र भी देखा जाता है, जैसे निम्न पद्य में—

समुद्र तथा नर्मदा के वार्तालाप के द्वारा कुन्तलेश्वर की वीरता का वर्णन उपस्थित किया गया है। 'कालिन्दि', 'कहो, अगस्त्य', 'अरे मैं अगस्त्य नहीं, समुद्र हूँ, तू मेरे शत्रु (अगस्त्य) का नाम क्यों ले रही है ?' 'तुम भी तो मेरी सौत (कालिन्दी) का नाम क्यों कह रहे हो ?' 'यदि तू कालिन्दी नहीं है, तो तेरे पानी में यह मलिनता कहाँ से आई ?' 'यह मलिनता मालवदेश की राजरमणियों के कज्जलयुक्त अश्रुओं के कारण हुई है।' 'उन्हें क्या हो गया है ?' 'कुन्तलनरेश क्रुद्ध हो गये हैं।'

यहाँ समुद्र ने मालवरमणियों के कज्जलमलिननेत्रांबु से नर्मदा जल के मलिन होने का कारण जानने के लिए 'उन्हें क्या हुआ' (किमासां समजनि) इस प्रश्न के द्वारा मालवियों के रोने का कारण पूछा है, किन्तु नर्मदा ने उत्तर में उनके पतियों के मरणरूप कारण को न बताकर 'कुन्तलेश्वर कुपित हो गया है' इस कारण को बताया है, अतः यह कारणनिबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा है। इसी पद्य में कार्यनिबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा भी पाई जाती है। किसी व्यक्ति के यह पूछने पर कि मालव देश पर आक्रमण करने वाले कुन्तलेश्वर ने क्या मालवदेश को जीत लिया है, उत्तर में कवि ने उसकी विजय तथा मालव राजाओं के वध के बाद होने वाले समुद्रनर्मदाप्रश्नोत्तर रूप कार्य का वर्णन किया है। इसमें कारणनिबंधना में 'किमासां समजनि' यह प्रश्न शाब्द है, जब कि कार्यनिबंधना में प्रश्न (किं जिताः मालवाः ?) आर्थ है, यह दोनों में भेद है।

२८ प्रस्तुताङ्कुरालङ्कारः

प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः ।
किं भृङ्ग ! सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया ? ॥ ६७ ॥

यत्र प्रस्तुतेन वर्ण्यमानेनाभिमतमन्यत्प्रस्तुतं द्योत्यते तत्र प्रस्तुताङ्कुरालङ्कारः । उत्तरार्धमुदाहरणम् । इह प्रियतमेन साकमुद्याने विहरन्ती काचिद्भृङ्गं प्रत्येवमाहेति वाच्यार्थस्य प्रस्तुतत्वम् । न चानामन्त्रणीयामन्त्रणेन वाच्यासम्भवादप्रस्तुतमेव वाच्यमिह स्वरूपप्रस्तुतावगतये निर्दिष्टमिति वाच्यम् । मौग्ध्यादिना भृङ्गादावप्यामन्त्रणस्य लोके दर्शनात् ।

यथा (ध्वन्यालोके ३।४१)—

कस्त्वं भोः ?, कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं,
वैराग्यादिव वक्षि ?, साधु विदितं, कस्मादिदं कथ्यते ? ।

---

२८. प्रस्तुतांकुर अलंकार

६७—जहाँ प्रस्तुतवृत्तान्त के द्वारा अन्य प्रस्तुतवृत्तान्त की व्यंजना हो, वहाँ प्रस्तुतांकुर अलंकार होता है । जैसे, हे भौंरे, मालती होते हुए काँटों से घिरी केतकी से क्या लाभ ?

(यहाँ यह उक्ति उपवन में नायक के साथ विचरण करती नायिका ने किसी भौंरे से कही है, अतः भ्रमरवृत्तान्त प्रस्तुत है, इस प्रस्तुत भ्रमरवृत्तान्त के द्वारा अन्य प्रस्तुत नायकवृत्तान्त की व्यंजना हो रही है कि 'तुम्हारे लिए रूपवती मेरे रहते हुए अन्य रमणी व्यर्थ है' ।)

जहाँ प्रस्तुतपरक वाच्यार्थ के द्वारा कवि को अभीष्ट अन्य प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना हो, वहाँ प्रस्तुतांकुर अलंकार होता है । ऊपर के पद्य का उत्तरार्ध इसका उदाहरण है । यहाँ प्रिय के साथ उपवन में विहार करती कोई नायिका भौंरे से इस बात को कह रही है, इसलिए इस उक्ति का वाच्यार्थ भी प्रस्तुत है । यदि पूर्वपक्षी यह शंका करे कि यहाँ भृङ्गवृत्तान्त को प्रस्तुत कैसे माना जा सकता है, क्योंकि भृङ्ग को संबोधन करना नायिका को अभीष्ट नहीं है, फिर भी उसे संबोधित किया गया है, अतः 'अनामंत्रणीयामंत्रण' के कारण भृङ्ग को संबोधित करने के पक्ष में घटित होने वाला वाच्यार्थ तब तक असंभव सा है' जब तक कि वह अप्रस्तुत न माना जाय, इसलिये यहाँ भृङ्गवृत्तान्तरूप वाच्यार्थ को प्रस्तुत न मानकर अप्रस्तुत ही माना जाय तथा उसका प्रयोग प्रस्तुत नायकवृत्तान्त की व्यंजना के लिये किया गया है—तो यह शंका करना व्यर्थ है । क्योंकि हम देखते हैं कि लोग मूर्खता आदि के कारण भृङ्गादि को भी संबोधित करते देखे जाते हैं और इस प्रकार भृङ्ग भी आमंत्रणीय (संबोध्य) सिद्ध होने पर प्रस्तुत माना जा सकता है । अतः यहाँ प्रस्तुत वाच्यार्थ से ही प्रस्तुतवृत्तान्त की व्यंजना पाई जाती है ।

उदाहरण के लिए निम्न पद्य में हम देखते हैं चेतन (कवि) तथा अचेतन (शाखोटक वृक्ष) का परस्पर प्रश्नोत्तर पाया जाता है, इसमें तिर्यक् जाति वाले अचेतन वृक्ष का संबोधन पाया जाता है, अतः तिर्यक्-पशुपक्षिवृक्षादि-का आमंत्रण करना सर्वथा असंभव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, वस्तुतः उनका आमंत्रण असंभव नहीं है ।

टिप्पणी—मम्मटादि प्रस्तुतांकुर अलंकार नहीं मानते, वे आगे उद्धृत पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा

वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते,
न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥

इत्यत्र चेतनाचेतनप्रश्नोत्तरवत्तिर्यगामन्त्रणस्यात्यन्तमसम्भावितत्वाभावात्। एवं प्रस्तुतेन वाच्यार्थेन भृङ्गोपालम्भरूपेण वक्त्र्याः कुलवध्वाः सौन्दर्याभिमानशालिन्याः क्रूरजनपरिवृत्तिदुष्प्रधर्षायां परवनितायां विटसर्वस्वापहरणसंकल्पदुरासदायां वेश्यायां वा कण्टकसंकुलकेतकीकल्पायां प्रवर्तमानं प्रियतमं पत्युपालम्भो द्योत्यते।

अलंकार ही मानते हैं। उनके मत से प्रस्तुतांकुर अलंकार अप्रस्तुतप्रशंसा में ही अन्तर्भावित हो जाता है। उद्योतकार ने इसीलिए प्रस्तुतांकुर को अलग अलंकार मानने का खंडन किया है :—

अत्रेदं बोध्यम्—अप्रस्तुतपदेन मुख्यतात्पर्यविषयीभूतार्थातिरिक्तोऽर्थो ग्राह्यः। एतेन—'किं भृङ्ग सत्यां मालत्यां केतक्या कंटकेद्धया' इत्यत्र प्रियतमेन साकमुद्याने विहरंती काचिद्भृङ्गं प्रत्येवमाहेति प्रस्तुतेन प्रस्तुतान्तरद्योतने प्रस्तुतांकुरनामा भिन्नोऽलंकार इत्यपास्तम्। मदुक्तरीत्यास्या एव संभवात्। यद्वा मुख्यतात्पर्यविषयः प्रस्तुतश्च नायिकानायकवृत्तान्ततदुत्कर्षयो गुणीभूतव्यंग्यस्तद्वाऽत्र सादृश्यमूला समासोक्तिरेवेति केचित्। अन्ये त्वप्रस्तुतेन प्रशंसेत्यप्यप्रस्तुतप्रशंसाशब्दार्थः। एवं च वाच्येन व्यक्तेन वाऽप्रस्तुतेन वाच्यं व्यक्तं वा प्रस्तुतं यत्र सादृश्याद्यन्यतमप्रकारेण प्रशस्यत उत्कृष्यत इत्यर्थादपीयमेवेत्याहुरिति दिक्। (उद्योत पृ० ४९०)

'कोई पथिक (या कवि) शाखोटक (सेहुँड) के पेड़ से पूछ रहा है:—'भाई तुम कौन हो ?' (शाखोटक उत्तर देता है) 'कहता हूँ भाई, मुझ अभागे को शाखोटक वृक्ष समझो।' (पथिक फिर पूछता है) 'तुम इतने वैराग्य से क्यों बोल रहे हो।' (शाखोटक उत्तर देता है) 'तुमने ठीक समझा', (पथिक पूछता है) 'तो तुम्हारे वैराग्य का कारण क्या है ?' (शाखोटक उत्तर दे रहा है) 'देखो, रास्ते के बाईं ओर जो बरगद का पेड़ है, उसके नीचे जाकर राहगीर विश्राम लेते हैं और मैं रास्ते के बीचोंबीच खड़ा हूँ, पर फिर भी मेरी छाया परोपकार करने में असमर्थ है।

(यहाँ शाखोटक वृत्तान्त के द्वारा ऐसे दानी व्यक्ति की व्यंजना होती है, जो दान तो देना चाहता है पर उसके पास धनादि नहीं है, अथवा यहाँ अधम जाति में उत्पन्न दानी की व्यंजना होती है, जिसके दान को कोई नहीं लेता।)

टिप्पणी—मम्मट ने इस पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार माना है। यद्यपि यहाँ शाखोटक वृक्ष को संबोधित करके वाच्यार्थ का उपयोग किया गया है, अतः वह प्रस्तुत हो जाता है, तथापि मम्मट ने उसे इसलिये प्रस्तुत नहीं माना है। वस्तुतः यहाँ वाच्यार्थ संभावित नहीं होता तथा व्यंग्यार्थ के अध्यारोपमात्र से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार मानना पड़ता है। प्रदीपकार ने इसीलिए शाखोटक में संबोध्यत्व तथा उच्चारयितृत्व का घटित होना नहीं माना है:—'अत्र वाच्यशाखोटके संबोध्यत्वोच्चारयितृत्वमनुपपन्नमिति प्रतीयमानाध्यारोपः। (प्रदीप पृ० ४८९)

अप्पयदीक्षित को यह मत पसन्द नहीं। वे यहाँ शाखोटक में संबोध्यत्वाभाव नहीं मानते, तभी तो वे कहते हैं—'तिर्यगामन्त्रस्यात्यंतमसंभावितत्वाभावात्।'

इस प्रकार सिद्ध है कि 'किं भृङ्ग सत्यां' आदि पद्यार्थ में भृङ्गवृत्तान्तरूप वाच्यार्थ प्रस्तुत ही है, उसके द्वारा भृङ्ग का उपालंभ कर सौन्दर्य आदि के कारण अभिमानवाली कुलवधू अपने उस प्रिय के प्रति उपालंभ कर रही है, जो क्रूर मनुष्यों के साथ रहने के कारण

यथा वा (विकटनितम्बा.)—

> अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग !
> लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
> बालामजातरजसं कलिकामकाले
> व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ?॥

अत्राप्युद्यानमध्ये चरन्तं भृङ्गं प्रत्ययमुपालम्भ इति वाच्यार्थस्यापि प्रस्तुतत्वम्। इदं च प्रौढाङ्गनासु सतीषु बालिकां रतये क्लेशयति कामिनि शृण्वति कस्याश्चिद्विदग्धाया वचनमिति तं प्रत्यूपालम्भो द्योत्यते।

यथा वा—

> कोशद्वन्द्वमियं दधाति नलिनी कादम्बचञ्चुक्षतं
> धत्ते चूतलता नवं किसलयं पुंस्कोकिलास्वादितम्।
> इत्याकर्ण्य मिथः सखीजनवचः सा दीर्घिकायास्तटे
> चेलान्तेन तिरोदधे स्तनतटं बिम्बाधरं पाणिना॥

दुष्प्रधर्ष (दुःख से वश में आने लायक) परकीया नायिका में अथवा अनुरक्त कामुक व्यक्तियों के समस्त धन का अपहरण करने के संकल्प के कारण दुर्लभ वेश्या में—जो काँटों से युक्त केतकी के समान है—अनुरक्त है। उस प्रकार प्रस्तुत भृङ्गोपालंभ के द्वारा नायकोपालंभ व्यंजित होता है।

अथवा जैसे—

(किसी बालिका के साथ उद्यान में रमण करते नायक को देखकर उसे सुनाकर कोई चतुर नायिका भौंरे को लक्ष्य बनाकर कह रही है।)

'हे भौंरे, जब तक यह नवमल्लिका की कली विकसित नहीं हो जाती तब तक तुम मर्दन को सहन करने में समर्थ अन्य पुष्पलताओं से अपना चंचल मन बहला लो। तुम इस नवमल्लिका की नवीन कली को—जिसमें अभी पराग उत्पन्न नहीं हुआ है—असमय में ही व्यर्थ क्यों कुचल रहे हो।'

(यहाँ प्रस्तुत भृङ्गवृत्तान्त के द्वारा ऐसे प्रस्तुत नायक की व्यंजना हो रही है, जो तरुणियों के होते हुए किसी बालिका को रतिक्रीडा से पीडित करता है।)

यहाँ यह उपालम्भ उद्यान में घूमते हुए भौंरे के प्रति कहा गया है, अतः यह वाच्यार्थ भी प्रस्तुत है। इसके द्वारा किसी ऐसे नायक के प्रति उपालम्भ व्यंजित होता है, जो प्रौढांगनाओं के होते हुए बालिका को रतिक्रीडा के लिये पीडित करता है तथा जिसको सुनाकर किसी चतुर नायिका ने इस उक्ति का प्रयोग किया है (अतः व्यंग्यार्थ भी प्रस्तुत है)।

अथवा जैसे—

कोई नायिका किसी बावली के तट पर नहाने आई है। उसे देख कर कोई सखी दूसरी सखी से कहती है:—'देखो, यह कमलिनी हंस की चोंच के द्वारा क्षतविक्षत दो कमलकलिकाओं को धारण कर रही है, यह आम्रलता कोकिल के द्वारा चखे गए किसलय को धारण कर रही है।' सखियों की इस परस्पर बात को बावली के तट पर सुनकर उस नायिका ने अपने स्तनद्वय को कपड़े से तथा बिंब के समान लाल ओठ को हाथ से ढँक लिया।'

अत्र 'इयम्' इति नलिनीव्यक्तिविशेषनिर्देशेन 'दीर्घिकायास्तटे' इत्यनेन च वाच्यार्थस्य प्रस्तुतत्वं स्पष्टम्। प्रस्तुतान्तरद्योतनं चोत्तरार्धे स्वयमेव कविनाऽऽविष्कृतम्।

अत्राद्योदाहरणयोरन्यापदेशध्वनिमाह लोचनकारः—'अप्रस्तुतप्रशंसायां वाच्यार्थोऽप्रस्तुतत्वादवर्णनीयः' इति। तत्राभिधायामपर्यवसितायां तेन प्रस्तुतार्थव्यक्तिरलङ्कारः। इह तु वाच्यस्यं प्रस्तुतत्वेन तत्राभिधायां पर्यवसितायामर्थसौन्दर्यबलेनाभिमतार्थव्यक्तिर्ध्वनिरेवेति। वस्तुतस्तु—अयमप्यलङ्कार एव न ध्वनिरिति व्यवस्थापितं चित्रमीमांसायाम्। तृतीयोदाहरणस्य त्वलङ्कारत्वे कस्यापि न विवादः। उक्तं हि ध्वनिकृता (ध्वन्यालोके २।२४)—

इस पद्य में 'कमलिनीवृत्तान्त' तथा 'आम्रलतावृत्तान्त' प्रस्तुत हैं (अप्रस्तुत नहीं), क्योंकि कमलिनी आम्रलतापरक वाच्यार्थ 'इयं' सर्वनाम के द्वारा नलिनीरूप व्यक्तिविशेष के निर्देश के कारण तथा 'दीर्घिकायास्तटे' इस प्रस्तुतवाची पद के कारण प्रस्तुत सिद्ध होता है। इस प्रस्तुत से अन्य प्रस्तुत (नायिकावृत्तान्त) की व्यंजना हो रही है, यह कवि ने स्वयं ही उत्तरार्ध में स्पष्ट कर दिया है।

(हम देखते हैं कि अप्पयदीक्षित ने प्रस्तुतांकुर के प्रकरण में तीन उदाहरण दिये हैं। इनमें अन्तिम उदाहरण ('कोशद्वन्द्वमियं' इत्यादि) में कवि ने स्वयं ही अन्य प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना का संकेत कर दिया है, अतः यहाँ स्पष्ट ही अलंकार हो जाता है, किन्तु प्रथम दो उदाहरणों में—'कस्त्वं भोः' आदि तथा 'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु' आदि पद्यों में—कवि ने व्यंग्यार्थ का कोई संकेत स्पष्टरूप से नहीं दिया है, अतः यहाँ ध्वनि ही मानना होगा—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। अप्पयदीक्षित इस मत से सहमत नहीं हैं। अतः लोचनकार के मत का उल्लेख कर उससे असहमति प्रदर्शित करते हैं।)

इन तीनों उदाहरणों में से प्रथम दो उदाहरणों में लोचनकार अभिनवगुप्त ने अन्यापदेशध्वनि मानी है। उनका कहना है कि 'अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में वाच्यार्थ अप्रस्तुत होने के कारण कवि का वर्ण्यविषय नहीं होता, इसलिए वहाँ अभिधाशक्ति वाच्यार्थ की प्रतीति कराने पर इसलिये क्षीण नहीं हो पाती कि कवि की विवक्षा अप्रस्तुत पक्ष में नहीं होती, इसलिये अप्रस्तुत वाच्यार्थ के द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना होती है, तथा यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पर्यवसान करने में सहायता देता है—फलतः प्रस्तुत व्यंग्यार्थ के अप्रस्तुत वाच्यार्थ के पोषक होने के कारण यहाँ (अप्रस्तुतप्रशंसावाले पक्ष में) अलंकारत्व ठीक बैठता है। किन्तु उक्त दोनों उदाहरणों में यह बात नहीं है। यहाँ वाच्यार्थ भी प्रस्तुत है, अतः उसके प्रस्तुत होने पर अभिधाशक्ति अपने अर्थ का बोध कराकर पर्यवसित हो जाती है, उसकी पुष्टि के लिये व्यंग्यार्थ की आवश्यकता नहीं होती, ऐसी दशा में व्यंग्यार्थ की प्रतीति प्रथम अर्थ के चमत्कार के कारण होती है, अतः यहाँ अलंकार न मानकर ध्वनि ही मानना चाहिए।' अप्पय दीक्षित इस मत से असहमत होकर कहते हैं:—जहाँ प्रस्तुत वाच्यार्थ के द्वारा प्रस्तुत व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ भी अलंकार ही होता है, ध्वनि नहीं, इस मत की प्रतिष्ठापना हम चित्रमीमांसा में कर चुके हैं।' जहाँ तक तीसरे उदाहरण का प्रश्न है उसके अलंकारत्व के विषय में कोई मतभेद नहीं है, क्योंकि उसे दोनों ही अलंकार मानते हैं। जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है—

'शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या साऽन्यैवालंकृतिर्ध्वनेः ॥' इति।

एतानि सारूप्यनिबन्धनान्युदाहरणानि संबन्धान्तरनिबन्धनान्यपि कथंचिद्वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्रस्तुतत्वलम्भनेनोदाहरणीयानि। दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

रात्रिः शिवा काचन संनिधत्ते विलोचने ! जाग्रतमप्रमत्ते।
समानधर्मा युवयोः सकाशे सखा भविष्यत्यचिरेण कश्चित् ॥

अत्र शिवसारूप्यमिव तदेकदेशतया तद्वाच्यं ललाटलोचनमपि शिवरात्रिमाहात्म्यप्रयुक्तत्वेन वर्णनीयमिति तन्मुखेन कृत्स्नं शिवसारूप्यं गम्यम्।

यथा वा—

वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर-
त्विषां वृन्दैर्बन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्।
तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी-
परीवाहस्रोतःसरणिरिव सीमन्तसरणिः ॥

'जहाँ कवि' शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति के द्वारा आक्षिप्त व्यंग्यार्थ को पुनः अपनी उक्ति से प्रकट कर दे, वहाँ ध्वनि से भिन्न अन्य ही अलंकार होता है।'

टिप्पणी—अप्पयदीक्षित की चित्रमीमांसा केवल अतिशयोक्ति अलंकार के प्रकरण तक मिलती है, अतः प्रस्तुत वाच्यार्थ के द्वारा प्रस्तुत व्यंग्यार्थप्रतीति में ध्वनि न होकर अलंकार ही है, यह मत चित्रमीमांसा के उपलब्ध अंश में नहीं मिलता।

ऊपर के तीनों उदाहरण सारूप्यनिबन्धन के हैं। जिस तरह अप्रस्तुतप्रशंसा में सारूप्यसम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों का भी निबंधन पाया जाता है, उसी तरह यहाँ भी प्रस्तुत वाच्य तथा प्रस्तुत व्यंग्य में अन्य संबंध का भी निबन्धन पाया जाता है। इनके दिङ्मात्र उदाहरण दिए जाते हैं।

कोई शिवभक्त कवि अपने दोनों नेत्रों से कह रहा है। 'हे नेत्रद्वय, कोई उत्कृष्ट कल्याणमय रात्रि आई है, अतः तुम अप्रमत्त होकर जगे रहना। इससे तुम्हारे समीप शीघ्र ही समान गुण वाला कोई मित्र हो जायगा।

(यहाँ नेत्रों के द्वारा शिवरात्रि में जागरण करने पर भक्त शिवरूप हो जायगा तथा शिवरूप होने पर उसके ललाट पर तीसरा नेत्र और उदित हो जायगा-यह अर्थ व्यंग्य है।)

यहाँ कवि के लिए शिवसारूप्य प्राप्त करने के वर्णन की तरह ही शिवरात्रिमाहात्म्य के हेतु के कारण उसके द्वारा वाच्य ललाट नेत्र का भी वर्णन शिवरात्रि के माहात्म्य में प्रस्तुत हो जाता है, इसके द्वारा भक्त का समस्त शिवसारूप्य (अन्य प्रस्तुत) व्यञ्जित होता है। (यहाँ एकदेश्य-एकदेशभावसंबंध का निबंधन पाया जाता है।)

अथवा जैसे—

देवी पार्वती के सीमन्त का वर्णन है। हे देवि, प्रबल केशपाश रूपी अन्धकार की कांति के समूह के द्वारा कैद की गई बालसूर्य की किरण के समान सिंदूर को धारण करती, तथा मुख के सौन्दर्य की लहरों के परीवाह (जल निर्गममार्ग) स्रोत के समान तुम्हारी सीमन्त-सरणि हमारे कल्याण का विधान करे।

अत्र वर्णनीयत्वेन प्रस्तुतायाः सीमन्तसरण्योर्वदनसौन्दर्यलहरीपरीवाहत्वोत्प्रेक्षणेन परिपूर्णतटाकवत्परीवाहकारणीभूता स्वस्थाने अमान्ती वदनसौन्दर्यसमृद्धिः प्रतीयते। सापि वर्णनीयत्वेन प्रस्तुतैव।

यथा वा—

अङ्गासङ्गिमृणालकाण्डमयते भृङ्गावलीनां रुचं
नासामौक्तिकमिन्द्रनीलसरणिं श्वासानिलाद्गाहते।
दत्तेयं हिमवालुकापि कुचयोर्धत्ते क्षणं दीपतां
तप्तायःपतिताम्बुवत्करतले धाराम्बु संलीयते॥

अत्र नायिकाया विरहासहत्वातिशयप्रकटनाय संतापवत्कार्याणि मृणालमालिन्यादीन्यपि वर्णनीयत्वेन विवक्षितानीति तन्मुखेन संतापोऽवगम्यः। यत्र कार्यमुखेन कारणस्यावगतिरपि श्लोके निबद्धा, न तत्रायमलङ्कारः, किं त्वनुमानमेव यथा (रत्ना० २।१२)—

यहाँ कवि के लिए देवी की सीमन्तसरणि का वर्णन वर्ण्य होने के कारण प्रस्तुत है, उस पर मुख सौन्दर्य की लहरों के परीवाह की उत्प्रेक्षा करने के कारण परिपूर्ण तडाग की तरह परीवाह की कारणभूत, अपने स्थान में नहीं समाती, वदनसौन्दर्यसमृद्धि की व्यञ्जना होती है। यह वदनसौन्दर्यसमृद्धि भी कवि के लिए वर्णनीय होने के कारण प्रस्तुत ही है। (इस प्रकार यहाँ परीवाह के रूप में उत्प्रेक्षित सीमन्तसरणि रूप कार्य के द्वारा उसके कारण वदनसौन्दर्यसमृद्धि की व्यञ्जना कराई गई है, अतः यहाँ कार्यकारणभावसम्बन्ध निबद्ध किया गया है।)

अथवा जैसे—

किसी नायिका के विरहताप का वर्णन है। 'इस नायिका के अंग से संसक्त मृणाल भौंरों की कांति को प्राप्त करता है (काला हो जाता है), इसके नाक का सफेद मोती श्वास के कारण इन्द्रनीलमणि की पदवी को प्राप्त हो जाता है, (विरहताप से उत्तप्त श्वास के कारण श्वेत मोती भी काला पड़ जाता है), इसके कुचस्थल पर रक्खा हुआ यह कर्पूरचूर्ण (हिमवालुका) भी क्षणभर में जल उठता है, तथा इसके करतल पर धारारूप में सींचा गया पानी तपे लोहे (तपे तवे) पर गिरे पानी की तरह एक दम सूख जाता है।'

यहाँ नायिका के विरहासहत्वातिशय (विरह उसके लिये अत्यधिक असह्य है) को प्रकट करने के लिये, सन्तापयुक्त कार्य—मृणाल का मलिन होना आदि प्रस्तुतों का वाच्य रूप में प्रयोग किया गया है, उनके द्वारा यहाँ अन्य प्रस्तुत—नायिका का विरहसंताप व्यञ्जित होता है। (कार्यकारणभावसम्बन्ध वाले प्रस्तुतांकुर से अनुमान अलंकार में क्या भेद है, इसे स्पष्ट करने के लिये कहते हैं :—) जहाँ कार्यरूप प्रस्तुत वाच्यार्थ के द्वारा कारण रूप प्रस्तुत व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, तथा कारणरूप प्रस्तुत का साक्षात् वर्णन कवि ने न किया हो, वहाँ तो प्रस्तुतांकुर अलंकार होता है, किन्तु ऐसे स्थल पर जहाँ कार्य के द्वारा प्रतीत कारण को भी कवि ने पद्य में निबद्ध किया हो, वहां यह अलंकार (तथा अप्रस्तुतप्रशंसा भी) नहीं होगा, वहां अनुमान अलंकार का ही क्षेत्र होता है। जैसे निम्न पद्य में—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं प्रशिथिलभुजाक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः संतापं वदति नलिनीपत्रशयनम्॥ ६७॥

२९ पर्यायोक्तालङ्कारः

पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो भङ्ग्यन्तराश्रयम्।
नमस्तस्मै कृतौ येन मुधा राहुवधूकुचौ॥ ६८॥

रत्नावलीनाटिका में राजा उदयन सागरिका की कमलदल शय्या को देखकर उसके विरहताप का वर्णन करते कह रहे हैं :—यह कमलदल की शय्या पीनस्तन तथा जघन के सम्पर्क के कारण दोनों ओर से कुम्हला गई है, जबकि सागरिका के अत्यधिक सूक्ष्म मध्य भाग से असंपृक्त होने के कारण बीच में हरी है; और उसके अत्यधिक शिथिल हाथों के फेंकने के कारण इसकी रचना अस्तव्यस्त हो गई है। इस प्रकार यह कमल के पत्तों की शय्या दुबले पतले अङ्गों वाली सागरिका के विरहताप की व्यञ्जना कराती है।

(यहाँ कवि ने ही स्वयं 'कृशांग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयन' कह कर ऊपर के तीन चरणों में निबद्ध कार्य के कारण का स्पष्टतः अभिधान कर दिया है, अतः यहाँ विरह-ताप रूप प्रस्तुत अर्थ व्यंग्य नहीं रह पाया है। फलतः यहाँ प्रस्तुतांकुर (या अप्रस्तुत प्रशंसा) अलंकार न हो कर अनुमान अलंकार ही मानना होगा।)

२९. पर्यायोक्त अलंकार

६८—जहाँ व्यंग्य अर्थ की बोधिका रीति से भिन्न अन्य प्रकार से (भंग्यंतर के आश्रय के द्वारा) व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ पर्यायोक्त अलंकार होता है। जैसे, जिन (विष्णु भगवान्) ने राहु दैत्य की स्त्री के कुचों को व्यर्थ बना दिया उनको नमस्कार है।

टिप्पणी—कुम्भकोणम् से प्रकाशित कुवलयानंद में इस कारिका के पूर्व कोष्ठक में निम्न वृत्ति मिलती है :—

(ननु, प्रस्तुतकार्याभिधानमुखेन कारणस्य गम्यत्वमपि प्रस्तुतांकुरविषयश्चेत् किं तर्हि पर्यायोक्तमित्याकांक्षायामाह'—) (वहीं पृ० २३७)

भाव यह है, अप्पयदीक्षित ने पूर्वोक्त प्रस्तुतांकुर में एक सरणि यह भी मानी है, जहाँ प्रस्तुत कार्य के द्वारा प्रस्तुत कारण की व्यंजना हो; किंतु प्राचीन आलंकारिक रुय्यकादि ने प्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की व्यंजना में पर्यायोक्त अलंकार माना है, तो पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि जहाँ रुय्यकादि पर्यायोक्त मानते हैं, वहाँ आप प्रस्तुतांकुर मानते हैं, तो फिर पर्यायोक्त का लक्षण क्या है? इसका समाधान करने के लिए ही पर्यायोक्त का प्रकरण आरंभ करते हुए कहते हैं :—

(जयदेव ने पर्यायोक्त या पर्यायोक्ति का लक्षण भिन्न दिया है, उसके अनुसार प्रस्तुत कार्य द्वारा प्रस्तुत कारण की प्रतीति में पर्यायोक्ति अलंकार होता है। अप्पयदीक्षित ने प्रस्तुत कार्य के द्वारा प्रस्तुत कारण की प्रतीति में प्रस्तुतांकुर अलंकार माना है, तो फिर पर्यायोक्त अलंकार क्या होगा? यह शंका उपस्थित हो सकती है। इसीलिए दीक्षित ने पर्यायोक्त का लक्षण जयदेव के अनुसार निबद्ध न कर रुय्यक के अनुसार निबद्ध किया

यदेव गम्यं विवक्षितं तस्यैव भङ्ग्यन्तरेण विवक्षितरूपादपि चारुतरेण केनचिद्रूपान्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्। उत्तरार्धमुदाहरणम्। अत्र भगवान् वासुदेवः स्वासाधारणरूपेण गम्यः राहुवधूकुचवैयर्थ्यकारकत्वेन रूपान्तरेण स एवाभिहितः।

यथा वा—

लोकं पश्यति यस्यांघ्रिः स यस्यांघ्रिं न पश्यति।
ताभ्यामप्यपरिच्छेद्या विद्या विश्वगुरोस्तव॥

अत्र गौतमः पतञ्जलिश्च स्वासाधारणरूपाभ्यां गम्यौ रूपान्तराभ्यामभिहितौ।

है। इस संबंध में यह जान लेना आवश्यक होगा कि जयदेव भी प्रस्तुतांकुर अलंकार को नहीं मानते।)

टिप्पणी—चन्द्रालोककार का पर्यायोक्ति का लक्षणोदाहरण यों है :—

कार्याद्यैः प्रस्तुतैरुक्ते पर्यायोक्तिं प्रचक्षते।
तृणान्यंकुरयामास विपक्षनृपसद्मसु॥ (चन्द्रालोक ५. ७०)

अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक का पर्यायोक्त का लक्षण यों है :—

'गम्यस्य भंग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्।' (पृ० १४१)

मम्मट का पर्यायोक्त का लक्षण यों है :—

पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः। (दशम उल्लास)

यहाँ 'वाच्यवाचकत्वेन विना' का ठीक वही भाव है, जो दीक्षित के 'भंग्यंतराश्रयम्' का जान पड़ता है, वैसे जैसा कि हम देखेंगे अप्पयदीक्षित 'वाच्यवाचकत्वेन विना' का खंडन करते हैं। मम्मट ने इसका उदाहरण यह दिया है :—

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः॥

चन्द्रिकाकार ने इसका लक्षण यों दिया है :—

विवक्षितस्वप्रकारातिरिक्तेन चारुतरेण रूपेण व्यंग्यस्याभिधानं पर्यायोक्तम्। (पृ० ९२)

पर्यायोक्त अलंकार वहाँ होता है, जहाँ विवक्षित गम्य अर्थ की प्रतीति के लिए उस विवक्षित अर्थ के भंग्यंतर से अर्थात् विवक्षितरूप से भी अधिक सुन्दर (चमत्कारयुक्त) किसी अन्य प्रकार के वाचकादि का प्रयोग किया जाय। इसका उदाहरण ऊपर के पद्य का उत्तरार्ध है। इस उदाहरण में कवि भगवान् विष्णु के प्रति नमस्कार कर रहा है, इस अर्थ की प्रतीति के लिए वासुदेव के असाधारण रूप (वासुदेवत्व) का वर्णन किया जा सकता था किंतु उसका वर्णन न कर राहुवधूकुचों के व्यर्थ बना देने रूप अन्य अर्थ के द्वारा उन्हीं विष्णु भगवान् का अभिधान किया गया है।

अथवा जैसे—

'विश्वगुरु तुम्हारे पास ऐसी विद्या है, जो—जिसका पैर संसार को देखता है (गौतम) तथा जिनके पैर को संसार नहीं देखता (शेषावतार पतंजलि) उन दोनों के द्वारा भी अनाकलनीय है।

यहाँ गौतम (अक्षपाद) तथा पतंजलि अपने विशिष्ट रूप वर्णन से गम्य हो सकते

यथा वा (नैषध० ८।२४)—

> निवेशयतां हन्त समापयन्तौ शिरीषकोशम्रदिमाभिमानम् ।
> पादौ कियद्दूरमिमौ प्रयासे निधित्सते तुच्छदयं मनस्ते ॥

अत्र 'कियद्दूरं जिगमिषा ?' इति गम्य एवार्थो रूपान्तरेणाभिहितः ।

यथा वा—

> वन्दे देवं जलधिशरधिं देवतासार्वभौमं
> व्यासप्रष्ठा भुवनविदिता यस्य वाहाधिवाहाः ।

हैं, पर उन्हें भिन्न रूप के द्वारा वर्णित किया गया है। (गौतम का एक नाम अक्षपाद भी है, क्योंकि सुना जाता है उनके पैर में भी आँख थी, जिससे वे मनन करते जाते थे और पैर स्वयं रास्ता ढूँढ लेता था। इसी तरह पतंजलि शेष के अवतार थे। शेष सर्पराज हैं, तथा सर्प के चरण गुप्त होते हैं। सर्प का एक नाम गुप्तपाद भी है, अतः पतंजलि के लिए यहाँ जिनके पैरों को लोग नहीं देखते यह कहा है। इस प्रकार यहाँ गौतम के अक्षपादत्व तथा पतंजलि के गुप्तपादत्व का वर्णन उनके असाधारण रूप का वर्णन है।

टिप्पणी—इस पद्य में गौतम तथा पतंजलि में 'अपरिच्छेद्यत्व' रूप एक धर्मान्वय पाया जाता है। अतः यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार भी है। इस प्रकार पद्य में तुल्ययोगिता तथा पर्यायोक्त का अंगांगिभाव संकर है। इसी पद्य में 'ताभ्यामपि' इस पदद्वय के द्वारा कैमुतिकन्याय से यह अर्थ प्रतीत होता है कि जब शिव के अनुग्रह से सम्पन्न गौतम तथा अक्षपाद ही उस विद्या को न पा सके, तो दूसरों की क्या शक्ति की उतनी विद्या प्राप्त कर सकें, अतः यहाँ अर्थापत्ति (काव्यार्थापत्ति) अलंकार है। इस तरह अर्थापत्ति का पूर्वोक्त संकर के साथ पुनः संकर अलंकार पाया जाता है।

अथवा जैसे—

दमयंती नल से पूछ रही है :—'हे दूत, बताओ तो सही, तुम्हारा यह कम दया वाला (निर्दय) मन शिरीष की कली की कोमलता के अभिमान को खण्डित करनेवाले इन तुम्हारे चरणों को कितने दूर तक के प्रयास में रखना चाहता है।'

टिप्पणी—इस पद्य में नल के कोमल चरणों को उसका मन दूर तक ले जाने का कष्ट दे रहा है, इसके द्वारा मन के निर्दय होने (तुच्छदयं) का समर्थन किया गया है, अतः काव्यलिंग अलङ्कार है। तुम कहाँ जा रहे हो, इस गम्य अर्थ की प्रतीति के लिए 'कितने दूर तक तुम्हारे चरणों को यह निर्दय मन घसीटना चाहता है' इस अधिक सुंदर ढंग का प्रयोग करने से पर्यायोक्त अलङ्कार है 'शिरीष की कली की कोमलता के अभिमान को समाप्त करते' इस अंश में शिरीष-कलिका से चरणों की उत्कृष्टता बताई गई है, अतः यह व्यतिरेक अलङ्कार है। इन तीनों का अंगांगिभाव संकर इस पद्य में पाया जाता है।

यहाँ दमयंती नल से यह पूछना चाहती है कि 'तुम कितने दूर जाना चाहते हो,' पर इस गम्य अर्थ को रूपांतर के द्वारा वर्णित किया गया है।

अथवा जैसे—

मैं उन देवाधिदेव की वन्दना करता हूँ, जिनका तूणीर समुद्र है, जिनके वाहन के वाहन लोकप्रसिद्ध व्यासादि महर्षि हैं, जिनके आभूषणों की संदूक पाताललोक है, जिनकी पुष्पवाटिका आकाश है, जिनकी साड़ी (धोती) के रखवाले इन्द्रादि लोकपाल हैं तथा जिनका चन्दनवृक्ष कामदेव हैं।

भूपापेटी भुवनमधरं पुष्करं पुष्पवाटी
शाटीपालाः शतमखमुखाश्चन्दनद्रुर्मनोभूः ॥

अत्र 'यस्य वेदा वाहाः, भुजङ्गमा भूषणानि' इत्यादि तत्तद्वाक्यार्थव्यवस्थितौ वेदत्वाद्याकारेणावगम्या एव वेदादयो व्यासप्रमुखविनेयत्वाद्याकारेणाभिहिताः, परंतु देवतासार्वभौमत्वस्फुटीकरणाय विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासेन प्रतिपादिताः । अत्रालङ्कारसर्वस्वकृतापि पर्यायोक्तस्य संप्रदायागतमिदमेव लक्षणमङ्गीकृतं 'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्' इति ।

(महादेव ने त्रिपुरसंहार के समय विष्णु को बाण बनाकर उसे मारा था, इसलिए विष्णु उनके बाण हैं और विष्णु का निवासस्थान क्षीरसागर उनका तूणीर । वेद उनके वाहन हैं तथा व्यासादि महर्षि वेदों को धारण करते हैं, अतः व्यासादि महर्षि महादेव के वाहन के वाहन हैं । महादेव के आभूषण सर्प हैं, अतः पाताल (सर्पों का निवासस्थान) उनकी आभूषणपेटिका है । वे चन्द्रमा के फूल को मस्तक पर चढ़ाते हैं, अतः आकाश उनकी पुष्पवाटिका है । महादेव दिगंबर हैं, अतः उनकी धोती दिशा है और उसके रक्षक इन्द्रादि दिक्पाल । उन्होंने कामदेव के भस्म को अंगराग के रूप में शरीर पर लगाया है, अतः उनका चंदन कामदेव है ।)

यहाँ 'वेद जिन महादेव के वाहन हैं तथा सर्प आभूषण हैं' इत्यादि तत्तत् वाक्यार्थ की प्रतीति वेदादि का प्रयोग करने पर ही हो सकती है, तथा इसी तरह वेदादि व्यास प्रमुख महर्षियों के भी वन्दनीय (उपास्य) हैं इस प्रयोग के द्वारा ही हो सकती है, किंतु कवि ने इस साक्षात् वाच्यवाचक रीति का प्रयोग न कर, इस बात को स्पष्ट करने के लिए कि वे सब देवताओं के चक्रवर्ती राजा हैं; तत्तत् पदार्थों के विशेषणविशेष्यभाव का परिवर्तन कर दिया है । (भाव यह है कि 'यस्य वेदा वाहाः भुजंगमानि भूषणानि' में वेदसर्पादि विशेष्य हैं वाहभुजंगादि विशेषण तथा इस रीति से कहने पर भी महादेव का देवाधीश्वरत्व प्रतीत हो ही जाता है, किंतु उसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ विशेषणविशेष्यभाव में परिवर्तन कर वाहभूषणादि को विशेष्य तथा वेदसर्पादि को विशेषण बना दिया गया है । इस प्रकार साक्षात् वाच्यवाचकभाव का उपादान न कर कवि ने भंग्यंतर का प्रयोग किया है ।)

(जयदेव ने पर्यायोक्ति (पर्यायोक्त) का लक्षण भिन्न प्रकार का दिया है, इसलिए अप्पयदीक्षित शंका का समाधान करना चाहते हैं ।) पर्यायोक्त का संप्रदायागत (प्राचीन आलंकारिक सम्मत) लक्षण यही है, अलंकारसर्वस्वकार ने भी पर्यायोक्त के इसी संप्रदायागत लक्षण को अंगीकार किया हैः—'पर्यायोक्त वह होता है, जहाँ गम्य (व्यंग्य) अर्थ का भिन्न शैली (भंग्यंतर) के द्वारा अभिधान किया गया हो ।'

देखिये—अलङ्कारसर्वस्व (पृ० १४१)

यद्यपि अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने पर्यायोक्त अलंकार का लक्षण ठीक दिया है, तथापि उसके उदाहरण की मीमांसा बिलकुल दूसरे ढंग से की है । रुय्यक ने पर्यायोक्त का उदाहरण यह प्रसिद्ध पद्य दिया है :—

टिप्पणी—इस संबंध में यह शंका हो सकती है कि रुय्यकादि ने तो 'कार्यमुख के द्वारा कारण की व्यंजना होने पर पर्यायोक्त माना है' तो फिर दीक्षित ने उनसे विरुद्ध लक्षण क्यों दिया है, इस शंका की कल्पना करके दीक्षित बताने जा रहे हैं कि सर्वस्वकारादि का भी तात्पर्य ठीक

'चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्॥'

इति प्राचीनोदाहरणं त्वन्यथा योजितं—राहुवधूगतेन विशिष्टेन रतोत्सवेन राहुशिरश्छेदः कारणरूपो गम्यत इति। एवं च 'गम्यस्यैवाभिधानम्' इति लक्षणस्यानुपपत्तिमाशङ्क्याह—'यद्गम्यं तस्यैवाभिधानायोगात् कार्यादिद्वारेणैवाभिधानं लक्षणे विवक्षितम्' इति।

लक्षणमपि क्लिष्टगत्या योजितं लोचनकृता 'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते' इति। इदमेव लक्षणमङ्गीकृत्य तदुदाहरणे च कार्येण शब्दा-

---

वही है, जो हमारा है, यह दूसरी बात है कि रुय्यक ने जिस लक्षण को स्वीकार किया है, उसकी योजना ठीक नहीं की है। रसिकरंजनीकार इसी बात का संकेत यों करते हैं:—

'ननु, सर्वस्वकारादिभिः, 'कार्यमुखेन कारणप्रत्यायनं पर्यायोक्त'मित्युक्तेः कथं तद्विरुद्धमत्र तल्लक्षणाभिधानमित्याशङ्क्य तेपामप्यत्रैव तात्पर्यमिति वदन् तदीययथाश्रुततल्लक्षणयोजनमनुपपन्नमित्याह—' (रसिकरंजनी पृ० १३९)

'उन (जिन) विष्णु भगवान् ने चक्र को प्रहार के लिए दी गई आज्ञा के द्वारा ही राहु की स्त्रियों की रतिक्रीडा को आलिगन के द्वारा उद्दाम विलास से रहित तथा केवल चुम्बनमात्रावशेष बना दिया।'

इस पद्य की व्याख्या में रुय्यक ने लक्षण के अनुसार लक्ष्य की मीमांसा न कर दूसरे ही ढंग का अनुसरण करते हुए कहा है :—राहूवधूगत आलिंगनशून्य चुम्बन मात्रावशेष (विशिष्टेन) रति क्रीडा (रूप कार्य) के द्वारा राहू के शिर का काट देना (राहुशिरश्छेद) यह कारण रूप अर्थ व्यञ्जित हो रहा है। इसी प्रकार लक्षण के 'गम्यस्यैवाभिधानं' पद की अनुपपत्ति की आशंका कर रुय्यक ने पर्यायोक्त अलंकार के प्रकरण में इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि काव्य में जो गम्य (व्यंग्य) अर्थ है, स्वयं उसका ही अभिधान नहीं पाया जाता, अतः उससे भिन्न रीति से उसका अभिधान करने का तात्पर्य यह है कि कारण (रूप व्यंग्य) का कार्य के द्वारा अभिधान किया गया हो'। इस प्रकार रुय्यक ने लक्षण तो ठीक दिया है पर उदाहरण की व्याख्या अन्यथा की है, तथा उसमें कार्य के द्वारा कारण का कथन मान लिया है।

टिप्पणी—रुय्यक ने कार्य रूप अप्रस्तुत से कारण रूप प्रस्तुत की व्यंजना वाली अप्रस्तुत प्रशंसा तथा पर्यायोक्त की तुलना करते समय इस पद्य को उदाहृत कर इसकी जो व्याख्या की है, वह दीक्षित ने 'राहु...गम्यते' के द्वारा उद्धृत की है। (दे० अलंकारसर्वस्व पृ० १३५)

पर्यायोक्त के प्रकरण में गम्य के अभिधानत्व के विषय में शंका उठाकर उसका समाधान करते हुए रुय्यक ने निम्न संकेत किया है:—

'यदेव गम्यं तस्यैवाभिधाने पर्यायोक्तम्। गम्यस्य सतः कथमभिधानमिति चेत्, गम्यापेक्षया प्रकारान्तरेणाभिधानस्याभावात्। नहि तस्यैव तदैव तथैव विच्छित्त्या गम्यत्वं वाच्यत्वं च संभवति। अतः कार्यमुखद्वारेणाभिधानम्। कार्यादेरपि तत्र प्रस्तुतत्वेन वर्णनार्हत्वात्। (अलंकारसर्वस्व पृ० १४१-२)

किन्तु लोचनकार अभिनवगुप्त ने इसका लक्षण भी क्लिष्टरीति से बनाया है :—'पर्यायोक्त वहाँ होगा, जहाँ (वाच्यवाचकभाव से भिन्न) किसी अन्य प्रकार से वक्तव्य अर्थ की प्रतीति हो।' इसी लक्षण को मानकर उसके उदाहरण में शब्द के द्वारा वाच्यरूप में

भिहितेन कारणं व्यङ्ग्यं प्रदर्श्य तत्र लक्षणं लक्ष्यनाम च क्लिष्टगत्या योजितम्। वाच्यादन्येन प्रकारेण व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तत् पर्यायेण प्रकारान्तरेण व्यङ्ग्येनोपलक्षितमुक्तमिति सर्वोऽप्ययं क्लेशः किमर्थ इति न विद्मः। प्रदर्शितानि हि गम्यस्यैव रूपान्तरेणाभिधाने बहुन्युदाहरणानि। 'चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव' इति प्राचीनोदाहरणमपि स्वरूपेण गम्यस्य भगवतो रूपान्तरेणाभिधानसत्त्वात्सुयोजमेव। यत्तु यत्र राहुशिरश्छेदावगमनं तत्र प्रागुक्तरीत्या प्रस्तुताङ्कुर एव। प्रस्तुतेन च राहोः शिरोमात्रावशेषेणालिङ्गनवन्ध्यत्वाद्यापादनरूपे वाच्ये भगवतो रूपान्तरे उपपादिते, तेन भगवतः स्वरूपेणावगमनं पर्यायोक्तस्य विषयः॥ ६८॥

प्रयुक्त कार्य के द्वारा कारण रूप व्यंग्य की प्रतीति दिखाकर वहाँ लक्षण तथा लक्ष्य (पर्यायोक्त इस अलंकार का) नाम की क्लिष्टरीति से योजना की गई है। जो अर्थ वाच्य से भिन्न प्रकार से अर्थात् व्यंग्य के द्वारा उपलक्षित (विशिष्ट) बना कर कहा जाता है, वही अर्थ पर्याय अर्थात् प्रकारान्तर व्यंग्य के द्वारा उपलक्षित विशिष्ट रूप में उक्त होने के कारण पर्यायोक्त होता है। लोचनकार की इस सारी क्लिष्टकल्पना का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। वस्तुतः यह रूपान्तर गम्य (व्यंग्यार्थ) का ही होता है, इस विषय में हमने अनेकों उदाहरण दे दिये हैं। 'चक्राभिघात' इत्यादि प्राचीन उदाहरण में भी स्वरूपतः गम्य भगवान् विष्णु का रूपान्तर (अंग्यंतर) के द्वारा अभिधान किया गया है। जहाँ तक इस पद्य के द्वारा 'राहु के शिर के कटने' (राहुशिरश्छेद) रूप प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है, इस अंश में प्रस्तुतांकुर अलंकार होगा (क्योंकि प्रस्तुत आलिंगनशून्यत्वादि विशिष्ट रतोत्सवरूप कार्य के द्वारा प्रस्तुत राहुशिरश्छेद रूप कारण की प्रतीति हो रही है)। साथ ही यहाँ प्रस्तुत—राहुशिरोमात्रावशेष (राहु के केवल सिर ही बचा रहा है) के द्वारा आलिंगनवन्ध्यत्व को प्राप्त कराने में साधन रूप वाच्य में भगवान् विष्णु के रूपांतर की योजना की गई है, तथा इस रूपांतर के द्वारा भगवान् विष्णु के स्वरूप की व्यंजना होती है, अतः यहाँ पर्यायोक्त अलंकार है।

टिप्पणी—लोचनकार ने पर्यायोक्त का लक्षण यह दिया है:—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यांशून्येनावगमात्मना॥ (दे० लोचन पृ० ११७)

लोचनकार ने इसका उदाहरण यह किया है—

शत्रुच्छेदे दृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः।
रामास्यानेन धनुषा दर्शिता धर्मदेशना॥

यहाँ भीष्म का प्रताप परशुराम के प्रभाव को भी चुनौती देने वाला है, यह प्रतीति होती है। यह 'दर्शिता धर्मदेशना' इस अभिधीयमानकार्य के द्वारा अभिहित की गई है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने कार्य रूप वाच्य के द्वारा कारण रूप व्यंग्य दिखाकर पर्यायोक्त के लक्षण को घटित कर दिया है।

लोचनकार का यह मत यों है:—

अत एव पर्यायेण प्रकारांतरेणावगमात्मना व्यंग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम्। (लोचन पृ० ११८)

पर्यायोक्तं तदप्याहुर्यद्व्याजेनेष्टसाधनम् ।
यामि चूतलतां द्रष्टुं युवाभ्यामास्यतामिह ॥ ६६ ॥

(भाव यह है, रुय्यक इस पद्य में प्रतीत व्यंग्यार्थ 'राहु का सिर काटना' रूप कारण मानते हैं, जो इस कार्य के द्वारा अभिहित किया गया है कि राहु की अपनी पत्नी के साथ की गई रति क्रीडा अब केवल चुम्बनमात्र रह गई, उसमें आलिंगनादि अन्य सुरतविधियाँ नहीं हो पातीं'। अभिनवगुप्त में जो उदाहरण तथा लक्षणयोजना पाई जाती है, उससे भी यही पता चलता है कि वे भी कार्यरूप वाचक से कारणरूप व्यंग्य के अभिधान में पर्यायोक्त ही मानते हैं। अप्पय दीक्षित इस मत से सहमत नहीं। वे 'राहुशिरश्छेद' को व्यंग्य मानने पर प्रस्तुतांकुर मानते हैं, क्योंकि यहाँ प्रस्तुत कार्य (चुम्बनमात्रावशेष रतोत्सव) से प्रस्तुत कारण (राहुशिरश्छेद) की प्रतीति हो रही है। अतः पर्यायोक्त अलंकार मानने पर हमें यह व्यग्य अर्थ मानना होगा कि यहाँ राहु को आलिंगनवन्ध्य बनाने वाले स्वरूप (इस वाच्य) के द्वारा भगवान् विष्णु की स्वयं की व्यंजना की गई है। यहाँ इतना संकेत कर देना आवश्यक होगा कि रुय्यक प्रस्तुतांकुर अलंकार नहीं मानते। अप्पयदीक्षित ने इसे नया अलंकार माना है।)

'तथा च कार्येण विशिष्टरतोत्सवेन तत्कारणस्य राहुशिरश्छेदस्यावगमनं प्रस्तुतांकुर-विषयः। आलिंगनवंध्यत्वापादकत्वरूपवाच्यस्योपपादनेन भगवतोऽवगमनं पर्यायोक्तस्य विषय इति भावः।' (रसिकरंजनी पृ० १४०)

चन्द्रिकाकार ने दीक्षित की इस दलील को व्यर्थ बतलाया है, बल्कि वे कहते हैं कि दीक्षित के इस विवाद में केवल नवीन युक्तिमात्र है। दीक्षित का यह कहना कि भगवान् विष्णु की स्वरूपतः व्यंजना यहाँ चमत्कारी है तथा यही पर्यायोक्त का क्षेत्र है, ठीक नहीं है। क्योंकि पर्यायोक्त में चमत्कार व्यंग्य सौन्दर्यजनित न होकर भंग्यंतर अभिधान (वाच्यवाचक शैली से भिन्न शैली के कथन) के कारण होता है। व्यंग्यार्थ तो प्रायः सभी जगह भंग्यंतराभिधान के कारण सुन्दर होता ही है। अतः व्यंग्य का स्वयं का असौन्दर्य घोषित करना व्यर्थ है। वस्तुतः महत्त्व भंग्यन्तर अभिधान का ही है, उसी में चमत्कार है। साथ ही अप्पय दीक्षित को अपने ही उपजीव्य रुय्यक का विरोधप्रदर्शन शोभा नहीं देता। यदि दीक्षित ने यह विचार इसलिए प्रकट किया हो कि यह एक नई युक्ति है, तो रुय्यक के साथ युक्तिविरोध प्रदर्शित करना दीक्षित का परोत्कर्षासहिष्णुत्व (दूसरे के उत्कर्ष को न सह सकने की वृत्ति) स्पष्ट करना है।

यत्तु भगवद्रूपेणावगमनं विशेषणमर्यादालभ्यत्वेन सुन्दरं पर्यायोक्तस्य विषय इति— तदविचारितरमणीयम्। नहि पर्यायोक्तेव्यंग्यसौन्दर्यकृतो विच्छित्तिविशेषः किन्तु भंग्यन्त-राभिधानकृत एव। व्यंग्य तु भंग्यंतराभिधानतः सुन्दरमेव प्रायशो दृश्यते। यथा 'दृष्टा-गन्तव्यम्' इति विवक्षिते व्यंग्ये अयंदेशोऽलंकरणीयः, सफलतामुपनेतव्य' इत्यादौ। अत-स्तदसुन्दरत्वोद्भावनमकिंचित्करमेव। अलंकारसर्वस्वकारग्रन्थविरोधोद्भावनं तु तच्छिष्याका-रिणं न शोभते। उपजीव्यत्वोद्भावनमपि ग्रन्थस्याकिंचित्करमेव। युक्तिविरोध इति परोत्क-र्षासहिष्णुत्वमात्रमुद्भावयितुमवगमयतीत्यलं विस्तरेण। (चन्द्रिका पृ० ९५)

६९—जहाँ किसी (सुन्दर) बहाने (व्याज) से (अपने या दूसरे के) इष्ट का संपादन किया जाय, अर्थात् जहाँ किसी सुन्दर बहाने से अपने या किसी दूसरे व्यक्ति का ईप्सित कार्य किया जाय, वहाँ भी पर्यायोक्त होता है। जैसे, (कोई सखी नायक नायिका को एक दूसरे से मिलाकर किसी बहाने वहाँ से निकलने का उपक्रम करती है) मैं आम्रलता को देखने जा रही हूँ, तुम दोनों यहाँ बैठे रहो।'

अत्र नायिकां नायकेन सङ्गमय्य चूतलतादर्शनव्याजेन निर्गच्छन्त्या सख्या तत्स्वाच्छन्द्यसंपादनरूपेष्टसाधनं पर्यायोक्तम्।

यथा वा—

देहि मत्कन्दुकं राधे! परिधाननिगूहितम्।
इति विस्रंसयन्नीवीं तस्याः कृष्णो मुदेऽस्तु नः॥

पूर्वत्र परेष्टसाधनम्, अत्र तु कन्दुकसद्भावशोधनार्थं नीवीविस्रंसनव्याजेन स्वेष्टसाधनमिति भेदः॥ ६६॥

३० व्याजस्तुत्यलङ्कारः

उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः।

यहाँ नायिका को नायक से मिलाकर आम्रलता को देखने के बहाने वहाँ से खिसकती सखी ने नायक—नायिका के स्वाच्छन्द्य (स्वच्छंदता) रूपी अभीप्सित वस्तु का संपादन किया है, अतः यहाँ पर्यायोक्त अलंकार है।

अथवा जैसे—

'हे राधिके, अपने अधोवस्त्र में छिपाये हुए मेरे गेंद को दे दो—इस प्रकार कह कर राधा की नीवी को ढीली करते कृष्ण हम लोगों पर प्रसन्न हों।

पहले उदाहरण में इस उदाहरण से यह भेद है कि वहाँ सखी आम्रलतादर्शनव्याज से दूसरे (नायक-नायिका) के इष्ट का साधन करती है, जब कि यहाँ गेंद को ढूँढने के लिए नीवी ढीली करने के बहाने कृष्ण अपने अभीप्सित अर्थ का संपादन कर रहे हैं।

टिप्पणी—पर्यायोक्त अलङ्कार में इन दोनों में से कोई एक भेद होता है। अतः पर्यायोक्त का सामान्यलक्षण यह होगा कि जहाँ इन दो प्रकारों में कोई एक भेद हो, वहाँ पर्यायोक्त होगा। तभी तो चन्द्रिकाकार ने कहा है:—

एवं च प्रकारद्वयसाधारणं तदन्यतरत्वं सामान्यलक्षणं (पर्यायोक्तत्वं) बोध्यम्।

(चन्द्रिका पृ० ९५) (इसमें कोष्ठक का शब्द मेरा है।)

२०. व्याजस्तुति अलङ्कार

७०-७१—जहाँ निन्दा अथवा स्तुति के द्वारा क्रमशः स्तुति अथवा निन्दा की व्यंजना (कथन) हो, वहाँ व्याजस्तुति अलंकार होता है। (एक अर्थ में 'व्याजस्तुतिः' शब्द की व्युत्पत्ति 'व्याजेन स्तुतिः' होगी अन्य में 'व्याजरूपा स्तुतिः'। इस प्रकार व्याजस्तुति मोटे तौर पर तीन तरह की होगी—(१) निंदा के द्वारा स्तुति की व्यंजना, (२) स्तुति के द्वारा निन्दा की व्यंजना, (३) स्तुति के द्वारा (अन्य की) स्तुति की व्यंजना। यहाँ निन्दा से स्तुति तथा स्तुति से निंदा के क्रमशः दो उदाहरण दे रहे हैं।)

टिप्पणी—व्याजस्तुति प्रथमतः दो तरह की होती है:—(१) व्याजेन स्तुतिः (निन्दया स्तुतिः), (२) व्याजरूपा स्तुतिः। दूसरे ढंग की व्याजरूपा स्तुति पुनः दो तरह की होगी:—(१) स्तुत्या निन्दा, (२) एकस्य स्तुत्या अन्यस्य स्तुतिः। इस प्रकार सर्वप्रथम व्याजस्तुति तीन तरह की हुई:—(१) निन्दा से स्तुति की व्यंजना (२) स्तुति के द्वारा निन्दा की व्यंजना तथा (३) एक की स्तुति से दूसरे की स्तुति की व्यंजना। इनमें प्रथम दो प्रकारों के दो-दो भेद होते हैं: समानविषयक तथा भिन्नविषयक; अंतिम प्रकार केवल भिन्नविषयक ही होता है। इस तरह

कः स्वर्धुनि विवेकस्ते पापिनो नयसे दिवम् ॥ ७० ॥

साधु दूति ! पुनः साधु कर्तव्यं किमतः परम् ।
यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि ॥ ७१ ॥

निन्दया स्तुतेः स्तुत्या निन्दाया वा अवगमनं व्याजस्तुतिः । 'कः स्वर्धुनि' इत्युदाहरणे 'विवेको नास्ति' इति निन्दाव्याजेन 'गङ्गा सुकृतिवदेव महापातकादिकृतवतोऽपि स्वर्गं नयती'ति व्याजरूपया निन्दया तत्प्रभावातिशयस्तुतिः । 'साधु दूति' इत्युदाहरणे 'मदर्थे महान्तं क्लेशमनुभूतवत्यसि' इति व्याजरूपया स्तुत्या, 'मदर्थं न गतासि, किंतु रन्तुमेव गतासि; धिक्त्वां दूतिकाधर्मविरुद्धकारिणीम्' इति निन्दाऽवगम्यते ।

यथा वा—

कस्ते शौर्यमदो योद्धुं त्वय्येकं सन्निमास्थिते ।
सप्तसन्निसमारूढा भवन्ति परिपन्थिनः ॥

व्याजस्तुति पाँच तरह की होती है। जहाँ एक की निन्दा से दूसरे की निन्दा प्रतीत होती है अर्थात् व्याजस्तुति के पञ्चम भेद का विरोधी रूप प्रतीत होता है, वहाँ व्याजस्तुति पद का अर्थ ठीक नहीं बैठता, अतः उसे अलग से अलंकार माना गया है, जो वक्ष्यमाण व्याजनिन्दा अलंकार है। व्याजस्तुति अलंकार का सामान्य लक्षण यह है :—.

'व्याजनिन्दाभिन्नत्वे सति स्तुतिनिन्दान्यतरपर्यवसायिस्तुतिनिन्दान्यतमत्वं व्याजस्तुतित्वम् ।' इस लक्षण में व्याजनिन्दा की अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'व्याजनिन्दा-भिन्नत्वे सति' का प्रयोग किया गया है।

१. हे गंगे, पता नहीं यह तेरी कौन सी बुद्धिमत्ता है कि तू पापियों को स्वर्ग पहुँचाती है। (निन्दया स्तुतिः)

२. हे दूति, तूने बहुत अच्छा किया, इससे बढ़ कर और तेरा क्या कर्तव्य था कि तू मेरे लिये दाँतों और नाखूनों से काटी गई। (स्तुत्या निन्दा)

जहाँ निन्दा के द्वारा स्तुति की व्यंजना हो अथवा स्तुति के द्वारा निंदा की, वहाँ व्याजस्तुति अलंकार होता है। 'कः स्वर्धुनि' इत्यादि श्लोकार्ध निन्दा के द्वारा स्तुति की व्यंजना का उदाहरण है, यहाँ 'तुझे बिलकुल समझ नहीं है' इस निन्दा के व्याज से इस भाव की व्यञ्जना कराई गई है कि 'गंगा पुण्यशालियों की तरह महापापियों को भी स्वर्ग पहुँचाती है'—इस प्रकार यहाँ व्याजरूपा निन्दा के द्वारा गंगा के अतिशय माहात्म्य की स्तुति व्यञ्जित की गई है। 'साधु दूति' इस उदाहरण में 'तूने मेरे लिये बड़ा कष्ट पाया' यह स्तुति वाच्य है, इस व्याजरूपा स्तुति के द्वारा इस निन्दा की व्यञ्जना होती है कि 'तू मेरे लिए वहाँ न गई थी, किन्तु उस नायक के साथ स्वयं ही रमण करने गई थी, दूती के कर्तव्य के विरुद्ध आचरण करने वाली तुझे धिक्कार है'। (इनमें प्रथम 'निन्दा से स्तुति' वाली व्याजस्तुति है, दूसरी स्तुति से निन्दा वाली।)

इन्हीं के क्रमशः अन्य उदाहरण उपन्यस्त करते हैं :—

(निन्दा से स्तुति की व्यञ्जना का उदाहरण)

कोई कवि राजा की प्रशंसा कर रहा है:— अरे राजन्, तू वीरता का दर्प क्यों करता है,

अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाऽप्यर्धं शिवस्याहृतं
देवेत्थं जगतीतले स्मरहराभावे समुन्मीलति ।
गङ्गा सागरमम्बरं शशिकला नागाधिपः क्ष्मातलं
सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वमगमत्त्वां, मां च भिक्षाटनम् ॥

अत्राद्योदाहरणे सप्तसप्तिपदगतश्लेषमूलनिन्दाव्याजेन स्तुतिर्व्यज्यते । द्वितीयोदाहरणे 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरोऽसि' इति राज्ञः स्तुत्या 'मदीयवैदुष्यादि दारिद्र्यादि सर्वं जानन्नपि बहुप्रदानेन रक्षितुं सक्तोऽपि मह्यं किमपि न ददासि' इति निन्दा व्यज्यते । सर्वमिदं निन्दा-स्तुत्योरेकविषयत्वे उदाहरणम् ।

तेरा शौर्यमद व्यर्थ है; जब तू लड़ने के लिए एक घोड़े पर सवार होता है, तो तेरे शत्रु राजा सात घोड़ों (सप्तसप्ति-सूर्य) पर सवार हो जाते हैं ।'

यहाँ 'तू तो एक ही घोड़े पर सवार होता है, और तेरे शत्रु राजा सात घोड़ों पर सवार होते हैं—इस प्रकार तेरे शत्रु राजाओं की विशिष्ट वीरता के रहते तेरा शौर्यदर्प व्यर्थ है' यह वाच्यार्थ है, इस वाच्यार्थ में राजा की निन्दा की गई है किन्तु कवि का अभीष्ट राजा की निंदा करना न होकर स्तुति करना है, अतः यहाँ इस राजपरक स्तुति की व्यंजना होती है कि 'ज्योंही तुम युद्ध के लिए घोड़े पर सवार होते हो, त्योंही तुम्हारे शत्रु राजा वीरगति पाकर सूर्य मण्डल का भेद कर देते हैं, अतः तुम्हारी वीरता धन्य है ।' यहां 'सप्तसप्ति' पद में श्लेष है । देखिये—

द्वावेतौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ । परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥)

(स्तुति के द्वारा निन्दा की व्यंजना का उदाहरण)

कोई दरिद्र कवि राजा की कृपणता की निंदा करता कह रहा है:—'हे राजन्, शिवजी के शरीर का आधा भाग तो दैत्यों के शत्रु विष्णु ने छीन लिया और बाकी आधा (वाम) भाग पार्वती ने ले लिया । इस प्रकार संसार कामदेव के शत्रु शिव से रहित हो गया । शिव के अभाव में शिव के पास की समस्त वस्तुएँ दूसरे लोगों के पास चली गईं । गंगा समुद्र में चली गई, चन्द्रमा की कला आकाश में जा बसी, सर्पराज पाताल में घुस गया, सर्वज्ञत्व तथा अधीश्वरत्व (प्रभुत्व) तुम्हारे पास आया और शिवजी का भिक्षाटन (भीख माँगना) मुझे मिला ।

यहाँ राजा शिव के समान सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर है, यह स्तुति वाच्यार्थ है, किन्तु इससे यह निन्दा व्यञ्जित हो रही है कि 'तुम मेरी दरिद्रता को जानते हो तथा उसको हटाने में समर्थ हो, फिर भी बड़े कंजूस हो कि मेरी दरिद्रता को नहीं हटाते' ।)

यहाँ पहले उदाहरण में 'सप्तसप्ति' पद में प्रयुक्त श्लेष के द्वारा निन्दा के व्याज से स्तुति की व्यञ्जना हो रही है । दूसरे उदाहरण में 'तुम सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर हो' इस राजपरक व्याजरूपा स्तुति के द्वारा 'तुम मेरी विद्वत्ता तथा दरिद्रता आदि सब कुछ जानते हो, फिर भी बहुत सा दान देकर मेरी रक्षा करने में समर्थ होने पर भी कुछ भी दान नहीं देते, यह निंदा व्यंजित होती है । ये निंदा तथा स्तुति के समानविषयत्व (एकविषयत्व) के उदाहरण हैं, अर्थात् यहाँ उसी व्यक्ति की निन्दा या स्तुति से उसी व्यक्ति की स्तुति या निन्दा व्यंजित हो रही है ।

भिन्नविषयत्वे निन्दया स्तुत्यभिव्यक्तिर्यथा—

> कस्त्वं वानर !, रामराजभवने लेखार्थसंवाहको,
> यातः कुत्र पुरागतः स हनुमान्निर्दग्धलङ्कापुरः ?।
> बद्धो राक्षससूनुनेति कपिभिः संताडितस्तर्जितः
> स व्रीडात्तपराभवो वनमृगः कुत्रेति न ज्ञायते ॥

अत्र हनुमन्निन्दया इतरवानरस्तुत्यभिव्यक्तिः।

टिप्पणी—उपर्युक्त दो प्रकार की व्याजस्तुति से इतर व्याजस्तुति भेदों के मानने का पंडितराज ने खंडन किया है।

'एवं स्थिते कुवलयानन्दकर्त्रा स्तुतिनिन्दाभ्यां वैयधिकरण्येन निन्दास्तुत्योः स्तुतिनिन्दयोर्वाऽवगमे प्रकारचतुष्टयं व्याजस्तुतेर्यदधिकमुक्तं तदपास्तम्।' (रसगंगाधर पृ० ५६१)

साथ ही वे दीक्षित के द्वारा उदाहृत 'अर्धं दानववैरिणा''' भिक्षाटनम्' पद्य को व्याजस्तुति का उदाहरण नहीं मानते। क्योंकि यहाँ 'साधु दूति' इत्यादि पद्य में जिस तरह साधुकारिणीत्व बाधित हो कर स्तुति रूप वाच्य से निंदा रूप व्यंग्य की प्रतीति कराने में समर्थ है, वैसे राजा के लिए प्रयुक्त सर्वज्ञत्व तथा अधीश्वरत्व बाधित नहीं जान पड़ता। अतः इस पद्य से राजा की उपालंभरूप निंदा की प्रतीति ही नहीं होती।

'साधुदूति पुनः साधु' इति पद्ये साधुकारिणीत्वमिव नास्मिन्पद्ये सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वं च विद्युद्भङ्गुरप्रतिभमिति शक्यं वक्तुम्। उपालम्भरूपायाः निन्दाया अनुत्थानापत्तेः प्रतीतिविरोधाच्चेति सहृदयैराकलनीयं किमुक्तं द्रविडपुङ्गवेनेति।' (रसगंगाधर पृ० ५६३)

यहाँ रसगंगाधरकार ने 'द्रविडपुंगवेन' कह कर दीक्षित की मूर्खता (पुंगवत्व) पर कटाक्ष किया है। नागेश ने रसगंगाधर की टीका में दीक्षित के मत की पुनः स्थापना की है। वे बताते हैं कि इस पद्य में वक्तृवैशिष्ट्य आदि के कारण राजस्तुति से राजनिंदा की प्रतीति होती ही है, अतः सर्वज्ञत्व तथा अधीश्वरत्व में विद्युद्भङ्गुरप्रतिभत्व पाया ही जाता है।

'अतिचिरकालं कृतया सेवया दुःखितस्य ततोऽप्राप्तधनस्य भिक्षो राजसेवां त्यक्तुमिच्छत ईदृशवाक्ये वक्तृवैशिष्ट्यादिसहकारेणापातप्रतीयमानस्तुतेर्निन्दापर्यवसायितया विद्युद्भङ्गुरप्रतिभत्वमस्त्येवेति सम्यगेवोक्तं द्रविडशिरोमणिना।' (गुरुमर्म प्रकाश—वही पृ० ५६३)

व्याजस्तुति में यह भी हो सकता है कि एक व्यक्ति की निन्दा या स्तुति से दूसरे व्यक्ति की स्तुति या निन्दा व्यञ्जित होती हो। इस प्रकार भिन्नविषयक निन्दा से स्तुति की व्यञ्जना का उदाहरण निम्न पद्य है :—

(लंका के राक्षस अङ्गद से हनुमान् के विषय में पूछ रहे हैं और अङ्गद हनुमान् की निन्दा कर अन्य वानरों की प्रशंसा व्यञ्जित कर रहा है।)

'हे वानर, तुम कौन हो,' 'मैं राजा राम के भवन में लेखादि संदेश का वाहक (दूत) हूँ।' 'वह हनुमान् जो यहाँ पहले आया था और जिसने लंकापुरी को जलाया था, कहाँ गया ?'

'उसे रावण के पुत्र मेघनाद ने पाश में बाँध लिया था, इसलिए अन्य वानरों ने उसे फटकारा और पीटा, लज्जित होकर वह बंदर कहाँ गया, इसका कुछ भी पता नहीं।'

यहाँ हनुमान् की निन्दा वाच्यार्थ है, इसके द्वारा अन्य वानरों की स्तुति की व्यंजना हो रही है।

स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिर्यथा—

यद्वक्त्रं मुहुरीक्षसे न, धनिनां ब्रूपे न चाटून्मृषा,
नैषां गर्ववचः शृणोषि, न च तान्प्रत्याशया धावसि।
काले बालतृणानि खादसि, परं निद्रासि निद्रागमे,
तन्मे ब्रूहि कुरङ्ग ! कुत्र भवता किं नाम तप्तं तपः ?॥

अत्र हरिणस्तुत्या राजसेवानिर्विण्णस्यात्मनो निन्दाभिव्यज्यते। अयमप्रस्तुतप्रशंसाविशेष इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः। तेन हि सारूप्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणान्तरं वैधर्म्येणापि दृश्यते।

यथा—

धन्याः खलु वने वाताः कह्लाराः सुखशीतलाः।
राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः॥

अत्र 'वाता धन्याः' इत्यप्रस्तुतार्थात् 'अहमधन्यः' इति वैधर्म्येण प्रस्तुतोऽर्थः प्रतीयत इति व्युत्पादितम्। इयमेवाप्रस्तुतप्रशंसा न कार्यकारणनिबन्धनेति दण्डी। यदाह काव्यादर्शे (२३।४०)—

भिन्नविषयक स्तुति से निन्दा की अभिव्यञ्जना का उदाहरण, जैसे—

'हे हिरन, बताओ तो सही, तुमने ऐसा कौन सा तप कहाँ किया है कि तुम्हें धनिकों का मुँह बार-बार नहीं देखना पड़ता, न झूठी चाटुकारिता ही करनी पड़ती है, न तुम्हें इनका गर्ववचन ही सुनना पड़ता है, न आशा के कारण इनके पीछे दौड़ना ही पड़ता है। तुम सचमुच सौभाग्यशाली हो कि समय पर ताजा घास खाते हो और निद्रा के समय निद्रा का अनुभव करते हो।'

यहाँ हिरन की स्तुति वाच्यार्थ है, किंतु कवि की विवक्षा हिरन की स्तुति में न होकर राजसेवा से दुःखी अपनी आत्मा की निन्दा में है, अतः हरिणस्तुति से भिन्नविषयक स्वात्मनिन्दा व्यंजित होती है। जहाँ भिन्नविषयक स्तुति या निंदा की व्यंजना होती है, वहाँ अलंकारसर्वस्वकार के मत से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का ही प्रकार विशेष होता है। रुय्यक ने सारूप्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा के साधर्म्यगत उदाहरणों के उपन्यस्त करने के बाद इनका वैधर्म्यगत उदाहरण भी दर्शाया है, जैसे निम्न पद्य में—

राम-वनगमन के बाद दशरथ कह रहे हैं :—कमलों की सुगन्ध को लेकर बहने वाले शीतल सुखद वन के पवन धन्य हैं, जो बिना किसी रोकटोक के इन्दीवर कमल के समान श्याम रामचन्द्र का स्पर्श करते हैं।'

इस पद्य में 'वाता धन्याः' इस अप्रस्तुत वाच्यार्थ के द्वारा 'मैं अधन्य हूँ' इस प्रस्तुत व्यंग्यार्थ की प्रतीति वैधर्म्य के कारण होती है,—इस प्रकार रुय्यक ने भिन्नविषयक व्याजस्तुति वाले उदाहरणों में वैधर्म्यगत सारूप्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा मानी है।

टिप्पणी—'तेन हि' के बाद से लेकर 'इति व्युत्पादितम्' के पूर्व का उद्धरण अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक का मत है, जो अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार के प्रकरण में यों पाया जाता है।

एतानि साधर्म्योदाहरणानि। वैधर्म्येण यथा—

धन्याः खलु वने वाताः कह्लारस्पर्शशीतलाः।
राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः।

'अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रकाण्डे तु या स्तुतिः ।
सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः ॥
अन्नैरयत्नसुलभैस्तृणदर्भाङ्कुरादिभिः ।
सेयमप्रस्तुतैवात्र मृगवृत्तिः प्रशस्यते ॥
राजानुवर्तनक्लेशनिर्विण्णेन मनस्विना ॥' इति ।

वस्तुतस्तु-अत्र व्याजस्तुतिरित्येव युक्तम्, स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिरित्यप्रस्तुतप्रशंसातो वैचित्र्यविशेषसद्भावात् । अन्यथा प्रसिद्धव्याजस्तुत्युदाहरणेष्वप्यप्रस्तुताभ्यां निन्दा-स्तुतिभ्यां प्रस्तुते स्तुति-निन्दे गम्येते इत्येतावता व्याजस्तुतिमात्रमप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् । एवं चानया प्रक्रियया यत्रान्यगतस्तुतिविवक्षयाऽन्यस्तुतिः क्रियते, तत्रापि व्याजस्तुतिरेव; अन्यस्तुतिव्याजेन तदन्यस्तुतिरित्यर्थानुगमसद्भावात् ।

यथा—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
तरुणि ! येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥

अत्र वाता धन्या इत्यप्रस्तुतादर्थादहमधन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतोऽर्थः प्रतीयते।
(अलंकारसर्वस्व पृ० १३७)

दण्डी ने भी काव्यादर्श में इसे अप्रस्तुतप्रशंसा ही माना है। उनके मत से अप्रस्तुत प्रशंसा यही है, (तथाकथित) कार्यकारणनिबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा को अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार नहीं मानना चाहिए। जैसा कि दण्डी ने कहा है :—

'अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार वहीं होता है, जहाँ बिना किसी प्रस्ताव के किसी की स्तुति की जाय, जैसे इस उदाहरण में। 'किसी दूसरे की सेवा न करने वाले हरिण सुख से जी रहे हैं, जो अयत्न-सुलभ जल-दर्भांकुर आदि से जीवन निर्वाह करते हैं।' यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार ही पाया जाता है, क्योंकि यहाँ अप्रस्तुत मृगवृत्ति की प्रशंसा पाई जाती है, यह प्रशंसा उस मनस्वी व्यक्ति ने की है, जो राजसेवा करने के दुःख से खिन्न हो चुका है।'

अप्पय दीक्षित दण्डी के मत से सहमत नहीं हैं उनके मत से यहाँ व्याजस्तुति अलंकार ही है, क्योंकि यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा से यह विशिष्ट चमत्कार पाया जाता है कि यहाँ स्तुति से निंदा की व्यंजना पाई जाती है। यदि ऐसा न मानेंगे तो व्याजस्तुति के तत्तत् प्रसिद्ध उदाहरणों में जहाँ अप्रस्तुत निंदास्तुति के द्वारा प्रस्तुत स्तुति-निंदा की व्यञ्जना होती है, इतने से कारण से ही समस्त व्याजस्तुति अप्रस्तुत प्रशंसा हो जायगी। अन्यगत स्तुतिनिंदा के द्वारा अन्यगत निंदास्तुति की व्यंजना का प्रकार मानने पर जहाँ अन्यगत स्तुति अभीष्ट (विवक्षित) होने पर अन्यस्तुति वाच्यरूप में पाई जाय, वहाँ भी व्याजस्तुति अलंकार होगा। यहाँ 'अन्यस्तुति के व्याज से अन्यस्तुति की व्यंजना' इस प्रकार 'व्याजस्तुति' शब्द की व्युत्पत्ति करने पर लक्ष्यनाम का अर्थ ठीक बैठ जाता है। इस भेद का उदाहरण निम्न है :—

कोई रसिक किसी सुन्दरी से कह रहा है :—'हे युवति, बताओ तो सही इस सुग्गे ने किस पर्वत पर, कितने दिनों, कौन सा तप किया था, कि यह तुम्हारे अधर के समान लाल रंग के बिम्बफल को चख रहा है।'

अत्र शुकशावकस्तुत्या नायिकाधरसौभाग्यातिशयस्तुतिर्व्यज्यते ॥ ७१ ॥

३१ व्याजनिन्दालङ्कारः

निन्दाया निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देति गीयते ।
विधे ! स निन्द्यो यस्ते प्रागेकमेवाहरच्छिरः ॥ २७ ॥

अत्र हरनिन्दया विषमविपाकं संसारं प्रवर्तयतो विधेरभिव्यङ्ग्या निन्दा व्याजनिन्दा ।

यथा वा—

विधिरेव विशेषगर्हणीयः, करट ! त्वं रट, कस्तवापराधः ? ।
सहकारतरौ चकार यस्ते सहवासं सरलेन कोकिलेन ॥

अन्यस्तुत्याऽन्यस्तुत्यभिव्यक्तिरिति पञ्चमप्रकारव्याजस्तुतिप्रतिवन्दीभूतेयं

(यहाँ 'तुम्हारे अधर के समान बिंबाफल को चखना ही बहुत बड़ा सौभाग्य है, तो तुम्हारे अधर का चुम्बन तो उससे भी बड़ा सौभाग्य है' यह व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है ।)

यहाँ शुकशावक की स्तुति (वाच्यार्थ) के द्वारा रसिक युवक नायिका के अधर के सौभाग्य की अतिशय उत्कृष्टता की स्तुति की व्यञ्जना करा रहा है ।

३१. व्याजनिंदा अलंकार

७२—जहाँ एक व्यक्ति की निंदा के द्वारा अन्य व्यक्ति की निंदा व्यंजित हो, वहाँ व्याजनिंदा कहलाती है । जैसे, हे ब्रह्मन् , वह व्यक्ति निंदनीय है, जिसने पहले तुम्हारा एक ही सिर काट लिया था ।

यहाँ वाच्यरूप में शिव की निन्दा प्रतीत होती है कि उन्होंने ब्रह्मा के सिर को काट दिया, किंतु इस शिवनिंदा के द्वारा कवि दारुण परिणामरूप संसार की रचना करने वाले ब्रह्मा की निंदा भी करना चाहता है, अतः यहाँ व्याजनिंदा अलंकार है ।

अथवा जैसे—

'हे कौवे, तू चिल्लाया कर, तेरा अपराध ही क्या है ? यदि कोई विशेष निंदनीय है तो वह तू नहीं स्वयं ब्रह्मा ही हैं, जिन्होंने सरल प्रकृति के कोकिल के साथ आम के पेड़ पर तेरा निवास स्थान बनाया ।'

(यहाँ अप्रस्तुत ब्रह्मा की निंदा के द्वारा प्रस्तुत कौवे की निंदा की व्यंजना होती है, अतः यहाँ व्याजनिंदा-अलंकार है ।)

टिप्पणी—रसिकरंजनीकार ने इसका एक उदाहरण यह भी दिया है, जो किसी भगवन्तराय-सचिव का पद्य है :—

अनपायमपास्य पुष्पवृन्दं करिणं नाश्रय भृङ्ग ! दानलोभात् ।
अभिमूढ, स एष कर्णतालैरभिहन्याद्यदि जीवितं कुतस्ते ॥

यहाँ अप्रस्तुत भ्रमर की निंदा के द्वारा किसी हिंसक स्वभाव वाले व्यक्ति की सेवा करते मूर्ख की निंदा की व्यंजना हो रही है, अतः इस पद्य में भी व्याजनिंदा अलंकार है ।

अन्यस्तुति के द्वारा अन्यस्तुति की व्यंजना वाले व्याजस्तुति के पाँचवे प्रकार का ठीक उलटा रूप इस व्याजनिंदा में पाया जाता है। पंचम प्रकार की व्याजस्तुति तथा व्याजनिंदा के

व्याजनिन्दा। ननु यत्रान्यस्तुत्याऽन्यस्तुतेरन्यनिन्दयाऽन्यनिन्दायाश्च प्रतीतिस्तत्र व्याजस्तुतिव्याजनिन्दालङ्कारयोरभ्युपगमे स्तुतिनिन्दारूपा प्रस्तुतप्रशंसोदाहरणेऽप्यप्रस्तुतप्रशंसा न वक्तव्या। तेषामपि व्याजस्तुति-व्याजनिन्दाभ्यां क्रोडीकारसंभवादिति चेत्,-उच्यते; यत्राप्रस्तुतवृत्तान्तात् स्तुतिनिन्दारूपात्तत्सरूपः प्रस्तुतवृत्तान्तः प्रतीयते, 'अन्तश्छिद्राणि भूयांसि' इत्यादौ, तत्र लब्धावकाशा सारूप्यनिबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसा, अत्रापि वर्तमाना निवारयितुं शक्या। अन्यस्तुत्याऽन्यस्तुतिरन्यनिन्दयाऽन्यनिन्देत्येवं व्याजस्तुति-व्याजनिन्दे अपि संभवतश्चेत्,-कामं ते अपि संभवेताम्; न त्वस्याः परित्यागः। यद्यपि 'विधिरेव विशेषगर्हणीय' इति श्लोके विधिनिन्दया तन्मूलककाकनिन्दया चाविशेषज्ञस्य प्रभोस्तेन च विद्वत्समतया स्थापितस्य मूर्खस्य च निन्दा प्रतीयत इति तत्र सारूप्यनिबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसाप्यस्ति, तथापि सैव व्याजनिन्दामूलेति प्रथमोपस्थिता सापि तत्र दुर्वारा, एवं च व्याजनिन्दामूलकव्याजनिन्दारूपेयमप्रस्तुतप्रशंसेति चमत्कारातिशयः एवमेव व्याजस्तुतिमूलकव्याजस्तुतिरूपाऽप्यप्रस्तुतप्रशंसा दृश्यते।

प्रकरण में पूर्वपक्षी को एक शंका होती हैः—'जहाँ एक व्यक्ति की स्तुति से दूसरे की स्तुति व्यंजित होती है वहाँ व्याजस्तुति अलंकार माना जाता है तथा जहाँ एक व्यक्ति की निंदा से दूसरे की निंदा व्यंजित होती है वहाँ व्याजनिंदा अलंकार'—तो फिर स्तुतिनिंदा रूप अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार के उदाहरणों में भी यही अलंकार होगा, फिर वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वे भी व्याजस्तुति तथा व्याजनिंदा में अन्तर्भूत हो जायँगे।' इस शंका का समाधान सिद्धांतपक्षी यों करता हैः—'जहाँ स्तुति या निंदारूप अप्रस्तुतवृत्तान्त के द्वारा उसके समान (तुल्य) ही स्तुति या निंदारूप प्रस्तुतवृत्तान्त व्यंजित होता हो, जैसे 'अन्तश्छिद्राणि भूयांसि' इत्यादि उदाहरण में—वहाँ सारूप्यनिबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार अवश्य होगा, साथ ही इन दोनों स्थलों में (व्याजस्तुति के पंचम भेद तथा व्याजनिंदा के उदाहरणों में) भी अप्रस्तुतप्रशंसा का अस्तित्व निषिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि पूर्वपक्षी पुनः यह शंका करे कि यहाँ अन्यस्तुति से अन्यस्तुति तथा अन्यनिंदा से अन्यनिंदा की व्यंजना के कारण व्याजस्तुति या व्याजनिंदा अलंकार भी होगा, तो कोई बुरा नहीं, वे अलंकार भी माने जायँगे, इससे अप्रस्तुतप्रशंसा का त्याग नहीं हो जाता। यद्यपि 'विधिरेव विशेषगर्हणीयः' इत्यादि पद्य में ब्रह्मा की निंदा के द्वारा कौवे की निंदा व्यंजित होती है तथा उन दोनों के द्वारा मूर्ख स्वामी तथा उसके द्वारा विद्वानों के समान सम्मानित मूर्ख, दोनों की निंदा भी व्यंजित हो रही है, इस प्रकार अप्रस्तुत विधि-काकवृत्तान्त से प्रस्तुत मूर्खप्रभु-वैधेयवृत्तान्त व्यंजित हो रहा है, अतः यहाँ सारूप्यनिबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी पाया जाता है, तथापि अप्रस्तुतप्रशंसा का आधार व्याजनिंदा ही है, अतः प्रथमतः प्रतीत व्याजनिंदा का भी निवारण नहीं किया जा सकता, इसी तरह यहाँ व्याजनिंदामूलक व्याजनिंदारूपा अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है, अतः यह विशेष चमत्कारी है। इसी तरह व्याजस्तुतिमूलक व्याजस्तुतिरूपा अप्रस्तुतप्रशंसा भी पाई जाती है। व्याजनिंदा का दूसरा उदाहरण यह हैः—

टिप्पणी—'अन्तश्छिद्राणि भूयांसि' आदि उदाहरण की व्याख्या अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रकरण में देखिये।

यथा वा—

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः, क्लेशो महानर्जितः,
स्वच्छन्दं चरतो जनस्य हृदये चिन्ताज्वरो निर्मितः।
एषापि स्वगुणानुरूपरमणाभावाद्वराकी हता,
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्वीमिमां तन्वता ? ॥

अत्राप्रस्तुतायास्तरुण्याः सृष्टिनिन्दाव्याजेन तन्निन्दाव्याजेन च तत्सौन्दर्यप्रशंसा प्रशंसनीयत्वेन कविविवक्षितायाः स्वकवितायाः कविनिन्दाव्याजेन तन्निन्दाव्याजेन च शब्दार्थचमत्कारातिशयप्रशंसायां पर्यवस्यति। अस्य श्लोकस्य वाच्यार्थविषये यद्यपि नात्यन्तसामञ्जस्यं, न हीमे विकल्पा वीतरागस्येति कल्पयितुं शक्यम्; रसाननुगुणत्वात्, वीतरागहृदयस्याप्येवंविधविषयेऽप्रवृत्तेश्च। नापि रागिण इति युज्यते। तदीयविकल्पेषु वराकीति कृपणतालिङ्गितस्य हतेत्यमङ्गलोपहितस्य च वचसोऽनुचितत्वात्तुल्यरमणाभावादित्यस्यात्यन्तमनुचितत्वाच्च स्वात्मनि तदनुरूपरूपासंभावनायामपि रागित्वे हि पशुप्रायता स्यात्;

'पता नहीं इस सुन्दरी की रचना करते समय ब्रह्मा ने कौन सा अभीष्ट हृदय में रखा था, कि उन्होंने इसकी रचना करते समय सौंदर्यरूपी धन के व्यय का कोई विचार न किया, महान् क्लेश सहा, तथा स्वच्छन्द विचरण करते मनुष्य के हृदय में चिंतारूपी ज्वर को उत्पन्न कर दिया, इस पर भी बेचारी इस सुंदरी को अपने समान वर भी न मिल पाया और यह व्यर्थ ही मारी गई।'

यहाँ अप्रस्तुतरूप में सुंदरी की सृष्टि की निंदा की गई है तथा उसके द्वारा स्वयं सुन्दरी की निंदा व्यंजित हाती है; यहाँ सुन्दरीसृष्टिनिंदा तथा तन्मूलक सुंदरीनिंदा के व्याज से उसके सौन्दर्य की प्रशंसा व्यंजित होती है, इसी पद्य में कवि के द्वारा विवक्षित अपनी कविता के प्रशंसनीय होने के कारण, कवि की निंदा के व्याज तथा कविता की निंदा के व्याज से कविता के शब्दार्थचमत्कार की उत्कृष्टता की प्रशंसा व्यंजित होती है। इस पद्य में वाच्यार्थरूप सुन्दरीविषय में वाच्यार्थ ठीक तरह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह विकल्पमय उक्ति किसी वीतराग विरागी की हो, क्योंकि ऐसा मानने पर रसविरोध होगा, साथ ही वीतराग के हृदय में भी इस प्रकार के विकल्प नहीं उठ सकते; साथ ही ऐसी विकल्पमय उक्ति किसी शृङ्गारी युवक की भी नहीं हो सकती, क्योंकि शृङ्गारी युवक के मुँह से 'वराकी' इस प्रकार सुन्दरी की तुच्छता का द्योतक पद तथा 'हता' इस प्रकार अमंगल बोधक पद का प्रयोग ठीक नहीं है, साथ ही शृङ्गारी युवक के द्वारा 'तुल्यरमणाभावात्' कहना और अधिक अनुचित है, क्योंकि यदि वह अपने आपको उसके अयोग्य समझ कर भी उसके प्रति अनुरक्त है, तो फिर यह तो पशुतुल्य आचरण हुआ (इससे तो शृङ्गारी युवक की सहृदयता लुप्त हो जाती है)— अतः इस मीमांसा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यहाँ वाच्यार्थ ठीक तरह घटित नहीं होता। यद्यपि प्रागुक्त सरणि से पद्य का वाच्यार्थ में पूर्णतः सामंजस्य घटित नहीं होता, तथापि विवक्षित प्रस्तुत अर्थ (कवितागत प्रस्तुत व्यंग्यार्थ) के विषय में कोई असामंजस्य नहीं है, इस पद्य में पद्य का व्यंग्यार्थ पूरी तरह ठीक बैठ जाता है। यही कारण है कि यहाँ वाच्यार्थ के असमंजस होने पर भी प्राचीन विद्वानों ने अप्रस्तुतप्रशंसा

तथापि विवक्षितप्रस्तुतार्थतायां न किंचिदसामञ्जस्यम्। अत एवास्य श्लोकस्याप्रस्तुतप्रशंसापरत्वमुक्तं प्राचीनैः—'वाच्यासंभवेऽप्यप्रस्तुतप्रशंसोपपत्तेः' इति॥७२॥

३२ आक्षेपालङ्कारः

आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।
चन्द्र! संदर्शयात्मानमथवास्ति प्रियामुखम्॥ ७३॥

अत्र प्रार्थितस्य चन्द्रदर्शनस्य प्रियामुखसत्त्वेनानर्थक्यं विचार्याथवेत्यादिसूचितः प्रतिषेध आक्षेपः।

यथा वा—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः!।

अलंकार माना है, क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ के असंभव होने पर अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा उत्पन्न हो ही जाता है।

टिप्पणी—वाच्यासंभवेऽपि वाच्यसामंजस्यासंभवेऽपि। तथा च वाच्यार्थासामंजस्यमेवास्फुटेऽपि प्रस्तुतार्थे तात्पर्यं गमयतीति भावः। (चन्द्रिका पृ० १०१)

चन्द्रिकाकार ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि इस पद्य में वाच्यार्थासामंजस्य ही वस्तुतः अस्फुट प्रस्तुत व्यंग्यार्थ की प्रतीति में सहायता करता है। क्योंकि जब हम देखते हैं कि पद्य का वाच्यार्थ पूरी तरह ठीक नहीं बैठता, तो हम सोचते हैं कि कवि का विवक्षित व्यंग्य अवश्य कोई दूसरा है, जिसमें असामंजस्य नहीं होगा और इस प्रकार हम व्यंग्यार्थप्रतीति की ओर अग्रसर होते हैं।

३२. आक्षेप अलंकार

७३—जहाँ स्वयं कही हुई बात का, किसी विशेष कारण को सोच कर, प्रतिषेध किया जाय, उसे आक्षेप अलंकार कहते हैं। जैसे, हे चन्द्र, अपना मुख दिखाओ, अथवा (रहने भी दो) प्रेयसी का मुख है ही।

टिप्पणी—रुय्यक के मतानुसार आक्षेप की परिभाषा यों है, जो वस्तुतः दंडिन के द्वितीय प्रकार के आक्षेप की परिभाषा है :—

उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः।

(अलंकार स० पृ० १४४)

पंडितराज जगन्नाथ ने इसकी तत्तत् आलंकारिकों द्वारा सम्मत कई परिभाषाएं दी हैं :—

(दे० रसगंगाधर पृ० ५६३-५६५)

(यहाँ पहले चन्द्रदर्शन की प्रार्थना की गई है, किन्तु बाद में वक्ता को यह विचार हो आया है कि चन्द्रदर्शन से भी अधिक आनन्द प्रेयसी के वदन-दर्शन से प्राप्त हो सकता है, इसलिए चन्द्रदर्शन व्यर्थ है। अतः वह चन्द्र-दर्शन का निषेध करता है।)

यहाँ प्रार्थित मुख चन्द्रदर्शन की स्थिति प्रियामुख का अस्तित्व होने के कारण व्यर्थ है, इस बात को विचार कर 'अथवा' इत्यादि के द्वारा निषेध सूचित किया गया है, अतः यह आक्षेप है।

अथवा जैसे—

बिल्हण के विक्रमांकदेवचरित की प्रस्तावना के पद्य हैं :—

'हे कवीन्द्रो, साहित्यरूपी समुद्र के मंथन से उत्पन्न काव्य की, जो जनों के लिए

यत्तस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचोराः प्रगुणीभवन्ति ॥
गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेच्छं, नास्ति क्षतिः क्वापि कवीश्वराणाम् ।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ॥

अत्र प्रथमश्लोकेन प्रार्थितस्य काव्यार्थचोरेभ्यो रक्षणस्य स्वोल्लिखितवैचित्र्याणां समुद्रगतरत्नजातवदक्षयत्वं विचिन्त्य प्रतिषेध आक्षेपः ॥ ७३ ॥

निषेधाभासमाक्षेपं बुधाः केचन मन्वते ।
नाहं दूती तनोस्तापस्तस्याः कालानलोपमः ॥ ७४ ॥

केचिदलङ्कारसर्वस्वकारादय इत्थमाहुः—न निषेधमात्रमाक्षेपः, किंतु यो

अमृत के समान मधुर है, बड़ी सावधानी से रक्षा करो, क्योंकि उस काव्यामृत को लूटने के लिए कई काव्यार्थचौर दैत्यों की तरह बढ़ रहे हैं। अथवा काव्यार्थ–चौरों को काव्यामृत चुराने भी दो, वे सब इसका यथेच्छ ग्रहण करें, इससे श्रेष्ठ कवियों की कोई हानि नहीं, देवताओं और दैत्यों ने समुद्र से अनेकों रत्नों को ले लिया, पर समुद्र आज भी रत्नाकर बना हुआ है।'

यहाँ पहले श्लोक में कवि ने काव्यार्थ-चौरों से काव्यामृत की रक्षा करने की प्रार्थना की थी, किन्तु जब उसने यह सोचा कि उसके द्वारा काव्य में प्रयुक्त अर्थ–वैचित्र्य तो समुद्र की रत्नराशि की तरह अक्षय हैं, तो उसने अपनी प्रथम उक्ति का निषेध कर इस बात का संकेत किया है कि काव्यार्थ–चौर मजे से उसके अर्थ-वैचित्र्य को चुराते रहें, इससे उसके काव्य की कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि वह तो अनेकों रत्नों से भरा है, तथा उसके सौंदर्य रत्न का लोप होना असंभव है।

टिप्पणी—आक्षेप के इसी प्रकार का एक उदाहरण मेरे 'शुम्भवधम्' महाकाव्य से निम्न पद्य दिया सकता है:—

आदौ किमत्र परिशीलनमीदृशानां मुञ्चन्ति नो कथमपि प्रकृतिं निजां ते ।
यद्वा खलः प्रतनुतेऽक्षतमेव लाभं गावः क्षरन्ति पयसामतुलं रसौघम् ॥(१.७)

यहाँ पूर्वार्ध में प्रश्न के द्वारा इस उत्तर की व्यंजना की गई है कि काव्य के आरम्भ में दुष्टों का वर्णन ठीक नहीं, किन्तु बाद में विचार कर इसका प्रतिषेध करने के लिए 'यद्वा' के द्वारा उत्तरार्ध का संनिवेश किया है।

(रुय्यक ने इसे आक्षेप का उदाहरण नहीं माना है। अपि तु उसने ठीक इसी उदाहरण को देकर इसमें 'आक्षेप' मानने वालों का खंडन किया है:—'इह तु—'साहित्यपाथो'''सिन्धु'''इति नाक्षेपबुद्धिः कार्या। विहितनिषेधो ह्ययम्। न चासावाक्षेपः। निषेधविधौ तस्य भावादित्युक्तत्वात्। चमत्कारोऽप्यत्र निषेधहेतुक एवेति न तावद्भावमात्रेणाक्षेपबुद्धिः कार्या।')

७४—कुछ विद्वान् निषेधाभास को आक्षेप अलंकार मानते हैं, जैसे (कोई दूती नायक से नायिका की विरहवेदना के विषय में कह रही है) हे नायक, मैं दूती नहीं हूँ, उस नायिका के शरीर का ताप कालाग्नि के समान (असह्य) है।

कुछ विद्वान् (केचित्) अर्थात् अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक आदि विद्वान् (

निषेधो बाधितः सन्नर्थान्तरपर्यवसितः कंचिद्विशेषमाक्षिपति स आक्षेपः। यथा दूत्यां उक्तौ 'नाहं दूती' इति निषेधो बाधितत्वादाभासरूपः संघटनकालोचितकैतववचनपरिहारेण यथार्थवादित्वे पर्यवस्यन्निदानीमेवागत्य नायिकोज्जीवनीयेति विशेषमाक्षिपति।

यथा वा—

नरेन्द्रमौले! न वयं राजसंदेशहारिणः।
जगत्कुटुम्बिनस्तेऽद्य न शत्रुः कश्चिदीक्ष्यते॥

अत्र संदेशहारिणामुक्तौ 'न वयं संदेशहारिणः' इति निषेधोऽनुपपन्नः। संधिकालोचितकैतववचनपरिहारेण यथार्थवादित्वे पर्यवस्यन् सर्वजगतीपालकस्य तव न कश्चिदपि शत्रुभावेनावलोकनीयः, किन्तु सर्वेऽपि राजानो भृत्यभावेन 'संरक्षणीयाः' इति विशेषमाक्षिपति॥ ७४॥

आक्षेप को न मान कर) आक्षेप का यह प्रकार मानते हैं—किसी उक्ति का केवल निषेध कर देना ही आक्षेप नहीं है, अपि तु जो निषेध किसी विशेष कारण से बाधित होकर किसी अन्य अर्थ की व्यंजना कराकर किसी विशेष भाव का आक्षेप करता है, उसे ही आक्षेप अलंकार का नाम दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, उक्त पद्य के उत्तरार्ध में 'नाहं दूती' यह निषेध बाधित है, क्योंकि वक्त्री वस्तुतः दूती है ही—इसलिये यह निषेध न हो कर निषेधाभास है, इसके द्वारा यह व्यंग्य प्रतीत होता है कि मैं बिलकुल सच कह रही हूँ, तुम दोनों का मिलन कराने के लिये झूठी बातें नहीं बना रही हूँ। यह व्यंग्योपस्कृत निषेध इस विशेष अर्थ का आक्षेप करता है कि तुम्हें अभी जाकर नायिका को जीवित करना है (अन्यथा नायिका को मर गई समझो)।

टिप्पणी—यह उदाहरण रुय्यक के निम्न उदाहरण से मिलता है :—

बालअ णाहं दूई तीएँ पिओ सित्ति णम्ह वावारो।
सा मरइ तुज्झ अयसो एवं धम्मक्खरं भणिमो॥
(बालक नाहं दूती तस्याः प्रियोऽसीति नास्मद्व्यापारः।
सा म्रियते तवायश एतद् धर्माक्षरं भणामः॥)

अथवा जैसे—

कोई दूत राजा से कह रहा है :—'राजश्रेष्ठ, हम राजसंदेश के वाहक दूत नहीं हैं। आप के लिए तो सारा संसार कुटुम्ब है, इसलिए आपका कोई शत्रु ही नहीं दिखाई देता।

इस उक्ति का वक्ता कोई संदेशवाहक दूत है, जब वह कहता है कि 'हम संदेशवाहक नहीं हैं' तो यह निषेध बाधित दिखाई पड़ता है। अतः यहाँ निषेधाभास की प्रतीति होती है। इस प्रकार निषेध की उपपत्ति होने के कारण यहाँ प्रथम यह प्रतीति होती है कि दूत इस बात पर जोर देना चाहता है कि वह जो कुछ कह रहा है यथार्थ कह रहा है, केवल दोनों राजाओं में संधि कराने के लिए झूठी बातें नहीं बना रहा है। इस अर्थ से उपस्कृत निषेधाभास से यह अर्थ विशेष आक्षिप्त होता है कि 'राजन्, तुम तो समस्त पृथ्वी के पालनकर्ता हो, अतः तुम्हें किसी को अपना शत्रु नहीं समझना चाहिए, अपितु सभी राजाओं को अपना सेवक मान कर उनकी रक्षा करनी चाहिए।'

टिप्पणी—आक्षेप का सामान्य लक्षण यह है :—

अपह्नुतिभिन्नत्वे सति चमत्कारकारितानिषेधत्वम्-आक्षेपत्वम्।

आक्षेपोऽन्यो विधौ व्यक्ते निषेधे च तिरोहिते।
गच्छ गच्छसि चेत्कान्त! तत्रैव स्याज्जनिर्मम॥ ७५॥

यहाँ 'अपह्नुति' अलंकार का वारण करने के लिए 'अपह्नुतिभिन्नत्वे सति' कहा है। अपह्नुति में उपमानोपमेयभाव (साधर्म्य) होना आवश्यक है, आक्षेप में नहीं। रसिकरंजनीकार ने रुय्यक के मतानुसार आक्षेप के प्रकारों का संकेत किया है। सर्वप्रथम आक्षेप के दो भेद होते हैं:—उक्त विषय तथा वक्ष्यमाणविषय। ये दोनों फिर दो दो तरह के होते हैं। उक्त विषय में कभी तो वस्तु का निषेध किया जाता है, कभी वस्तु कथन का। वक्ष्यमाण विषय में केवल वस्तु कथन का ही निषेध होता है; यह दो तरह का होता है—कभी तो विशेष्यनिष्ठरूप में वक्ष्यमाण विषय का निषेध होता है, कभी अंश की उक्ति की जाती है तथा अंशान्तर वक्ष्यमाण विषय का निषेध किया जाता है। इस तरह आक्षेप चार तरह का होता है। (दे० रसिकरंजनी पृ० १४९-५० तथा अलंकारसर्वस्व पृ० १४५-१४६) ऊपर जिस उदाहरण को दीक्षित ने दिया है, वह उक्तविषय आक्षेप के प्रथम भेद का उदाहरण है, अन्य तीन भेदों के उदाहरण निम्न हैं:—

१. प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते, करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यति मृषा, किमेतस्मिन्वक्तुं क्षममपि न वेद्मि प्रियतमे॥

यहाँ 'प्रसीद' इस उक्ति का निषेध करने से इस बात की प्रतीति होती है कि वासवदत्ता का क्रोध शांत होगा तथा राजा उदयन पर अवश्य ही अनुग्रह हो जायगा। इस प्रकार यहाँ 'प्रसाद' रूप वस्तु के 'ब्रूयाम्' इस कथन का ही निषेध पाया जाता है, अतः उक्त विषय वस्तु कथन का निषेध किया गया है।

२. सुभग विलम्बस्व स्तोकं यावदिदं विरहकातरं हृदयम्।
संस्थाप्य भणिष्यामः अथवा घोरेषु किं भणिष्यामः॥

यहाँ 'भणिष्यामः' पद के द्वारा इस बात की सूचना की गई है कि नायिका किसी तरह अपने विरहकातर हृदय को शांत करके किसी तरह कुछ कह देगी, वह थोड़ी देर रुक जाय। इस प्रकार यहाँ सामान्य बात कही गई है। किंतु इसके बाद 'अथवा घोरेषु किं भणिष्यामः' के द्वारा यह बताया गया है कि तुमसे कहने की प्रतिज्ञा कर लेने पर भी विरहकथा नहीं कही जाती, क्योंकि मेरे लिए विरह अत्यन्तः दुःसह है, यहाँ तक कि वह मौत की शंका उत्पन्न कर रहा है। इस प्रकार विरहिणी ने इस विशेष उक्ति के द्वारा वक्ष्यमाणविषय का निषेध कर दिया है।

३. ज्योत्स्ना तमः पिकवचः क्रकचस्तुषारः क्षारो मृणालवलयानि कृतान्तदन्ताः।
सर्वं दुरन्तमिदमद्य शिरीषमृद्वी सा नूनमाः किमथवा हतजल्पितेन॥

यहाँ कोई दूती नायक से विरहिणी नायिका की दशा का वर्णन कर रही है। वह 'शिरीषमृद्वी सा नूनम्' तक इस बात का वर्णन कर चुकी है कि विरहिणी नायिका के लिए चाँदनी अंधेरा हैं, कोकिल काकली आरा हैं, शीतल बर्फ घाव में नमक हैं, मृणाल के कड़े यमराज के दाढ़ हैं, इस तरह ये सभी पदार्थ उसके लिए दुःसह हैं···वह नायिका सचमुच ही···किन्तु इतना ही कह कर दूती रुक जाती है। इस प्रकार वह वक्ष्यमाणविषय के एक अंश का कथन कर चुकी है, शेष अंशांतर का निषेध करती कहती है—'अथवा उस बुरी बात के कहने से क्या फायदा?' इससे दूती यह व्यंजना करना चाहती है कि यदि अब भी नायक ने उसकी खबर न ली तो वह मर जायगी। यहाँ दूती ने कुछ अंश कह दिया है, कुछ वक्ष्यमाण अंशांतर का निषेध किया है।

७५—जहाँ बाहर से विधि का प्रयोग किया हो तथा उसके द्वारा स्वाभीष्ट निषेध छिपाया गया हो, वहाँ तीसरे प्रकार का आक्षेप होता है। जैसे (कोई प्रवत्स्यत्पतिका

अत्र गच्छेति विधिर्व्यक्तः। मा गा इति निषेधस्तिरोहितः। कान्तोद्देश्यदेशे निजजन्मप्रार्थनयाऽऽत्ममरणसंसूचनेन गर्भीकृतः।

यथा वा—

न चिरं मम तापाय तव यात्रा भविष्यति।
यदि यास्यसि यातव्यमलमाशङ्कयापि ते॥

अत्रापि 'न चिरं मम तापाय' इति स्वमरणसंसूचनेन गमननिषेधो गर्भीकृतः॥

३२ विरोधाभासालङ्कारः

आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते।
विनापि तन्वि! हारेण वक्षोजौ तव हारिणौ॥ ७६॥

अत्र 'हाररहितावपि हारिणौ हृद्यौ' इति श्लेषमूलको विरोधाभासः।

विदेश जाने के लिए प्रस्तुत नायक से कह रही है) हे प्रिय, यदि तुम जाते ही हो तो जाओ, मेरा जन्म भी वहीं हो (जहाँ तुम जा रहे हो)।

यहाँ नायिका ने स्पष्ट रूप से 'गच्छ' इस विधि वाक्य का प्रयोग किया है, किंतु नायिका को उसका जाना पसंद नहीं तथा उसने निषेध रूप अपने स्वाभीष्ट अर्थ 'मत जा' (मा गाः) को छिपा दिया है। इस वाक्य से नायिका ने यह प्रार्थना की है कि उसका जन्म भी उसी देश में हो, जहाँ प्रिय जा रहा है। इस प्रार्थना के द्वारा नायिका ने अपने मरण की सूचना व्यंजित की है—कि 'तुम्हारे जाने के बाद मेरा मरण अवश्यम्भावी है', तथा इससे निषेध की व्यंजना होती है।

अथवा जैसे—

(कोई प्रवत्स्यत्पतिका विदेशाभिमुख नायक से कह रही है।) 'हे प्रिय, तुम्हारी यात्रा मुझे अधिक देर तक संतप्त न करेगी। अगर तुम जाओगे तो जाओ, तुम्हें मेरे विषय में कोई शंका नहीं करना चाहिए।'

यहाँ 'तुम्हारी यात्रा मुझे अधिक देर तक संतप्त न करेगी' इस उक्ति के द्वारा नायिका ने अपने मरण की सूचना देकर नायक के विदेशगमन का निषेध व्यंजित किया है।

३२. विरोधाभास अलंकार

७६—जहां दो उक्तियों में आपाततः विरोध दृष्टिगोचर हो, (किंतु किसी प्रकार उसका परिहार हो सके), वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है। जैसे, (कोई नायक नायिका से कह रहा है) हे सुंदरि, तेरे स्तन हार के बिना भी हार वाले (हारिणौ) (विरोधपरिहार, सुंदर) हैं।

यहाँ 'हार के बिना भी हार वाले हैं' यह विरोध प्रतीत होता है, वस्तुतः कवि का अभिप्राय यह है कि 'स्तन हार के बिना भी सुंदर (हारिणौ)' हैं। इस प्रकार श्लेषमूलक विरोधाभास है। अथवा, जैसे—

टिप्पणी—विरोधाभास श्लेषरहित भी होता है। यह रुय्यक के मतानुसार दस तरह का होता है—जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य का क्रमशः अपने तथा अपने परवर्ती जात्यादि, गुणादि,

यथा वा—

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक् चारदृगप्यवर्तत ॥

अत्र विरोधसमाधानोत्प्रेक्षाशिरस्को विरोधाभास इति पूर्वस्माद्भेदः ॥७६॥

३४ विभावनालङ्कारः

विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत् ।
अप्यलाक्षारसासिक्तं रक्तं त्वच्चरणद्वयम् ॥ ७७ ॥

क्रियादि तथा द्रव्य के साथ विरोध पाया जाता है। उदाहरण के लिए निम्न पद्य में 'जडीकरण' तथा 'तापकरण' क्रिया का विरोध अश्लिष्ट है। (रुय्यक ने इसका नाम केवल विरोध दिया है।)

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः, पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो, विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥'

नैषधीयचरित के प्रथम सर्ग में नल का वर्णन है:—'कवि उत्प्रेक्षा करता है कि क्या विरोधी राजाओं की तरह इस राजा नल से डर कर परस्पर विरोधी गुणों ने भी अपना विरोध छोड़ दिया? क्योंकि राजा नल अपने तेज से मित्रजित् भी था साथ ही अमित्रजित् भी और चारदृक् भी था साथ ही विचारदृक् भी।'

(यहाँ जो व्यक्ति मित्रजित् है, वह अमित्रजित् (मित्रजित् नहीं) कैसे हो सकता है, साथ ही जो व्यक्ति चारदृक् है, वह विचारदृक् (विगतचारदृक्, चारदृक् से विहीन) कैसे हो सकता है, अतः यह विरोध है। वस्तुतः यह विरोध की प्रतीति केवल आपाततः ही है। कवि का वास्तविक भाव 'मित्रजित्' से यह है कि वह तेज से 'सूर्य (मित्र) को जीतने वाला है' तथा 'अमित्रजित्' का अर्थ यह है कि वह तेज से 'शत्रुओं को जीतने वाला है'। इस प्रकार इसका अर्थ न तो यही है कि नल तेज से सूर्य को जीतता भी है, नहीं भी जीतता है और न यही कि वह शत्रुओं और मित्रों दोनों को जीतता है। इसका वास्तविक अर्थ है:—'राजा नल तेज से सूर्य तथा शत्रु राजा दोनों को जीतने वाला है'। इसी तरह 'चारदृक्' से कवि का भाव यह है कि राजा नल 'गुप्तचरों की आँख वाला था' तथा 'विचारदृक्' का यह अर्थ है कि वह 'विचार की आँख वाला था'। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह गुप्तचरों की दृष्टि वाला था तथा उनकी दृष्टि से रहित भी था। इस प्रकार इस अंश का वास्तविक (परिहार वाला) अर्थ है:—'राजा नल समस्त राज्य की स्थिति का निरीक्षण गुप्तचरों के द्वारा किया करता था तथा हर निर्णय में विचारबुद्धि से काम लेता था'। यहाँ भी यह विरोध श्लेषमूलक ही है।)

इस उदाहरण में पहले वाले उदाहरण से यह भेद है कि यहाँ विरोधाभास के उदाहरण में विरोध के समाधान के लिए उत्प्रेक्षा प्रधान रूप में विद्यमान है।

टिप्पणी—विरोधाभास का सामान्य लक्षण यह है:—

'एकाधिकरण्येन प्रतीयमानयोः कार्यकारणत्वेनागृह्यमाणयोर्धर्मयोराभासनापर्यवसन्नविरोधत्वं विरोधाभासत्वम्।

३४. विभावना अलंकार

७७—जहाँ प्रसिद्ध कारण के बिना भी कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाय, वहाँ विभावना अलंकार होता है। जैसे, उस सुन्दरी के चरण लाक्षारस के बिना भी लाल हैं।

अत्र लाक्षारसासेकरूपकारणाभावेऽपि रक्तिमा कथितः। स्वाभाविकत्वेन विरोधपरिहारः।

यथा वा—

अपीतक्षीबकादम्बमसंमृष्टामलाम्बरम्।
अप्रसादितसूक्ष्माम्बु जगदासीन्मनोहरम्॥

अत्र पानादिप्रसिद्धहेत्वभावेऽपि क्षीबत्वादि निबद्धम्। विभाव्यमानशरत्समयहेतुकत्वेन विरोधपरिहारः।

यथा वा—

वरतनुकबरीविधायिना सुरभिनखेन नरेन्द्रपाणिना।
अवचितकुसुमापि वल्लरी समजनि वृन्तनिलीनषट्पदा॥

अत्र वल्लर्यां पुष्पाभावेऽपि भृङ्गालिङ्गनं निबद्धम्। अत्र वरतनुकबरीसंक्रान्तसौरभनरपतिनखसंसर्गरूपं हेत्वन्तरं विशेषणमुखेन दर्शितमिति विरोधपरिहारः॥

यहाँ लाक्षारससेकरूप कारण के बिना भी चरणों की लाली का वर्णन किया गया है। (विभावना में सदा बीजरूप में विरोध रहता है तथा उसका परिहार करने पर ही विभावना अलंकार घटित होता है। हम देखते हैं कि लोक में कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति कभी नहीं होती, अतः ऐसा होना आपाततः विरोध दिखाई देता है। इसीलिये इसका परिहार करना आवश्यक हो जाता है। चूँकि विभावना विरोधमूलक कार्यकारणमूलक अलंकार है, इसीलिए दीक्षित ने इसे विरोधाभास के बाद ही वर्णित किया है।) यहाँ चरणों की लाली नैसर्गिक है, अतः कारणाभाव में कार्योत्पत्ति के विरोध का परिहार हो जाता है।

अथवा जैसे—(शरत् ऋतु का वर्णन है।)

बिना शराब पिए मस्त बने हंसों वाला, बिना साफ किए निर्मल बने आकाश वाला, तथा बिना साफ किए स्वच्छ बने जल वाला (शरत्कालीन) जगत् अत्यधिक सुन्दर हो रहा था।

यहाँ मद्यपानादि कारणविशेष के बिना भी हंसादि की मस्ती इत्यादि कार्य का वर्णन किया गया है, अतः विभावना है। कारणाभाव में कार्योत्पत्ति के विरोध का परिहार इस तरह किया जा सकता है कि हंसों की मस्ती, आकाश की निर्मलता और जल की स्वच्छता का कारण शरत् ऋतु का आगमन है।

अथवा जैसे—

'सुन्दरी के केशपाश की रचना करने से सुगंधित नाखूनवाले राजा के हाथ के द्वारा चुने गये फूल वाली लता फिर से टहनी पर भौंरों से आवेष्टित हो गई।'

यहाँ वल्लरी के फूल तोड़ लेने पर उसमें भौंरों का मँडराना—पुष्पाभाव में भी भौंरों का होना, कारणाभाव में कार्योत्पत्ति का निबन्धन है। यहाँ विरोध का परिहार इस तरह हो जाता है कि कवि ने स्वयं ही 'नरपतिपाणिना' पद के विशेषण के द्वारा इस कार्य के दूसरे कारण का उल्लेख कर दिया है, वह यह कि राजा के हाथ के नाखून सुन्दरी के केशपाश की रचना करने से सुगंधित हो गये थे, अर्थात् कवि ने स्वयं ही राजा के नाखूनों में सुन्दरी के केशपाश की सुगंध का संक्रान्त होकर उन्हें सुगन्धित बना देना रूप अन्य हेतु का निबन्धन कर दिया है।

हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता।
अस्त्रैरतीक्ष्णकठिनैर्जगज्जयति मन्मथः ॥ ७८ ॥

अत्र जगज्जये साध्ये हेतूनामस्त्राणामसमग्रत्वं तीक्ष्णत्वादिगुणवैकल्यम्। यथा वा—

उद्यानमारुतोद्धूताश्चूतचम्पकरेणवः।
उदस्रयन्ति पान्थानामस्पृशन्तो विलोचने ॥

अत्र बाष्पोद्गमनहेतूनामसमग्रत्वं स्पर्शनक्रियावैकल्यम्। इमां विशेषोक्तिरिति दण्डी व्याजहार। यतस्तत्र प्रथमोदाहरणे मन्मथस्य महिमातिशयरूपो द्वितीयोदाहरणे चम्पकरेणूनामुद्दीपकतातिशयरूपश्च विशेषः ख्याप्यत इति। अस्माभिस्तु तीक्ष्णत्वादिवैकल्यमपि कारणविशेषाभावरूपमिति विभावना प्रदर्शिता ॥ ७८ ॥

(दूसरी विभावना)

७८—विभावना का दूसरा भेद वह है, जहाँ किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए आवश्यक समग्र कारणों में से किसी कारणविशेष के अभाव में ही कार्योत्पत्ति हो जाय, जैसे कामदेव तीक्ष्णता तथा कठिनता से रहित (पुष्प के) आयुधों से ही संसार को जीत रहा है।

यहाँ संसार के विजयरूप कार्य के लिए अस्त्रों का कारणत्व समग्ररूप में वर्णित नहीं किया गया है, क्योंकि मन्मथ के अस्त्रों में तीक्ष्णता तथा कठिनता का अभाव बताया गया है। (शत्रु को जीतने के लिए अस्त्रों का तीक्ष्ण व कठिन होना आवश्यक है, किन्तु यहाँ कोमल तथा कुंठित अस्त्र ही कार्योत्पत्ति करने में समर्थ हैं, अतः कारण की असमग्रता होने पर भी कार्योत्पत्ति वर्णित की गई है।)

अथवा जैसे—

(वसन्त ऋतु का वर्णन है) उपवन-वायु के द्वारा उड़ाई हुई आम तथा चम्पे की पराग-राशि प्रियावियुक्त पथिकों की आँखों का स्पर्श किये बिना ही उन्हें अश्रुयुक्त बना देती है।

यहाँ 'आम्रचम्पकरेणु' को अश्रु की उत्पत्ति का कारण बताया गया है, किन्तु पराग आँखों का स्पर्श किये बिना ही आँसू ला देता है, यह कारण की असमग्रता का अभिधान है। दण्डी ने इस प्रकार के कारण की असमग्रता से कार्योत्पत्ति वाली स्थिति में विशेषोक्ति अलंकार माना है। उनके मत से प्रथम उदाहरण में कामदेव की विशिष्ट महिमा का वर्णन किया गया है, दूसरे उदाहरण में चम्पकपराग की अत्यधिक उद्दीपकता वर्णित की गई है (अतः यहाँ विशेष्य के दर्शन के लिए गुणजातिक्रियादि की विकलता बताई गई है)। हमारे (दीक्षित के) मत से तीक्ष्णता आदि की विकलता भी कारण विशेष का अभाव ही है, अतः हमने यहाँ विभावना मानी है।

टिप्पणी—दण्डी के मतानुसार जहाँ विशेष्यदर्शन के लिए गुण-जाति-क्रियादि की विकलता बताई गई हो, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है:—

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्।
विशेष्यदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥ (काव्यादर्श)

कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात् सत्यपि प्रतिबन्धके ।
नरेन्द्रानेव ते राजन् ! दशत्यसिभुजङ्गमः ॥ ७९ ॥

अत्र नरेन्द्रा विषवैद्याः सर्पदंश (विष ?) प्रतिबन्धकमन्त्रौषधिशालिनः श्लेषेण गृहीता इति प्रतिबन्धके कार्योत्पत्तिः ।

यथा वा—

चित्रं तपति राजेन्द्र ! प्रतापतपनस्तव ।
अनातपत्रमुत्सृज्य सातपत्रं द्विषद्गणम् ॥ ७६ ॥

अकारणात् कार्यजन्म चतुर्थी स्याद्विभावना ।
शङ्खाद्वीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम् ॥ ८० ॥

अत्र 'शङ्ख' शब्देन कमनीयः कामिनीकण्ठस्तन्त्रीनिनादत्वेन तद्गीतं चाध्यवसीयत इत्यकारणात् कार्यजन्म ।

(तीसरी विभावना)

७९—जहां कारण से कार्योत्पत्ति होने में किसी प्रतिबन्धक (रुकावट) की उपस्थिति होने पर भी किसी तरह कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाय, वहां तीसरी विभावना होती है, जैसे, हे राजन् तेरा खड्गरूपी सर्प विषवैद्यों (नरेन्द्र, राजाओं) को ही डसता है ।

यहां 'नरेन्द्र' शब्द से श्लेष के द्वारा उन विषवैद्यों का ग्रहण किया गया है, जो सर्पदंश को रोकने वाली मणिमंत्रौषधि से युक्त होते हैं। यहां 'सर्प' नरेन्द्रों को ही डसता है, यह प्रतिबंधक के होते हुए कारण से कार्योत्पत्ति का उदाहरण है। यहां विभावना इसी अर्थ में है। नरेन्द्र का दूसरे अर्थ 'राजा' लेने पर विभावना नहीं है, अतः यह श्लेषानुप्राणित विभावना का उदाहरण है।

अथवा जैसे—

हे राजेन्द्र ! तुम्हारा प्रतापरूपी सूर्य छत्ररहित को छोड़ कर छत्रयुक्त शत्रुगण को संतप्त करता है। यह आश्चर्य की बात है।

पूर्वोक्त उदाहरण श्लेष से संकीर्ण है। यहां प्रतापरूपी सूर्य इस रूपक पर विभावना आश्रित है।

(चौथी विभावना)

८०—जहाँ प्रसिद्ध कारण से भिन्न वस्तु (अकारण) से भी कार्य की उत्पत्ति हो, वहाँ चौथी विभावना होती है। जैसे, बड़े आश्चर्य की बात है कि शंख से वीणा की झंकार उत्पन्न हो रही है।

यहाँ 'नायिका के कण्ठ से वीणा की झंकार के समान गीत उत्पन्न हो रहा है' इस भाव के लिए उक्त वाक्य का प्रयोग किया गया है। वीणानिनाद का कारण वीणा ही है, 'शंख' तो उसका अकारण है, अतः यहाँ अकारण से कार्य की उत्पत्ति वर्णित है। साथ ही इस उदाहरण में शंख शब्द के द्वारा तद्वत् सुन्दर रमणीकंठ तथा तन्त्रीनिनाद के द्वारा तद्वन्मधुर गीत अध्यवसित हो गये हैं, अतः इस अंश में अतिशयोक्ति है। (यह उदाहरण अतिशयोक्तिमूला विभावना का है।)

यथा वा—

तिलपुष्पात्समायाति वायुश्चन्दनसौरभः ।
इन्दीवरयुगाच्चित्रं निःसरन्ति शिलीमुखाः ॥ ८० ॥

विरुद्धात् कार्यसंपत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना ।
सितांशुकिरणास्तन्वीं हन्त संतापयन्ति ताम् ॥ ८१ ॥

अत्र तापनिवर्तकतया तापविरुद्धैरिन्दुकिरणैस्तापजनिरुक्ता ।

यथा वा—

उदिते कुमारसूर्ये कुवलयमुल्लसति भाति न क्षत्रम् ।
मुकुलीभवन्ति चित्रं परराजकुमारपाणिपद्मानि ॥

यथा वा—

अविवेकि कुचद्वन्द्वं हन्तु नाम जगत्त्रयम् ।
श्रुतप्रणयिनोरक्ष्णोरयुक्तं जनमारणम् ॥

अथवा जैसे—

देखो तो बड़े आश्चर्य की बात है, तिल के पुष्प (नासिका) से चन्दन की सुगंध वाला वायु (निःश्वास) आ रहा है, तथा दो नील कमलों (नेत्रद्वय) से बाण (कटाक्ष) गिर रहे हैं।

(यहाँ 'तिलपुष्प' चन्दनसुरभि का अकारण है, इसी तरह नील कमल बाणों के अकारण हैं, एक का कारण चन्दन है, दूसरे का तरकस। कवि ने नासिका, नेत्रद्वय तथा कटाक्ष को तिलपुष्प, इन्दीवरद्वय तथा शिलीमुख के द्वारा अध्यवसित कर दिया है, अतः इस अंश में अतिशयोक्ति है।)

(पाँचवी विभावना)

८१—यहाँ विरोधी कारण (कारण के ठीक विरोधी तत्त्व) से कार्योत्पत्ति हो ? वह दूसरे ढंग की विभावना होती है जैसे, बड़ा दुःख है, उस कोमलांगी को चन्द्रमा की शीतल किरणें संतप्त करती हैं।

चन्द्रमा की किरणें ताप को मिटाती हैं, अतः वे ताप विरुद्ध हैं, किन्तु यहाँ उनसे ताप का उत्पन्न होना वर्णित किया गया है, अतः यह पांचवीं विभावना का उदाहरण है।

अथवा जैसे—

कोई कवि किसी राजकुमार की प्रशंसा कर रहा है। आश्चर्य है, जब कुमार रूपी सूर्य उदित होते हैं तो कुमुदिनी (कुवलय, परिहारपक्ष में पृथ्वी मंडल) विकसित होती है, नक्षत्र प्रकाशित होते हैं (परिहारपक्ष में-भाति न क्षत्रम्, अन्य क्षत्रिय सुशोभित नहीं होते), तथा शत्रुराजकुमारों के करकमल बन्द हो जाते हैं (परिहार-पक्ष—अधीनता स्वीकार कर शत्रु राजकुमार अंजलि बांधे खड़े रहते हैं)।

(यहां रूपक अलंकार पर विभावना आश्रित है, इसके साथ ही 'कुवलय' तथा 'नक्षत्र' का सभंग श्लेष भी रूपक को परिपुष्ट कर विभावना की सहायता करता है। इसमें सूर्योदय के समय कुमुदादि के विकासादि का वर्णन विरोधाभास अलंकार को भी पुष्ट करता है, जिस पर विभावना आश्रित है।)

अथवा जैसे—

मूर्ख (अविवेकी, परिहारपक्ष में— परस्पर अत्यधिक संश्लिष्ट) स्तनद्वय यदि तीनों लोकों को मारें तो मारें, (क्योंकि वे मूर्ख जो हैं), किंतु वेदादि शास्त्र का अभ्यास करने वाले (श्रुतप्रणयी, परिहार—कानों तक लम्बे) नेत्रों का मनुष्यों को मारना अनुचित है।

पूर्वोदाहरणयोः कारणस्य कार्यविरोधित्वं स्वाभाविकम्; इह तु श्रुतिप्रणयित्वस्यागन्तुकगुणप्रयुक्तमिति भेदः ॥ ८१ ॥

कार्यात् कारणजन्मापि दृष्टा काचिद्विभावना ।
यशः पयोराशिरभूत् करकल्पतरोस्तव ॥ ८२ ॥

यथा वा—

जाता लता हि शैले जातु लतायां न जायते शैलः ।
संप्रति तद्विपरीतं कनकलतायां गिरिद्वयं जातम् ॥ ८२ ॥

३५ विशेषोक्त्यलङ्कारः

कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे ।
हृदि स्नेहक्षयो नाभूत् स्मरदीपे ज्वलत्यपि ॥ ८३ ॥

(यहां यह विभावना 'श्रुतप्रणयिनोः' के श्लेष पर आधृत है ।)

इनमें पहले दो उदाहरणों में कारण का कार्य से विरुद्ध होना स्वाभाविक है, क्योंकि चन्द्रकिरणें ताप की, तथा सूर्योदय कुमुदिनी, नक्षत्र तथा पद्म संकोच के स्वभावतः विरोधी हैं । इस तीसरे उदाहरण में आंखों में 'श्रुतिप्रणयित्व' रूप आगन्तुक गुण के कारण हिंसा की विरोधिता पाई जाती है ।

(छठी विभावना)

८२—विभावना का एक (छठा) भेद वह भी देखा जाता है, जहां कार्य से कारण की उत्पत्ति हो, जैसे, हे राजन्, तुम्हारे हाथ रूपी कल्पवृक्ष से यश का क्षीर समुद्र पैदा हो गया ।

('पयोधि' कल्पवृक्ष का वास्तविक कारण है, किंतु यहां उनके कार्य-कारण भाव को उलट कर कल्पवृक्ष को 'पयोधि' का कारण बना दिया गया है, अतः यह छठी विभावना है ।)

टिप्पणी—पंडितराज जगन्नाथ ने दीक्षित के द्वारा उपन्यस्त विभावना के षट्प्रकार का खंडन किया है, क्योंकि सभी विभावना प्रकार प्रथम विभावना में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं ।

'तस्मादाद्येन प्रकारेण प्रकारान्तराणामालीढत्वात्षट् प्रकारा इत्यनुपपन्नमेव ।'

(रसगंगाधर पृ० ५८३)

अथवा जैसे—

लता ही पर्वत पर पैदा होती है, पर्वत कभी भी लता पर पैदा नहीं होता । लेकिन हमने आज ऐसा विपरीत आश्चर्य देखा है कि कनकलता (नायिका की अंगवल्ली) में दो पर्वत (कुचद्वय) पैदा हो गये हैं ।

(यहां दो पर्वतों का लता पर पैदा होना कार्य से कारण का उत्पन्न होना है, अतः यह छठी विभावना का उदाहरण है । यह विभावना अतिशयोक्ति पर आश्रित है ।)

३५. विशेषोक्ति अलंकार

८३—जहां प्रचुर कारण के होते हुए भी कार्योत्पत्ति न हो, वहां विशेषोक्ति अलंकार होता है । जैसे, कामदेव रूपी दीपक के जलते हुए भी हृदय में स्नेहरूपी स्नेह (तैल) समाप्त न हुआ ।

यथा वा (ध्वन्या. १।१३)—

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥ ८३ ॥

३६ असम्भवालङ्कारः

असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेरसम्भाव्यत्ववर्णनम् ।
को वेद गोपशिशुकः शैलमुत्पाटयेदिति ॥ ८४ ॥

यथा वा (भल्लटशतके)—

अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः ।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥ ८४ ॥

(दीपक का जलना तैल समाप्त होने का कारण है, पर स्मरदीप के जलने पर भी हृदय में स्नेह का समाप्त न होना विशेषोक्ति है। यहां 'स्नेह' के श्लेष पर वह विशेषोक्ति आधृत है।)

अथवा जैसे—

यह संध्या (नायिका) अनुरागवती (सांध्यकालीन ललाई से युक्त; प्रेम से युक्त) है, साथ ही यह दिन (नायक) भी उसका पुरःसर (पुरोवर्ती, आज्ञाकारी) है, इतना होने पर भी उनका मिलन नहीं हो पाता। भाग्य की गति बड़ी विचित्र है।

(नायिका में प्रेम का होना तथा नायक का आज्ञाकारी होना दोनों के मिलन रूप कार्य की उत्पत्ति का पुष्कल कारण है, किंतु यहां उन दोनों कारणों के होते हुए भी मिलन नहीं हो पाता, अतः विशेषोक्ति है। यहां भी 'अनुरागवती' तथा 'पुरःसरः' के श्लिष्ट प्रयोग पर ही विशेषोक्ति का चमत्कार आधृत है। यहां समासोक्ति अलंकार भी है)।

३६. असंभव अलंकार

८४—जहां किसी पदार्थ विशेष (कार्यविशेष) की उत्पत्ति के विषय में असंभाव्यत्व का वर्णन किया जाय, वहाँ असंभव अलंकार होता है। जैसे, यह किसे पता था कि ग्वाले का लड़का पर्वत को उठा सकेगा।

अथवा जैसे—

'यह जल का एक मात्र स्थान है, रत्नों की खान है', ऐसा सोच कर ही तृष्णा के कारण चंचल मन से हमने इस समुद्र का आश्रय लिया है। यह किसे पता था कि कुलबुलाते (परेशान) मगर-मच्छ वाले इस समुद्र को अपनी हथेली के खोखले भाग में रख कर मुनि अगस्त्य क्षण भर में ही पी जायँगे।

(प्रथम उदाहरण में पर्वत का उठाना और वह भी ग्वाले के लड़के के द्वारा अर्थ निष्पत्ति का असंभाव्यत्व वर्णन है, इसी तरह दूसरे उदाहरण में मुनि अगस्त्य के द्वारा विशाल तिमिमकरसंकुल समुद्र का चुल्लू में पी जाना भी असंभव रूप में वर्णित किया गया है, अतः यहां असंभव अलंकार है।)

३७ असङ्गत्यलङ्कारः

विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसङ्गतिः।
विषं जलधरैः पीतं, मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः ॥ ८५ ॥

ययोः कार्यहेत्वोर्भिन्नदेशत्वं विरुद्धं तयोस्तन्निबध्यमानमसङ्गत्यलङ्कारः। यथात्र विषपान-मूर्च्छयोर्भिन्नदेशत्वम्।

यथा वा—

अहो खलभुजङ्गस्य विचित्रोऽयं वधक्रमः।
अन्यस्य दशति श्रोत्रमन्यः प्राणैर्वियुज्यते ॥

क्वचिदसाङ्गत्यसमाधाननिबन्धनेन चारुतातिशयः।

यथा वा (नैषध. ३।१०६)—

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम्।

---

३७ असंगति अलंकार

८५—जहाँ कारण तथा कार्य का दो भिन्न स्थलों में विरुद्ध अस्तित्व वर्णित किया जाय, वहाँ असंगति अलंकार होता है। जैसे बादलों ने विष (जहर, पानी) पिया, और विदेश गये पथिकों की स्त्रियाँ (प्रोषितपतिकाएँ) मूर्च्छित हो गई।

जिन कारण तथा कार्य का भिन्न स्थलों पर होना विरुद्ध होता है, उन कारण कार्य का विरुद्धदेशत्व जहाँ वर्णित किया जाय, वहाँ असंगति अलंकार होता है। जैसे विषपान मूर्च्छा का कारण है, तथा इन दोनों का अस्तित्व एक ही स्थान पर पाया जाता है, जो जहर पीता है, वही मूर्च्छित होता है। यहाँ विष का पान तो मेघों ने किया है, पर मूर्च्छित प्रोषितभर्तृकाएँ हो रही हैं, यह कार्य कारण की विरुद्ध भिन्नदेशता है, फलतः यहां असंगति अलंकार है। असंगति अलंकार का यह चमत्कार 'विष' शब्द के श्लिष्ट प्रयोग पर आश्रत है।

अथवा जैसे—

बड़े आश्चर्य की बात है, दुष्ट व्यक्ति रूपी सर्प का मारने का ढंग बड़ा विचित्र है। यह किसी दूसरे ही के कानों को डसता है, और कोई दूसरा ही व्यक्ति प्राणों से छुटकारा पा जाता है।

(दुष्ट व्यक्ति किसी दूसरे के कान भरता है, और नुकसान किसी दूसरे का होता है—इस भाव की प्रतीति हो रही है। कान में साँप के काटने पर वही मरेगा, जिसके कान में काटा गया है, पर दुष्ट भुजंग किसी और के कान में काटता है; मरता है कोई और ही। यह असंगति रूपक अलङ्कार के चमत्कार पर आश्रत है, खल पर भुजंगत्व का आरोप करने पर ही असगति वाला चमत्कार प्रतीत होता है, यदि यहां हम केवल यही कहें कि खल कान दूसरे के भरता है, मारा जाता है कोई दूसरा ही, तो असंगति की समस्त चमत्कृति लुप्त हो जायगी, यह सहृदयानुभव सिद्ध है।)

कहीं कहीं दो वस्तुओं की असंगति के समाधान के प्रयोग के द्वारा उक्ति में अधिक चमत्कार पाया जाता है।

अथवा जैसे—

इस दमयन्ती से नल की अवस्था का वर्णन कर रहा है। हे दमयन्ति, तुम नल के

श्वासान्स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतामवाप्य ॥
विरुद्धमिति विशेषणाद्यत्र कार्यहेत्वोर्भिन्नदेशत्वं न विरुद्धं तत्र नासङ्गतिः ।
यथा—

भ्रूचापवल्लीं सुमुखी यावन्नयति वक्रताम् ।
तावत्कटाक्षविशिखैर्भिद्यते हृदयं मम ॥ ८५ ॥

मनोरथ की सीढ़ियों पर बहुत दूर तक सदा चढ़ा करती हो। वह नल तुम्हारे ध्यान से तुम्हारा ही स्वरूप प्राप्त कर (जैसे कोई भक्त इष्ट देवता का ध्यान कर तन्मय हो जाता है वैसे ही) अत्यधिक निश्वास छोड़ा करता है।

(यहां सोपानतति पर दमयंती चढ़ रही है, पर नल थकावट के कारण निःश्वास छोड़ रहा है, यह कार्यकारण की भिन्नदेशता है। श्रीहर्ष ने इस असंगति का समाधान इस पद्य में यों निबद्ध कर दिया है:—'ध्यानात्तव त्वन्मयतामवाप्य' अर्थात् नल दमयन्ती का ध्यान करते-करते दमयंतीमय–दमयंती ही–बन गया है, फलतः संकल्पसोपानतति पर चढ़ने की थकावट जो लंबी सीढ़ियों पर चढने वाली दमयन्ती को होनी चाहिए, नल को भी होने लगी है। इस प्रकार कवि ने असंगति के समाधान का निबंधन कर असंगति अलंकार की चारुता में चार चांद लगा दिये हैं। इसीलिए तो अप्पय दीक्षित ने कहा है—'क्वचिदसांगत्यसमाधाननिबंधनेन चारुतातिशयः।')

हमने ऊपर की कारिका के परिभाषा वाले अंश में 'कार्यहेत्वोः भिन्न देशत्वं' के साथ 'विरुद्धं' विशेषण दिया है इसका भाव यह है कि जहाँ कार्य तथा कारण की भिन्नदेशता विरुद्ध पड़ती है (जहां उन्हें एक जगह होना चाहिए), और वे एक साथ नहीं हैं, वहीं असंगति अलंकार होगा। जहां कार्य तथा कारण का भिन्नदेश में रहना विरुद्ध नहीं होता, अपितु जहां कारण तथा कार्य स्वभावतः ही अलग-अलग स्थानों पर अवस्थित रहते हैं, वहां असंगति नहीं होगी। उदाहरण के लिए निम्न पद्य में कारण तथा कार्य स्वभावतः ही भिन्न देश हैं, अतः यहां उनकी भिन्नदेशता असंगति का कारण नहीं बनेगी। यथा—

ज्योंही वह सुंदरी अपने भौंहों के धनुप को टेढा करती है, त्योंही मेरा हृदय कटाक्ष-रूपी बाणों से बिंध जाता है।

(यद्यपि यहां भ्रू–धनुप का टेढा करना रूप कारण और कटाक्ष बाणों से हृदय का बिंधना रूप कार्य की भिन्नदेशता वर्णित है, तथापि यह भिन्नदेशता स्वाभाविक ही है, विरुद्ध नहीं, क्योंकि लोक में भी धनुप कोई और टेढा करता है, बाण किसी और को बेधता है, अतः यहां असंगति अलंकार मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। इस उदाहरण में केवल रूपक अलंकार ही है।)

टिप्पणी—रसिकरंजनीकार ने बताया है कि जिन दो वस्तुओं के सामानाधिकरण्य या वैयधिकरण्य के कारण कार्यकारणभाव पाया जाता है, उनके सामानाधिकरण्य या वैयधिकरण्य का परिवर्तन कर देने पर असंगति अलंकार होता है। उपर्युक्त उदाहरणों में सामानाधिकरण्य रूप से विषपान तथा मूर्च्छित होना रूप आदि कार्यकारणभाव प्रसिद्ध है, अतः यहाँ सामानाधिकरण्य के विपर्यास वाली असंगति पाई जाती है। वैयधिकरण्य के विपर्यास वाली असंगति का उदाहरण निम्न है :—

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः ।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात् ॥

अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा ।
अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा ॥ ८६ ॥
अपारिजातां वसुधां चिकीर्षन् द्यां तथाऽकृथाः ।
गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि गोत्रोद्भेदं पुराऽकरोः ॥ ८७ ॥

अत्र कृष्णं प्रति शक्रस्य सोपालम्भवचने भुवि चिकीर्षिततया तत्र करणीयमपारिजातत्वं दिवि कृतमित्येकाऽसङ्गतिः । पुरा गोत्राया उद्धारे प्रवृत्तेन वराहरूपिणा तद्विरुद्धं गोत्राणां दलनं खुरकुट्टनैः कृतमिति द्विविधापि श्लेषोत्थापिता ।

यथा वा—

त्वत्खड्गखण्डितसपत्नविलासिनीनां
भूपा भवन्त्यभिनवा भुवनैकवीर ! ।

यहाँ सुतजन्महर्ष (रघु के जन्म के कारण दिलीप का हर्षित होना) कारण है, निगडितपुरुषान्तरबन्धनिवृत्ति (अन्य कैदियों को मुक्त कर देना) कार्य है । इन दोनों की कारणकार्यता का भिन्नदेशस्थ होना ही प्रसिद्ध है; इस वैयधिकरण्य का विपर्यास कर यहाँ उनका सामानाधिकरण्य वर्णित किया गया है ।

८६-८७—(असंगति के दो अन्य प्रकार भी होते हैं, उन्हीं दोनों प्रकारों का उल्लेख करते हैं ।)

असंगति का एक अन्य भेद वह है, जहाँ किसी विशेष स्थान पर करणीय कार्य को वहाँ न कर, दूसरे स्थान पर किया जाय । इसी का तीसरा भेद वह है, जहाँ किसी विशेष कार्य को करने में प्रवृत्त व्यक्ति उस कार्यविशेष को न कर, उससे विरुद्ध कार्य को करे । (इन्हीं के क्रमशः ये उदाहरण हैं ।)

(१) पृथ्वी को पारिजात से रहित (अपारिजातां, अन्य पक्ष में–शत्रुओं से रहित) करने की इच्छावाले कृष्ण ने स्वर्ग को वैसा (अपारिजात–कल्पवृक्ष से रहित) बना दिया ।

(२) वराहरूप में उन्होंने गोत्र (गोत्रा–पृथिवी) के उद्धार में प्रवृत्त होकर भी गोत्र (गोत्रा–पृथिवी, गोत्र–पर्वत) का भेदन किया ।

प्रथम उदाहरण इन्द्र का कृष्ण के प्रति सोपालंभवचन । कृष्ण ने पृथ्वी पर करने योग्य कार्य 'अपारिजातत्व' को पृथ्वी पर न कर स्वर्ग में किया, यह असंगति है । इसी तरह दूसरे उदाहरण में वराहरूपी भगवान् ने जो गोत्रा के उद्धार में प्रवृत्त थे, अपने खुराघात से गोत्रों का भेदन किया । ये दोनों श्लेषमूलक हैं । (यहाँ पहले उदाहरण में 'अपारिजातां' के श्लेष पर असंगति का चमत्कार आधृत है । वसुधा के अर्थ में इसका विग्रह 'अपगतं अरिजातं यस्याः तां' होगा, स्वर्ग के पक्ष में 'पारिजातेन रहितामिति अपारिजातां' होगा । ध्यान देने की बात है कि श्लेष का यथावस्थितरूप में ही चमत्कार है, उसके भिन्नार्थ ग्रहण करने के बाद असंगति का चमत्कार भी नहीं रहेगा । ठीक ऐसे ही दूसरे उदाहरण में 'गोत्रा' तथा 'गोत्र' के सभंगश्लेष पर ही असंगति का सारा चमत्कार आधृत है ।)

अथवा जैसे—

(असंगति के द्वितीय प्रकार का उदाहरण)

हे संसार से अकेले वीर, हे चोलेन्द्र सिंह, तुम्हारे खड्ग के द्वारा मारे गये शत्रु राजाओं की स्त्रियों की नई ढंग की सजावट (नये ढंग का शृङ्गार) दिखाई देती है । उनके नेत्रों

नेत्रेषु कङ्कणमथोरुषु पत्रवल्ली
चोलेन्द्रसिंह ! तिलकं करपल्लवेषु ॥

मोहं जगत्त्रयभुवामपनेतुमेत-
दादाय रूपमखिलेश्वर ! देहभाजाम् ।
निःसीमकान्तिरसनीरधिनामुनैव
मोहं प्रवर्धयसि मुग्धविलासिनीनाम् ॥

अत्राद्योदाहरणे कङ्कणादीनामन्यत्र कर्तव्यत्वं प्रसिद्धमिति नोपन्यस्तम् । भवतिना भावनारूपा अन्यत्र कृतिराक्षिप्यत इति लक्षणानुगतिः ॥ ८६–८७ ॥

में कंकण (हाथ का आभूषण; पति की मृत्यु के कारण जल का कण अर्थात् अश्रुबिन्दु), जाँघों में पत्रवल्ली (कपोलफलक पर चित्रित की जाने वाली पत्रावली; तुम्हारे डर से भाग-कर जंगल में जाने के कारण जाँघों में अटकी जंगल की लताएँ) तथा करपल्लवों में तिलक (ललाट का शृङ्गार; मरे पतियों को जलांजलि देने के लिए तिल से युक्त जल) पाये जाते हैं ।

(यहाँ कंकण, पत्रवल्ली तथा तिलक, नारियों के हाथ, कपोल तथा ललाट के शृङ्गार हैं, वे यहाँ न पाकर अन्यत्र आंख, ऊरुयुगल तथा करपल्लव में पाये जाते हैं, अतः दूसरी असंगति है ।)

(असंगति के तृतीय प्रकार का उदाहरण)

हे कृष्ण, तुम तीनों लोकों के देहधारियों के मोह का अपहरण करने के लिए इस रूप को लेकर, अत्यधिक कान्ति के समुद्र इसी रूप के द्वारा सुंदरियों के मोह को बढ़ाते हो ।

(यहां कृष्ण ने समस्त लोकों के देहधारियों के मोह का अपहरण करने के लिए रूप को धारण किया है, किंतु उसी रूप से वे मोह को बढ़ा रहे हैं, अतः तीसरी असंगति है ।)

यहाँ प्रथम उदाहरण में कंकणादि की रचना अन्यत्र करणीय है, इस बात का उपादान ('अपारिजातां' इत्यादि उदाहरण की तरह) पद्य में नहीं किया गया है । इतना होने पर भी 'भवन्ति' पद के द्वारा इसका अन्यत्र होना आक्षिप्त हो जाता है, अतः यहाँ द्वितीय असंगति के लक्षण की संगति बैठ जाती है ।

टिप्पणी—पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के असंगति के इन दो भेदों के मानने का खण्डन किया है । उनके मतानुसार पहली असंगति से 'अपारिजातां' इत्यादि वाली असंगति में कोई विलक्षणता नहीं है । इसी तरह 'नेत्रेषु कंकणं' वाले उदाहरण में विरोधी शृङ्गारों का सामाना-धिकरण्य वर्णित है, अतः विरोधाभास अलंकार मानना ठीक है । इसी तरह 'गोत्रोद्धारप्रवृत्तो' वाले उदाहरण में भी 'विरुद्धात्कार्यसंपत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना' इस लक्षण के अनुसार विभावना का प्रकारविशेष ही दिखाई देता है, अतः यहाँ भी असंगति का तीसरा भेद मानना अनुचित है । **'मोहं जगत्त्रयभुवां'** वाले उदाहरण में भी **'मोहजनकत्व'** तथा **'मोहनिवर्तकत्व'** इन दोनों विरुद्ध बातों का समानाधिकरण्य वर्णित है, अतः यहाँ भी विरोधाभास ही है ।

'यत्तु—, अन्यत्र करणीयस्य·········इति लक्षणानुगतिः' इति कुवलयानन्दकृताऽसं-गतेरन्यद्भेदद्वयमुपन्यस्योदाहृतम्, तत्र तावत् 'अपारिजातां···' इत्यत्र पारिजातरहि-

स्यचिकीर्षया कारणभूतया सह पारिजातराहित्यस्य कार्यस्य विरुद्धवैयधिकरण्योपनिबन्धनात् 'विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसंगतिः' इति प्राथमिकसंगतितो वैलक्षण्यानुपपत्तेः।

आलंबनाख्यविषयतासंबंधेन चिकीर्षायाः सामानाधिकरण्येन कार्यमात्रं प्रति हेतुत्वस्य प्रसिद्धेः। न च पारिजातराहित्यस्याभावरूपस्य नित्यस्याकारणाप्रसिद्धिरिति वाच्यम्। आलंकारिकनये तस्यापि जन्यत्वस्येष्टेः। लक्षणे कार्यकारणपदयोरुपलक्षणत्वस्योक्तत्वाच्च। 'गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि' इत्युदाहरणे तु 'विरुद्धात्कार्यसंपत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना' इति पंचमविभावनालक्षणाऽऽक्रान्तत्वाद्विभावनयैव गतार्थत्वादसंगतिभेदान्तरकल्पनाऽनुचिता। गोत्रोद्धारविषयकप्रवृत्तेर्गोत्रोद्भेदकरूपकार्ये विरुद्धत्वात्। सिद्धान्तेऽपि विभावनाविशेषोक्त्योः संकर एवात्रोचितः। 'नेत्रेषु कंकणं' इत्यादौ कंकणत्व–नेत्रालंकारत्वयोर्व्यधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोः सामानाधिकरण्यवर्णनाद्विरोधाभासत्वमुचितम्। एवं मोहनिवर्तकत्व-मोहजनकत्वयोरपीति।' (रसगंगाधर पृ० ५९४–९५)

● कुवलयानन्द के व्याख्याकार वैद्यनाथ ने चन्द्रिका में पण्डितराज के मत का उल्लेख कर उसका खण्डन किया है। चन्द्रिकाकार दीक्षित के मत की पुष्टि यों करते हैं। 'अपारिजातां' वाला उदाहरण प्रथम असंगति का नहीं हो सकता। 'विषं जलधरैः' वाले उदाहरण में केवल कार्यकारण की भिन्नदेशता वाला चमत्कार है, यहाँ अन्यत्र करणीय कार्य के अन्यत्र करने का चमत्कार है, दोनों एक कैसे हो सकते हैं? इसी तरह 'नेत्रेषु कंकणं' आदि में विरोधाभास के होते हुए भी अन्यत्र करणीय शृङ्गार अन्यत्र किया जाता है, यह चमत्कार है ही, अतः दूसरी असंगति का निराकरण नहीं किया जा सकता। 'गोत्रोद्धार' में विभावना मानना ठीक नहीं, क्योंकि गोत्रोद्धार प्रवृत्ति में गोत्रोद्भेद से निवृत्त होने का अभाव पाया जाता है, अतः उसे एक दूसरे का विरोधी कैसे माना जा सकता है? यदि किसी तरह विरोध मान भी लें, तो अन्य कार्य करने में प्रवृत्त व्यक्ति के द्वारा तद्विरुद्ध कार्य का करना यह तीसरे प्रकार की असंगति ठीक बैठ जाती है। 'मोहं जगत्त्रय' वाले उदाहरण में भी वही (विभावना ही) है, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि कृष्ण का मोहनिवर्तकत्व स्वतः सिद्ध नहीं है। अतः यहाँ विरोधाभास भी नहीं है, विभावना तथा विशेषोक्ति का संकर मानना तो और असंगत है। क्योंकि यहाँ गोत्रोद्धार प्रवृत्तिरूप कारण के होते हुए गोत्रोद्धाररूप कार्य की अनुत्पत्ति का उपन्यास नहीं पाया जाता, अपि तु विरुद्ध कार्योत्पत्ति पाई जाती है, यह ध्यान देने की बात है।

'यत्तु—' अन्यत्र······इति कैश्चिदुक्तं–तदसंगतम्।······वस्तुतस्तु–'विषं जलधरैः पीतं मूर्च्छिताः पथिकांगनाः' इत्यत्रैव नात्र कार्यकारणवैयधिकरण्यप्रयुक्तो विच्छित्तिविशेषोऽपि त्वन्यत्र कर्तव्यस्यान्यत्र करणप्रयुक्त एवेति सहृदयमेव प्रष्टव्यम्। एवं 'नेत्रेषु कंकण'मित्यत्र सत्यपि विरोधाभासेऽन्यत्र चमत्कारित्वेन कॢप्तालंकारभावादन्यत्र करणरूपाऽसंगतिरपि प्रतीयमाना न शक्या निराकर्तुम्। एवं 'गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपी'त्युदाहरणे गोत्रोद्धारकविषयकप्रवृत्तेर्गोत्रोच्छेदरूपकार्यविरुद्धत्वात् 'विरुद्धा कार्यसंपत्तिर्विभावना' इत्यपि न युक्तम्। गोत्रोद्धारप्रवृत्तेर्गोत्रोच्छेदनिवर्तकत्वाभावेन तद्विरुद्धत्वाभावात्। कथञ्चित्तदभ्युपगमेऽप्यन्यत्कार्यं कर्तुं प्रवृत्तेन तद्विरुद्धकार्यान्तरकरणरूपाऽसंगतिरपि 'मोहं जगत्त्रयभुवा'मित्यादौ चमत्कारित्वेन लब्धात्मिका न निवारयितुं शक्यते। न चात्रापि मोहनिवर्तकान्मोहोत्पत्तेः सैव विभावनेति वाच्यम्। मोहनिवर्तकस्य सिद्धवदप्रतीतेः। अत एव न विरोधाभासोऽपि विशेषोक्तिकथनं त्वत्रासंगतमेव। न हि गोत्रोद्धारविषयकप्रवृत्तिरूपकारणसत्त्वेऽपि गोत्रोद्धाररूपकार्यस्यानुत्पत्तिरिह प्रतिपाद्यते, किन्तु विरुद्धकार्योत्पत्तिरेवेति विभावनीयम्।

(अलंकार चन्द्रिका पृ० १११)

३८ विषमालङ्कारः

विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः ।
क्वेयं शिरीषमृद्वङ्गी, क्व तावन्मदनज्वरः ॥ ८८ ॥

अत्रातिमृदुत्वेनातिदुःसहत्वेन चाननुरूपयोरङ्गनामदनज्वरयोर्घटना ।

यथा वा—

अभिलपसि यदीन्दो ! वक्त्रलक्ष्मीं मृगाक्ष्याः
पुनरपि सकृदब्धौ मज्ज सङ्क्षालयाङ्कम् ।
सुविमलमथ बिम्बं पारिजातप्रसूनैः
सुरभय, वद नो चेत्त्वं क्व तस्या मुखं क्व ॥

पूर्वत्र वस्तुसती घटना । अत्र चन्द्र-वदनलक्ष्म्योस्तर्किता घटनेति भेदः ॥८८॥

विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम् ।
कीर्तिं प्रसूते धवलां श्यामा तव कृपाणिका ॥ ८९ ॥

अत्र कारणगुणप्रक्रमेण विरुद्धाच्छ्यामाद्धवलोत्पत्तिः । कार्यकारणयोर्निवर्त्य-निवर्तकत्वे पञ्चमी विभावना । विलक्षणगुणशालित्वे त्वयं विषम इति भेदः ॥८९॥

---

३८. विषम अलंकार

८८—जहाँ दो अननुरूप पदार्थों का वर्णन किया जाय, वहाँ विषम अलंकार होता है, जैसे, कहाँ तो शिरीष के समान कोमल अंगवाली यह सुन्दरी और कहाँ अत्यधिक तापदायक (दुःसह) कामज्वर ?

यहाँ अतिमृदुत्व तथा अतिदुःसहत्व रूप धर्मों के द्वारा दो अननुरूप (परस्पर असदृश) पदार्थों–सुन्दरी तथा मदनज्वर का वर्णन किया गया है ।

अथवा जैसे—

हे चन्द्रमा, यदि तुम हिरन के समान आँख वाली उस नायिका के मुख की कांति को प्राप्त करना चाहते हो, तो फिर से एक बार समुद्र में डूब कर अपने कलंक को धो डालो, इसके बाद अपने निर्मल बिंब को पारिजात के फूलों से सुगन्धित करो । नहीं तो, बताओ, कहाँ तुम और कहाँ उस सुन्दरी का मुख ?

यहाँ पहले उदाहरण से इस उदाहरण में यह भेद है कि वहाँ सुन्दरी तथा मदनज्वर की परस्पर अननुरूपता वास्तविक है, जब कि यहाँ चन्द्रमा तथा नायिका-वदनकांति की अननुरूपता कवितर्कित है ।

८९—(विषम का दूसरा भेद) जहाँ किसी कारण से अपने से भिन्न गुण वाले कार्य की उत्पत्ति हो, वहाँ दूसरा विषम होता है. जैसे हे राजन्, तेरी काली कटार श्वेत कीर्ति को जन्म देती है । •

यहाँ कारण के गुण की परिपाटी (कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते–इस न्याय) से विरोधी बात पाई जाती है कि काली वस्तु से धवल की उत्पत्ति हो रही है । (इस संबंध में यह शंका हो सकती है कि विषम के इस प्रकारविशेष का विभावना के पंचम प्रकार

अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात् ।
भक्ष्याशयाऽहिमञ्जूषां दृष्ट्वाखुस्तेन भक्षितः ॥ ९० ॥

इष्टार्थमुद्दिश्य किंचित्कर्मारब्धवतो न केवलमिष्टस्यानवाप्तिः, किंतु ततोऽनिष्टस्यापि प्रतिलम्भश्चेत्तदपि विषमम् । यथा भक्ष्यप्रेप्सया सर्पपेटिकां दृष्ट्वा प्रविष्टस्य मूषकस्य न केवलं भक्ष्यालाभः, किंतु स्वरूपहानिरपीति ।

यथा वा—

गोपाल इति कृष्ण ! त्वं प्रचुरक्षीरवाञ्छया ।
श्रितो मातृस्तनक्षीरमप्यलभ्यं त्वया कृतम् ।

इदमर्थावाप्तिरूपेष्टार्थसमुद्यमादिष्टानवाप्तावनिष्टप्रतिलम्भे चोदाहरणम् । अनर्थपरिहारार्थरूपेष्टार्थसमुद्यमात् । तदुभयं यथा—

से कोई भेद नहीं जान पड़ता, इसी शंका को मिटाने के लिए कह रहे हैं ।) कार्य तथा कारण के निवर्त्य-निवर्तक भाव होने पर पाँचवीं विभावना होती है, जब कि कार्य तथा कारण के विरोधी गुणों के होने पर विषम अलंकार होता है, यह दोनों का भेद है ।

टिप्पणी—इस दूसरे विषम का एक उदाहरण यह है :—

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपांडु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ॥

९०—(विषम का तीसरा भेद) जहाँ किसी इष्टार्थ प्राप्ति के लिए किये प्रयत्न से अनिष्ट प्राप्ति हो, वह तीसरा विषम है, जैसे भोजन (खाद्य) की इच्छा से सर्पपेटी को देखकर उसमें प्रविष्ट चूहा सर्प के द्वारा खा लिया गया ।

इष्टार्थ की प्राप्ति के लिए किसी काम को करने वाले व्यक्ति को जहाँ केवल इष्टप्राप्ति का अभाव ही न हो, किन्तु उससे अनिष्टप्राप्ति भी हो वहाँ विषम का तीसरा भेद होता है । जैसे खाद्यप्राप्ति की इच्छा से पेटी को देखकर उसमें घुसे चूहे को न केवल भक्ष्यालाभ (भक्ष्य की अप्राप्ति) हुवा, अपितु स्वयं अपने शरीर की भी हानि हो गई ।

टिप्पणी—अप्पय दीक्षित ने रुय्यक के ही मतानुसार तीन प्रकार का विषम माना है । भेद यह है कि रुय्यक का तृतीय भेद दीक्षित का प्रथम भेद है, रुय्यक का प्रथम, द्वितीय, दीक्षित का द्वितीय, तृतीय ।

'तत्र कारणगुणप्रक्रमेण कार्यमुत्पद्यत इति प्रसिद्धौ यद्विरूपं कार्यमुत्पद्यमानं दृश्यते तदेकं विषमम् तथा कंचिदर्थं साधयितुमुद्यतस्य न केवलं तस्यार्थस्याप्रतिलम्भो यावदनर्थप्राप्तिरपीति द्वितीयं विषमम् । अत्यन्ताननुरूपसंघटनयोर्विरूपयोश्च संघटनं तृतीयं विषमम् । अननुरूपसंसर्गो हि विषमम् ।' (अलंकारसर्वस्व पृ० १६५)

अथवा जैसे—

कोई भक्त कृष्ण से कह रहा है,—हे कृष्ण, हमने इसलिए तुम्हारी आराधना की कि तुम गोपाल हो, अतः हमें प्रचुर दुग्ध मिलेगा, किन्तु तुमने तो (हमें मोक्ष प्रदान कर) हमारे लिए माता का दुग्धपान भी अलभ्य कर दिया ।

यहां इष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए किये उद्यम से इष्ट की अप्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति का उदाहरण है । जहाँ अनर्थ का परिहार तथा इष्ट अर्थ की प्राप्ति दोनों का उद्यम पाया जाय, उसका उदाहरण दिया है।

दिवि श्रितवतश्चन्द्रं सैंहिकेयभयाद्भुवि ।
शशस्य पश्य तन्वङ्गि ! साश्रयस्य ततो भयम् ॥

अत्र न केवलं शशस्य स्वानर्थपरिहारानवाप्तिः, किंतु साश्रयस्याप्यनर्थावाप्तिरिति दर्शितम् । परानिष्टप्रापणरूपेष्टार्थसमुद्यमात् । तदुभयं यथा—

दिधक्षन् मारुतेर्वालं तमादीप्यद्दशाननः ।
आत्मीयस्य पुरस्यैव सद्यो दहनमन्वभूत् ॥

'पुरस्यैव' इत्येवकारेण परानिष्टप्रापणाभावो दर्शितः । 'अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च' इति श्लोकेऽनिष्टावाप्तेः 'अपि' शब्दसंगृहीताया इष्टानवाप्तेश्च प्रत्येकमपि विषमपदेनान्वयः । ततश्च केवलानिष्टप्रतिलम्भः केवलेष्टानवाप्तिश्चेत्यन्यदपि विषमद्वयं लक्षितं भवति ।

तत्र केवलानिष्टप्रतिलम्भो यथा—

पद्मातपत्ररसिके सरसीरुहस्य
किं बीजमर्पयितुमिच्छसि वापिकायाम् ।
कालः कलिर्जगदिदं न कृतज्ञमज्ञे !
स्थित्वा हरिष्यति मुखस्य तवैव लक्ष्मीम् ॥

अत्र पद्मातपत्रलिप्सया पद्मबीजावापं कृतवत्यास्तल्लाभोऽस्त्येव, किंतु मुखशोभाहरणरूपोत्कटानिष्टप्रतिलम्भः ।

'हे सुन्दरि देखो, पृथ्वी पर शेर से डर कर आकाश में चन्द्रमा का आश्रय पाते हुए खरगोश को वहां भी आश्रय सहित सैंहिकेय (शेर, राहु) से भय रहता है ।'

यहाँ खरगोश के अपने केवल अनर्थ का परिहार ही नहीं हो सका अपितु उसके आश्रय को भी अनर्थ की प्राप्ति हो गई है ।

जहाँ दूसरे के अनिष्ट करने का इष्टार्थ समुद्यम हो, जैसे इस पद्य में—

'हनुमान् के बालों (पूँछ) को जलाने की इच्छा वाले रावण ने उसी समय अपने ही नगर के दाह का अनुभव किया ।'

यहाँ 'पुरस्य एव' में 'एव' के द्वारा दशानन दूसरे का अनिष्ट न कर सका यह भाव प्रतीत होता है । तृतीय विषम के कथन में 'अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च' इस श्लोक में अनिष्टवाप्ति तथा इष्टानवाप्ति प्रत्येक के साथ 'अपि' शब्द का संग्रह होकर दोनों का पूर्वोक्त विषमपद के साथ अन्वय होता है । इस प्रकार केवल अनिष्टप्राप्ति, तथा केवल इष्टानवाप्ति इन दो प्रकार का विषम भी होता है ।

केवल अनिष्टप्राप्ति का उदाहरण जैसे :—

कोई कवि बावली में कमल के बीज बोती सुन्दरी से कह रहा है :—

'हे मूर्खे, तू कमल के छत्र की इच्छा से बावली में कमल के बीज क्यों बो रही है ? तुझे पता होना चाहिए कि यह कलियुग है, इस संसार में कोई भी कृतज्ञ नहीं है । यह कमल तेरे ही मुख की शोभा को हरेगा ।'

यहाँ पद्मातपत्र की इच्छा से कमल बीजों को बोती सुन्दरी को पद्मातपत्र का लाभ तो होता ही है, किंतु उससे मुखशोभाहरणरूप महान् अनिष्ट की प्राप्ति हो रही है ।

केवलेष्टानवाप्तिर्यथा—

खिन्नोऽसि मुञ्च शैलं विभृमो वयमिति वदत्सु शिथिलभुजः।
भरभुग्नविततबाहुषु गोपेषु हसन् हरिर्जयति ॥

अत्र यद्यपि शैलस्योपरिपतनरूपानिष्टावाप्तिः प्रसक्ता, तथापि भगवत्कराम्बुजसंसर्गमहिम्ना सा न जातेति शैलधारणरूपेष्टानवाप्तिमात्रम्।

यथा वा—

लोके कलङ्कमपहातुमयं मृगाङ्को
जातो मुखं तव पुनस्तिलकच्छलेन।
तत्रापि कल्पयसि तन्वि ! कलङ्करेखां,
नार्यः समाश्रितजनं हि कलङ्कयन्ति ॥

अत्रानिष्टपरिहाररूपेष्टानवाप्तिः।

यथा वा—

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं दहनः करोति ॥

अत्र परानिष्टप्रापणरूपेष्टानवाप्तिः। स्वतोऽनिष्टस्यापि मुनिशापस्य महा-

---

केवल इष्टानवाप्ति का उदाहरण जैसे—

'हे 'कृष्ण' तुम थक गये हो, इस पर्वत को छोड़ दो, हम सँभाले लेते हैं'—इस प्रकार गोपों के कहने पर हाथ को ढीला कर, पर्वत के बोझे से टेढ़े हुए हाथ वाले गोपों को प्रति हँसते हुए कृष्ण की जय हो।

यहाँ पर्वत के उपर गिरने से गोपों के लिए अनिष्ट प्राप्ति होनी चाहिए, किन्तु भगवान् कृष्ण के करकमल के संसर्ग के कारण यह अनिष्टप्राप्ति न हो सकी, अतः यह केवल पर्वत-[धार]णरूप इष्टानवाप्ति का उदाहरण है।

अथवा जैसे—

हे सुन्दरि, यह चन्द्रमा संसार में अपने कलंक को मिटाने के लिए तेरा मुख बन गया, किन्तु तुम फिर तिलक के ब्याज से इसमें भी कलंकरेखा की रचना कर रही हो। सच है, स्त्रियाँ अपने आश्रित व्यक्ति को कलंकित कर ही देती हैं।

यहाँ अनिष्टपरिहाररूप इष्टानवाप्ति है।

अथवा जैसे—

दशरथ श्रवण के अन्धे पिता से कह रहे हैं:—'हे भगवन्, पुत्र के मुखकमल को न देखने वाले मेरे प्रति जो अपने यह शाप दिया है, वह मेरे लिए कृपा ही है। ईंधन से दीप्त अग्नि खेती के योग्य पृथ्वी को जलाते हुए भी उसे बीजाङ्कुर की उत्पादक बनाता है।'

यहाँ 'तापस' दशरथ का अनिष्ट करना चाहते हैं, किन्तु उससे भी उसके इष्ट (दशरथ

पुरुषार्थपुत्रलाभावश्यंभावगर्भतया दशरथेनेष्टत्वेन समर्थितत्वात्। यत्र केनचित्स्वेष्टसिद्ध्यर्थं नियोक्तेनान्येन नियोक्तुरिष्टमुपेक्ष्य स्वस्यैवेष्टं साध्यते तत्रापीष्टानवाप्तिरूपमेव विषमम्। यथा—

यं प्रति प्रेषिता दूती तस्मिन्नेव लयं गता।
सख्यः! पश्यत मौढ्यं मे विपाकं वा विधेरमुम्॥

'तस्मिन्नेव लयं गता' इति नायके दूत्याः स्वाच्छन्द्यं दर्शितम्।

यथा वा—

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः।
तत्तु तत्रैव रमते हताः पाणिनिना वयम्॥

एतानि सर्वथैवेष्टानवाप्तेरुदाहरणानि। कदाचिदिष्टावाप्तिपूर्वकतदनवाप्तिर्यथा मदीये वरदराजस्तवे—

भानुर्निशासु भवदङ्घ्रिमयूखशोभा-
लोभात् प्रताप्य किरणोत्करमाप्रभातम्।
तत्रोद्धृते हुतवहात्क्षणलुप्तरागे
तापं भजत्यनुदिनं स हि मन्दतापः॥

अनिष्ट प्रापण) की प्राप्ति नहीं होती (क्योंकि वह उसे कृपा कह रहा है), अतः यहाँ परानिष्टप्रापणरूप इष्टानवाप्ति है। क्योंकि दशरथ ने अपने लिए अनिष्ट मुनिशाप को भी इसलिए इष्ट समझा है कि उससे दशरथ को महापुरुषार्थी पुत्र का लाभ अवश्य होगा, यह प्रतीत होता है। जहाँ किसी व्यक्ति के द्वारा अपनी इष्टसिद्धि के लिये कोई व्यक्ति नियुक्त किया जाय और यह व्यक्ति नियोक्ता की इष्टसिद्धि की उपेक्षा कर अपनी ही इष्टसिद्धि करे वहाँ भी इष्टानवाप्तिरूप विषम अलङ्कार होता है, जैसे :—

हे सखियो, देखो जिसके पास मैंने दूती को भेजा था। उसी में जाकर वह लीन हो गई। मेरी मूर्खता या दैव के इस दुर्विपाक को तो देखो।'

यहाँ 'तस्मिन्नेव लयं गता' के द्वारा नायिका इस बात का संकेत कर रही है कि दूती ने नायक के साथ स्वच्छन्दता (रमण) की है। अथवा जैसे—

'पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'मन' को नपुंसक समझकर हमने उसे दूत बनाकर प्रिया के पास भेजा था, किन्तु वह स्वयं वहीं रमण करने लगा। पाणिनि ने सचमुच हमें मार ही डाला।'

ये सब इष्टानवाप्ति के ही उदाहरण हैं।

कहीं-कहीं इष्टप्राप्ति के बाद इष्टानवाप्ति पाई जाती है, जैसे दीक्षित के ही वरदराजस्तव के निम्नपद्यों में—

हे भगवन्, यह सूर्य आपके चरण किरणों की शोभा को प्राप्त करने के लोभ से हर रात शाम से लेकर प्रातःकाल तक अपनी किरणों के समूह को आग में तपाता है। प्रातःकाल के समय अपनी किरणों को आग में से निकालकर क्षण भर में अग्नि सम्पर्कजनित रक्तिमा को खोकर यह मन्दताप सूर्य प्रतिदिन सन्ताप (दुःख) का अनुभव करता रहता है।

यथा वा—

त्वद्वक्त्रसाम्यमयमम्बुजकोशमुद्रा-
भङ्गात्ततस्सुपममित्रकरोपक्लृप्त्या ।
लब्ध्वापि पर्वणि विधुः क्रमहीयमानः
शंसत्यनीत्युपचितां श्रियमाशुनाशाम् ॥

अत्र ह्याद्यश्लोके सूर्यकिरणानां रात्रिष्वग्निप्रवेशनमागमसिद्धम् । सूर्यस्य निजकिरणेषु भगवच्चरणकिरणसदृशारुणिमप्रेप्सया तत्कृतं तेषामग्नौ प्रतापनं परिकल्प्य तेषामुदयकालदृश्यमरुणिमानं च तप्तोद्धृतनाराचानामिवाग्निसंतापनप्रयुक्तारुणिमानुवृत्तिं परिकल्प्य सूर्यस्य महतापि प्रयत्नेन तात्कालिकेष्टावाप्तिरेव जायते, न सार्वकालिकेष्टावाप्तिरिति दर्शितम् । द्वितीयश्लोके चन्द्रस्य भगवन्मुखलक्ष्मीं लिप्समानस्य सुहृत्त्वेन 'मित्र' शब्दश्लेषवशात् सूर्यं परिकल्प्य तत्किरणस्य कमलमुकुलविकासनं चन्द्रानुप्रवेशनं च सुहृत्पाणेर्भगवन्मुखलक्ष्मीनिधानकोशगृहमुद्रामोचनपूर्वकं ततो गृहीतभगवन्मुखलक्ष्मीकस्य तया भगवन्मुखलक्ष्म्या चन्द्रप्रसाधनार्थं चन्द्रस्पर्शरूपं च परिकल्प्यैतावतापि प्रयत्नेन पौर्णमा-

---

अथवा जैसे—

हे भगवन्, यह चन्द्रमा कमलकोशरूपी भण्डार के बन्द ताले को तोड़कर उसकी शोभा को ग्रहण करने वाले अपने मित्र के हाथों (सूर्य की किरणों) से किसी तरह पूर्णिमा के दिन आपके मुख की कान्ति को प्राप्त करके भी क्रमशः क्षीण होता हुआ अनीति के द्वारा बढ़ी समृद्धि को शीघ्र ही नष्ट होने वाली संकेतित करता है ।

यहाँ प्रथम पद्य में सूर्यकिरणों का रात के समय अग्नि में प्रविष्ट होना वेदादि में वर्णित है (तस्माद्दिवाग्निरादित्यं प्रविशति रात्रावादित्यस्तम्)। यहाँ इस बात की कल्पना की गई है कि सूर्य अपनी किरणों में भगवान् के चरणों की किरणों के समान लालिमा प्राप्त करने की इच्छा से उन्हें अग्नि में तपाता है, साथ ही इस बात की भी कल्पना की गई है कि सूर्यकिरणों की सूर्योदय के समय दिखने वाली ललाई हाल में तपाये हुए आग से निकाले बाणों की तरह अग्नि-संतापन-जनित ललाई है। इस प्रकार सूर्य में भगवच्चरणकिरणकान्ति प्राप्त करने की इच्छा की कल्पना करके तथा सूर्यकिरणों की उदयकालीन ललाई में अग्नितापजनित लालिमा की कल्पना कर इस बात को दर्शाया गया है कि इतने महान् क्लेश को सहने के बाद भी सूर्य की इष्टावाप्ति केवल उतने ही समय (प्रातःकाल भर) के लिए होती है, सदा के लिए इष्टावाप्ति नहीं होती। इसी तरह दूसरे श्लोक में पहले तो भगवान् की मुखशोभा को प्राप्त करने की इच्छावाले चन्द्रमा के मित्र के रूप में मित्रशब्द के श्लेष द्वारा सूर्य की कल्पना कर, सूर्य की किरणों के कमलमुकुलविकासन तथा चन्द्रप्रवेश में मित्र के हाथ के द्वारा भगवन्मुखशोभा के स्थानभूत भाण्डार की मुद्रा के तोड़ने तथा वहाँ से भगवन्मुखशोभा को लेकर उसके द्वारा चन्द्रमा को खुश करने के लिए चन्द्रमा को उसे देने की कल्पना करके इस बात को दर्शाया गया है कि इतने प्रयत्न करने पर भी चन्द्रमा केवल पूर्णिमा के ही दिन भगवान् के मुख की समानता रूप इष्ट की प्राप्ति कर पाता है, न कि सदा के लिये उस इष्टसिद्धि को प्राप्त कर पाता है। (अतः इन दोनों उदाहरणों में इष्टावाप्तिपूर्वक इष्टानवाप्ति का वर्णन पाया जाता है।)

स्यामेव भगवन्मुखसाम्यरूपेष्टप्राप्तिर्जायते, न सार्वकालिकीति दर्शितम् । क्वचिदिष्टानवाप्तावपि तदवाप्तिभ्रमनिबन्धनाद्विच्छित्तिविशेषः ।

यथा वा—

बल्लालक्षोणिपाल ! त्वदहितनगरे संचरन्ती किराती
रत्नान्यादाय कीर्णान्युरुतरखदिराङ्गारशङ्काकुलाङ्गी ।
क्षिप्त्वा श्रीखण्डखण्डं तदुपरि मुकुलीभूतनेत्रा धमन्ती
श्वासामोदप्रसक्तैर्मधुकरपटलैर्धूमशङ्कां करोति ॥

अत्र प्रभूताग्निसंपादनोद्योगात्तत्संपादनालाभेऽपि तल्लाभभ्रमो धूमभ्रमोपन्यासमुखेन निबद्धः ॥ ९० ॥

३९ समालङ्कारः

समं स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः ।
स्वानुरूपं कृतं सद्म हारेण कुचमण्डलम् ॥ ९१ ॥

प्रथमविषमप्रतिद्वन्द्वीदं समम् ।

यथा वा—

कौमुदीव तुहिनांशुमण्डलं जाह्नवीव शशिखण्डमण्डनम् ।
पश्य कीर्तिरनुरूपमाश्रिता त्वां विभाति नरसिंहभूपते ! ॥

कहीं इष्टप्राप्ति न होने पर भी इष्टप्राप्ति के भ्रम का वर्णन होने पर विशेष चमत्कार पाया जाता है । जैसे निम्नपद्य में—

कोई कवि बल्लालनरेश की प्रशंसा कर रहा है :—हे बल्लालनामक भूपति, तुम्हारे शत्रुओं के भग जाने के कारण उजड़े शत्रुनगरों में घूमती हुई कोई भीलनी इधर-उधर बिखरे रत्नों को भ्रान्ति से खैर की लकड़ी के जलते अँगारे समझकर उन पर चन्दन के टुकड़े डालकर आँखें बन्दकर उसपर मुँह से फूँकती हुई, निःश्वास की सुगन्ध के कारण आये हुए भौंरों से धुएँ की भ्रान्ति करती है ।

यहाँ प्रचुर अग्नि का लाभ प्राप्त करने के लिए किए गए प्रयत्न से अग्नि की प्राप्ति नहीं होते हुए भी धुएँ के भ्रम के द्वारा अग्निलाभ का भ्रम निबद्ध किया गया है । (अतः यह भी एक प्रकार का विषम ही है ।)

३९. सम अलंकार

९१—जहाँ दो अनुरूप पदार्थों का वर्णन एक साथ किया जाय, वहाँ सम अलंकार होता है । जैसे, हार ने इस नायिका के कुचमण्डल को अपने योग्य निवासस्थान बना लिया है ।

सम का यह भेद विषम अलंकार के प्रथम प्रकार का प्रतिद्वन्द्वी है ।

अथवा जैसे—

हे नरसिंहभूपति, यह कीर्ति अपने योग्य तुम्हारा आश्रय पाकर ठीक वैसे ही सुशोभित हो रही है, जैसे चन्द्रिका चन्द्रबिम्ब का आश्रय पाकर या गंगा महादेव का आश्रय पाकर ।

चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रं
जातो दैवादुचितघटनासंविधाता विधाता।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः॥

पूर्वं स्तुतिपर्यवसायि; इदं तु निन्दापर्यवसायीति भेदः॥ ६१॥

सारूप्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदुः।
नीचप्रवणता लक्ष्मि! जलजायास्तवोचिता॥ ९२॥

इदं द्वितीयविषमप्रतिद्वन्द्वि समम्।

यथा वा—

दवदहनादुत्पन्नो धूमो घनतामवाप्य वर्षैस्तम्।
यच्छमयति तद्युक्तं सोऽपि हि दवमेव निर्दहति॥

यथा वा—

आदौ हालाहलहुतभुजा दत्तहस्तावलम्बो
बाल्ये शम्भोर्निटिलमहसा बद्धमैत्रीनिरूढः।
प्रौढो राहोरपि मुखविषेणान्तरङ्गीकृतो यः
सोऽयं चन्द्रस्तपति किरणैर्मामिति प्राप्तमेतत्॥

अथवा जैसे—

आश्चर्य है, बहुत बड़ा आश्चर्य है कि ब्रह्मा दैवयोग से योग्य घटना (उचित मेल) कराने वाला है। पहले तो नीम के पके फलों की समृद्धि का आस्वाद करना है, और दूसरे उसको खाने की कला में चतुर कौए हैं—यह ब्रह्मा की उचित मेल करने की विधि को पुष्ट करता है।

इन दो उदाहरणों में यह भेद है कि प्रथम उदाहरण में सम अलंकार राजा की स्तुति में पर्यवसित हो रहा है, दूसरे उदाहरण में वह कौए व नीम की निन्दा में पर्यवसित हो रहा है।

९२—जहाँ कारण तथा कार्य में अनुरूपता हो, वह सम अलंकार का दूसरा भेद है, जैसे, हे लक्ष्मि, जल से उत्पन्न होने वाली (मूर्ख से उत्पन्न होने वाली) तेरे लिए नीच के प्रति आसक्त होना ठीक ही है।

यह दूसरे प्रकार के विषम का प्रतिद्वन्द्वी सम का दूसरा प्रकार है।

अथवा जैसे—

दवाग्नि से उत्पन्न धुआँ बादल बन कर उसी दवाग्नि को बुझा देता है, यह ठीक ही है, क्योंकि वह दवाग्नि भी तो दव (वन) से पैदा होकर उसे (वन को) ही जला देती है।

अथवा जैसे—

कोई विरहिणी चन्द्रमा की निन्दा करती कह रही है:—'यह चन्द्रमा पहले (बचपन में) विष की अग्नि के द्वारा (समुद्र में) सहारा दिया गया, बाद में बचपन में भगवान् महादेव के ललाट की अग्नि से मित्रता करके रहा, उसके बाद प्रौढ होने पर

पूर्वत्र कारणस्वभावानुरूप्यं कार्यस्यात्रागन्तुकतदीयदुष्टसंसर्गानुरूप्यमिति भेदः ॥ ६२ ॥

विनाऽनिष्टं च तत्सिद्धिर्यमर्थं कर्तुमुद्यतः ।
युक्तो वारणलाभोऽयं स्यान्न ते वारणार्थिनः ॥ ६३ ॥

इष्टं सममनिष्टस्याप्यवाप्तिश्चेत्यपिसंगृहीतस्य त्रिविधस्यापि विषमस्य प्रतिद्वन्द्वि, इष्टावाप्तेरनिष्टस्याप्रसङ्गाच्च । अत्र गजार्थितया राजानमुपसर्पन्तं तद्दौवारिकैर्वार्यमाणं प्रति नर्मवचनमुदाहरणम् । न चात्र निवारणमनिष्टमापन्नमित्यनुदाहरणत्वं शङ्कनीयम् । राजद्वारि क्षणनिवारणं संभावितमिति तदङ्गीकृत्य प्रवृत्तस्य विषमालङ्कारोदाहरणेष्विवातर्कितोत्कटानिष्टापत्त्यभावात् । किं च यत्रातर्कितोत्कटानिष्टसत्त्वेऽपि श्लेषमहिम्नेष्टार्थत्वप्रतीतिस्तत्रापि समालङ्कारोऽप्रतिहत एव ।

राहु दैत्य के मुखविष की अन्तरंगता को प्राप्त हुआ है—वही यह चन्द्रमा मुझे अपनी किरणों से तपा रहा है, तो यह न्यायप्राप्त (उचित) ही है ।

पहले उदाहरण में इससे यह भेद है कि वहाँ कारण के स्वभाव के अनुरूप कार्य का निबंधन किया गया है, जब कि यहाँ आगंतुक कारण—चन्द्रमा के दुष्टसंसर्ग के अनुरूप कार्य का निबंधन किया गया है ।

९३—जहाँ किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये कार्य को करने के लिये उद्यत व्यक्ति को उस वस्तु की प्राप्ति बिना किसी अनिष्ट के हो जाय, वहाँ भी सम अलंकार होता है । जैसे कोई व्यक्ति राजद्वार पर फटकार खाए हुए व्यक्ति से मजाक में कह रहा है:—ठीक है, वारण (हाथी) की इच्छा वाले तुम्हें यह वारणलाभ ठीक ही तो है न ।

यह सम अलंकार 'अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च' इत्यादि के द्वारा संगृहीत त्रिविध विषम का—तीसरे प्रकार के विषम के तीन अवांतर उपभेदों का—प्रतिद्वन्द्वी है, क्योंकि यहाँ इष्टावाप्ति पाई जाती है तथा अनिष्ट की प्राप्ति का कोई प्रसंग नहीं । इस पद्य के उत्तरार्द्ध में हाथी पाने की इच्छा से राजा के पास जाते हुए राजद्वार पर द्वारपालों द्वारा रोके गए व्यक्ति के प्रति किसी अन्य व्यक्ति का नर्मवचन (परिहासोक्ति) पाया जाता है । यहाँ द्वारपालों द्वारा रोका जाना अनिष्ट है, अतः यह सम के इस भेद का उदाहरण नहीं हो सकता, ऐसी शंका करना ठीक नहीं । राजद्वार पर क्षण भर निवारण की संभावना करके ही वह व्यक्ति उस कार्य में प्रवृत्त हुआ था, अतः राजद्वार पर हुआ निवारण विषम अलंकार के उदाहरणों की तरह अतर्कित (असंभावित) उत्कट अनिष्ट की आपत्ति नहीं है । अपितु जहाँ असंभावित अनिष्ट होने पर श्लेष के कारण इष्ट अर्थ की प्रतीति होती हो, वहाँ भी सम अलंकार में कोई बाधा नहीं आती ।

टिप्पणी—अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने सम अलंकार के तीन प्रकार नहीं माने हैं, जैसा कि दीक्षित ने माना है । रुय्यक ने सिर्फ 'विरूपयोः संघटना' वाले विषम का प्रतिद्वन्द्वी एक ही प्रकार का सम (अनुरूपयोः संघटना) माना है ।

'यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्तं तथापि तच्छब्देन संभवादन्त्यो भेदः परामृश्यते । पूर्वभेदद्वयविपर्ययस्यानलंकारत्वात् । अन्त्यभेदविपर्ययस्तु चारुत्वात्समाख्योऽलंकारः । स चाभिरूपानभिरूपत्वेन द्विविधः ।' (अलंकारसर्वस्व पृ० १६७)

यथा वा—

उच्चैर्गजैरटनमर्थयमान एव
त्वामाश्रयन्निह चिरादुषितोऽस्मि राजन्!।
उच्चाटनं त्वमपि लम्भयसे तदेव
मामद्य नैव विफला महतां हि सेवा॥

अत्र यद्यपि व्याजस्तुतौ स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिविवक्षायां विषमालंकारस्तथापि प्राथमिकस्तुतिरूपवाच्यविवक्षायां समालंकारो न निवार्यते। एवं यत्रेष्टार्थावाप्तिसत्त्वेऽपि श्लेषवशादसतोऽनिष्टार्थस्य प्रतीतिस्तत्रापि समालंकारस्य न क्षतिः। यथा—

शस्त्रं न खलु कर्तव्यमिति पित्रा नियोजितः।
तदेव शस्त्रं कृतवान् पितुराज्ञा न लङ्घिता॥

दीक्षित ने इस पर भी तीनों विषमों के प्रतिद्वन्द्वी तीन सम मानते हैं, पंडितराज जगन्नाथ भी सम को तीन तरह का मानते हैं, वे अलंकारसर्वस्वकार के इसी मत का उद्धरण देकर रुय्यक तथा उसके टीकाकार (विमर्शिनीकार जयरथ) का खण्डन करते हैं :—

'तदुभयमसत्' वस्तुतोऽननुरूपयोरपि कार्यकारणयोः श्लेषादिना धर्मैक्यसंपादनद्वाराऽनुरूपतावर्णने, वस्तुतोऽनिष्टस्यापि तेनैवोपायेनेष्टैक्यसंपत्ताविष्टप्राप्तिवर्णने च चारुताया अनुपदमेव दर्शितत्वात्। तस्मात्सममपि त्रिविधमेव। (रसगंगाधर पृ० ६०८)

रसिकरंजनाकार गंगाधरवाजपेयी ने भी रुय्यक का खंडन किया है।

अत्र सर्वस्वकारादयः प्रथमद्वितीयविषमप्रतिद्वन्द्विसमयोर्नालंकारत्वम्। विच्छित्तिविशेषाभावात्। न खलु तन्तुपटयोर्गुणसाम्यवर्णने वा ओदनार्थं पाकादौ प्रवृत्त्या ओदनादिप्रतिलम्भो वा काचिद्विच्छित्तिः। किंतु तद्वैपरीत्यमात्रं न कश्चिदलंकार इत्याहुः। वस्तुतस्तु, 'दवदहनादुत्पन्नो धूम' इत्यत्र 'आदौ हालाहलहुतभुजे'त्यादौ च विच्छित्तिविशेषस्यानुभूयमानस्य तन्तुपटादिसारूप्यस्याचमत्कारिमात्रेणापह्नवायोगात् 'उच्चैर्गजै'रिति व्याजस्तुतावेव प्राथमिकस्तुतिरूपवाच्यकक्ष्यायां पाकादिप्रवृत्त्या ओदनसिद्धिप्रतिपादने विच्छित्त्यभावमात्रेण न विच्छित्तिर्हीयते। कविप्रतिभोत्थापितकार्यकारणसारूप्येष्टार्थसमुद्यमायत्तानिष्टविनाकृतेष्टप्राप्तेरलंकारत्वस्य चारुतातिशयशालितया अंगीकर्तुं युक्तत्वादिति दिक्।

(रसिकरंजनी पृ० १६९)

अथवा जैसे—कोई कवि राजा से कह रहा है:—

'हे राजन्, मैं तुम्हारे नगर में बड़े दिनों से तुम्हारे आश्रय में इसलिए पड़ा हूँ कि मैं उन्नत हाथियों पर बैठ कर घूमना चाहता हूँ। तुम भी अपने द्वारा प्रार्थित उच्चाटन (ऊपर घूमना, देशनिकाला) को मुझे दे रहे हो। सच है, बड़े लोगों की सेवा व्यर्थ नहीं जाती।'

यहाँ यद्यपि व्याजस्तुति में स्तुति के द्वारा निंदा की व्यंजना विवक्षित होने पर विषम अलंकार पाया जाता है, तथापि सर्वप्रथम वाच्यार्थ के रूप में स्तुति की ही विवक्षा पाई जाती है और उसमें समालंकार का निवारण नहीं किया जा सकता। इसी तरह जहाँ इष्ट अर्थ की प्राप्ति होने पर भी श्लेष के कारण मिथ्या अनिष्टार्थ की प्रतीति हो, वहाँ भी सम अलंकार को कोई क्षति न होगी, जैसे—

'शस्त्र कभी (ग्रहण) न करना' (न खलु कर्तव्यं) इस प्रकार पिता के द्वारा आदिष्ट

अत्र 'पितुराज्ञा न लङ्घिता' इत्यनेन विरोधालंकाराभिव्यक्त्यर्थं 'न·खलु' इत्यत्र पदद्वयविभागात्मकरूपान्तरस्यापि विवक्षायाः सत्त्वेऽपि नखं लुनातीति 'नखलु' इत्येकपदत्वेन वस्तुसदर्थान्तरपररूपान्तरमादाय समालंकारोऽप्यस्त्येव श्लेषलब्धाऽसदिष्टावाप्तिप्रतीतिमात्रेणापि गतमुदाहरणम् । यथा—

सत्यं तपः सुगत्यै यत्तत्त्वाम्बुषु रविप्रतीक्षं सत् ।
अनुभवति सुगतिमब्ज त्वत्पदजन्मनि समस्तकमनीयम् ॥ ९३ ॥

४० विचित्रालंकारः

विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद्विपरीतः फलेच्छया ।
नमन्ति सन्तस्त्रैलोक्यादपि लब्धुं समुन्नतिम् ॥ ९४ ॥

यथा वा—

मलिनयितुं खलवदनं विमलयति जगन्ति देव ! कीर्तिस्ते ।

उसने उसीको (नखलु को, नाखून को काटने के औजार को) शस्त्र बनाया और इस प्रकार पिता की आज्ञा का उल्लंघन न किया।'

यहाँ 'पिता की आज्ञा का उल्लंघन न किया' इसके द्वारा विरोध अलंकार की प्रतीति के लिए 'नखलु'इसके 'न खलु'इस प्रकार दो पद मानने से भिन्न रूप में कवि की विवक्षा होने पर भी नखं लुनातीति 'नखलु' (नाखूनों को काटने का औजार) इस एक पद के द्वारा असत् अर्थ रूप वस्तु को लेकर यह सम अलंकार भी घटित हो ही जाता है। श्लेष के द्वारा प्रतीत असत् अर्थ की इष्टावाप्ति की प्रतीति मात्र का उदाहरण भी हो सकता है, जैसे—

कोई नायक नायिका से कह रहा है:—हे सुन्दरी, तप सुगति के लिए होता है, यह सच ही है, क्योंकि कमल जल में रह कर सूर्य की ओर देखा करता है और इस तरह तपस्या करके तुम्हारे चरणरूपी जन्म को प्राप्त कर अन्य कमलों से अधिक सुन्दर बनकर सुगति को प्राप्त करता है।'

(यहाँ 'सुगति' के श्लेष के द्वारा इष्टावाप्तिप्रतीतिमात्र पाया जाता है, क्योंकि उत्तम लोक की गति के लिए तप करते हुए कमल को वह गति तो प्राप्त न हुई, किंतु नायिका के चरण वाले जन्म में सुगति (सुंदर गमन, अच्छी चाल) प्राप्त हुई। इस प्रकार 'गति' शब्द के श्लेष पर यहाँ कमल को केवल इष्टावाप्ति की प्रतीति होती है।)

४०. विचित्र अलंकार

९४—विचित्र कार्यकारणमूलक अलंकार है। जहाँ कोई व्यक्ति किसी फल की इच्छा से कोई यत्न करे, पर वह यत्न कविप्रतिभा के कारण काव्य में इस प्रकार सन्निवेशित किया जाय कि वह इच्छाप्राप्ति से विपरीत हो तो वहाँ विचित्र अलंकार होता है। उदाहरण के लिये, सज्जन व्यक्ति इस त्रैलोक्य से उन्नति प्राप्त करने के लिए नम्र होते हैं।

इस उदाहरण में उन्नति प्राप्त करने के लिए औन्नत्य का प्रयत्न करना चाहिए, जब कि सज्जन व्यक्ति ठीक उससे उलटा (नमनक्रियारूप) प्रयत्न कर रहे हैं, अतः यहाँ कारण कार्य का विचित्र मेल होने के कारण, विचित्र अलंकार है। अथवा जैसे—

कोई कवि अपने आश्रयदाता राजा की प्रशंसा कर रहा है। हे देव, आपकी कीर्ति दुष्ट

मित्राह्लादं कर्तुं मित्राय द्रुह्यति प्रतापोऽपि ॥ ६४ ॥

४१ अधिकालङ्कारः

अधिकं पृथुलाधाराादाधेयाधिक्यवर्णनम् ।
ब्रह्माण्डानि जले यत्र तत्र मान्ति न ते गुणाः ॥ ९५ ॥

अत्र 'यत्र महाजलौघेऽनन्तानि ब्रह्माण्डानि बुद्‌बुदकल्पानि' इत्याधारस्यातिविशालत्वं प्रदर्श्य तत्र 'न मान्ति' इत्याधेयानां गुणानामाधिक्यं वर्णितम् ।

यथा वा (माघे १।२३)—

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥ ६५ ॥

व्यक्तियों के मुख को मलिन बनाने के लिए, समस्त संसार को निर्मल बना रही है, और आपका प्रताप मित्रों को सुख देने के लिए ही मित्र (सूर्य) से शत्रुता कर रहा है-तेज से सूर्य की होड कर रहा है ।

यहाँ दुष्टमुखमलीनीकरण रूप कार्य के लिए जगद्विमलीकरण विपरीत प्रयत्न है, ऐसे ही मित्रसुखविधान के लिए मित्रद्रोह भी विपरीत प्रयत्न है, इसलिए विचित्र अलंकार है । इस उदाहरण के उत्तरार्ध में विचित्र अलंकार दूसरे 'मित्र' के द्व्यर्थप्रयोग (श्लेष) पर आधृत है ।

४१. अधिक

९५—जहाँ आधार अत्यधिक विशाल हो, किंतु फिर भी कवि (अपनी प्रतिभा के कारण) आधेय पदार्थ का वर्णन इस ढंग से करे कि वह आधार से अधिक बताया जाय, वहाँ अधिक अलंकार होता है । यथा, हे राजन् जिस महासमुद्र के जल में समस्त (अनेकों) ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं वहाँ तुम्हारे गुण नहीं समा पाते ।

इस उदाहरण में राजा के गुणों की अधिकता व्यंजित करना कवि का अभीष्ट है । यहाँ गुण आधेय हैं' जल आधार । जल इतना विशाल (पृथुल) है कि उस अनन्त महाजलौघ (जल के महान् समूह) में अनन्त ब्रह्माण्ड बुद्‌बुद् के समान दिखाई पड़ते हैं । कवि ने इस उक्ति के द्वारा जल की विशालता का संकेत किया है, पर इसका संकेत करने पर भी '(तुम्हारे गुण) नहीं समाते' इस उक्ति के द्वारा आधेय—राजा के गुणों—की अधिकता वर्णित की है । इस प्रकार यहाँ अधिक अलंकार है । अथवा जैसे,

प्रस्तुत पद्य शिशुपालवध के प्रथम सर्ग से उद्‌धृत है । देवर्षि नारद के आने पर श्रीकृष्ण को जो अनुपम आनन्द होता है, उसका वर्णन किया जा रहा है । कैटभदैत्य के मारने वाले उन विष्णुरूप कृष्ण के जिस शरीर में प्रलयकाल के समय अपने आपमें समेटे हुए समस्त लोक मजे से समाविष्ट हो जाते थे, उसी शरीर में देवर्षि नारद के आगमन से उत्पन्न आनन्द न समा पाया ।

यहाँ कृष्ण का शरीर आधार है, आनन्द आधेय । प्रलयकाल में समस्त लोकों का विष्णु के शरीर में समाविष्ट हो जाना, कृष्ण के शरीर (आधार) की विशालता का द्योतक है । इतना होने पर भी नारदागमनजनित प्रसन्नता (आधेय) की अधिकता का वर्णन करने के कारण अधिक अलंकार है । इसी उदाहरण में कृष्ण के लिए 'कैटभद्विषः' विशेष्य

पृथ्व्याधेयाद्यदाधाराधिक्यं तदपि तन्मतम् ।
क्रियद्वाग्ब्रह्म यत्रैते विश्राम्यन्ति गुणास्तव ॥ ९६ ॥

अत्र 'एते' इति प्रत्यक्षदृष्टमहावैभवत्वेनोक्तानां गुणानां 'विश्राम्यन्ति' इत्यसम्बाधावस्थानोक्त्या आधारस्य वाग्ब्रह्मण आधिक्यं वर्णितम् ।

यथा वा—

अहो विशालं भूपाल ! भुवनत्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥

अत्र यद्यप्युदाहरणद्वयेऽपि 'क्रियद्वाग्ब्रह्म' इति 'अहो विशालम्' इति चाधारयोः प्रशंसा क्रियते, तथापि तनुत्वेन सिद्धवत्कृतयोः शब्दब्रह्मभुवनोदरयोर्गुणयशोराश्यधिकरणत्वेनाधिकत्वं प्रकल्प्यैव प्रशंसा क्रियत इति तत्प्रशंसा प्रस्तुतगुणयशोराशिप्रशंसायामेव पर्यवस्यति ॥ ९६ ॥

का प्रयोग साभिप्राय है, जो कृष्ण के प्रलयकालीन योगनिद्रागत रूप का संकेत करता है । अतः इसमें परिकरांकुर अलंकार भी है ।

९६—जहाँ विशाल आधेय से भी आधार की अधिकता अधिक बताई गई हो, वहाँ भी अधिक अलंकार ही होता है । जैसे, हे भगवान् , जिस वाणी (वाग्ब्रह्म) में ये तुम्हारे अपरिमित गुण समा जाते हैं, वह शब्दब्रह्म कितना महान् होगा ?

यहाँ पर गुणों के साथ 'ये' (एते) का प्रयोग किया गया है; इसके द्वारा गुणों का वैभव प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, तथा गुण अत्यधिक हैं, किंतु वे गुण भी शब्दब्रह्म में विश्रान्त होते हैं, इस प्रकार वे विना किसी संकट के मजे से उस आधार (शब्दब्रह्म) में स्थित रहते हैं, इस उक्ति के द्वारा आधारभूत शब्दब्रह्म की अधिकता का वर्णन किया गया है । अतः यहाँ आधार के पृथुल आधेय से भी अधिक वर्णित किये जाने के कारण अधिक अलंकार है ।

अथवा जैसे,

कोई कवि आश्रयदाता राजा की प्रशंसा कर रहा है:—

हे राजन् , बड़ा आश्चर्य है, इन तीनों लोकों का उदर कितना विशाल है, क्योंकि तुम्हारा अपरिमेय यशःसमूह भी–जो बड़ी कठिनता से समा सकता है—इस भुवनत्रय के उदर में समा जाता है ।

इन दोनों उदाहरणों में यद्यपि कवि ने वाच्यरूप में 'क्रियद्वाग्ब्रह्म' तथा 'अहो विशालं' आदि के द्वारा आधार (शब्दब्रह्म और भुवनत्रय) की ही प्रशंसा की है, तथापि शब्दब्रह्म तथा भुवनत्रयोदर को यहाँ अधिक छोटा सिद्ध किया गया है, जिनके छोटे होने पर भी गुण और यशोराशिरूप आधेय समा जाते हैं, यही तो आश्चर्य का विषय है. अब यहाँ शब्दब्रह्म तथा भुवनत्रयोदर की प्रशंसा उन्हें छोटा तथा गुण और यशोराशि को अधिक बना कर ही की गई है, और इस प्रकार उनकी प्रसंसा वस्तुतः गुण तथा यशोराशि की ही प्रसंसा में पर्यवसित हो जाती है ।

इसलिए यदि कोई यह शंका करे कि यहाँ पर शब्दब्रह्मादि अप्रस्तुत की प्रसंसा करना, उनके आधिक्य का वर्णन करना अयुक्त है, तथा यह भी शंका करे कि यहाँ अप्रस्तुत की

४२ अल्पालङ्कारः

अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता ।
मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते ॥ ९७ ॥

अत्र मणिमालामय्यूर्मिका तावदङ्गुलिमात्रपरिमितत्वात्सूक्ष्मा सापि विरहिण्याः करे कङ्कणवत्प्रवेशिता तस्मिन् जपमालावल्लम्बत इत्युक्त्या ततोऽपि करस्य विरहकार्श्योदतिसूक्ष्मता दर्शिता ।

यथा वा—

यन्मध्यदेशादपि ते सूक्ष्मं लोलाक्षि ! दृश्यते ।
मृणालसूत्रमपि ते न सम्माति स्तनान्तरे ॥ ६७ ॥

प्रशंसा के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार क्यों नहीं माना जाता, तो इसका समाधान यह है कि यहाँ अप्रस्तुत (शब्दब्रह्मादि) के साथ ही साथ प्रस्तुत (गुणयशोराशि) का भी वाच्यरूप में अभिधान किया गया है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं हो सकती।

टिप्पणी—नन्वाधारयोः शब्दब्रह्मभुवनत्रयोदरयोरप्रस्तुतत्वेनाप्रशंसनीयत्वात्तदाधिक्यवर्णनमयुक्तमित्याशङ्क्याह—अत्रेति, न चात्राप्रस्तुतप्रशंसा शङ्कनीया, प्रस्तुतस्याप्यभिधानादिति । (अलंकारचन्द्रिका)

४२. अल्प अलंकार

९७—अल्प अलंकार अधिक अलंकार का बिलकुल उलटा है। जहाँ आधेय अत्यधिक सूक्ष्म हो, किंतु कवि आधार को उससे भी सूक्ष्म बताये, वहाँ अल्प अलंकार होता है। जैसे, मणिमालामयी अंगूठी आज (विरहदशा के कारण) तुम्हारे हाथ में जपमाला-सी प्रतीत हो रही है।

यहाँ मणिमालामयी मुद्रिका अंगुलिमात्र परिमाण की है, अतः अत्यधिक सूक्ष्म है, पर वह सूक्ष्म मुद्रिका भी विरहिणी के हाथ में कंकण की तरह प्रविष्ट हो कर जपमाला के रूप में लटक रही है, इस उक्ति के द्वारा कवि ने विरहकृशता के कारण कर को मुद्रिका से भी अधिक सूक्ष्म बताया है। इस प्रकार यहाँ आधार (कर) की सूक्ष्मता सूक्ष्म आधेय (मुद्रिका, ऊर्मिका) से भी अधिक बताई गई है, अतः यहाँ सूक्ष्म अलंकार है।

टिप्पणी—इसी का एक उदाहरण हिंदी के रीतिकालीन कवि केशव का यह प्रसिद्ध दोहा है।

तुम पूछत कहि मुद्रिके, मौन होति या नाम।
कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम॥ (रामचन्द्रिका)

अथवा जैसे,

हे चंचल नेत्रों वाली सुन्दरि, जो मृणालसूत्र तुम्हारे मध्यदेश से भी अधिक सूक्ष्म दिखाई देता है, वह भी तुम्हारे स्तनों के बीच में अवकाश नहीं पाता ? (तुम्हारे स्तन इतने निबिड़ तथा सघन हैं, परस्पर इतने संश्लिष्ट हैं कि एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म मृणालसूत्र भी उनके बीच नहीं समा सकता)।

यहाँ मृणालसूत्र (आधेय) की सूक्ष्मता श्लोक के पूर्वार्ध में उसे मध्यदेश से भी सूक्ष्म बता कर वर्णित की गई है। पर उत्तरार्ध में उसके आधार (स्तनान्तर) को उससे भी सूक्ष्म बता दिया गया है, अतः यहाँ अल्प अलंकार है।

टिप्पणी—इसी भाव की एक उक्ति कालिदास के कुमारसंभव में भी पाई जाती है:—

४३ अन्योन्यालङ्कारः

अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम् ।
त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया ॥ ९८ ॥

यथा वा—

यथोर्ध्वाक्षः पिबत्यम्बु पथिको विरलाङ्गुलिः ।
तथा प्रपापालिकापि धारां वितनुते तनुम् ॥

अत्र प्रपापालिकायाः पथिकेन स्वासक्त्या पानीयदानव्याजेन बहुकालं स्वमुखावलोकनमभिलपन्त्या विरलाङ्गुलिकरणतश्चिरं पानीयदानानुवृत्तिसम्पा-

---

'मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥'

यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि अल्प नामक अलंकार अन्य आलंकारिकों ने नहीं माना है। मम्मट, रुय्यक, जयदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका संकेत भी नहीं किया है। अप्पयदीक्षित ने स्वयं यह अलंकार कल्पित किया जान पड़ता है। अन्य आलंकारिक इसे अधिक अलंकार का ही भेद मानते जान पड़ते हैं। नागेश ने काव्यप्रकाश उद्योत में अल्प को अलग अलंकार मानने के मत का खण्डन किया है :—

'तेन यत्र सूक्ष्मत्वातिशयवत आधाराधेययोर्द्वा तदन्यतरस्यातिसूक्ष्मत्वं वर्ण्यते तत्राप्ययम्। यथा—'मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते' अत्र मणिमालामयी ऊर्मिका अंगुलीमितत्वादतिसूक्ष्मा, साऽपि विरहिण्याः करे तत्कंकणवत्प्रवेशिता तस्मिञ्जपमालावल्लम्बते इत्युक्त्या ततोऽपि करस्य विरहकार्श्यादतिसूक्ष्मता दर्शिता। एतेन ईदृशे विषयेऽल्पं नाम पृथगलंकार इत्यपास्तम्। उद्योत (काव्यप्रकाश पृ० ५५९)

४३. अन्योन्य अलङ्कार

९८—जहाँ दो वर्ण्य परस्पर एक दूसरे का उपकार करें, वहाँ अन्योन्य अलङ्कार होता है। जैसे, रात्रि चन्द्रमा के द्वारा सुशोभित होती है और चन्द्रमा रात्रि के द्वारा।

यहाँ चन्द्रमा रात्रि का उपकार कर रहा है, रात्रि चन्द्रमा का उपकार कर रही है, दोनों एक दूसरे का परस्पर उपकार कर रहे हैं, अतः यहाँ अन्योन्य अलङ्कार है।

अथवा जैसे,

कोई राहगीर किसी प्याउ पर पानी पी रहा है। पानी पिलाने वाली प्रपापालिका कोई सुन्दरी युवती है। उसे देखकर राहगीर पानी पीना भूल जाता है। वह हाथ की अंगुलियों को असंलग्न कर देता है, ताकि प्रपापालिका के द्वारा गिराया हुआ पानी नीचे बहता रहे और इस बहाने वह पानी पीता रहे। प्रपापालिका भी उसके भाव को ताड़ जाती है, वह समझ जाती है कि यह जल पीने का बहाना है, वस्तुतः वह उसके 'पानिप' का पिपासु है। वह भी पानी की धारा को मन्द कर देती है, ताकि राहगीर को यथेष्ट दर्शनावसर मिले।

'पथिक जैसे ही विरल अंगुलियाँ किए, ऊपर आँखें उठाए, पानी पी रहा है, वैसे ही प्रपापालिका भी पानी की धारा को मन्दा कर देती है।'

यहाँ राहगीर ने अंगुलियों को विरल (असंलग्न) करके बड़ी देर पानी देने की (मौन) प्रार्थना के द्वारा उस प्रपापालिका,—जो पानी पिलाने के बहाने अपने प्रति लोगों का बड़ी

दनेनोपकारः कृतः। तथा प्रपापालिकयापि पानीयपानव्याजेन चिरं स्वमुखावलोकनमभिलषतः पथिकस्य धारातनूकरणतश्चिरं पानीयपानानुवृत्तिसम्पादनेनोपकारः कृतः। अत्रोभयोर्व्यापाराभ्यां स्वस्वोपकारसद्भावेऽपि परस्परोपकारोऽपि न निवार्यते ॥ ९८ ॥

४४ विशेषालङ्कारः

विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम्।
गतेऽपि सूर्ये दीपस्थास्तमश्छिन्दन्ति तस्कराः ॥ ९९ ॥

देर तक आकर्षण पसन्द करती है, बड़ी देर तक अपने मुख का अवलोकन कराना चाहती है—उपकार किया है। इसी प्रकार प्रपापालिका ने पानी पीने के बहाने बड़ी देर तक अपने मुख को देखने की इच्छा वाले पथिक का—जल की धारा को मन्दा बनाकर पानी पिलाने की चेष्टा के द्वारा—उपकार किया है। इस प्रकार दोनों ने एक दूसरे का उपकार किया है, अतः यहाँ अन्योन्य अलङ्कार है। यहाँ यद्यपि दोनों—पथिक और प्रपापालिका—के व्यापार के द्वारा अपना अपना उपकार किया जा रहा है, तथापि वे एक दूसरे का भी उपकार अवश्य कर रहे हैं, अतः उनके द्वारा विहित परस्परोपकार का निषेध नहीं किया जा सकता।

टिप्पणी—पण्डितराज जगन्नाथ ने इस सम्बन्ध में कुवलयानन्दकार के इस उदाहरण की आलोचना की है। वे इस विषय में अप्पयदीक्षित की मीमांसा से दोष बताते हैं। प्रथम, तो दीक्षित जी की 'अत्र प्रपापालिकायाः···पानीयदानानुवृत्तिसंपादनेनोपकारः कृतः' इस वृत्तिभाग की पदरचना को ही पण्डितराज ने दुष्ट तथा व्युत्पत्तिशिथिल बताया है। 'तावदियं पदरचनैवायुष्मतो ग्रन्थकर्तुर्व्युत्पत्तिशैथिल्यमुद्गिरति।' (रस० पृ० ६१२) यहाँ प्रपापालिका के साथ पहले वाक्य में प्रयुक्त 'स्वमुखावलोकनमभिलषन्त्याः' तथा द्वितीय वाक्य में पथिक के साथ प्रयुक्त 'स्वमुखावलोकनमभिलषतः' में प्रयुक्त 'स्व' शब्द का बोधकत्व ठीक नहीं बैठता; यह पदरचना इतनी शिथिल है कि प्रथम 'स्व' शब्द पान्थ के साथ अन्वित जान पड़ता है, दूसरा 'स्व' शब्द प्रपापालिका के साथ। जब कि कवि का भाव भिन्न है। अतः यह 'स्व' शब्द का प्रयोग ठीक उसी तरह दुष्ट है, जैसे 'निजतनुस्वच्छलावण्यवापीसंभूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः' में 'भवान्याः' के साथ अभीष्टसम्बन्ध 'निज' शब्द 'दण्डपादः' के साथ संबद्ध जान पड़ता है। दूसरे, यह उदाहरण भी 'अन्योन्य' अलंकार का नहीं है। यहाँ पथिक ने अंगुलियाँ इसलिए विरल कर रखी हैं कि वह खुद प्रपालिका को देखना चाहता है, इसी तरह प्रपालिका ने धारा इसलिए मन्दी कर दी है कि वह खुद पथिक के मुख को देखना चाहती है, इस प्रकार यहाँ 'स्व-स्वकर्तृकचिरकालदर्शन' ही अभीष्ट है तथा वही चमत्कारी है, 'परकर्तृकचिरकालनिजदर्शन' नहीं, अतः परस्परोपकार नहीं है। इसलिये अन्योन्य अलंकार के उदाहरण के रूप में इस पद्य का उपन्यास ठीक नहीं जान पड़ता। (इह हि धारातनूकरणाङ्गुलिविरलीकरणयोः कर्तृभ्यां स्व-स्वकर्तृकचिरकालदर्शनार्थं प्रयुक्तयोस्तत्रैवोपयोगश्चमत्कारी, नान्यकर्तृकचिरकालदर्शन इत्यनुदाहरणमेवैतदस्यालङ्कारस्येति सहृदया विचारयन्तु।)

(रसगंगाधर पृ० ६१४)

४४. विशेष अलङ्कार

९९—हम देखते हैं कि कोई भी आधेय किसी आधार के बिना स्थित नहीं रह पाता। कवि कभी-कभी अपनी प्रतिभा से आधार के बिना भी आधेय का वर्णन कर देता है।

यथा वा—

कमलमनम्भसि कमले कुवलये तानि कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥

अत्राद्ये सूर्यस्य प्रसिद्धाधारस्याभावेऽपि तत्कराणामन्यत्रावस्थितिरुक्ता। द्वितीये त्वम्भसः प्रसिद्धाधारस्याभावेऽपि कमल-कुवलययोरन्यत्रावस्थितिरुक्ता। क्वचित्प्रसिद्धाधाररहितानामाधारान्तरनिर्देशं विनैवाप्रलयमवस्थितेर्वर्णनं दृश्यते।

यथा वा (रुद्रटा०)

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ॥

अत्र कवीनामभावेऽपि तद्गिरामाधारान्तरनिर्देशं विनैवाप्रलयमवस्थितिर्वर्णिता ॥ ६६ ॥

जहाँ किसी प्रसिद्ध आधार के बिना ही आधेय का वर्णन किया जाय, वहाँ विशेष अलङ्कार होता है। जैसे, सूर्य के चले जाने पर (अस्त हो जाने पर) भी उसकी किरणें दीपक में स्थित रहकर अन्धकार का नाश करती हैं।

यहाँ सूर्य की किरणें आधेय हैं, सूर्य आधार, सूर्यरूप प्रसिद्ध आधार के बिना भी यहाँ तत्किरणों (आधेय) का वर्णन किया गया है, अतः यहाँ 'विशेष' अलङ्कार है।

अथवा जैसे,

'पता नहीं' यह कौन सी उत्पात परम्परा है बिना पानी के भी कमल (मुँह) विद्यमान है और उस कमल में भी दो कमल (नेत्र) हैं। ये तीनों कमल सुवर्ण की लता (सुन्दरी का कलेवर) में लगे हुए हैं। यह सुवर्ण की लता अत्यधिक कोमल तथा सुन्दर है।'

यहाँ कवि किसी नायिका का वर्णन कर रहा है, उसे नायिका की सुवर्णलता सदृश गात्रयष्टि की सुकुमारता तथा उसमें विद्यमान कमलसदृश मुख तथा कुवलयद्वयसदृश नेत्रद्वय का वर्णन करना अभीष्ट है। किन्तु यहाँ भी बिना जल (आधार) के कमल (आधेय) की स्थिति का वर्णन किया गया है, अतः विशेष अलङ्कार है।

यहाँ प्रथम उदाहरण में सूर्य अपनी किरणों का प्रसिद्ध आधार है, उसके अभाव में भी सूर्यकिरणों की स्थिति का वर्णन किया गया है। इसी तरह दूसरे उदाहरण में जल कमल का प्रसिद्ध आधार है, उसके बिना भी कमल-कुवलय की कनकलतिका में स्थिति वर्णित की गई है। (अतः आधार के बिना आधेय का वर्णन होने से, विशेष अलंकार है।)

कभी-कभी प्रसिद्ध आधार से रहित आधेयों का कोई अन्य आधार नहीं बताया जाता (जैसे पूर्वोदाहृत उदाहरणों में दीपक तथा कनकलतिका के आधारान्तर की कल्पना की गई है) तथा किसी आधारविशेष के बिना ही उनकी आप्रलयस्थिति का वर्णन किया जाता है। जैसे—

यद्यपि कवि स्वर्ग को चले जाते हैं, तथापि उनकी अत्यधिक गुणों से युक्त वाणी प्रलयपर्यन्त (आकल्प) समस्त लोकों को प्रसन्न किया करती हैं। भला बताइये, ऐसे कवि क्यों कर वन्दनीय नहीं हैं? अर्थात् ऐसे कवि निःसंदेह वंदनीय हैं, जिनकी वाणी उनके स्वर्गत होने पर भी समस्त लोकों को आकल्प आनंदित करती रहती हैं।

यहाँ कवि आधार है, वाणी आधेय। कविरूप आधार के स्वर्गत होने पर उसके

विशेषः सोऽपि यद्येकं वस्त्वनेकत्र वर्ण्यते ।
अन्तर्बहिः पुरः पश्चात् सर्वदिक्ष्वपि सैव मे ॥ १०० ॥

यथा वा—

हृदयान्नापयातोऽसि दिक्षु सर्वासु दृश्यसे ।
वत्स राम ! गतोऽसीति सन्तापेनानुमीयसे ॥ १०० ॥

किंचिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च सः ।
त्वां पश्यता मया लब्धं कल्पवृक्षनिरीक्षणम् ॥ १०१ ॥

अभाव में भी किसी अन्य आधार का निर्देश न करते हुए आधेय (कविगिरा) की आप्रलय स्थिति का वर्णन किया गया है, अतः यह भी विशेष अलंकार है।

१००—जहाँ एक ही वस्तु का अनेकत्र वर्णन किया जाय, वहाँ भी विशेष अलंकार ही होता है।

जैसे, हे वत्स राम, तुम मेरे हृदय से नहीं हटते हो, मुझे सारी दिशाओं में तुम्हीं दिखाई देते हो, हे राम, तुम वैसे तो मेरी आँखों के सामने हो, मुझे हर दिशा में दिखाई दे रहे हो, पर यह संताप इस बात का अनुमान करा रहा है कि तुम चले गये हो।

यहाँ राम का अनेकत्र वर्णन किया गया है, अतः विशेष अलंकार है।

टिप्पणी—विशेष अलंकार के इस दूसरे भेद का एक उदाहरण यह दिया जा सकता है:—

प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा,
पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगातुरस्य ।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोयमद्वैतवादः ॥

१०१—जहाँ किसी वस्तु के आरंभ से अन्य अशक्य वस्तु की रचना का वर्णन किया जाय, वहाँ भी विशेष (तीसरा भेद) होता है। जैसे, हे राजन्, तुम्हें देखकर मैंने कल्पवृक्ष का दर्शन कर लिया है।

यहाँ राजा के दर्शनारंभ से कल्पवृक्षरूप अशक्य वस्त्वन्तर (दूसरी वस्तु) के दर्शन की कल्पना की गई है। अतः यहाँ विशेष का तीसरा प्रकार है।

टिप्पणी—पण्डितराज जगन्नाथ ने विशेष अलंकार के तीसरे प्रकार का विवेचन करते हुए प्राचीनों का मत दिया है, तथा उनके अनुसार इस प्रकार की अशक्यवस्त्वंतरकरणपूर्वक शैली में विशेष अलंकार माना है। इसी संबंध में 'येन दृष्टोऽसि देव त्वं तेन दृष्टः सुरेश्वरः' इस उदाहरण में उन्होंने विशेष अलंकार नहीं माना है। वे यहाँ निदर्शना अलंकार मानते हैं। इसी तरह कुवलयानंदकार के द्वारा उदाहरण 'त्वां पश्यता मया लब्धं कल्पवृक्षनिरीक्षणम्' में भी वे निदर्शना ही मानते हैं। वे इस संबंध में दो उदाहरण देते हैं:—

१. किं नाम तेन न कृतं सुकृतं पुरारे दासीकृता न खलु का भुवनेषु लक्ष्मीः ।
भोगा न के बुभुजिरे विबुधैरलभ्या येनार्चितोसि करुणाकर हेलयापि ॥

यहाँ पुरारि की पूजा करने से त्रिवर्ग का अशक्यवस्त्वन्तरकरणत्व वर्णित है। यहाँ शिवपूजा के साथ पुण्यकरणादि की कोई सादृश्यविवक्षा नहीं पाई जाती, अतः इसमें निदर्शना नहीं माना जा सकता, जैसा कुवलयानन्दकार के द्वारा दिये गये उदाहरण में है। यहाँ विशेष का तीसरा भेद है।

यथा वा—

स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजतानवद्यविद्यम् ।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥

अत्राद्ये राजदर्शनारम्भेण कल्पवृक्षदर्शनरूपाशक्यवस्त्वन्तरकृतिः । द्वितीये राजसृष्ट्यारम्भेण मनोभ्वादिसृष्टिरूपाऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिः ॥ १०१ ॥

४५ व्याघातालङ्कारः

स्याद्व्याघातोऽन्यथाकारि तथाऽकारि क्रियेत चेत् ।
यैर्जगत्प्रीयते, हन्ति तैरेव कुसुमायुधः ॥ १०२ ॥

यद् यत्साधनत्वेन लोकेऽवगतं तत् केनचित्तद्विरुद्धसाधनं क्रियेत चेत्स व्याघातः । यद्वा,—यत्, साधनतया केनचिदुपात्तं तदन्येन तत्प्रतिद्वन्द्विना तद्विरुद्धसाधनं क्रियेत चेत्सोऽपि व्याघातः । तत्राद्य उदाहृतः ।

---

२. लोभाद्वराटिकानां विक्रेतुं तक्रमविरतमटन्त्या ।
लब्धो गोपकिशोर्या मध्येरथ्यं महेन्द्रनीलमणिः ॥

इस उदाहरण में प्रहर्षण तथा विशेष अलंकार का संकर पाया जाता है ।

अथवा जैसे—

कोई कवि आश्रयदाता राजा की सुन्दरता, प्रताप तथा बुद्धिमत्ता की प्रशंसा कर रहा है । हे राजन् , अत्यधिक अद्भुत सौंदर्य वाले, प्रताप से जाज्वल्यमान और निष्कलुष पवित्र विद्या वाले तुम्हें बना कर ब्रह्मा ने निःसंदेह पृथ्वी पर नवीन कामदेव, सूर्य तथा बृहस्पति की (एक साथ) रचना की है ।

इन दोनों उदाहरणों में प्रथम में राजदर्शनारंभ के द्वारा कल्पवृचदर्शन रूप अशक्य वस्त्वंतर की कल्पना की गई है । इस दूसरे उदाहरण में राजा की रचना के आरम्भ के द्वारा नवीन कामदेव, सूर्य तथा बृहस्पति की सृष्टि वाली अशक्यवस्त्वंतरकृति पाई जाती है । अतः इन दोनों उदाहरणों में विशेष अलंकार है ।

४५. व्याघात अलंकार

१०२—जहाँ किसी कार्यविशेष के साधन के रूप में प्रसिद्ध कोई पदार्थ उस कार्य से विरुद्ध कार्य को उत्पन्न करे, वहाँ व्याघात अलंकार होता है । जैसे, जिन पुष्पों से संसार प्रसन्न होता है, उन्हीं पुष्पों से कामदेव संसार को मारता है । यहाँ पुष्प विरहियों के लिए संतापक होते हैं, इसका संकेत किया गया है । पुष्प वस्तुतः प्रसन्नताप्रद है, किंतु उससे ही तद्विरुद्ध क्रिया-संताप की उत्पत्ति बतायी गयी है । अतः पुष्प के विरुद्ध क्रियोत्पादक होने के कारण यहाँ व्याघात अलंकार हुआ ।

जहाँ कोई पदार्थ किसी विशेष कार्य के साधन रूप में संसार में प्रसिद्ध हो, तथा उसी पदार्थ से किसी उस कार्य से विरुद्ध कार्य की सिद्धि हो तो वहाँ व्याघात अलंकार होता है । अथवा, जहाँ किसी कार्य के लिये कोई साधन अभीष्ट हो, किंतु उस साधन से विरुद्ध या प्रतिद्वन्द्वी अन्य साधन के द्वारा उसके विरुद्ध कार्य की सिद्धि हो जाय, वहाँ भी व्याघात होता है । इससे प्रथम कोटि का उदाहरण 'यैर्जगत्प्रीयते' इत्यादि दिया गया है । दूसरे का उदाहरण निम्न है :—

द्वितीयो यथा (विद्ध० भ० १।१)—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः॥ १०२॥

सौकर्येण निबद्धापि क्रिया कार्यविरोधिनी।
दया चेद् बाल इति मय्यपरित्याज्य एव ते॥ १०३॥

कार्यविशेषनिष्पादकतया केनचित्सम्भाव्यमानार्थादन्येन कार्यविरोधिक्रियासौकर्येण समर्थ्यते चेत् सोऽपि व्याघातः। कार्यविरुद्धक्रियायां सौकर्यं कारणस्य सुतरां तदानुगुण्यम्। यथा जैत्रयात्रोन्मुखेन राज्ञा युवराजस्य राज्य एव

विरूपाक्ष महादेव को (भी) जीतने वाली उन वामलोचनाओं (सुन्दरियों) की मैं स्तुति करता हूँ, जो शिव के द्वारा (तृतीय) नेत्र से जलाए हुए कामदेव को नेत्रों से ही पुनर्जीवित कर देती है।

यहाँ शिव के नेत्र ने कामदेव को भस्म कर दिया, पर उसके प्रतिद्वन्द्वी सुन्दरीनेत्रों ने पुनः उसे जीवित कर, तद्विपरीतक्रिया कर दी। अतः यहाँ व्याघात है।

टिप्पणी—इस उदाहरण के सम्बन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ ने एक पूर्वपक्षीमत का संकेत दिया है, जो यहाँ व्याघात अलंकार न मानकर इसका अन्तर्भाव व्यतिरेक अलंकार में ही मानते हैं। इस पूर्वपक्ष के मतानुसार व्याघात अलंकार वस्तुतः व्यतिरेक अलंकार का मूल है, अतः उसे स्वयं अलंकार मानना ठीक नहीं, क्योंकि किसी अलंकार का उत्थापक स्वयं भी अलंकार होता हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। व्याघात अलंकार के स्थल में नियमतः व्यतिरेक अलंकार फलरूप में अवश्य होता है। इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए सिद्धान्त पक्ष की स्थापना करते कहा गया है कि यद्यपि व्याघात अलंकार सर्वत्र व्यतिरेक का उत्थापक है, तथापि हम देखते हैं कि प्राचीन आलंकारिकों ने कई ऐसे अलंकारों को जो अन्य अलंकारों से संबद्ध हैं, इसलिए पृथक् अलंकार मान लिया है कि वे पृथक् रूप से विच्छित्ति (चमत्कार या शोभा) विशेष के उत्पादक होते हैं, इसी तरह यहाँ भी व्याघातांश के विच्छित्तिविशेष जनक होने के कारण उसे व्यतिरेक से भिन्न अलंकार माना गया है। (तस्मादलंकारान्तराविनाभूतालंकारान्तरवदिहाप्यवान्तरोऽस्ति विच्छित्तिविशेषोऽलंकारभेदक इति प्राचामुक्तिरेवात्र शरणम्। (रसगंगाधर पृ० ६१९)

१०३—इसी अलंकार के अन्य भेद का वर्णन करते हैं:—

जहाँ कारणानुकूल होने पर कवि क्रिया का इस प्रकार वर्णन करे कि वह अन्य व्यक्ति को अभिमत कार्य के विरुद्ध हो, वहाँ व्याघात का अन्य प्रकार होता है। जैसे,

कोई राजा युवराज को बालक समझ कर अपने साथ युद्ध में नहीं ले जाना चाहता। इसी का उत्तर देते हुए राजकुमार कहता है कि, यदि मुझे बालक समझ कर आप मेरे प्रति दया करने के कारण मुझे साथ नहीं ले जा रहे हैं, तो फिर मैं बालक होने के कारण अपरित्याज्य हूँ—मैं बालक हूँ इसलिये मुझे आपके द्वारा अकेला पीछे छोड़ा जाना भी तो ठीक नहीं।

जहाँ वक्ता किसी विशेष कार्य के हेतु होने के कारण किसी हेतु के सम्भावित अर्थ से भिन्न कार्य की विरोधी क्रिया के कारण रूप में उसी हेतु का समर्थन करे, वहाँ भी व्याघात अलंकार होता है। किसी कार्य से विरुद्ध अन्य क्रिया में सौकर्य होने का तात्पर्य यह है कि कारण उस क्रिया के सर्वथा अनुकूल बन जाय। जैसे, जय के लिए प्रस्थित राजा ने जिस बाल्यावस्था को कारण मानकर युवराज के राज्य में ही रखने की सम्भावना की,

स्थापने यत्कारणत्वेन सम्भावितं बाल्यं तत्प्रत्युत तद्विरुद्धस्य सहनयनस्यैव कारणतया युवराजेन परित्यागस्यायुक्तत्वं दर्शयता समर्थ्यते ।

यथा वा—

लुब्धो न विसृजत्यर्थं नरो दारिद्र्यशङ्कया ।
दातापि विसृजत्यर्थं तयैव- ननु शङ्कया ॥

अत्र पूर्वोत्तरार्धे पक्षप्रतिपक्षरूपे कयोश्चिद्वचने इति लक्षणानुगतिः ॥ १०३ ॥

४६ कारणमालालङ्कारः

गुम्फः कारणमाला स्याद्यथाप्राक्प्रान्तकारणैः ।
नयेन श्रीः श्रिया त्यागस्त्यागेन विपुलं यशः ॥ १०४ ॥

उसी कारण को लेकर राजकुमार ने उस कार्य से भिन्न क्रिया-साथ में ले जाने-को कारण के रूप में उपन्यस्त कर उसे छोड़ना ठीक नहीं है, इस बात का समर्थन किया है ।

अथवा जैसे—

'लोभी व्यक्ति इसलिये धन का दान नहीं करता कि कहीं वह दरिद्र न हो जाय । दानी व्यक्ति धन का दान इसलिये करता है कि उसे दरिद्र न होना पड़े ।

यहाँ पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध में पक्षप्रतिपक्षरूप में दो व्यक्तियों की उक्तियाँ कही गई हैं । प्रथम हेतु को ही द्वितीयार्ध में तद्भिन्न क्रिया का साधन बनाया गया है, अतः यहाँ भी व्याघात अलंकार का लक्षण अन्वित हो जाता है ।

टिप्पणी—पण्डितराज ने कुवलयानन्दकार के इस उदाहरण ('लुब्धो न विसृजत्यर्थम्' इत्यादि) का खण्डन किया है । वे बताते हैं कि यह व्याघात का उदाहरण नहीं है । (यत्तु—'लुब्धो न...' इति कुवलयानन्द उदाहृतम्, तन्न—रसगंगाधर पृ० ६१९) पण्डितराज इसे व्याघात का उदाहरण इसलिए नहीं मानते कि पहले वाक्य में लोभी के पक्ष में 'मैं दरिद्र न बन जाऊँ' इस प्रकार वर्तमानकालिक दारिद्र्य की शंका अन्वित होती है । दूसरे वाक्य में दानी के पक्ष में 'मैं अगले जन्म में दरिद्र न बनूँ' यह जन्मांतरीय (अन्य जन्म सम्बन्धी) दारिद्र्य-शंका अन्वित होती है । इस प्रकार लुब्ध तथा दानी के पक्ष में दोनों कारण एक ही नहीं हैं, भिन्न २ हैं, फलतः व्याघात न हो सकेगा ।

पण्डितराज के इस आक्षेप का उत्तर वैद्यनाथ ने दिया है, वे बताते हैं कि इन दोनों कारणों में अभेदाध्यवसाय मानने से दोनों में अभेदप्रतिपत्ति होगी, तदनन्तर इस उदाहरण में व्याघात का लक्षण घटित हो जायगा ।

यद्यपि दारिद्र्यस्य तात्कालिकत्वेन जन्मान्तरीयत्वेन च शङ्का भिन्ना तथाप्यभेदाध्यवसायात् लक्षणसमन्वय इति बोध्यम् । (चन्द्रिका पृ० १२५)

४६. कारणमाला

१०४—जहाँ पूर्व पूर्व पद क्रम से आगे के पदों के कारण हों, अथवा उत्तर उत्तर पद पूर्व पूर्व पदों के कारण हों, वहाँ कारणमाला होती है । जैसे, नीति से लक्ष्मी, लक्ष्मी से दान और दान से विपुल यश होता है ।

यहाँ नीति, लक्ष्मी तथा दान क्रमशः उत्तरोत्तर कार्य के कारण हैं ।

उत्तरोत्तरकारणभूतपूर्वपूर्वैः पूर्वपूर्वकारणभूतोत्तरोत्तरैर्वा वस्तुभिः कृतो गुम्फः कारणमाला। तत्राद्योदाहृता।

द्वितीया यथा–

भवन्ति नरकाः पापात्, पापं दारिद्र्यसम्भवम्।
दारिद्र्यमप्रदानेन, तस्माद्दानपरो भवेत् ॥ १०४ ॥

४७ एकावल्यलङ्कारः

गृहीतमुक्तरीत्यार्थश्रेणिरेकावलिर्मता।
नेत्रे कर्णान्तविश्रान्ते कर्णौ दोःस्तम्भदोलितौ ॥ १०५ ॥
दोःस्तम्भौ जानुपर्यन्तप्रलम्बनमनोहरौ।
जानुनो रत्नमुकुराकारे तस्य हि भूभुजः ॥ १०६ ॥

उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणभावः पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरविशेषणभावो वा गृहीतमुक्तरीतिः। तत्राद्यः प्रकार उदाहृतः।

द्वितीयो यथा—

दिक्कालात्मसमैव यस्य विभुता यस्तत्र विद्योतते

यहाँ उत्तरोत्तर के कारणभूत पूर्व वस्तुओं का गुम्फ अथवा पूर्व पूर्व के कारणभूत उत्तरोत्तर वस्तुओं का गुम्फ हो वहाँ कारणमाला होती है। यहाँ 'नयेन श्रीः' आदि उदाहरण में पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर का कारण है, अतः पहले ढंग की कारणमाला है। दूसरे ढंग की कारणमाला निम्न पद्य में है, जहाँ पूर्व पूर्व कार्य का उत्तरोत्तर कारण पाया जाता है :—

पाप के कारण नरक मिलता है, दारिद्र्य के कारण पाप होता है, दान न देने के कारण दारिद्र्य होता है, इसलिए (सदा) दानी बनना चाहिए।

४७. एकावली अलंकार

१०५-१०६—जहाँ अनेकों पदार्थों की श्रेणी इस तरह निबद्ध की जाय कि पूर्व-पूर्व पद का उत्तरोत्तर पद के विशेषण या विशेष्य के रूप में ग्रहण या त्याग किया जाय, वहाँ एकावली अलंकार होता है। (जिस तरह एकावली या हार में मोती माला के रूप गुंफित रहते हैं, वैसे ही यहाँ पदार्थों के विशेष्यविशेषणभाव के ग्रहण या त्याग की अवली होती है।) इसका उदाहरण यह है। उस राजा के नेत्र कर्णान्त तक लंबे हैं, उसके कान दोनों हाथ रूपी स्तम्भों के द्वारा आन्दोलित हैं, उसके दोनों हाथ रूपी स्तम्भ घुटनों तक लंबे तथा सुंदर हैं तथा उसके घुटने रत्नदर्पण के सदृश मनोहर हैं।

यहाँ नेत्र से लेकर घुटनों तक परस्पर उत्तरोत्तर विशेष्यविशेषणभाव की अवली पाई जाती है।

एकावली में यह विशेष्यविशेषणभाव दो तरह का होता है, या तो उत्तरोत्तर पद पूर्व पूर्व पद का विशेषण हो, या पूर्व पूर्व पद उत्तरोत्तर पद का विशेषण हो, इसी को ग्रहणरीति तथा मुक्तरीति कहते हैं। प्रथम प्रकार का उदाहरण कारिका में दिया गया है। द्वितीय का उदाहरण, जैसे—

कामदेव के शत्रु महादेव की वे सब (आठों) मूर्तियाँ आप लोगों की रक्षा करें, जिस मूर्ति की दिक् तथा काल के समान विभुता है (आकाश), जो उसमें (आकाश में)

यत्रामुष्य सुधीभवन्ति किरणा राशेः स यासामभूत् ।
यस्तत्पित्तमुपःसु योऽस्य हविषे यस्तस्य जीवातवे
वोढा यद्गुणमेष मन्मथरिपोस्ताः पान्तु वो मूर्तयः ॥ १०५-१०६ ॥

४८ मालादीपकालङ्कारः

दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते ।
स्मरेण हृदये तस्यास्तेन त्वयि कृता स्थितिः ॥ १०७ ॥

अत्र स्थितिरिति पदमेकं, स्मरेण तस्या हृदये स्थितिः कृता, तेन तस्य

चमकता है (सूर्य), जिसमें इस (सूर्य) की किरणें अमृत बन जाती हैं (चन्द्रमा), वह (चन्द्र) जिनकी राशि (अपां राशिः—समुद्र) से उत्पन्न हुआ (जल), जो इनका (जल) पित्त है (अग्नि); जो इसे (अग्नि को) हवि देता है (यजमान), जो उसके (यजमान के) जीवन के लिए प्राणाधायक है (वायु), और जिसके गुण (पृथिवी के गुण गंध) को यह (वायु) बहा के ले जाता है (पृथिवी)। इस प्रकार आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, जल, अग्नि, यजमान, वायु तथा पृथिवी के रूप में स्थित शिव की अष्टमूर्तियाँ तुम्हारी रक्षा करें।

यहाँ आकाश से लेकर पृथिवी रूप पूर्व पूर्व पदार्थ उत्तरोत्तर के विशेषण हैं. अतः एकावली अलंकार है।

४८ मालादीपक अलंकार

१०७—जहाँ एक साथ दीपक तथा एकावली दोनों अलंकारों की स्थिति हो, वहाँ मालादीपक होता है। इसका उदाहरण है। (कोई दूती नायक से कह रही है।) हे नायक, उस नायिका के हृदय में कामदेव ने निवास किया है और उस नायिका के हृदय ने तुझ में निवास किया है।

टिप्पणी—काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने इस अलंकार को दीपक अलंकार के प्रकरण में ही वर्णित किया है।

यहाँ 'स्थितिः कृता' का अन्वय कामदेव तथा हृदय दोनों के साथ लगता है, इसलिए दीपक अलंकार है। इसी उदाहरण में पहले तो नायिका के हृदय का ग्रहण कामदेव के निवासस्थान के रूप में किया गया, फिर नायक को नायिका के हृदय का आधार बनाकर पहले निवासस्थान का त्याग किया, अतः ग्रहणत्याग की रीति के कारण एकावली भी हुई। इन दोनों अलंकारों का एक साथ सन्निवेश होने से यहाँ मालादीपक अलंकार है।

टिप्पणी—रसिकरंजनीकार ने बताया है कि कुछ विद्वान् मालादीपक को अलग से अलंकार नहीं मानते। वे इसे दीपक तथा एकावली का संकर मानते हैं। यदि संकर होने पर भी इसे अलग अलंकार माना जायगा, तो अलंकारों के दूसरे संकर भी संकर में अन्तर्भावित न होंगे। रसिकरंजनीकार मालादीपक को अलग से अलंकार मानने की पुष्टि करते हैं। वस्तुतः यहाँ दीपक अलंकार इसलिए नहीं माना जा सकता कि (वक्ष्यमाण) 'संग्रामांगण' इत्यादि पद्य में कोदण्डादि सभी प्रस्तुत हैं, जब कि दीपक में प्रस्तुताप्रस्तुत का एकधर्माभिसंबंध पाया जाता है। अतः यहाँ प्रस्तुताप्रस्तुतैकधर्मान्वय दीपक नहीं है। यदि कोई यह कहे कि यहाँ प्रस्तुतैकरूपधर्मान्वय होने के कारण तुल्ययोगिता मान ली जाय, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि फिर यहाँ तुल्ययोगितासंकर होगा। असल बात यह है कि मालादीपक के प्रकरण में

हृदयेन त्वयि स्थितिः कृतेत्येवं वाक्यद्वयान्वयि। अतो दीपकम्, गृहीतमुक्त-रीतिसद्भावादेकावली चेति दीपकैकावलीयोगः।

यथा वा—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते,
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः, शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं,
तेन त्वं, भवता च कीर्तिरतुला, कीर्त्या च लोकत्रयम्॥

अत्र 'येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्' इति संक्षेपवाक्यस्थितमेकं 'समासादितम्' इति पदं 'कोदण्डेन शराः' इत्यादिषु षट्स्वपि विवरणवाक्येषु तत्तदुचितलिङ्गवचनविपरिणामेनान्वेतीति दीपकम्। शरादीनामुत्तरोत्तरविशेषणभावादेकावली चेति दीपकैकावलीयोगः॥ १०७॥

चमत्कार अलंकार संकर की तरह दो या अधिक अलंकारों के मिश्रण के कारण नहीं है। यहाँ कारक क्रिया वाले दीपक तथा एकावली का योग होने से विशेष चमत्कार पाया जाता है, अतः उसे अलग अलंकार मानना ठीक है।

'अत्र केचित्—'मालादीपकं नालंकारान्तरं, किंतु अलंकारद्वयसंकरवद्दीपकोत्थापितत्वादेकावल्यास्तयोः संकर एव। अन्यथा अलंकारान्तरस्यापि संकरवद्भिर्भावापत्ते' रित्याहुः। वस्तुतस्तु, नात्र दीपकसंभवः। उदाहरणे कोदण्डादीनां सर्वेषामपि प्रस्तुतत्वेन प्रस्तुताप्रस्तुतैकधर्मान्वयदीपकस्यात्र प्रसरायोगात्। न चास्तु प्रकृतैकरूपधर्मान्वयात्तुल्ययोगितेति वाच्यम्। तथात्वे तत्संकरापत्तेरिति। वस्तुतस्तु, नात्रालंकारसंकरवत् संकरमात्रकृतो विच्छित्तिविशेषः। नियतदीपकैकावली योगकृतविच्छित्तिविशेषस्यालंकारांतरनिर्वाहकत्वात्। इति।' (रसिकरंजनी पृ० १७७-७८)

यहाँ 'स्थितिः' यह एक पद, कामदेव ने उसके हृदय में स्थिति की और उस हृदय ने तुममें स्थिति की, इस प्रकार दो वाक्यों के साथ अन्वित होता है। इसलिए यहाँ दीपक अलंकार है। साथ यहाँ गृहीत मुक्तरीति वाली एकावली भी है, अतः दीपक तथा एकावली का योग है। अथवा जैसे—

'कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा कर रहा है—हे देव, जब आपने संग्रामभूमि में आकर धनुष चढ़ाया, तो जिस जिस वस्तु ने जिस जिस वस्तु को प्राप्त किया, वह सुनो। (तुम्हारे) धनुष ने बाणों को प्राप्त किया, बाणों ने शत्रुओं के सिरों को, शत्रुओं के सिरों ने पृथ्वी को, पृथ्वी ने आपको, आपने कीर्ति को, तथा कीर्ति ने तीनों लोकों को।'

यहाँ 'जिस जिस वस्तु ने जिस जिस वस्तु को प्राप्त किया' इस संक्षेपवाक्य में प्रयुक्त 'समासादितं' इस पद का अन्वय 'कोदण्डेन शराः' आदि छहों विवरण वाक्यों के साथ उस उस वाक्य के कर्म के अनुकूल लिंग तथा वचन के परिणाम से अन्वय हो जाता है, अतः यहाँ दीपकअलंकार है। इसके साथ शरादि उत्तरोत्तर पदार्थ के विशेषण हैं, अतः यहाँ एकावली है। इस प्रकार इस पद्य में दीपक तथा एकावली का योग होने से माला दीपक अलंकार है।

टिप्पणी—इस संबंध में पण्डितराज जगन्नाथ का मत जान लेना आवश्यक होगा। वे 'मालादीपक' को अलग से अलंकार नहीं मानते। वे वस्तुतः एकावली के उस भेद में जिसमें

४९ सारालङ्कारः

उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते।
मधु मधुरं तस्माच्च सुधा तस्याः कवेर्वचः ॥ १०८ ॥

यथा वा—

अन्तर्विष्णोस्त्रिलोकी निवसति फणिनामीश्वरे सोऽपि शेते,
सिन्धोः सोऽप्येकदेशे, तमपि चुलुकयां कुम्भयोनिश्चकार।
धत्ते खद्योतलीलामयमपि नभसि, श्रीनृसिंहक्षितीन्द्र !
त्वत्कीर्तेः कर्णनीलोत्पलमिदमपि च प्रेक्षणीयं विभाति ॥

पूर्व पूर्व पदार्थ के द्वारा उत्तरोत्तर पदार्थ विशिष्ट होता है, इस अलंकार का समावेश करते हैं। (अस्मिंश्च एकावल्या द्वितीये भेदे पूर्वपूर्वैः परस्य परस्योपकारः क्रियमाणो यद्येकरूपः स्यात्तदायमेव मालादीपकशब्देन व्यवहियते प्राचीनैः। पृ० ६२५) इसी संबंध में वे अप्पय दीक्षित का भी खंडन करते हैं, जो मालादीपक में दीपक तथा एकावली का योग मानते हैं, क्योंकि ऐसे स्थलों में प्रकृत अप्रकृत का योग नहीं पाया जाता जो दीपक अलंकार में होना आवश्यक है:—'इह च शृंखलावयवानां पदार्थानां सादृश्यमेव नास्ति इति कथंकारं दीपकतावाचं श्रद्दधीमहि। तेषां प्रकृताप्रकृतात्मकत्वविरहाच्च।'''एतेन दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते' इति यदुक्तं कुवलयानन्दकृता तद्भ्रान्तिमात्रविलसितमिति सुधीभिरालोचनीयम्)' (रसगंगाधर पृ० ६२५)। दीपकालंकार के प्रकरण में पण्डितराज ने 'संग्रामांगणमागतेन भवता चापे समारोपिते' इस उदाहरण की भी आलोचना की है, जिसे स्वयं मम्मट ने मालादीपक (दीपक के भेद विशेष) के उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया है। वे इस पद्य में दीपक अलंकार ही नहीं मानते। (एतेन 'संग्रामांगण'''इति प्राचीनानां पद्यं दीपकांशेऽपि सदोषमेव। वही पृ० ४४०) इस पद्य में दीपक न मानने के दो कारण हैं, पहले तो यहाँ पदार्थों में प्रकृताप्रकृतत्व नहीं है, न उनमें कोई सादृश्य ही है, अतः यह केवल एकावली का ही भेद है; दूसरे यदि यहाँ सादृश्य माना भी जाय तो भी यहाँ दीपकांश में दुष्टता है, क्योंकि यहाँ शरादि से 'समासादितं' पद का विभक्तिविपरिणाम तथा लिंगविपरिणाम से अन्वय होता है, अतः जिस तरह उपमा में लिंगादि विपरिणाम के कारण दोष माना जाता है, वैसे ही यहाँ भी दोष होगा। अतः यहाँ केवल एकावली अलंकार है।

४९. सार अलङ्कार

१०८—जहाँ अनेक पदार्थों का वर्णन करते समय उत्तरोत्तर पदार्थ को पूर्व पूर्व पदार्थ से उत्कृष्ट बताया जाय, वहाँ सार अलङ्कार होता है। जैसे, शहद मीठा होता है, अमृत उससे भी मीठा है, और कवि की वाणी उससे (अमृत से) भी मधुर है।

यहाँ शहद से अमृत की उत्कृष्टता बताई गई और उससे भी कवि के वचनों की, अतः सार अलङ्कार है। अथवा जैसे—

यह पद्य विद्यानाथ की एकावली से उद्धृत है। कवि राजा नृसिंहदेव की प्रशंसा कर रहा है। हे राजन् नृसिंहदेव, यह समस्त त्रैलोक्य भगवान् विष्णु के अन्तस् (उदर) में निवास करता है, और वे विष्णु भी शेष के ऊपर शयन करते हैं (इस प्रकार शेष विष्णु से भी बड़े हैं); वे शेषनाग भी समुद्र के केवल एक भाग में रहते हैं (अतः समुद्र उनसे भी बड़ा है), अगस्त्यमुनि उस समुद्र को भी चुल्लू में पी गये (अतः अगस्त्यमुनि

अयं श्लाघ्यगुणोत्कर्षः।

अश्लाघ्यगुणोत्कर्षो यथा—

तृणाल्लघुतरस्तूलस्तूलादपि च याचकः।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं प्रार्थयेदिति॥

उभयरूपो यथा—

गिरिर्महान्गिरेरब्धिर्महानब्धेर्नभो महत्।
नभसोऽपि महद्ब्रह्म ततोऽप्याशा गरीयसी॥

अत्र ब्रह्मपर्यन्तेषु महत्त्वं श्लाघ्यगुणः। प्रकृतार्थाशायामश्लाघ्यगुणः॥१०८॥

५० यथासंख्यालङ्कारः

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः।
शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जय॥१०९॥

और अधिक बड़े हैं), ये अगस्त्यमुनि भी आकाश में केवल जुगनू की तरह चमकते रहते हैं (इसलिए आकाश सबसे बड़ा है), पर वह महान् (नीला) आकाश भी तुम्हारी कीर्ति (-रमणी) के कर्णावतंस नीलकमल-सा प्रतीत होता है। अतः तुम्हारी कीर्ति इन सबसे महान् है। कीर्ति की महत्ता के वर्णन से नृसिंहदेव की स्वयं की महत्ता व्यञ्जित होती है।

यहाँ विष्णु से लेकर कीर्ति तक प्रत्येक उत्तरोत्तर वस्तु की पूर्व पूर्व वस्तु से उत्कृष्टता बताई गई है, अतः सार अलंकार है। यहाँ तत्तत् वस्तु के गुण प्रशंसनीय होने के कारण यह उत्कर्ष श्लाघ्यगुण है। अश्लाघ्यगुण उत्कर्ष का उदाहरण निम्न है:—

'रुई तिनके से भी हलकी होती है, और याचक (भिखारी) उससे भी हलका है। यद्यपि याचक बड़ा हलका होता है, फिर भी हवा उसे इसलिए उड़ाकर नहीं ले जाती कि कहीं यह मुझसे याचना न करने लगे'।

यहाँ तिनके से रुई की लघुता का उत्कर्ष बताया गया है, और रुई से भी याचक की लघुता का उत्कर्ष; अतः सार अलङ्कार है।

कभी कभी उभयरूप सार भी मिलता है, जहाँ एक साथ श्लाघ्यगुणोत्कर्ष तथा अश्लाघ्यगुणोत्कर्ष का समावेश होता है, जैसे—

पर्वत महान् है, किन्तु समुद्र उससे भी बड़ा है, और आकाश समुद्र से भी बहुत बड़ा है। ब्रह्म आकाश से भी महान् है, किन्तु आशा ब्रह्म से भी अधिक बड़ी है।

यहाँ पर्वत से लेकर ब्रह्म तक श्लाघ्यगुणोत्कर्ष पाया जाता है, किन्तु कवि के द्वारा प्रकृत रूप में उपात्त धनाशा की महत्ता बताने में उसका अश्लाघ्यगुण संकेतित करना अभीष्ट है। अतः यहाँ दोनों का समावेश है।

५०. यथासंख्य अलङ्कार

१०९—जहाँ कारक अथवा क्रियाओं का परस्पर क्रम से कारक अथवा क्रियाओं के साथ अन्वय घटित हो, वहाँ यथासंख्य अलङ्कार होता है। जैसे, हे राजन्, तुम शत्रुओं को जीतो, मित्रों को प्रसन्न करो और विपत्ति का भङ्ग करो।

यहाँ शत्रु, मित्र तथा विपत्ति रूप कर्म का जय, रञ्जय, भञ्जय क्रिया के साथ क्रमसे अन्वय होता है, अतः यथासंख्य अलङ्कार है।

यथा वा—

शरणं किं प्रपन्नानि विषवन्मारयन्ति वा ?।
न त्यज्यन्ते न भुज्यन्ते कृपणेन धनानि यत् ॥

अमुं क्रमालङ्कार इति केचिद्व्याजह्रुः ॥ १०९ ॥

५१ पर्यायालङ्कारः

पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यानेकसंश्रयः ।
पद्मं मुक्त्वा गता चन्द्रं कामिनीवदनोपमा ॥ ११० ॥

अत्रैकस्य कामिनीवदनसादृश्यस्य क्रमेण पद्मचन्द्ररूपानेकाधारसंश्रयणं पर्यायः । यद्यपि पद्मसंश्रयणं कण्ठतो नोक्तं, तथापि 'पद्मं मुक्त्वा' इति तत्परित्यागोक्त्या प्राक् तत्संश्रयाक्षेपेण पर्यायनिर्वाहः । अत एव (बालभारते)—

'श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः
पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्याम् ।

अथवा जैसे—

कञ्जूस लोग धन को न तो छोड़ते ही हैं, न उनका उपयोग ही करते हैं। क्या धन कञ्जूसों के शरण में आ गये हैं, इसलिए वे उन्हें नहीं छोड़ते, अथवा वे उन्हें विष की तरह मार देते हैं, इसलिए उनका उपयोग नहीं करते ?

यहाँ धन का त्याग न करने की क्रिया (न त्यज्यन्ते), तथा उपयोग न करने की क्रिया (न भुज्यन्ते) का अन्वय क्रमशः 'किं शरणं प्रपन्नानि' तथा 'किं विषवन्मारयन्ति' के साथ घटित होता है, अतः यथासंख्यालङ्कार है।

इसी अलङ्कार को कुछ आलङ्कारिकों ने क्रमालङ्कार कहा है।

५१. पर्याय अलङ्कार

११०—जहाँ एक पदार्थ का क्रम से अनेक पदार्थों के साथ सम्बन्ध वर्णित किया जाय, वहाँ पर्याय अलङ्कार होता है। जैसे, कामिनी के मुख की उपमा (रात्रि के समय) कमल को छोड़कर चन्द्रमा में चली गई।

यहाँ कामिनीमुख की उपमा दिन में कमल में अन्वित होती थी, अब रात के समय वह चन्द्रमा में चली गई है, अतः मुख की उपमा का क्रम से अनेक पदार्थों में आश्रय होने से पर्याय अलङ्कार हुआ।

यहाँ एक पदार्थ-कामिनीवदनसादृश्य की क्रम से पद्मचन्द्ररूप अनेक आधारों में स्थिति बताई गई है, अतः पर्याय है। यद्यपि ऊपर की उक्ति में उसकी पद्मस्थिति वाच्यरूप में स्पष्टतः नहीं कही गई है, तथापि 'पद्म को छोड़ कर (वह चन्द्र में चली गई है)' इसके द्वारा पद्म को छोड़ने के द्वारा कामिनीवदनसादृश्य पहले पद्म में था, यह प्रतीत होता ही है, अतः उसकी पद्मस्थिति आक्षिप्त हो जाती है और इस प्रकार पर्याय का निर्वाह हो जाता है। इसीलिये काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश में पर्याय का निम्न उदाहरण दिया है।

किसी नायिका के यौवनाविर्भाव की दशा का वर्णन है। यौवन ने इस नायिका के शरीर के तत्तदङ्गों के गुणों का परस्पर विनिमय कर दिया है। यौवन के कारण इस नायिका के एक अङ्ग के गुण दूसरे अङ्ग में तथा दूसरे अङ्ग के गुण किसी अन्य में चले गये हैं। जैसे-

धत्ते वक्षः कुचसचिवतामद्वितीयं तु वक्त्रं
तद्गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन ॥'

इत्यत्र पर्यायं काव्यप्रकाशकृदुदाजहार।

सर्वत्र शाब्दः पर्यायो यथा—

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट !
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ?।
प्रागर्णवस्य हृदये, वृषलक्ष्मणोऽथ,
कण्ठेऽधुना वससि, वाचि पुनः खलानाम् ॥

सर्वोऽप्ययं शुद्धपर्यायः।

वावस्था में इसका जघनस्थल अत्यधिक पतला था, अब इसके जघनस्थल ने अपना पतलीपन छोड़ दिया है और इसका मध्यभाग पतला हो गया है। पहले बचपन में इसकी गति बड़ी चञ्चल थी, यह पैरों से इधर उधर फुदकती थी। अब इसकी पैरों की चञ्चलता नष्ट हो गई है (पैरों ने अपनी चञ्चल गति को छोड़ दिया है) और इसके नेत्रों ने चञ्चलगति धारण कर ली है, इसके नेत्र अधिक चञ्चल हो गये हैं। पहले इसका वक्षःस्थल अकेला (अद्वितीय) था, अब उसने कुचों की मित्रता (कुचों की मन्त्रिता) धारण कर ली है, अब इसके वक्षःस्थल में स्तनों का उभार हो आया है; और वक्षःस्थल की अद्वितीयता (अकेलेपन) को मुख ने धारण कर लिया है—मुख अद्वितीय (अत्यधिक तथा अनुपम सुन्दर) हो गया है।

यहाँ तनुता, तरलगति तथा अद्वितीयता इन तीन पदार्थों के आश्रय क्रमशः जघनस्थल, चरण और वक्षःस्थल तथा मध्यभाग, नेत्र और मुख पर्याय से वर्णित किये गये हैं, अतः एक पदार्थ के अनेक संश्रयों (आश्रयों) का पर्याय से वर्णन होने के कारण यहाँ पर्याय अलङ्कार है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में अपर आधार के समाश्रय का स्पष्ट वर्णन किया गया है, किन्तु पूर्व आधार का त्याग पूर्व आधार के समाश्रय की व्यञ्जना करना है, अतः यहाँ अनेक संश्रय वाच्य (शाब्द) न होकर गम्य है। जहाँ किसी पदार्थ की सर्वत्र सभी आश्रयों में स्पष्टतः स्थिति वर्णित की जाय, वहाँ शाब्द पर्याय होता है, जैसे—

प्रस्तुत पद्य भल्लटकवि के अन्योक्तिशतक से है। इसमें कवि ने हालाहल को सम्बोधित करके उसकी विशिष्टता का संकेत किया है। हे कालकूट (हालाहल विष), यह तो बताओ, किस व्यक्ति ने तुमको उत्तरोत्तर विशिष्ट पद पर स्थित रहने की दशा का संकेत किया था ? वह कौन व्यक्ति था, जिसने तुम्हें इस बात का उपदेश दिया कि तुम तत्तत् विशिष्ट पद पर क्रमशः आसीन होना ? पहले तो तुम समुद्र के हृदय में निवास करते थे, वहाँ से फिर शिव के गले में रहने लगे (हृदय से ऊपर गला है, गले का हृदय से विशिष्ट पद है) और उसके बाद अब दुष्टों की वाणी में–जिह्वा में (जिह्वा कण्ठ के भी ऊपर है) निवास कर रहे हो।

यहाँ हालाहल की समुद्रहृदय, शिवकण्ठ तथा खलवाणी में क्रम से स्थिति वर्णित की गई है, अतः पर्याय है। यह सब पर्याय शुद्ध है। पर्याय पुनः दो तरह का होता है :— सङ्कोचपर्याय तथा विकासपर्याय। जहाँ आधार (आश्रय) का उत्तरोत्तर सङ्कोच हो वहाँ

संकोचपर्यायो यथा—

प्रायश्चरित्वा वसुधामशेषां छायासु विश्रम्य ततस्तरूणाम् ।
प्रौढिं गते संप्रति तिग्मभानौ शैत्यं शनैरन्तरपामथासीत् ॥

अत्र शैत्यस्योत्तरोत्तरमाधारसंकोचात् संकोचपर्यायः ।

विकासपर्यायो यथा—

बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि ! पूर्वमदृश्यत ।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि ! दृश्यते ॥

अत्र रागस्य पूर्वाधारपरित्यागेनाधारान्तरसंक्रमणमिति विकासपर्यायः ॥ ११० ॥

सङ्कोचपर्याय होता है तथा जहाँ आधार का उत्तरोत्तर विकास हो वहाँ विकासपर्याय होता है । सङ्कोचपर्याय जैसे—

ग्रीष्म के ताप का वर्णन है । ग्रीष्म के कारण अब शीतलता नष्ट-सी हो गई है । पहले शीतलता समस्त पृथ्वी पर थी, धीरे धीरे सूर्योदय होने के बाद वह केवल वृक्षों की छायाओं में ही रह गई; और अब जब सूर्य अत्यधिक तेज से प्रकाशित होने लगा, तो वह धीरे धीरे पानी के बीच में जाकर छिप गई ।

यहाँ शैत्य के आधार क्रम से समस्त पृथ्वी, वृक्षों की छाया तथा जल हैं । यहाँ शैत्य के आधार का उत्तरोत्तर सङ्कोच पाया जाता है, अतः सङ्कोचपर्याय है । विकासपर्याय का उदाहरण निम्न है :—

'हे सुन्दरी, पहले तो यह राग (ललाई) केवल तुम्हारे बिम्बाधर (बिम्बफल के समान लाल अधर) में ही दिखाई देता था, हे हिरन के बच्चे के नेत्रों के समान नेत्र वाली, अब यह राग (अनुराग) तुम्हारे हृदय में भी दिखाई देने लगा है ।

यहाँ राग (ललाई, अनुराग) ने पहले आधार (बिम्बोष्ठ) को छोड़कर अन्य आधार (हृदय) में संक्रमण कर लिया है, जहाँ उसे बिम्बोष्ठ की अपेक्षा अधिक विकसित आधार मिला है, अतः यहाँ विकासपर्याय नामक भेद है । इस पद्य में 'राग' शब्द श्लिष्ट है ।

टिप्पणी—पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में अप्पयदीक्षित के इसी उदाहरण को लेकर इसमें विकासपर्याय न मानते हुए लिखा है कि यह उदाहरण विकासपर्याय का नहीं है । (पण्डितराज ने पर्याय के संकोच तथा विकास ये दो भेद भी नहीं माने हैं । पर्याय वहीं माना जा सकता है, जहाँ प्रथम आश्रय का संबंध नष्ट हो तथा अपर आश्रय का संबंध स्थापित हो । 'बिम्बोष्ठ एव रागस्ते' आदि में यह नहीं पाया जाता, नायिका के बिंबाधर का राग नष्ट हो गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । मम्मट के द्वारा दिये गये उदाहरण 'श्रोणीबन्धः' आदि तथा रुय्यक के द्वारा उदाहृत पद्य 'नन्वाश्रयस्थितिरियं' इत्यादि में यही बात पाई जाती है । साथ ही इस अलंकार के लक्षण में प्रयुक्त 'क्रम' पद भी इसका संकेत करता है । अप्पयदीक्षित के इस उदाहरण में वस्तुतः 'सार' अलंकार है, जिसे रत्नाकर आदि आलंकारिक वर्धमानक अलंकार कहते हैं, अप्पयदीक्षित ने उस अलंकार का तो संकेत किया ही नहीं ॥

'यत्तु-बिम्बोष्ठ एव रागस्ते.........' इति कुवलयानन्दकृता विकासपर्यायो निजगदे, तच्चिन्त्यम् । एकसम्बन्धनाशोत्तरमपरसम्बन्धे पर्यायपदस्य लोके प्रयोगात्, 'श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः' इति काव्यप्रकाशोदाहृते, 'प्रागर्णवस्य हृदये—' इत्यादिसर्वस्वकारोदाहृते च तथैव दृष्टत्वाच्च अस्मिन्नलङ्कारलक्षणेऽपि क्रमपदेन तादृशविवक्षाया

एकस्मिन् यद्यनेकं वा पर्यायः सोऽपि संमतः ।
अधुना पुलिनं तत्र यत्र स्रोतः पुराऽजनि ॥ १११ ॥

यथा वा—

पुराऽभूदस्माकं प्रथममविभिन्ना तनुरियं,
ततो नु त्वं प्रेयान्, वयमपि हताशाः प्रियतमाः ।
इदानीं नाथस्त्वं, वयमपि कलत्रं किमपरं,
हतानां प्राणानां कुलिशकठिनानां फलमिदम् ॥

अत्र दम्पत्योः प्रथममभेदः, ततः प्रेयसीप्रियतमभावः, ततो भार्यापतिभाव इत्याधेयपर्यायः ॥ १११ ॥

औचित्यात् तस्मादत्रैकविषयः सारालङ्कार उचितः, यं रत्नाकरादयो वर्धमानकालङ्कारमामनन्ति स चायुष्मता नोट्टङ्कित एव । (रसगङ्गाधर पृ० ६४७)

जहाँ एक ही आधार में अनेक पदार्थों का क्रम से वर्णन किया जाय, वहाँ भी पर्याय होता है । जैसे, जहाँ पहले नदी का स्रोत था, वहाँ आज नदी का तीर हो गया है ।

टिप्पणी—पण्डितराज ने कुवलयानन्दकार के 'अधुना पुलिनं तत्र यत्र स्रोतः पुराभवत्' में पर्याय अलंकार नहीं माना है, क्योंकि लौकिक वाक्य की भाँति यहाँ कोई चमत्कार नहीं है ।

(एवं स्थिते 'अधुना पुलिनं तत्र यत्र स्रोतः पुराभवत्' इति कुवलयानन्दगतमुदाहरणं 'यत्र पूर्वं घटस्तत्राधुना पटः' इति वाक्यवल्लौकिकोक्तिमात्रमित्यनुदाहार्यमेव ।) (रसगंगाधर पृ० ६४८)

इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण उत्तररामचरित का निम्न पद्य है :—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम् ।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥

एक आधार में अनेकों आधेयों के क्रम से वर्णन वाले पर्याय अलंकार के भेद का उदाहरण निम्न है :—

कोई नायिका अपने प्रति रूक्ष व्यवहार वाले नायक की चेष्टा की व्यञ्जना कराती हुई कह रही है :—पहले तो हमारा प्रेम इतना गहरा था कि हमारा शरीर एक था, लेकिन धीरे धीरे वह व्यवहार समाप्त हो गया और तुम प्रिय बन गये, हम प्रियतमा । प्रेम की अद्वैतस्थिति का अनुभव करने के बाद जब तुम्हारा मन भर गया, तो हमारा मन एक न रह सका, पर फिर भी किसी तरह प्रिय-प्रेयसी वाला व्यवहार बना रहा, तुम मुझे प्रेयसी समझते रहे, मैं तुम्हें प्रिय । यदि वह स्थिति भी बनी रहती तो ठीक था, पर मुझे तो इससे भी अधिक दुःख सहना था । तुम्हारा व्यवहार बदलता गया, तुम मुझे 'कलत्र' (खरीदी हुई दासी के समान पत्नी) समझने लगे, मैं तुम्हें 'नाथ' (मालिक) । इससे बढ़कर मेरे लिए और दुःख हो ही क्या सकता है ? यह तो मेरे प्राणों का दोष है कि मैं इस व्यवहार परिवर्तन के बाद भी जी रही हूँ । यह सब मैं अपने वज्रकठोर प्राणों का फल भोग रही हूँ ।

यहाँ पहले आधार (दम्पति) में अभिन्नता थी, फिर प्रेयसीप्रियतमभाव हुआ, फिर कलत्र और नाथ (भार्यापति) का भाव, इस प्रकार एक ही आधार में क्रम से अनेकों आधेयों की स्थिति वर्णित की गई है, अतः यह भी पर्याय अलंकार का प्रकारान्तर है ।

५२ परिवृत्त्यलङ्कारः

परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः ।
जग्राहैकं शरं मुक्त्वा कटाक्षात्स रिपुश्रियम् ॥ ११२ ॥

यथा वा—

तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना ? ।
येन जर्जरकलेवरव्ययात् क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ॥ ११२ ॥

५३ परिसंख्यालङ्कारः

परिसंख्या निषिध्यैकमेकस्मिन् वस्तुयंत्रणम् ।
स्नेहक्षयः प्रदीपेषु न स्वान्तेषु नतभ्रुवाम् ॥ ११३ ॥

---

५२. परिवृत्ति अलंकार

११२—सम, न्यून या अधिक पदार्थ जहाँ परस्पर एक दूसरे का विनिमय करे, वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है। जैसे, उस राजा ने कटाक्ष के साथ एक ही बाण छोड़ कर शत्रु की राज्यलक्ष्मी को ग्रहण कर लिया।

यहाँ राजा ने एक बाण के बदले शत्रु राजा की लक्ष्मी को ग्रहण किया है, अतः बाण एवं रिपुश्री का विनिमय होने से परिवृत्ति अलंकार हुआ।

टिप्पणी—रसगंगाधर में पण्डितराज ने परिवृत्ति अलंकार के दो भेद माने हैं:—'समपरिवृत्ति तथा विषमपरिवृत्ति' इनके पुनः दो-दो भेद होते हैं:—समपरिवृत्ति में उत्तम का उत्तम के साथ विनिमय तथा न्यून का न्यून के साथ विनिमय। इसी प्रकार विषमपरिवृत्ति में, उत्तम का न्यून के साथ विनिमय तथा न्यून का उत्तम के साथ विनिमय। (सा च तावद्द्विविधा–समपरिवृत्तिर्विषमपरिवृत्तिश्चेति। समपरिवृत्तिरपि द्विविधा उत्तमैरुत्तमानां न्यूनैर्न्यूनानां चेति। विषमपरिवृत्तिरपि तथा—उत्तमैर्न्यूनानां, न्यूनैरुत्तमानां चेति। (रसगंगाधर पृ० ६४८)

अथवा जैसे—

जिस जटायु ने अपने जर्जर शरीर को देकर चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल यश को खरीदा, उस वृद्ध जटायु के मरने पर आप शोक क्यों कर रहे हैं ?

(परिवृत्ति का अर्थ खरीदना होता है, इसीलिए पण्डितराज ने परिवृत्ति का अर्थ करते समय रसगंगाधर में कहा हैं—'क्रय इति यावत्।')

५३. परिसंख्या अलंकार

११३—किसी पदार्थ का एक स्थान पर अभाव बताकर (उसकी स्थिति का निषेध कर) अन्य स्थान पर उस पदार्थ की सत्ता बताना परिसंख्या अलंकार होता है। जैसे—रमणियों के हृदय में स्नेह (प्रेम) का क्षय नहीं हुआ था, किंतु दीपकों में स्नेह (तैल) का क्षय हो गया था।

यहाँ श्लेष से स्नेह के अनुराग तथा तैल दोनों अर्थ होते हैं। यहाँ उसका कामिनियों में अभाव निषिद्ध कर उसकी सत्ता दीपक में बताई गई है, अतः परिसंख्या है। (परिसंख्या शब्द की व्युत्पत्ति करते समय परि शब्द का अर्थ त्याग तथा संख्या का अर्थ बुद्धि लेना होगा। इस प्रकार पूरे पद का अर्थ 'त्याग पूर्ण बुद्धि' होगा।)

यथा वा—

विलङ्घयन्ति श्रुतिवर्त्म यस्यां लीलावतीनां नयनोत्पलानि।
बिभर्ति यस्यामपि वक्रिमाणमेको महाकालजटार्धचन्द्रः॥

आद्योदाहरणे निषेधः शाब्दः, द्वितीये त्वार्थः॥ ११३॥

अथवा जैसे—

उज्जयिनी का वर्णन है। जिस पुरी में केवल लीलावती रमणियों के नेत्र रूपी कमल ही श्रुतिवर्त्म का लंघन करते थे (कानों को छूते थे) अन्य कोई भी श्रुतिवर्त्म (वेदमार्ग) का उल्लंघन नहीं करता था, तथा उस पुरी में केवल महाकाल शिव के जटाजूट का चन्द्रमा ही वक्रिमा धारण करता था, कोई भी व्यक्ति कुटिल न था।

यहाँ 'श्रुतिवर्त्म' तथा 'वक्रिमा' के अर्थ क्रमशः 'वेदमार्ग' और 'कानों की सीमा' तथा 'कुटिलता' और 'टेढ़ापन' हैं। यहाँ प्रथम अर्थ का निषेध कर रमणियों के नयन तथा शिवजटा में स्थित चन्द्रमा के पक्ष में उसकी सत्ता बताई गई है। किन्तु इन शब्दों के द्व्यर्थक होने से वहाँ कोई भी व्यक्ति वेदविरोधी एवं कुटिल न था, यह निषेध भी गम्यमान होता है। इस प्रकार यहाँ यह निषेध साक्षात् शब्दोपात्त न होकर केवल अर्थगम्य है।

यहाँ प्रथम उदाहरण में शाब्दी परिसंख्या है, क्योंकि रमणियों के हृदय में स्नेहक्षय का शब्दतः निषेध किया गया है, दूसरे उदाहरण में आर्थी परिसंख्या है।

टिप्पणी—रुय्यक ने इसके चार भेद माने हैं। सर्वप्रथम प्रश्नपूर्विका तथा शुद्धा ये दो भेद दिये हैं, तदनन्तर प्रत्येक के शाब्दी तथा आर्थी। (सा चैषा प्रश्नपूर्विका तदन्यथा चेति प्रथमं द्विधा। प्रत्येकं च वर्जनीयस्वेऽस्य शाब्दत्वार्थत्वाभ्यां द्वैविध्यमिति चतुःप्रभेदाः। अलंकार-सर्वस्व पृ० १९३)। प्रश्नपूर्विका शाब्दी परिसंख्या तथा आर्थी परिसंख्या के उदाहरण निम्न हैं:—

(१) किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम्॥

(२) किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः
किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृतः।
किमाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति॥

रुय्यक ने शुद्धा परिसंख्या के आर्थी वाले उदाहरण में वही उपर्युद्धृत पद्य दिया है जो दीक्षित ने दिया है। परिसंख्या में प्रायः श्लेषगर्भित होने पर ही विशेष चमत्कारवत्ता पाई जाती है। सुबन्धु, बाण तथा त्रिविक्रम भट्ट परिसंख्या के प्रयोग के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। परिसंख्या के कुछ उदाहरण निम्न हैं:—

(१) यस्मिंश्च राजनि जितजगति पालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसंकराः...... छत्रेषु कनकदण्डाः........न प्रजानामासन्। यस्य च......अन्तःपुरिकाकुन्तलेषु भंगः नूपुरेषु मुखरता अभूत्। (कादम्बरी)

इस उदाहरण के प्रथम वाक्य में शाब्दी शुद्धा परिसंख्या है, द्वितीय वाक्य में आर्थी शुद्धा परिसंख्या है।

(२) यत्र च गुरुव्यतिक्रमं राशयः, मात्राकलहं लेखशालिकाः, मित्रोदयद्वेषमुलूकाः, अपत्यत्यागं कोकिलाः, बन्धुजीवविघातं ग्रीष्मदिवसाः कुर्वन्ति न जनाः। (नलचम्पू)

इस उदाहरण में शाब्दी शुद्धा परिसंख्या है।

५४ विकल्पालङ्कारः

विरोधे तुल्यबलयोर्विकल्पालंकृतिर्मता ।
सद्यः शिरांसि चापान्वा नमयन्तु महीभुजः ॥ ११४ ॥

अत्र संधिविग्रहप्रमाणप्राप्तयोः शिरश्चापनमनयोर्युगपदुपस्थितयोर्युगपत्कर्तुमशक्ययोर्विकल्पः ।

यथा वा—

पतत्यविरतं वारि नृत्यन्ति च कलापिनः ।

---

५४. विकल्प अलङ्कार

११४—जहाँ कवि अपनी वचनचातुरी के द्वारा समान बलवाले दो विरोधी पदार्थों का एक साथ वर्णन करे, वहाँ विकल्प अलङ्कार होता है जैसे, (कोई राजा अन्य राजाओं को यह सन्देश भेजता है) या तो राजा लोग (अधीनता स्वीकार कर) अपने सिर झुका दें या (युद्ध के लिए तैयार होकर) धनुषों को झुका दें ।

टिप्पणी—काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने विकल्प अलंकार को नहीं माना है । उद्योतकार नागेश ने काव्यप्रदीप की टीका में इसका संकेत करते हुए बताया है कि विकल्पालंकार में कोई चमत्कार नहीं होता, अतः इसमें हारादि की तरह अलंकारत्व नहीं माना जा सकता । कुछ लोग ऐसे स्थलों पर सन्देह अलंकार मानते हैं जिसमें 'मात्सर्यमुत्सार्य की तरह निश्चय व्यंग्य है ।

यत्तु 'इह नमय शिरः कलिंगवद्वा समरमुखे करहाटवद्धनुर्वा' इत्यत्र विकल्पालङ्कारः पृथगेव । वा शब्दश्चात्र कल्पान्तरपरः । असामर्थ्ये कलिङ्गनृपतिवच्छिरो नमय, सति सामर्थ्ये करहाटनृपतिवद्धनुर्नमयेत्यर्थात् । व्यवस्थितश्चायं विकल्प इति । तन्न । वर्णनीयोत्कर्षानाधायकत्वेनैतस्यालङ्कारत्वे मानाभावात् । उपकुर्वन्ति तं सन्तमित्यादिसामान्यलक्षणाभावात् । एतेन नमनरूपैकक्रियाकर्मैकत्वेनौपम्यं गम्यमानमलङ्कारता बीजमित्यपास्तम् । तादृशौपम्यस्याचारुत्वाच्च । अन्ये तु अत्रापि सन्देह एव व्यंग्यस्तु निश्चयो मात्सर्यमुत्सार्येतिवदित्याहुः ।' काव्यप्रकाश (उद्योत टीका पृ० ४६४) । इस सम्बन्ध में यह संकेत कर देना आवश्यक होगा कि अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने विकल्प को अलग अलंकार माना है । तुल्यबलविरोधो विकल्पः (अलंकारसर्वस्व पृ० १९८) । इसके संकेत में रुय्यक ने बताया है कि यह अलंकार यद्यपि प्राचीनों ने नहीं माना है, पर समुच्चय अलंकार का विरोधी होने के कारण हमने दिया है । तस्मात्समुच्चयप्रतिपक्षभूतो विकल्पाख्योऽलङ्कार पूर्वैरकृतविवेकोऽत्र दर्शित इत्यवगन्तव्यम् (वही पृ० २००) रुय्यक ने इसका एक उदाहरण 'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी······युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः' दिया है, जिसमें पण्डितराज विकल्प नहीं मानते । क्योंकि हरि का शरीर तथा नेत्रद्वय दोनों में भवार्तिशमनक्रिया के सम्बन्ध में कोई परस्परविरोध नहीं पाया जाता । तच्चिन्त्यम् । भवार्तिशमने तनुनेत्रद्वन्द्वयोर्द्वयोरपि युगपत्कर्तृत्वे विरोधाभावात् विकल्पानुत्थानात् । (रसगंगाधर पृ० ६५९)

यहाँ सन्धि अथवा विग्रह (युद्ध) से संबद्ध शिरोनमन या चापनमन दोनों का एक साथ वर्णन किया गया है । शत्रु राजा दोनों कार्यों को एक साथ नहीं कर सकता क्योंकि ये तुल्यबल तथा परस्पर विरुद्ध कार्य हैं, अतः इनका युगपत् वर्णन करने के कारण यहाँ विकल्प अलङ्कार है ।

अथवा जैसे—

कोई विरहिणी कह रही है । इस वर्षाकाल में निरन्तर जलवृष्टि हो रही है और मयूर

अद्य कान्तः कृतान्तो वा दुःखस्यान्तं करिष्यति ॥

प्रियसमागश्मश्चेन्न मरणमाशंसनीयं, मरणे तु न प्रियसमागमसंभव इति तयोराशंसायां विकल्पः ॥ ११४ ॥

५५ समुच्चयालङ्कारः

बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः समुच्चयः ।

नश्यन्ति पश्चात्पश्यन्ति त्रस्यन्ति च भवद्द्विपः ॥ ११५ ॥

अविरोधेन संभावितयौगपद्यानां नाशादीनां गुम्फनं समुच्चयः ।

यथा वा—

विभ्राणा हृदये त्वया विनिहितं प्रेमाभिधानं नवं
शल्यं यद्विदधाति सा विधुरिता साधो ! तदाकर्ण्यताम् ।

नाच रहे हैं । ऐसी स्थिति में प्रिय का वियोग मुझे अत्यधिक दुःख दे रहा है । इस दुःख का अन्त या तो प्रिय ही (आकर) कर सकेगा, या स्वयं यमराज ही (मुझे मारकर) ।

यहाँ प्रियसमागम तथा मरण इन दो विरोधी तुल्यबल पदार्थों का विकल्प है । यदि प्रियसमागम होगा तो मरण नहीं होगा, यदि मरण होगा तो प्रियसमागम संभव नहीं है, इस प्रकार इन दोनों की युगपत् स्थिति के कारण यहाँ विकल्प अलङ्कार है ।

(विकल्प अलङ्कार वक्ष्यमाण समुच्चय अलङ्कार का ठीक उसी तरह उलटा होता है, जैसे व्यतिरेक अलङ्कार उपमा का उलटा होता है:—अयं च समुच्चयस्य प्रतिपक्षभूतो व्यतिरेक इवोपमायाः (रसगंगाधर पृ० ६५७))

५५ समुच्चय अलङ्कार

११५—जहाँ एक ही वस्तु से संबद्ध अनेकों पदार्थों का एक साथ गुंफन किया गया हो, वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है । (यह समुच्चय अनेक गुण, अनेक क्रिया आदि का पाया जाता है ।) जैसे हे राजन् आपके शत्रु पहले राज्यच्युत होते हैं, पीछे देखते हैं तथा आपसे डरते हैं ।

टिप्पणी—मम्मट ने समुच्चय अलंकार वहाँ माना है, जहाँ किसी कार्य के एक साधक (हेतु) के होने पर अन्य साधक भी उपस्थित हो । तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत् । समुच्चयोऽसौ (काव्यप्रकाश १०-११६) । यही परिभाषा विश्वनाथ की है, जिसने लक्षण में 'खलेकपोतिकान्याय' का संकेत कर इसे और स्पष्ट कर दिया है ।

समुच्चयोऽयमेकस्मिन्सति कार्यस्य साधके ।
खलेकपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥ (साहित्यदर्पण)

यहाँ शत्रु राजाओं के सम्बन्ध में एक साथ राज्य से च्युत होने, पीछे देखने तथा डरने इन अनेक क्रियाओं का एक साथ वर्णन किया गया है, अतः समुच्चय अलङ्कार है ।

अथवा जैसे—

कोई दूती किसी नायक से विरहिणी नायिका की दशा कह रही है । हे सज्जन युवक, तूने जिस प्रेम नाम वाले नये बाण (शल्य) को उस नायिका के हृदय में छोड़ा, उस बाण को धारण करती हुई वह विरहिणी नायिका जो कुछ कर रही है उसे सुन ले ।

शेते शुष्यति ताम्यति प्रलपति प्रम्लायति प्रेङ्खति
भ्राम्यत्युल्लुठति प्रणश्यति गलत्युन्मूर्च्छति त्रुट्यति ॥

अत्र कासांचित्क्रियाणां किंचित्कालभेदसंभवेऽपि शतपत्रपत्रशतभेदन्यायेन यौगपद्यं विरहातिशयद्योतनाय विवक्षितमिति लक्षणानुगतिः ॥ ११५ ॥

अहं प्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयेऽपि सः ।
कुलं रूपं वयो विद्या धनं च मदयन्त्यमुम् ॥ ११६ ॥

यत्रैकः कार्यसिद्धिहेतुत्वेन प्रक्रान्तस्तत्रान्येऽपि यद्यहमहमिकया खलेकपोतन्यायेन तत्सिद्धिं कुर्वन्ति सोऽपि समुच्चयः । यथा मदे आभिजात्यमेकं समग्रं कारणं तादृगेव रूपादिकमपि तत्साधनत्वेनावतरतीति ।

यथा वा—

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संभ्रमविधि-
र्निरुत्सेको लक्ष्म्यामनभिभवगन्धाः परकथाः ।

वह सोती है, सूखती है, जलती है, चिल्लाती है, कुम्हलाती है, काँपती है, घूमती है, लोटती है, नष्ट हो रही है, गल रही है, मूर्छित हो रही है तथा टूट रही है ।'

यहाँ नायिकागत अनेक क्रियाओं का एक साथ वर्णन किया गया है । यहाँ कई क्रियाएँ एक साथ नहीं की जा सकती, अतः उनमें कालभेद का होना संभव है, तथापि कवि ने शतपत्रपत्रभेदन्याय के आधार पर विरहिणी नायिका के विरहाधिक्य को सूचित करने के लिए सबका एक साथ वर्णन कर दिया है । इस सरणि को मानने पर इस उदाहरण में समुच्चय का लक्षण घटित हो जाता है ।

टिप्पणी—पंडितराज जगन्नाथ ने भी इस बात की पुष्टि करते हुए कहा है:—'तेन किंचित्कालभेदेऽपि न समुच्चयभङ्गः ।' (रसगंगाधर पृ० ६६१)

११६—अब समुच्चय के दूसरे भेद को बताते हैं:—

जहाँ अनेक हेतुओं से किसी एक कार्य की उत्पत्ति हो सकती हो और कवि उस स्थान पर सभी हेतुओं का एक साथ इस तरह वर्णन करे, जैसे प्रत्येक हेतु अपने आप को प्राथमिकता देता हुआ अहमहमिका कर रहा हो, वहाँ भी समुच्चय अलंकार होता है । जैसे, इस व्यक्ति को कुल, रूप, वय, विद्या तथा धन के कारण घमण्ड हो रहा है ।

जहाँ एक ही वस्तु कार्यसिद्धि के कारण के रूप में पर्याप्त हो और वहाँ अन्य कारण भी खलेकपोतिकान्याय से अहमहमिका से उस कार्य की सिद्धि करें, वहाँ भी समुच्चय होता है । जैसे उपर्युक्त उदाहरण में अकेला अभिजात कुल ही व्यक्ति को घमण्डी बना देता है, रूपादि भी इसी तरह व्यक्ति को घमण्डी बनाने के कारण हैं;उनको भी यहाँ मद के साधन के रूप में वर्णित किया गया है । अतः यहाँ समुच्चय का अन्यतर भेद है । अथवा जैसे—

'गुप्त दान देना, घर में आये अतिथि का सम्मान करना, सम्पत्ति के होने पर भी मद न करना, दूसरों की बात करते समय निंदा की गंध न आने देना, किसी का उपकार करके चुप रहना (उपकार करने की डींग न मारना), सभा के समक्ष (लोगों के सामने) भी अन्य व्यक्ति के द्वारा किये उपकार को स्वीकार करना तथा शास्त्रों में अत्यधिक प्रेम रखना, ये सब लक्षण किसी व्यक्ति के कुलीनत्व का संकेत करते हैं ।

प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः
श्रुतेऽत्यन्तासक्तिः पुरुषमभिजातं प्रथयति ॥ ११६ ॥

५६ कारकदीपकालंकारः

क्रमिकैकगतानां तु गुम्फः कारकदीपकम् ।
गच्छत्यागच्छति पुनः पान्थः पश्यति पृच्छति ॥ ११७ ॥

यथा वा—

निद्राति स्नाति भुङ्क्ते चलति कचभरं शोषयत्यन्तरास्ते
दीव्यत्यक्षैर्न चायं गदितुमवसरो भूय आयाहि याहि ।
इत्युद्दण्डैः प्रभूणामसकृदधिकृतैर्वारितान् द्वारि दीना-
नस्मान् पश्याब्धिकन्ये ! सरसिरुहरुचामन्तरङ्गैरपाङ्गैः ॥

आद्योदाहरणे श्रुतस्य पान्थस्य कर्तृकारकस्यैकस्य गमनादिष्वन्वयः; द्वितीये त्वध्याहृतस्य प्रभुकर्तृकारकस्य निद्रादिष्वन्वय इत्येकस्यानेकवाक्यार्थान्वयेन दीपकच्छायापत्त्या कारकदीपकं प्रथमसमुच्चयप्रतिद्वन्द्वीदम् ॥ ११७ ॥

यहाँ प्रच्छन्नदानादि में से केवल एक पदार्थ भी व्यक्ति के कौलीन्य का हेतु है, पर यहाँ समस्त हेतुओं का समुच्चय पाया जाता है।

टिप्पणी—इसी का अन्य उदाहरण यह है :—

पाटीरद्रुभुजंगपुंगवमुखोद्भूता वपुस्तापिनो,
वाता वान्ति दहन्ति लोचनममी ताम्रा रसालद्रुमाः ।
श्रोत्रे हन्त किरन्ति कूजितमिमे हालाहलं कोकिला,
बाला बालमृणालकोमलतनुः प्राणान्कथं रक्षतु ॥ (रसगंगाधर)

५६. कारकदीपक अलंकार

११७—जहाँ एक कारक गत अनेक क्रियाओं का युगपत् वर्णन हो, वहाँ कारकदीपक नामक अलंकार होता है। जैसे राहगीर जाता है, फिर लौटकर आता है, देखता है और पूछता है।

यहाँ एक कारण के साथ गमनादि चार क्रियाओं का एक साथ वर्णन किया गया है। (अन्य आलंकारिकों ने इसे अलग से अलंकार न मानकर दीपक अलंकार का ही एक भेद माना है।)

अथवा जैसे—

कोई कवि लक्ष्मी की प्रार्थना कर रहा है। हे समुद्र की पुत्रि, कमल के समान कांति वाले अपने अपांगों से उन हम लोगों को ओर देखो, जिन दरिद्रों को राजाओं के दरवाजों पर भिक्षा के लिए उपस्थित होते समय उद्दण्ड अधिकारियों (द्वारपालादि) के द्वारा यह कह कर बार बार रोक दिया जाता है:—'वे सो रहे हैं, नहा रहे हैं, भोजन कर रहे हैं, बाहर जा रहे हैं, बालों को सुखा रहे हैं, जनाने में हैं, पासे (जुआ) खेल रहे हैं, यह समय अर्ज करने का नहीं है, फिर आना, लौट जाओ।'

प्रथम उदाहरण में 'पान्थ' इस कर्ता कारक को गमनादि अनेकों क्रियाओं में अन्वय घटित होता है। दूसरे उदाहरण में पूर्वार्ध का कर्ता राजा (प्रभु) अध्याहृत (आक्षिप्त)

५७ समाध्यलंकारः

समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसंनिधेः ।
उत्कण्ठिता च तरुणी जगामास्तं च भानुमान् ॥ ११८ ॥

यथा वा (काव्या० २।२९९),—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्णं घनगर्जितम् ॥

केनचिदारिप्सितस्य कार्यस्य कारणान्तरसन्निधानाद्यत्सौकर्यं तत्सम्यगाधानात् समाधिः । द्वितीयसमुच्चयप्रतिद्वन्द्वी अयं समाधिः । तत्र हि बहूनां प्रत्येकं समर्थानां खलेकपोतकन्यायेन युगपत्कार्यसाधनत्वेनावतारः । अत्र त्वेकेन कार्ये समारिप्सितेऽन्यस्य काकतालीयन्यायेनापतितस्य तत्सौकर्याधायकत्वमात्रम् । अत्रोदाहरणम्—उत्कण्ठितेति । उत्कण्ठैव प्रियाभिसरणे पुष्कलं कारणं नान्धकारागमनमपेक्षते । 'अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः' इति न्यायात् ।

कर लिया जाता है, उसके बाद 'निद्रादि क्रियाओं के साथ उसका अन्वय होता है । इस लिए एक कर्ता का अनेक वाक्यों के साथ अन्वय होने के कारण दीपक की भाँति यह कारक दीपक प्रथम प्रकार के समुच्चय अलंकार का प्रतिद्वन्द्वी (विपरीत) है।

५७. समाधि अलंकार

११८—जहाँ कार्य सिद्धि के अनुकूल एक हेतु के होने पर अन्य (आकस्मिक) हेतु के द्वारा उस कार्य की सिद्धि में शीघ्रता या सुगमता हो, वहाँ समाधि अलंकार होता है। जैसे, (इधर) नायिका (अभिसरण के लिए) उत्कंठित हो रही थी और (उधर) सूर्य अस्त हो गया ।

यहाँ नायिका के अभिसरण के लिए सूर्यास्तरूप आकस्मिक हेत्वन्तर की उक्ति में समाधि है । अथवा जैसे—

जब मैं उस कुपित नायिका के मान को दूर करने के लिए उसके चरणों पर गिर रहा था, उसी समय मेरे उपकार के लिए बादलों ने गरजना आरम्भ कर दिया, यह अच्छा ही हुआ ।

किसी व्यक्ति के द्वारा किसी कार्य को आरम्भ करने की इच्छा करने पर जब किसी अन्य कारण की स्थिति के कारण उस कार्य के करने में सुगमता हो जाय, वहाँ समाधि अलंकार होता है । यह समाधि अलंकार समुच्चय के द्वितीय भेद (खलेकपोतिकान्यायवाले समुच्चय) का विरोधी है । वहाँ उन अनेक कारणों का, जिनमें से प्रत्येक उक्त कार्य को करने में सशक्त होते हैं, खलेकपोतकन्याय से एक साथ कार्य के साधक रूप में वर्णन होता है । यहाँ किसी एक कार्य के किसी हेतु विशिष्ट से आरंभ करने पर अन्य हेतु काकतालीयन्याय से अकस्मात् उपस्थित हो कर उस कार्य को केवल सुकर बना देता है । इस अलंकार का उदाहरण—उत्कण्ठिता आदि कारिकार्ध है । प्रियाभिसरण के लिए उत्कण्ठा का होना ही पर्याप्त कारण है, उसके होने पर अन्धकार के आने की प्रतीक्षा नहीं होती । क्योंकि जैसा कहा जाता है—'स्त्रियों में कामदेव प्रवृत्त होने पर समय का विचार नहीं

दैवादापतता त्वन्धकारेण तत्सौकर्यमात्रं कृतमिति। एवं द्वितीयोदाहरणेऽपि योज्यम् ॥ ११८ ॥

५८ प्रत्यनीकालङ्कारः

प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः ।
जैत्रनेत्रानुगौ कर्णावुत्पलाभ्यामधःकृतौ ॥ ११९ ॥

करता'। पर उत्कण्ठा के समय ही दैवयोग से सूर्य अस्त हो गया और इस प्रकार दैवात् अंधकार के आगमन के कारण नायिका के प्रियाभिसरण का कार्य और सरल हो गया। ठीक इसी तरह दूसरे उदाहरण में समझा जा सकता है।

(दूसरे उदाहरण में पैरों पर गिरना ही नायिका के मान को हटाने के लिए काफी था, पर इसी बीच अकस्मात् मेघगर्जन हुआ, जिससे नायिका में कामोद्दीपन और जल्दी तथा अधिक सरलता से हो गया और नायक के प्रति उसका क्रोध सुगमता से हट गया।)

टिप्पणी—समाधि का अन्य उदाहरण यह दिया जा सकता है :—

कथय कथमिवाशा जायतां जीविते मे
मलयभुजगवान्ता वान्ति वाताः कृतान्ताः ।
अयमपि बत गुञ्जत्यालि माकन्दमौलौ
मनसिजमहिमानं मन्यमानो मिलिन्दः ॥ (रसगंगाधर)

यहाँ विरहिणी के जीवित की आशा छोड़ देने रूप कार्य का कारण मलय पवन हैं ही, किंतु अकस्मात् प्राप्त आम के पेड़ पर कामदेव की महिमा की घोषणा करता मधुपगुञ्जन उस जीविताशात्याग के कार्य को और सुकर बना देता है।

५८. प्रत्यनीक अलंकार

११९—जहाँ बलवान् शत्रु को पराजित करने में असमर्थ कोई पदार्थ उस शत्रुपक्ष के किसी अन्य पदार्थ को पराजित करता वर्णित किया जाय, वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है। जैसे, (किसी नायिका ने अपने कानों में कमलों को अवतंसित कर रखा है, उसकी प्रशंसा करते कवि कहता है) इन कमलों ने अपने शत्रु (अपने आपको पराजित करने वाले) नेत्रों के अनुगामी कानों को दबा दिया है।

यहाँ कमल शोभा में नेत्रों के द्वारा पराजित कर दिये गये हैं, कमल इस पराजय का बदला नेत्रों से नहीं ले सकते, क्योंकि नेत्र विशेष बलवान् (सुन्दर) हैं, अतः नेत्रों के साथी (—क्योंकि नायिका के नेत्र कर्णान्तायत हैं) कानों को पराजित कर रहे हैं।

('प्रत्यनीकं' इस शब्द में अव्ययीभाव समास है। इसका विग्रह होता है—अनीकेन सन्येन सदृशं इति प्रत्यनीकम्। अर्थात् जिस प्रकार सेना (अनीक) प्रतिपक्ष (शत्रु) का तिरस्कार करती है, ठीक इसी तरह इस अलंकार में भी साक्षात् प्रतिपक्ष (शत्रु) का तिरस्कार करने में असमर्थ होने के कारण प्रतिपक्ष के साथी किसी मित्रादि का तिरस्कार होता है। यहाँ एक शंका उठ सकती है कि 'अनीकेन सदृशं' इस व्युत्पत्ति में अव्ययीभाव कैसे होगा? क्योंकि 'सदृशं' कहने पर तो सादृश्यवाले पदार्थ की प्रधानता हो जायेगी, केवल सादृश्य की नहीं, सादृश्य तो वहाँ गुणीभूत होगा। इस शंका का उत्तर यों दिया जा सकता है कि गुणीभूत सादृश्य में भी अव्ययीभाव समास होता है। अर्थात् 'अव्ययं

यथा वा—

मम रूपकीर्तिमहरद्भुवि यस्तदनु प्रविष्टहृदयेयमिति ।
त्वयि मत्सरादिव निरस्तदयः सुतरां क्षिणोति खलु तां मदनः ॥

एवं बलवति प्रतिपक्षे प्रतिकर्तुमशक्तस्य तदीयबाधनं प्रत्यनीकमिति स्थिते साक्षात्प्रतिपक्षे पराक्रमः प्रत्यनीकमिति कैमुतिकन्यायेन फलति ।

विभक्ति' इत्यादि पाणिनिसूत्र से यथार्थ पदार्थों के सादृश्य के लिये जाने पर 'सादृश्य' शब्द के ग्रहण से गुणीभूत सादृश्य में भी अव्ययीभाव हो जाता है। इसलिए 'सदृशः सख्या ससखि' जैसे उदाहरणों में अव्ययीभाव समास होता है। इस संबंध में देखिये 'रसगंगाधर' पृ० ६६५)

अथवा जैसे—

यह नायिका उसी व्यक्ति के प्रति अपने हृदय से अनुरक्त है जिसने इस पृथ्वी पर मेरे रूप की कीर्ति को हर लिया है—मानो इस मत्सर (ईर्षा) के कारण कामदेव निर्दय हो कर उस नायिका को अत्यधिक क्षीण बना रहा है।

यहाँ कामदेव अपने प्रतिपक्षभूत नायक को बलवान् पाकर उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाता, फलतः वह अपने वैर का बदला चुकाने के लिये नायक की पक्षभूत नायिका को पीड़ा देकर उसे पराभूत कर रहा है। अतः यहाँ प्रत्यनीक अलङ्कार है।

टिप्पणी—इस सम्बन्ध में रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ का मत जानना आवश्यक है। उनके मत से कुछ आलंकारिक प्रत्यनीक अलंकार को अलग से अलंकार नहीं मानते, वे इसे हेतूत्प्रेक्षा का ही रूप मानते हैं। हेतूत्प्रेक्षयैव गतार्थत्वान्नेदमलङ्कारान्तरं भवितुमर्हति (रसगंगाधर पृ० ६६६)। किन्तु पण्डितराज इसे अलग अलंकार मानते हैं। इतना होने पर भी पण्डितराज का यह मत है कि जहाँ हेतूत्प्रेक्षा 'इवादि' शब्द के बिना गम्यमान हो, वहीं प्रत्यनीक माना जायगा। भाव यह है, हेतूत्प्रेक्षा में दो अंश होते हैं—एक हेत्वंश, दूसरा उत्प्रेक्षांश, जहाँ दोनों अंश आर्थ हों, अथवा केवल हेत्वंश शाब्द हो (किन्तु उत्प्रेक्षांश आर्थ हो), वहीं प्रत्यनीक अलंकार माना जायगा। जहाँ उत्प्रेक्षांश तथा हेत्वंश दोनों शाब्द हों, वहाँ प्रत्यनीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वहाँ स्पष्टतः उत्प्रेक्षा ही होगी। इसी सम्बन्ध में रसगंगाधरकार ने कुवलयानन्दकार के इस उदाहरण को इसलिए प्रत्यनीक का उदाहरण नहीं माना है कि यहाँ हेत्वंश (मम रूप'''प्रविष्टहृदयेयमिति) तथा उत्प्रेक्षांश (मत्सरादिव) दोनों ही शाब्द हैं। वे कहते हैं:—

मम रूपकीर्ति'''इति कुवलयानन्दकारेणोदाहृते तु पद्ये हेत्वंश उत्प्रेक्षांशश्चेत्युभयमपि शाब्दमिति कथङ्कारमस्यालङ्कारोदाहरणतां नीतमिदमायुष्मतेति न विद्मः।'

(रसगंगाधर पृ० ६६७)

पण्डितराज जगन्नाथ के इस आक्षेप का उत्तर वैद्यनाथ ने अपनी कुवलयानन्दटीका अलंकारचन्द्रिका में दिया है। वे कहते हैं कि 'मत्सरादिव' इस अंश में उत्प्रेक्षा शाब्दी है, किन्तु उसके कारण प्रतिपक्षी के सम्बन्धी (नायिका) का (कामदेव के द्वारा) पीडित करना, इस अंश में तो स्पष्टतः प्रत्यनीक अलंकार है ही। वे इस सम्बन्ध में मम्मटाचार्य के द्वारा प्रत्यनीक के प्रकरण में उदाहृत पद्य को देते हैं, जहाँ भी उत्प्रेक्षांश (अनुशयादिव) शाब्द ही पाया जाता है।

'अत्र मत्सरादिव' इति हेत्वंशे उत्प्रेक्षासत्त्वेऽपि तद्धेतुकप्रतिपक्षसम्बन्धिबाधनं प्रत्यनी

यथा वा—

मधुव्रतौघः कुपितः स्वकीयमधुप्रपापद्मनिमीलनेन ।
बिम्बं समाक्रम्य बलात्सुधांशोः कलङ्कमङ्के ध्रुवमातनोति ॥११९॥

५९ अर्थापत्त्यलङ्कारः

कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते ।
स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः, का वार्ता सरसीरुहाम् ? ॥ १२० ॥

कालङ्कारस्य विविक्तो विषय इति बोध्यम् । अत एव मम्मटभट्टैरपि—'त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दर भवत्यनुरक्ता । पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां तापयत्यनुशयादिव कामः ॥' (इत्युदाहृतं) । एवं च हेतूत्प्रेक्षयैव गतार्थत्वान्नेदमलङ्कारान्तरं भवितुमर्हतीति कस्यचिद्वचनमनादेयम् ॥ (अलंकारचन्द्रिका पृ० १३५)

इस प्रकार जहाँ बलवान् प्रतिपक्ष के प्रति बिगाड़ करने में असमर्थ व्यक्ति के द्वारा उस शत्रु को स्वयं को ही पीडित किया जाय, वहाँ साक्षात् शत्रु के प्रति वर्णित पराक्रम में भी इसलिए प्रत्यनीक अलङ्कार होगा कि किसी शत्रु के सम्बन्धी को पीडित करने की अपेक्षा शत्रु को पीडित करना विशेष महत्त्वपूर्ण है (क्योंकि कैमुतिकन्याय से इसकी पुष्टि होती है)। अथवा जैसे—

शाम के समय भौंरों का समूह अपनी मधु की प्रपारूप कमलश्रेणि के मुरझाने के कारण क्रुद्ध होकर, अपने शत्रुभूत चन्द्रमा के बिम्ब पर आक्रमण कर उसके मध्यभाग में कलङ्क को उत्पन्न कर रहा है।

यहाँ भौंरों का समूह अपना अपकार करने वाले (कमलों को कुम्हला देने वाले) शत्रु चन्द्रमा से कुपित होकर उसका अपकार करना चाहता है। यद्यपि वह चन्द्रमा को पीडित करने में अशक्त है तथापि किसी तरह उसके मध्यभाग में कलंक को उत्पन्न कर उसे बाधा पहुँचा ही रहा है।

टिप्पणी—यह प्रत्यनीक का प्रकारान्तर अप्पयदीक्षित ने ही माना है। रुय्यक, मम्मट तथा पण्डितराज केवल प्रतिपक्षिसम्बन्धिबाधन या प्रतिपक्षिसम्बन्धितिरस्कृति में ही प्रत्यनीक मानते हैं, प्रतिपक्षी के स्वयं के बाधन या तिरस्कार में नहीं।

५९. अर्थापत्ति अलङ्कार

१२०—जहाँ कैमुत्यन्याय के द्वारा किसी अर्थ की सिद्धि हो, वहाँ अर्थापत्ति या काव्यार्थापत्ति अलङ्कार होता है। जैसे तुम्हारे मुख ने उस चन्द्रमा तक को जीत लिया, तो कमलों की तो बात ही क्या ?

टिप्पणी—पण्डितराज जगन्नाथ ने अर्थापत्ति के लक्षण में 'कैमुत्यन्याय' न मानकर 'तुल्यन्याय' की स्थिति मानी है। तभी तो वे अर्थापत्ति की परिभाषा यह देते हैं :—केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिः। (रसगंगाधर पृ० ६५३)। अर्थापत्ति के प्रकरण में वे अप्पय दीक्षित की परिभाषा का खण्डन करते हैं तथा इस बात की दलील देते हैं कि अर्थापत्ति न केवल अधिकार्थविषय के द्वारा न्यूनार्थविषय वाली (कैमुतिकन्याय वाली) ही होती है, अपितु न्यूनार्थविषय के द्वारा अधिकार्थविषय की भी होती है। अप्पयदीक्षित का लक्षण इस प्रकार के उदाहरणों में घटित न हो सकेगा। यत्तु—'कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते' इति कुवलयानन्दकृता अस्या लक्षणं निर्मितं, तदसत्। कैमुतिकन्यायस्य न्यूनार्थविषयत्वेनाधिकार्थापत्तावव्याप्तेः (वही पृ० ६६६)। कुवलयानन्द के टीकाकार वैद्यनाथ ने अलंकारचन्द्रिका में

अत्र स इत्यनेन पद्मानि येन जितानि इति विवक्षितम्, तथा च सोऽपि येन जितस्तेन पद्मानि जितानीति किमु वक्तव्यमिति दण्डापूपिकान्यायेन पद्मजयरूपस्यार्थस्य संसिद्धिः काव्यार्थापत्तिः। तान्त्रिकाभिमतार्थापत्तिव्यावर्तनाय काव्येति विशेषणम्।

यथा वा—

अधरोऽयमधीराक्ष्या बन्धुजीवप्रभाहरः।
अन्यजीवप्रभां हन्त हरतीति किमद्भुतम् ?॥
स्वकीयं हृदयं भित्त्वा निर्गतौ यौ पयोधरौ।
हृदयस्यान्यदीयस्य भेदने का कृपा तयोः ?॥ १२०॥

पण्डितराज का मत देकर उसका खण्डन किया है। वैसे वैद्यनाथ पण्डितराज का नाम न देकर—'इति केनचिदुक्तं' कहते हैं। वैद्यनाथ ने उत्तर में उपर्युद्धृत पण्डितराज के अर्थापत्तिलक्षण को ही दुष्ट माना है क्योंकि वह लक्षण 'का वार्ता सरसीरुहां' वाले कैमुत्यन्याय वाले अर्थापत्ति के उदाहरण में घटित नहीं होता। कैमुतिकन्याय में न्यूनार्थविषय होता है, वहाँ तुल्यन्याय तो पाया नहीं जाता, अतः तुल्यन्याय के अभाव के कारण उसकी प्रतीति न हो सकेगी। शायद आप यह दलील दें कि अलङ्कार तो चमत्कृतिजनक होता है, अतः कोरा कैमुतिकन्याय होना अलंकार नहीं है, तो यह दलील ठीक नहीं है, क्योंकि कैमुतिकन्याय में तो लोकव्यवहार में भी चमत्कारित्वानुभव होता है, अतः वह न्याय स्वतः ही अलंकार है। तत्रेदं वक्तव्यम्–केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिरिति तदुक्तलक्षणमयुक्तम्। 'का वार्ता सरसीरुहां' इत्यादिकैमुत्यन्यायविषयार्थापत्तावव्याप्तेः। कैमुतिकन्यायस्य न्यूनार्थविषयत्वेन तुल्यन्यायत्वाभावादापादनप्रतीतेश्चेति। न चात्र कैमुत्यन्यायतामात्रं न त्वलङ्कारमिति युक्तम्, ...लोकव्यवहारेपि कैमुत्यन्यायस्य चमत्कारित्वानुभवेन तेनैव न्यायेन तस्यालङ्कारतासिद्धेश्च। (पृ० १३६)

यहाँ चन्द्रमा के साथ युक्त 'सः' पद के द्वारा इस बात की व्यञ्जना विवक्षित है कि जिस चन्द्रमा ने कमलों को जीत लिया है; नायिका के मुख ने उस चन्द्रमा तक को जीत लिया है, अतः उसने कमलों को भी जीत लिया, इस बात के कहने की तो आवश्यकता ही क्या है। इस प्रकार दण्डापूपिकान्याय से मुख ने कमलों को भी जीत लिया है इस अर्थ की सिद्धि हो जाती है, अतः अर्थापत्ति अलङ्कार है। इस अलङ्कार के साथ काव्यशब्द जोड़कर इसे काव्यार्थापत्ति इसलिए कहा गया है कि मीमांसकों के अर्थापत्ति प्रमाण (पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते,अर्थात् रात्रौ भुंक्ते) की व्यावृत्ति हो जाय।

अथवा जैसे—

चञ्चल नेत्र वाली नायिका का अधर बन्धूक (बन्धुओं के जीव) की प्रभा को हरता है, तो वह दूसरे जीवों की प्रभा को हरे, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है?

इस पद्य में जो बन्धुओं तक के जीवन हर सकता है (बन्धुजीव पुष्प की शोभा को हरता है), वह दूसरों के जीवन को क्यों न हरेगा, यह श्लेषानुप्राणित अर्थापत्ति है।

जो नायिका के स्तन खुद अपने ही हृदय को फोड़कर बाहर निकल आये हैं, उन्हें अन्य व्यक्ति के हृदय को फोड़ने में दया क्यों आने लगी?

इसमें, जो खुद के हृदय को फोड़ने से नहीं हिचकिचाता, वह दूसरों पर क्यों दया करेगा, यह अर्थापत्ति है।

६० काव्यलिङ्गालङ्कारः

समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम् ।
जितोऽसि मन्द ! कन्दर्प ! मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः ॥ १२१ ॥

अत्र कन्दर्पजयोपन्यासो दुष्करविषत्वात्समर्थनसापेक्षः तस्य 'मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः' इति स्वान्तःकरणे शिवसंनिधानप्रदर्शनेन समर्थनं काव्यलिङ्गम्। व्याप्तिधर्मतादिसापेक्षनैयायिकाभिमतलिङ्गव्यावर्तनाय काव्यविशेषणम् । इदं वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ।

पदार्थहेतुकं यथा—

भस्मोद्धूलन ! भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले ! शुभं
हा सोपानपरम्परे ! गिरिसुताकान्तालयालंकृते ! ।

---

६०. काव्यलिङ्ग अलङ्कार

१२१—जहाँ समर्थनीय अर्थ का किसी पदार्थ या वाक्य के द्वारा समर्थन किया जाय, वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है। जैसे, हे मूर्ख कामदेव, मैंने तुम्हें जीत लिया है, क्योंकि मेरे चित्त में त्रिलोचन (शिव) विद्यमान हैं।

यहाँ कामदेव को जीतने का जो वर्णन किया गया है, वह दुष्कर विषय होने के कारण समर्थनसापेक्ष है। चूँकि कामदेव का जय सरल रीति से नहीं हो सकता तथा उसका जय केवल शिव ही कर सकते हैं, इसलिए 'कामदेव' मैंने तुम्हें जीत लिया है' इस उक्ति के समर्थन की आवश्यकता (अपेक्षा) उपस्थित होती है। इस बात का समर्थन 'क्योंकि मेरे चित्त में त्रिलोचन हैं,' इस प्रकार अपने अन्तःकरण में शिव के स्थित रहने के वर्णन के द्वारा किया गया है। अतः यहाँ सापेक्ष समर्थन होने के कारण काव्यलिंग है। इस अलंकार का नाम काव्यलिंग इसलिए दिया गया है कि आलंकारिक नैयायिकों के लिंग (हेतु) से इसे भिन्न बताना चाहते हैं। नैयायिकों की अनुमानसरणि में जिस हेतु (अनुमापक) से साध्य की अनुमिति होती है, उसे लिंग भी कहा जाता है। जैसे, 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्' इस वाक्य में 'धूम' लिङ्ग (हेतु) है। नैयायिकों के इस लिङ्ग में साध्य के साथ व्याप्ति सम्बन्ध तथा पक्ष में उसकी सत्ता (धर्मता) होना जरूरी हो जाता है। जब तक 'धूम' (लिङ्ग) तथा 'अग्नि' (साध्य) में व्याप्ति सम्बन्ध न होगा तथा लिङ्ग 'पर्वत' (पक्ष) में न होगा, तब तक धूम (लिङ्ग) से अग्नि की अनुमिति न हो सकेगी। इस प्रकार नैयायिकों का 'लिङ्ग' व्याप्ति तथा पक्षधर्मता आदि की अपेक्षा रखता है, जब कि आलङ्कारिकों का यह 'हेतु' साध्य के साथ व्याप्ति-सम्बन्ध तथा पक्ष में सत्ता रखता ही हो यह अपेक्षित नहीं। इसीलिए नैयायिकों के साधारण 'लिङ्ग' से इसका अन्तर बताने के लिए तथा इसमें उसका समावेश न कर लिया जाय इसलिए इसके साथ काव्य का विशेषण दिया गया है तथा इसे 'काव्यलिङ्ग' कहा जाता है। कारिकार्ध का उदाहरण वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग का है। पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग का उदाहरण भिन्न है।

कोई शिवभक्त शिवपूजा की सामग्री को सम्बोधित कर रहा है :—हे भस्म, तुम्हारा कल्याण हो, हे रुद्राक्षमाले, तुम कुशल रहो, पार्वती के पति शिव के मन्दिर को अलंकृत करने वाली सोपानपंक्ति, हाय (अब मैं तुमसे जुदा हो रहा हूँ) आज भगवान् शिव ने

अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा-
लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निलीयामहे ॥

अत्र मोक्षस्य महामोहत्वमसिद्धमिति तत्समर्थने सुखालोकोच्छेदिनीति पदार्थो हेतुः। क्वचित्पदार्थवाक्यार्थौ परस्परसापेक्षौ हेतुभावं भजतः।

यथा वा (नैषध० २।२०)—

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्धनि यान्बिभर्ति सा।
पशुनाप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छति चामरेण कः ॥

अत्र चामरस्य दमयन्तीकुन्तलभारसाम्याभावेऽपि 'विदुषी मूर्धनि यान्बिभर्ति सा' इति वाक्यार्थः, 'पशुनाप्यपुरस्कृतेन' इति पदार्थश्चेत्युभयं मिलितं हेतुः क्वचित्समर्थनीयार्थसमर्थनार्थे वाक्यार्थे पदार्थो हेतुः।

मेरी पूजा से प्रसन्न होकर मुझे तुम्हारी पूजा के सुख से रहित, मोक्ष रूपी महामोह के गर्त में गिरा दिया है। भाव यह है, आज शिव ने प्रसन्न होकर मुझे मोक्ष दे दिया है, इस लिए मुझे अब भस्म, रुद्राक्षमाला, शिवमन्दिर सोपानतति के सहयोग का सुख नहीं मिल पायगा।

यहाँ 'मोक्ष' को महामोह बताया गया है; दर्शनशास्त्र में मोक्ष को परमानन्दरूप माना है, किन्तु उसे महामोहरूप मानना अप्रसिद्ध है, अतः इसके लिए समर्थन की अपेक्षा होती है। इसका समर्थन करने के लिए 'सुखालोकोच्छेदिनि' यह पदार्थ हेतु रूप में उपन्यस्त किया गया है। क्योंकि मोक्ष की स्थिति में सपर्या-सुख (पूजा-सुख) नष्ट हो जाता है, अतः उसे महामोह माना गया है।

कभी कभी एक ही काव्य में एक साथ पदार्थहेतुक तथा वाक्यार्थहेतुक दोनों तरह का काव्यलिङ्ग पाया जाता है। ऐसे स्थलों में पदार्थ तथा वाक्यार्थ परस्पर एक दूसरे के सापेक्ष होते हैं, तथा वे किसी उक्ति विशेष के हेतु होते हैं। उदाहरण के लिए नैषध के द्वितीय सर्ग का निम्न पद्य लीजिये—

कवि दमयन्ती के केशपाश का वर्णन कर रहा है। जिन बालों को वह बुद्धिमती दमयन्ती अपने सिर पर धारण करती हैं, वे सर्वोत्कृष्ट हैं। ऐसा कौन होगा, जो उन बालों की तुलना चमरी के चामर (पुच्छभार) से करे, जिसे (बुद्धिहीन) पशु (चमरी गाय) ने भी पीछे रख रखा है (आदर के साथ पुरस्कृत नहीं किया है)। भाव यह है, कुछ कवि दमयन्ती के बालों की तुलना चमरी के पुच्छभार से देना चाहें, पर यह तुलना गलत होगी। क्योंकि चमरी ने भी जिसमें बुद्धि का अभाव है—अपनी पूँछ के बालों को इस-लिए पीछे रख रखा है कि वे पुरस्कृत करने लायक नहीं हैं, जब कि विदुषी दमयन्ती ने अपने बालों को शिर पर धारण कर उन्हें आदर दिया है। अतः उनकी परस्पर तुलना हो ही कैसे सकती है?

यहाँ चामर दमयन्ती के केशभार की समता नहीं रखते, इसके समर्थन के लिए 'जिन्हें विदुषी दमयन्ती शिर पर धारण करती है' यह वाक्यार्थ, तथा 'पशु के द्वारा भी अनादृत (अपुरस्कृत)' यह पदार्थ दोनों मिलाकर हेतुरूप में उपन्यस्त किये गये हैं।

यथा वा—

वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे ! न क्वापि क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।
नमन्मुक्तः संप्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिमा-
नितीश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥

अत्र तावदपराधद्वयं समर्थनीयम्, अस्पष्टार्थत्वात् । तत्समर्थनं च पूर्वापरजन्मनोरनमनाभ्यां वाक्यार्थभूताभ्यां क्रियते । अत्र द्वितीयवाक्यार्थेऽतनुत्वमेकपदार्थो हेतुः । अत्रापि संप्रति 'नमन्मुक्तः' इति वाक्यार्थोऽनेकपदार्थो वा हेतुः । क्वचित्परस्परविरुद्धयोः समर्थनीययोरुभयोः क्रमादुभौ हेतुभावं भजतः ॥

यथा—

असोढा तत्कालोल्लसदसह्यभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।
प्रमोदं वो दिश्यात् कपटबटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥

कभी कभी किसी समर्थनीय उक्ति के समर्थन के लिए वाक्यार्थ का प्रयोग किया जाता है तथा उसके लिए पुनः किसी पदार्थ को हेतुरूप में उपन्यस्त किया जाता है। जैसे—

हे त्रिपुर दैत्य के शत्रु महादेव, इस जन्म में पुनः शरीर ग्रहण करने के कारण मैंने यह अनुमान किया है कि पिछले जन्म में मैंने कभी भी, कहीं भी आपको प्रणाम नहीं किया था। अब इस जन्म में मैं तुम्हें प्रणाम कर रहा हूँ, इसलिए मैं मुक्त हो चुका हूँ (मेरा मोक्ष निश्चित है)। अगले जन्म में भी शरीर ग्रहण न करने के कारण मैं आपको प्रणाम न कर सकूँगा। हे महादेव, मेरे इस अपराधद्वय को क्षमा करें।

यहाँ 'अपराधद्वय' का वर्णन किया गया है। यह 'अपराधद्वय' समर्थन सापेक्ष है, क्योंकि इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। इसका समर्थन पुराने जन्म तथा भावी जन्म के अनमन (प्रणाम न करने रूप) वाक्यार्थ के द्वारा किया गया है। यहाँ द्वितीय वाक्यार्थ में 'अतनुत्व' (शरीर ग्रहण न करना) एकपदार्थ हेतु है। यहीं अब 'प्रणाम करने के कारण मेरा मोक्ष हो चुका' यह वाक्यार्थ या अनेकपदार्थ हेतु है।

कहीं कहीं परस्परविरुद्ध दो समर्थनीय अर्थों के लिए क्रम से समर्थक हेतु (उक्ति) का प्रयोग पाया जाता है, जैसे निम्न पद्य में—

शिव ब्रह्मचारी के वेष में पार्वती की परीक्षा लेने आये हैं। वे पार्वती के तत्कालीन असह्य तप को देख कर उसे सहने में असमर्थ हैं (अतः यह चाहते हैं कि शीघ्रातिशीघ्र अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर दें)। दूसरी ओर वे हिमालय की पुत्री पार्वती की विश्वस्त बातचीत में रसिक हैं (इसलिए अपनी वास्तविकता छिपाये रखना चाहते हैं)। इस प्रकार कपट से ब्रह्मचारी-वेष को हटाकर अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करने में त्वरा तथा शिथिलता से आक्रान्त कामदेव के शत्रु (शिव) आप लोगों को सुख प्रदान करें।

इस पद्य में एक ओर ब्रह्मचारी-वेष को हटाने में शीघ्रता, दूसरी ओर उसके हटाने में

अत्र शिवस्य युगपत्कृत्रिमब्रह्मचर्यवेषापनयनत्वरातदनुवर्तनेच्छयोर्विरुद्धयोः क्रमाद्गिरिजातीव्रतपसोऽसहिष्णुत्वं तत्संलापकौतुकं चेत्युभावर्थौ हेतुत्वेन निबद्धौ। क्वचित्परस्परविरुद्धयोरुभयोः समर्थनीययोरेक एव हेतुः।

यथा—

जीयादम्बुधितनयाधररसमास्वादयन्मुरारिरयम्।
अम्बुधिमथनक्लेशं कलयन् विफलं च सफलं च ॥

अत्र विफलत्व-सफलत्वकलनयोरुभयोर्विरुद्धयोरेक एवाम्बुधितनयाधररसास्वादो हेतुः। इदं काव्यलिङ्गं इति, हेत्वलङ्कार इति केचिद्व्याजह्रुः॥

हे गोदावरि! देवि! तावकतटोद्देशे कलिङ्गः कवि-
र्वाग्देवीं बहुदेशदर्शनसखीं त्यक्त्वा विरक्तिं गतः।
एनामर्णवमध्यसुप्तमुरभिन्नाभीसरोजासनं
ब्रह्माणं गमय क्षितौ कथमसावेकाकिनी स्थास्यति ॥

शिथिलता ये दोनों अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं, तथा दोनों ही समर्थन सापेक्ष हैं। इन्हीं का समर्थन क्रमशः दो वाक्यार्थहेतु के द्वारा किया गया है।

यहाँ शिव के कृत्रिम ब्रह्मचारि-वेष के हटाने में त्वरा तथा उस वेष के बनाये रखने की इच्छा रूप दो परस्पर विरुद्ध अर्थों के हेतुरूप में क्रमशः गिरिजा के तीव्र तप की असहिष्णुता तथा उससे बातचीत करने का कुतूहल इन दो अर्थों का विन्यास किया गया है।

कभी कभी परस्पर विरुद्ध दोनों अर्थों के लिए ही समर्थक हेतु का उपादान पाया जाता है, जैसे—

समुद्र की पुत्री लक्ष्मी के अधररस का पान करते हुए भगवान् विष्णु की—जो समुद्र-मन्थन के क्लेश को निष्फल तथा सफल दोनों समझ रहे हैं—जय हो।

यहाँ लक्ष्मी के अधरपान करने से समुद्रमन्थन क्लेश एक साथ विफल तथा सफल दोनों समझा जा रहा है। अतः लक्ष्मी का अधररसास्वाद इस परस्परविरुद्ध अर्थद्वय का हेतु है। इस पद्य में लक्ष्मी के अधररसपान से समुद्रमन्थनश्रम सफल हुआ, किन्तु अमृत से बढ़कर लक्ष्मी के अधररस के होते हुए फिर से अमृत के लिए किया गया अमृतमन्थन-श्रम व्यर्थ था, यह भाव व्यञ्जित होता है।

यह काव्यलिङ्ग नामक अलङ्कार है, इसे ही कुछ आलङ्कारिक हेतु अलङ्कार कहते हैं। इसी प्रसङ्ग में जयदेव के द्वारा अभिमत श्लेष गुण पर संकेत कर देना आवश्यक समझा गया है, जहाँ 'अविघटमान अर्थ के घटक (समर्थक) अर्थ का वर्णन पाया जाता है'। काव्यलिङ्ग में भी 'अविघटमान अर्थ' के घटक (हेतु) का वर्णन होता है। इस सिद्धान्तपक्ष को उपन्यस्त करने के लिए अप्पयदीक्षित निम्न पद्य को लेते हैं :—

कोई कवि किसी विद्वान् व्यक्ति के निधन पर उसके विरह से एकाकिनी सरस्वती की दशा का वर्णन करता हुआ, प्रकारान्तर से उस विद्वान् की विद्वत्ता का वर्णन करता है। 'हे देवि गोदावरि, कोई कलिङ्ग देशवासी विद्वान् कवि अनेक देशों के दर्शन में उसके साथ सखी रूप में स्थित सरस्वती को छोड़कर इस तेरे तट के समीप ही मुक्ति को प्राप्त हो गया है। इसलिए तुम इस सरस्वती को समुद्र के बीच में योगनिद्रा में सुप्त भगवान् विष्णु

इत्यत्र 'ब्रह्मणः प्रापणं कथं गोदावर्या कर्तव्यम् ?' इत्यसंभावनीयार्थोपपादकस्य 'अर्णवमध्य–' इत्यादितद्विशेषणस्य न्यसनं श्लेषाख्यो गुण इति, 'श्लेषोऽविघटमानार्थघटकार्थस्य वर्णनम्' इति श्लेषलक्षणमिति च जयदेवेनोक्तम्। वस्तुतस्तु—अत्रापि पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमेव, तद्भेदकाभावात्। ननु साभिप्रायपदार्थवाक्यार्थविन्यसनरूपात् परिकरात्काव्यलिङ्गस्य किं भेदकम् ? उच्यते,—परिकरे पदार्थवाक्यार्थबलात्प्रतीयमानार्थौ वाच्योपस्कारकतां भजतः। काव्यलिङ्गे तु पदार्थवाक्यार्थावेव हेतुभावं भजतः। ननु यद्यपि 'सुखालोकोच्छेदिनि' इत्यादिपदार्थहेतुककाव्यलिङ्गोदाहरणे 'अग्रेऽप्यनतिमान्' इत्यादिवाक्यार्थहेतुककाव्यलिङ्गोदाहरणे च पदार्थ-वाक्यार्थावेव हेतुभावं भजतस्तथापि 'पशुनाप्यपुरस्कृतेन' इति पदार्थहेतुकोदाहरणे 'मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः' इति वाक्यार्थहेतुको-

---

के नाभिकमल के आसन पर स्थित ब्रह्मा के पास ले जाओ, नहीं तो यह बेचारी सरस्वती इस पृथ्वी पर अकेली कैसे रह पायगी ?

यहाँ 'गोदावरी सरस्वती को ब्रह्मा के पास कैसे पहुँचा सकती है' इस असम्भावनीय अर्थ के समर्थन के लिए 'अर्णवमध्य······' आदि विशेषण का उपन्यास किया गया है अतः यहाँ जयदेव के द्वारा उक्त श्लेष गुण के लक्षण—'जहाँ अविघटमान अर्थ के घटक अर्थ का वर्णन हो, वहाँ श्लेष होता है'—के अनुसार यहाँ श्लेष नामक गुण है। अप्पय दीक्षित इसे भी काव्यलिङ्ग का ही स्थल मानते हैं। वे कहते हैं—वस्तुतः यहाँ भी पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग ही है, क्योंकि यह स्थल काव्यलिङ्ग वाले स्थल से भिन्न है, इसके प्रमाणरूप में हम किसी भेदक (दोनों को अलग अलग करने वाले) तत्त्व का निर्देश नहीं कर सकते।

पूर्वपक्षी पुनः यह जानना चाहता है कि साभिप्राय विशेषणरूप पदार्थ या वाक्यार्थ वाले परिकर अलंकार से काव्यलिंग का क्या भेद है ? इसका उत्तर देते हुए अप्पयदीक्षित बताते हैं कि परिकर अलंकार में सर्वप्रथम पदार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, तदनंतर (वाच्य रूप) पदार्थ या वाक्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, तथा यह व्यंग्यार्थ सम्पूर्ण (काव्य) उक्ति का उपस्कारक बन कर आता है, अर्थात् यहाँ प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ वाच्यार्थ का सहायक होता है। जब कि काव्यलिंग में पदार्थ–वाक्यार्थ रूप वाच्यार्थ स्वयं ही समर्थनीय वाक्य के हेतु बनकर आते हैं। इस प्रकार प्रथम सरणि (परिकर) में वहाँ बीच में व्यंग्यार्थ भी पाया जाता है, द्वितीय सरणि (काव्यलिंग) में यह नहीं होता। पूर्वपक्षी फिर एक दलील पेश करता है कि कई स्थानों पर व्यंग्यार्थ भी वाच्यार्थ का हेतु बन कर आता देखा जाता है, केवल उसका उपस्कारक नहीं। हम सिद्धांत पक्षी के द्वारा दिये गये काव्यलिंग के उदाहरणों को ही ले लें। हम देखते हैं कि 'सुखालोकोच्छेदिनि' वाले पदार्थहेतुक काव्यलिंग के उदाहरण में तथा 'अग्रेऽप्यनतिमान्' वाले वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग के उदाहरण में क्रमशः (वाच्यरूप) पदार्थ तथा वाक्यार्थ ही हेतु हैं; किंतु 'पशुनाप्यपुरस्कृतेन' वाले पदार्थहेतुक काव्यलिंग तथा 'मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः' वाले वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग के उदाहरणों में यह बात नहीं पाई जाती। यहाँ इन दोनों के द्वारा व्यंजित प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ भी हेतु कोटि में प्रविष्ट दिखाई पड़ता है। 'पशुना' इस पद से बुद्धिहीनता (विवेकरहितता) की व्यंजना होती है, क्योंकि यह पद उसी पद्य में दमयन्ती के लिए प्रयुक्त 'विदुषी' पद का विपरीतार्थक शब्द है। इसी तरह

दाहरणे च प्रतीयमानार्थस्यापि हेतुकोट्यनुप्रवेशो दृश्यते। पशुनेति ह्यविवेकित्वाभिप्रायगर्भम्; विदुषीत्यस्य प्रतिनिर्देश्यत्वात्। त्रिलोचन इति च कन्दर्पदाहकतृतीयलोचनत्वाभिप्रायगर्भम्। कन्दर्पजयोपयोगित्वात्तस्य। सत्यम्; तथापि न तयोः परिकर एव किंतु तदुत्थापितं काव्यलिङ्गमपि॥

प्रतीयमानाविवेकित्वविशिष्टेन पशुनाप्यपुरस्कृतत्वस्यानेकपदार्थस्य, प्रतीयमानकन्दर्पदाहकभावतृतीयलोचनविशिष्टस्य शिवस्य चित्ते संनिधानस्य च वाक्यार्थस्य वाच्यस्यैव हेतुभावात्। न हि तयोर्वाच्ययोर्हेतुभावे ताभ्यां प्रतीयमानं मध्ये किंचिद्द्वारमस्ति। यथा 'सर्वाशुचिनिधानस्य' इत्यादिपदार्थपरिकरोदाहरणे सर्वाशुचिनिधानस्येत्यादिनाऽनेकपदार्थेन प्रतीयमानं शरीरस्यासंरक्षणीयत्वम्। तथा च वाक्यार्थपरिकरोदाहरणेऽपि पर्यायोक्तविधया तत्तद्वाक्यार्थेन

'त्रिलोचन' पद से भी 'कामदेव को भस्म करने वाले शिव के तीसरे नेत्र' की व्यंजना होती है, क्योंकि वही नेत्र कामदेव को जीतने में उपयोगी हो सकता है। इस प्रकार यहाँ तत्तत् प्रतीयमान अर्थ भी तत्तत् समर्थनीय अर्थ के समर्थक हेतु बने दिखाई पड़ते हैं। (पर यहाँ तो दोनों स्थानों पर परिकर अलंकार है इसलिए काव्यलिंग के उदाहरण रूप में इन दोनों स्थलों का उपन्यास ठीक नहीं जान पड़ता।) दलील का उत्तर देते हुए सिद्धान्तपक्षी कहता है कि तुम्हारा यह कहना कि यहाँ व्यंग्यार्थ प्रतीति वाच्योपस्कारक है तथा यहाँ परिकर अलंकार है, ठीक है, किंतु इन स्थलों पर केवल परिकर अलंकार ही नहीं है, वस्तुतः यहाँ परिकर अलंकार स्वयं गौण बनकर काव्यलिंग की प्रतीति (उपस्थिति) भी कराता है। अतः प्रमुख अलंकार काव्यलिंग है। क्योंकि आप का परिकर वाला व्यंग्यार्थ तो केवल हेतु ही बना रहता है।

टिप्पणी—तथा चोभयत्र परिकरालंकारसत्त्वात्काव्यलिंगोदाहरणत्वमनुपपन्नमिति भावः। (अलंकारचन्द्रिका पृ० १३९)

व्यंग्यस्य हेतुकोटावेवानुप्रवेशादिति भावः। (वही पृ० १३९)

हम देखते हैं कि 'पशुनाप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः' इस उदाहरण में व्यंग्यार्थरूप अविवेकित्व (ज्ञानहीनता) से युक्त पशु के द्वारा भी अपुरस्कृत (अनादृत) इस अनेक पदार्थ में वाच्यार्थ का हेतुभाव पाया जाता है, इसी तरह व्यंग्यार्थरूप कामदेवदाहकतृतीयलोचनविशिष्ट शिव के चित्त में रहने रूपी वाक्यार्थ के द्वारा वाच्यार्थ की हेतुता स्वीकार की गई है। इसलिए पदार्थ वाक्यार्थ के दोनों वाच्यार्थों के क्रमशः हेतु बनने में बीच में कोई प्रतीयमान अर्थ नहीं पाया जाता। भाव यह है, आपके द्वारा अभीष्ट व्यंग्यार्थ इन स्थलों में स्वयं हेतुभूत पदार्थ या वाक्यार्थ का विशेषण बन गया है, तदनंतर व्यंग्यार्थ विशिष्ट पदार्थ या वाक्यार्थ समर्थनीय वाच्यार्थ के हेतु बनते हैं। यदि प्रतीयमान अर्थ प्रथम (वाच्य) पदार्थ या वाक्यार्थ के बाद प्रतीत होकर अपने द्वारा वाच्यार्थ प्रतीति कराता अर्थात् स्वयं पदार्थ-वाक्यार्थ विशिष्ट होता तो यहाँ पूर्वपक्षी का मत सम्मान्य हो सकता था, किंतु हम देखते हैं कि पदार्थ-वाक्यार्थ (हेतु) तथा वाच्यार्थ (हेतुमान्) के बीच में कोई प्रतीयमान अर्थ नहीं पाया जाता। अतः यहाँ परिकर का स्थल न होकर काव्यलिंग का ही क्षेत्र है। इस संबंध में परिकरालंकार के उदाहरणों को लेकर बताया जा रहा है कि वहाँ व्यंग्यार्थ सदा पदार्थ या वाक्यार्थ का विशेष्यरूप होकर प्रतीत होता है, इन स्थलों की तरह विशेषण रूप बनकर नहीं आता। परिकरालंकार के दो उदाहरण पीछे

प्रतीयमानं 'नाहं व्यासः' इत्यादि । तस्मात् 'पशुना' इत्यत्र 'त्रिलोचनः' इत्यत्र च प्रतीयमानं वाच्यस्यैव पदार्थस्य वाक्यार्थस्य च हेतुभावोपपादकतया काव्यलिङ्गस्याङ्गमेव । यथा—'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम्' इत्यनेकवाक्यार्थहेतुककाव्यलिङ्गोदाहरणे 'त्वन्नेत्रसमानकान्ति'इत्यादिकानि इन्दीवरशशिहंसविशेषणानि तेषां वाक्यार्थानां हेतुभावोपपादकानीति । तत्र वाक्यार्थहेतुककाव्यलिङ्गे पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गमङ्गमिति न तयोः काव्यलिङ्गोदाहरणत्वे काचिदनुपपत्तिः ॥ १२१ ॥

६१ अर्थान्तरन्यासालङ्कारः

उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्यविशेषयोः ।

दिये जा चुके हैं, एक 'सर्वाशुचिनिधानस्य' इत्यादि पद्य है, दूसरा 'व्यास्थं नैकतया स्थितं श्रुतिगणं' इत्यादि पद्य । यहाँ प्रथम उदाहरण पदार्थपरिकर का है, द्वितीय वाक्यार्थपरिकर का । 'सर्वाशुचिनिधानस्य' में अनेक पदार्थों के द्वारा 'शरीर असंरक्षणीय है' इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है । इसी तरह 'व्यास्थं नैकतया स्थितं श्रुतिगणं' (मैंने एकतया स्थित वेद को चार वेदों में विभक्त नहीं किया) इस वाक्यार्थ के द्वारा (तथा इसी तरह पद्य के अन्य अन्य वाक्यार्थों के द्वारा) 'मैं वेदव्यास नहीं हूँ' आदि व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है । पर 'पशुना' तथा 'त्रिलोचन' इन पदों से प्रतीत व्यंग्यार्थ तो वाच्यार्थभूत पदार्थ तथा वाक्यार्थ के हेतु बन जाने के कारण काव्यलिंग का ही अंग हो गया है । उदाहरण के लिए 'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं' इत्यादि पद्य में अनेकवाक्यार्थहेतुककाव्यलिंग अलंकार पाया जाता है । यहाँ 'यत्त्वनेत्रसमानकान्ति' आदि पद कमल, चन्द्रमा तथा हंस के विशेषण हैं तथा ये तत्तत् वाक्यार्थ के हेतु बनकर आये हैं । इस प्रकार तत्तत् वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग के ये पदार्थहेतुक काव्यलिंग अंग बन गये हैं । इसी तरह 'पशुनाप्यपुरस्कृतेन' तथा 'नचित्तेऽस्ति त्रिलोचनः' इन दोनों उदाहरणों में भी काव्यलिंग मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती, क्योंकि यहाँ भी तत्तत् पदार्थहेतुक काव्यलिंग तत्तत् अनेकपदार्थरूप तथा वाक्यार्थरूप हेतु वाले (अंगी) काव्यलिंग के अंग बन गये हैं ।

टिप्पणी—सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ॥
व्यास्थं नैकतया स्थितं श्रुतिगणं, जन्मी न वाल्मीकितो,
नाभौ नाभवदच्युतस्य सुमहद्भाष्यं न चाभाषिषम् ।
चित्रार्थां न बृहत्कथामचकथं, सुत्राम्णि नासं गुरुर्देव, त्वद्गुणवृन्दवर्णनमहं कर्तुं कथं शक्नुयाम् ॥

इन दोनों पद्यों की व्याख्या के लिए देखिये—परिकर अलंकार का प्रकरण ।
पूरा पद्य निम्न है । इसकी व्याख्या प्रतीप अलंकार के प्रकरण में देखिये—
यत्त्वन्नेत्रसमानकांति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं,
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी ।
येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥

६१. अर्थान्तरन्यास अलंकार

१२२-१२३—जहाँ विशेष रूप मुख्यार्थ के समर्थन के लिए सामान्य रूप अन्य वाक्यार्थ

हनूमानब्धिमतरद् दुष्करं किं महात्मनाम् ॥ १२२ ॥

गुणवद्वस्तुसंसर्गाद्याति स्वल्पोऽपि गौरवम् ।

पुष्पमालानुषङ्गेण सूत्रं शिरसि धार्यते ॥ १२३ ॥

सामान्यविशेषयोर्द्वयोरप्युक्तिरर्थान्तरन्यासस्तयोश्चैकं प्रस्तुतम्, अन्यदप्रस्तुतं भवति । ततश्च विशेषे प्रस्तुते तेन सहाप्रस्तुतसामान्यरूपस्य सामान्ये प्रस्तुते तेन सहाप्रस्तुतविशेषरूपस्य वाऽर्थान्तरस्य न्यसनमर्थान्तरन्यास इत्युक्तं भवति । तत्राद्यस्य द्वितीयार्धमुदाहरणं द्वितीयस्य द्वितीयश्लोकः । नन्वयं काव्यलिङ्गान्नातिरिच्यते ! तथा हि—उदाहरणद्वयेऽप्यप्रस्तुतयोः सामान्यविशेषयोरुक्तिः प्रस्तुतयोर्विशेषसामान्ययोः कथमुपकरोतीति विवेक्तव्यम् । न हि सर्वथैव प्रस्तुता-

---

का, अथवा सामान्य रूप मुख्यार्थ के लिए विशेष रूप अन्य वाक्यार्थ का प्रयोग किया जाय, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है । प्रथम कोटि के अर्थान्तरन्यास का उदाहरण है:—हनूमान् समुद्र को लाँघ गये; बड़े लोगों के लिए कौन सा कार्य दुष्कर है । दूसरी कोटि का उदाहरण है:—गुणवान् वस्तु के संसर्ग से मामूली वस्तु भी गौरव को प्राप्त करती है; पुष्पमाला के संसर्ग से धागा सिर पर धारण किया जाता है ।

यहाँ प्रथम उदाहरण में 'हनूमान् समुद्र को लाँघ गये' यह विशेष रूप मुख्यार्थ प्रस्तुत है, इसका समर्थन 'महात्माओं के लिए कौन कार्य कठिन है' इस सामान्यरूप अप्रस्तुत से किया गया है । दूसरे उदाहरण में 'गुणवान्'''गौरव को प्राप्त करती है' सामान्य रूप प्रस्तुत है, इसका समर्थन 'पुष्पमाला'''धारण किया जाता है' इस विशेष रूप अप्रस्तुत से किया गया है । अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है ।

सामान्य तथा विशेष दोनों की एक साथ उक्ति अर्थान्तरन्यास कहलाती है, इनमें से एक अर्थ प्रस्तुत होता है, एक अप्रस्तुत । इस प्रकार जहाँ विशेष प्रस्तुत होता है, वहाँ उसके साथ सामान्यरूप अप्रस्तुत अन्य अर्थ का उपन्यास किया जाता है, तथा जहाँ सामान्य प्रस्तुत होता है, वहाँ विशेषरूप अप्रस्तुत अन्य अर्थ का उपन्यास किया जाता है । अतः एक अर्थ के साथ अन्य अर्थ का न्यास होने के कारण यह अलंकार अर्थान्तरन्यास कहलाता है । इसमें विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन प्रथम कारिका के उत्तरार्ध में पाया जाता है, तथा दूसरी कोटि (विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन) के अर्थांतरन्यास का उदाहरण दूसरा श्लोक है ।

इस संबंध में पूर्वपक्षी को यह शंका हो सकती है कि अर्थान्तरन्यास का काव्यलिंग में ही समावेश किया जाता है । अतः इसे काव्यलिंग से भिन्न अलंकार मानना ठीक नहीं । इसी मत को पुष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कुछ दलीलें देता है । अर्थान्तरन्यास के उपर्युद्धृत उदाहरणद्वय में प्रस्तुत विशेष-सामान्य का अप्रस्तुत सामान्य-विशेषरूप उक्ति से कैसे समर्थन होता है, इसका विवेचन करना आवश्यक होगा । काव्य में प्रस्तुत से असंबद्ध (अनन्वयी) अप्रस्तुत का प्रयोग सर्वथा अनुचित होता है, अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त पद्यों में अप्रस्तुत प्रस्तुत से संबद्ध होना चाहिए । प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का यह सम्बन्ध किस प्रकार का है, इसे देखना जरूरी होगा । इन उदाहरणों में अप्रस्तुत को प्रस्तुत का व्यंजक नहीं माना जा सकता, जैसा कि अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में देखा जाता है । वहाँ अप्रस्तुत का वाच्यरूप में प्रयोग कर उसके द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना कराई जाती है, ऐसे स्थलों में

नन्वप्रस्तुताभिधानं युज्यते। न तावदप्रस्तुतप्रशंसायामिव प्रस्तुतव्यञ्जकतया, प्रस्तुतयोरपि विशेषसामान्ययोः स्वशब्दोपात्तत्वात्। नाप्यनुमानालंकार इव प्रस्तुतप्रतीतिजनकतया तद्वदिह व्याप्तिपक्षधर्मताद्यभावात्। नापि दृष्टान्तालंकार इव उपमानतया,—

'विस्रब्धघातदोषः स्ववधाय खलस्य वीरकोपकरः।
वनतरुभङ्गध्वनिरिव हरिनिद्रातस्करः करिणः॥'

इत्यादिषु सामान्ये विशेषस्योपमानत्वदर्शनेऽपि विशेषे सामान्यस्य क्वचिदपि तददर्शनात्, उपमानतया तदन्वये सामञ्जस्याप्रतीतेश्च। तस्मात् प्रस्तुतसमर्थकतयैवाप्रस्तुतस्योपयोग इहापि वक्तव्यः। ततश्च वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमे-

---

प्रस्तुत स्वशब्दवाच्य नहीं होता। जब कि इन स्थलों में प्रस्तुत रूप विशेष-सामान्य का भी अप्रस्तुत रूप सामान्य विशेष के साथ साथ स्वशब्दोपात्तत्व (वाच्यत्व) पाया जाता है। अतः वह व्यंग्य नहीं रह कर, वाच्य हो गया है। इसलिए इन स्थलों में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार नहीं हो सकता। साथ ही यहाँ अप्रस्तुत का प्रयोग प्रस्तुत की अनुमिति (प्रतीति) कराने के लिए भी नहीं किया गया है, जैसा कि अनुमान अलंकार में होता है। जिस प्रकार किसी प्रत्यक्ष हेतु को देखकर परोक्ष साध्य की अनुमिति होती है, जैसे धुएँ को देखकर पर्वत में अग्नि की प्रतीति, ठीक वैसे ही काव्य में भी अप्रस्तुत रूप हेतु के द्वारा प्रस्तुतरूप साध्य की अनुमिति होती है। किंतु काव्यानुमिति (अनुमान अलंकार) में भी अनुमानप्रमाण की सरणि के उपादानों का होना अत्यावश्यक है। जिस प्रकार धुएँ को देख कर अग्नि का भान तभी हो सकता है, जब अनुमाता को परामर्श ज्ञान हो, तथा धुएँ और अग्नि का व्याप्तिसंबंध (यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः) तथा पक्षधर्मता (वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः) आदि का ज्ञान हो, ठीक इसी तरह अनुमान अलंकार में भी व्याप्ति तथा पक्षधर्मतादि का होना जरूरी है। अप्रस्तुत में इनकी सत्ता होने पर ही उसे प्रस्तुत का हेतु तथा प्रस्तुत को उसका साध्य माना जा सकता है। यहाँ यह बात नहीं पाई जाती। साथ ही ऐसे स्थलों में दृष्टान्त अलंकार भी नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए हम निम्न पद्य ले लें—

'वीर मनुष्यों को कुपित कर देने वाला, दुष्ट व्यक्ति के द्वारा किया गया विश्वासघात रूपी दोष स्वयं उसी का नाश करने में समर्थ होता है। जैसे, शेर को नींद से जगाने वाली (शेर की नींद को चुराने वाली), हाथी के द्वारा तोड़े गये वनपादप की आवाज खुद हाथी का ही नाश करती है।'

यहाँ प्रथमार्ध में सामान्य उक्ति है, द्वितीयार्ध में विशेष उक्ति। यहाँ सामान्य (प्रस्तुत) विशेष (अप्रस्तुत) का उपमान है, किन्तु अप्रस्तुत स्वयं प्रस्तुत का उपमान होता हो, ऐसा स्थल देखने में नहीं आता—यदि ऐसा स्थल हो तो यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार माना जा सकता है। हम देखते हैं कि दृष्टान्त में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में बिम्बप्रतिबिम्बभाव पाया जाता है, वहाँ दोनों अर्थ विशेष होते हैं तथा अप्रस्तुत प्रस्तुत का उपमान होता है—क्योंकि विशेष कहीं सामान्य का उपमान बने ऐसा कहीं नहीं देखा जाता, साथ ही उक्त स्थलों में इवादि के अभाव के कारण उपमान के रूप में उसके अन्वय की प्रतीति नहीं हो पाती। इसलिए यहाँ भी अप्रस्तुत का प्रयोग प्रस्तुत के समर्थन के लिए माना जाना चाहिए। ऐसा मानने पर यहाँ भी वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार होगा, अन्य दूसरे अलङ्कार के मानने की जरूरत नहीं है।

वात्रापि स्यान्न त्वलङ्कारान्तरस्यावकाश इति चेत्-अत्र केचित्-समर्थनसापेक्षस्यार्थस्य समर्थने काव्यलिङ्गं निरपेक्षस्यापि प्रतीतिवैभवात्समर्थनेऽर्थान्तरन्यासः। न हि 'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति' इत्यादिकाव्यलिङ्गोदाहरणेष्विव,—

'अथोपगूढे शरदा शशाङ्के प्रावृड्ययौ शान्ततडित्कटाक्षा।
कासां न सौभाग्यगुणोऽङ्गनानां नष्टः परिभ्रष्टपयोधराणाम् ॥'
'दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवा भीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसामतीव ॥' (कुमार० १।१२)

इत्याद्यर्थान्तरन्यासोदाहरणेषु प्रस्तुतस्य समर्थनापेक्षत्वमस्तीति। वस्तुतस्तु प्रायोवादोऽयम्। अर्थान्तरन्यासेऽपि हि विशेपस्य सामान्येन समर्थनानपेक्ष-

---

इस पूर्वपक्ष का कुछ लोग इस प्रकार उत्तर देकर सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। जहाँ किसी प्रस्तुत के समर्थन करने की अपेक्षा हो, तथा किसी वाक्य के द्वारा उसका समर्थन किया जाय, वहाँ अप्रस्तुत वाक्य प्रस्तुत वाक्य का समर्थक होता है तथा सापेक्षसमर्थन होने के कारण वहाँ वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग होता है। जहाँ निरपेक्ष प्रस्तुत का अप्रस्तुत उक्ति के द्वारा इसलिए समर्थन किया जाय कि कवि अर्थ-प्रतीति को और अधिक दृढ करना चाहे, (वहाँ काव्यलिङ्ग तो हो नहीं सकता, क्योंकि काव्यलिङ्ग में सदा सापेक्षसमर्थन होगा) वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। 'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति' आदि उदाहरण में समर्थनापेक्षा पाई जाती हैं, किन्तु अर्थान्तरन्यास के निम्न उदाहरणों में प्रस्तुत में समर्थनापेक्षा नहीं पाई जाती।

'जब शरत् (नायिका) ने चन्द्रमा (नायक) का आलिङ्गन किया तो वर्षा (जरती नायिका), जिसके बिजली के कटाक्ष अब शान्त हो चुके थे, लौट गई। गिरे हुए स्तन वाली (लुप्त मेघों वाली) किन अङ्गनाओं का सौभाग्य नष्ट नहीं हो जाता?'

यहाँ प्रथम वाक्य विशेषरूप प्रस्तुत है, जिसका समर्थन सामान्यरूप अप्रस्तुत उक्ति के द्वारा किया गया है। इस पद्य में प्रथमार्ध की उक्ति स्वतः पूर्ण है, उसके समर्थन की अपेक्षा नहीं, किन्तु कवि ने स्वतः पूर्ण (निरपेक्ष समर्थन) उक्ति की पुष्टि (प्रतीतिवैभव) के लिए पुनः उत्तरार्ध की उक्ति उपन्यस्त की है।

'जो हिमालय मानों सूर्य से डर कर गुफाओं में छिपे अन्धकार की रक्षा करता है। जब बड़े लोगों की शरण में छोटा व्यक्ति भी जाता हैं, तो वे उसके साथ अत्यधिक ममता दिखाते हैं।'

यहाँ भी विशेषरूप प्रस्तुत उक्ति (पूर्वार्ध) का समर्थन सामान्य अप्रस्तुत उक्ति (उत्तरार्ध) के द्वारा किया गया है।

अप्पयदीक्षित को यह मत पसन्द नहीं है वे इस मत को प्रचलित होते हुए भी दुष्ट मानते हैं। क्योंकि कई ऐसे स्थल देखे जाते हैं, जहाँ अर्थान्तरन्यास में भी सापेक्षसमर्थन पाया जाता है। वे कहते हैं कि यद्यपि अर्थान्तरन्यास में विशेषरूप प्रस्तुत के लिए सामान्यरूप अप्रस्तुत उक्ति के समर्थन की अपेक्षा नहीं होती, तथापि जहाँ कवि ने सामान्यरूप प्रस्तुत का प्रयोग किया हो, वहाँ उसके समर्थन के लिए विशेषरूप अप्रस्तुत उक्ति की अपेक्षा होती ही है। क्योंकि यह न्याय है कि किसी भी सामान्य का वर्णन निर्विशेष (विशेषरहित) रूप में नहीं किया जाना चाहिए। ऐसे कई स्थल हैं,

त्वेऽपि सामान्यं विशेषेण समर्थनमपेक्षत एव 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इति न्यायेन 'बहूनामप्यसाराणां संयोगः कार्यसाधकः' इत्यादिसामान्यस्य 'तृणैरारभ्यते रज्जुस्तया नागोऽपि बध्यते' इत्यादि सम्प्रतिपन्नविशेषावतरणं विना बुद्धौ प्रतिष्ठितत्वासम्भवात् ॥

न च तत्र सामान्यस्य 'कासां न सौभाग्यगुणोऽङ्गनानाम्' इत्यादिविशेषसमर्थनार्थं सामान्यस्येव लोकसम्प्रतिपन्नतया विशेषावतरणं विनैव बुद्धौ प्रतिष्ठितत्वं सम्भवतीति श्लोके तन्न्यसनं नापेक्षितमस्तीति वाच्यम्; सामान्यस्य सर्वत्र लोकसम्प्रतिपन्नत्वनियमाभावात्। न हि 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्' इति व्याप्तिरूपसामान्यस्य लोकसम्प्रतिपन्नतया 'यथा महानसः' इति तद्विशेषरूपदृष्टान्तानुपादानसम्भवमात्रेणाप्रसिद्धव्याप्तिरूपसामान्योपन्यासेऽपि तद्विशेषरूपदृष्टान्तोपन्यासनैरपेक्ष्यं सम्भवति। न चैवं सामान्येन विशेषसमर्थनस्थलेऽपि क्वचित्तस्य सामान्यस्य लोकप्रसिद्धत्वाभावेन तस्य बुद्धावारोहाय पुनर्विशेषान्त-

---

जहाँ सामान्य की प्रतीति श्रोतृबुद्धि में तभी हो पाती है, जब किसी सम्बद्ध विशेष उक्ति का प्रयोग न किया गया हो। उदाहरण के लिए 'अनेकों निर्बल व्यक्तियों का संगठन भी कार्य में सफल होता है' इस सामान्य उक्ति की प्रतीति बुद्धि में तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो पाती, जब तक कि 'रस्सी तिनकों के समूह से बनाई जाती है, पर उससे हाथी भी बाँध लिया जाता है' इस सम्बद्ध विशेष उक्ति का विन्यास नहीं किया जाता।

अप्पयदीक्षित पुनः पूर्वपक्षी की दलीलें देकर उसका खण्डन करते हैं। 'कासां न सौभाग्यगुणोऽगनानां' इस उक्ति में सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन किया गया है, क्योंकि सामान्य लोकप्रसिद्ध होता है, इसी तरह जहाँ समर्थनीयवाक्य सामान्यरूप हो, वहाँ वह विशेष उक्ति के उपन्यास के बिना भी बुद्धि में प्रतीत हो जायगा, इसलिए सामान्य उक्ति के लिए विशेष उक्ति के द्वारा समर्थन सर्वथा अपेक्षित नहीं है—यह पूर्वपक्षी की दलील ठीक नहीं जान पड़ती। क्योंकि सामान्य सदा ही लोकप्रसिद्ध ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है। न्याय की अनुमानप्रणाली में हम देखते हैं कि जहाँ धुएँ को देखकर पर्वत में अग्नि का अनुमान किया जाता है, वहाँ 'जहाँ जहाँ धुआँ है (जो जो धूमवान् है), वहाँ वहाँ आग होती है (वह वह अग्निमान् होता है)' यह व्याप्तिरूप सामान्य लोकप्रसिद्ध है, किंतु इसके लिए भी विशेष रूप दृष्टान्त 'जैसे रसोईघर' (यथा महानसः) इसकी अपेक्षा होती ही है। इस विशेष रूप दृष्टान्त के प्रयोग के बिना उसकी प्रतीति नहीं हो पाती। सामान्य उक्ति को ठीक उसी तरह निरपेक्ष नहीं माना जा सकता, जैसे किसी अप्रसिद्ध व्याप्तिरूप सामान्य के उपादान के लिए (अनुमिति के लिए) उसके दृष्टान्त रूप विशेष का उपन्यास अपेक्षित होता है। जैसे व्याप्तिसंबंध को पुष्ट करने के लिए दृष्टान्त रूप सपक्ष (या व्यतिरेक व्याप्ति में दृष्टान्त रूप विपक्ष) की निरपेक्षा नहीं होती, वैसे ही अर्थान्तरन्यास में भी सामान्य उक्ति के लिए विशेष उक्ति अपेक्षित होती है, उसमें नैरपेक्ष्य (अपेक्षारहितता) संभव नहीं। (पूर्वपक्षी को फिर एक शंका होती है, उसका संकेत कर खण्डन किया जाता है।) यदि ऐसा है, तो फिर जिन स्थलों में कवि ने विशेष उक्ति के समर्थन के लिए सामान्य उक्ति का प्रयोग किया है, वहाँ भी पुनः सामान्य के समर्थन के लिए अन्य विशेष उक्ति का उपन्यास अपेक्षित होगा, क्योंकि कई स्थलों पर सामान्य लोक प्रसिद्ध न होने के कारण श्रोतृबुद्धिस्थ नहीं

रस्य न्यासप्रसङ्ग इति वाच्यम् ; इष्टापत्तेः । अत्रैव विषये विकस्वरालङ्कारस्यानुपदमेव दर्शयिष्यमाणत्वात् । किंच काव्यलिङ्गेऽपि न सर्वत्र समर्थनसापेक्षत्वनियमः । 'चिकुरप्रकरा जयन्ति ते' इत्यत्र तद्भावादुपमानवस्तुषु वर्णनीयसाम्याभावेन निन्दायाः कविकुलक्षुण्णत्वेनात्र समर्थनापेक्षाविरहात् । न हि 'तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्वणशर्वरीश्वरः' इत्यादिषु समर्थनं दृश्यते ॥

'न विषेण न शस्त्रेण नाग्निना न च मृत्युना ।
अप्रतीकारपारुष्याः स्त्रीभिरेव स्त्रियः कृताः ॥'

इत्यादिकाव्यलिङ्गविषयेषु समर्थनापेक्षाविरहेऽप्यप्रतीकारपारुष्या इत्यादिना

हो पाता। पूर्वपक्षी की यह दलील ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा करने पर इष्टापत्ति होगी तथा अर्थान्तरन्यास अलंकार का विषय ही न रहेगा। इस स्थल पर विकस्वर अलंकार होगा, जिसका वर्णन हम इसके ठीक आगे करेंगे। साथ ही पूर्वपक्षी का यह कहना कि काव्यलिंग में सदा समर्थन-सापेक्षत्व पाया जाता है, ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है। कई ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ काव्यलिंग में भी समर्थन की अपेक्षा नहीं पाई जाती। उदाहरण के लिए 'चिकुरप्रकरा जयन्ति ते' इस उक्ति में समर्थनापेक्षत्व नहीं है, क्योंकि कहाँ उपमानवस्तु (चमरीपुच्छभार) में वर्णनीय उपमेय (दमयन्तीचिकुरभार) के साम्य का अभाव होने के कारण उनकी निंदा व्यक्त होती है, तथा यह उपमान कविकुल प्रसिद्ध होने के कारण यहाँ इसके समर्थन की कोई आवश्यकता नहीं है। ठीक इसी तरह 'तदास्यदास्येपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्वणशर्वरीश्वरः' (शरद् ऋतु की पूर्णिमा का चन्द्रमा उस राजा नल के मुख की दासता करने के भी योग्य नहीं है) इस उक्ति में भी कोई समर्थन नहीं दिखाई देता।

टिप्पणी—पूरा पद्य निम्न है, इसकी व्याख्या काव्यलिंग अलंकार के प्रकरण में देखें।

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्धनि सा बिभर्ति यान् ।
पशुनाप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः ॥ (नैषध, द्वितीयसर्ग)

पूरा पद्य यों है :—

अधारि पद्मेषु तदंघ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्वणशर्वरीश्वरः ॥ (नैषध, प्रथमसर्ग)

इतना ही नहीं, काव्यलिंग में ऐसे भी स्थल देखे जाते हैं, जहाँ समर्थन की आवश्यकता न होते हुए भी कवि समर्थन कर देता है। जैसे निम्न काव्यलिंग के उदाहरण में समर्थनापेक्षा नहीं है, फिर भी 'अप्रतीकारपारुष्याः' इस पद के द्वारा समर्थन कर दिया गया है।

'ब्रह्मा ने स्त्रियों को न तो विष से बनाया है, न शस्त्र से ही, न अग्नि से निर्मित किया है, न मृत्यु से ही, क्योंकि इनकी कठोरता का कोई इलाज हो भी सकता है। पर स्त्रियों की परुषता का कोई इलाज नहीं हो सकता, इसलिए ब्रह्मा ने स्त्रियों की रचना स्त्रियों से ही की है। (स्त्रियाँ विष, शस्त्र, अग्नि तथा मृत्यु से भी अधिक कठोर तथा भयंकर हैं।)'

यहाँ स्त्रियाँ विषादि के द्वारा निर्मित नहीं हुई हैं, इस उक्ति के समर्थन की कोई अपेक्षा नहीं जान पड़ती, क्योंकि यह तो स्वतः प्रसिद्ध वस्तु है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि पूर्वपक्षी के द्वारा किया गया यह विभाजन कि जहाँ समर्थन-सापेक्षत्व हो वहाँ काव्यलिंग होता है, तथा जहाँ निरपेक्षसमर्थन हो वहाँ अर्थांतर-

समर्थनदर्शनाच्च । न हि तत्र स्त्रीणां विषादिनिर्मितत्वाभावप्रतिपादनं समर्थनसापेक्षं प्रसिद्धत्वात् । तस्मादुभयतो व्यभिचारात् समर्थनापेक्षसमर्थने काव्यलिङ्गं, तन्निरपेक्षसमर्थनेऽर्थान्तरन्यास इति न विभागः, किन्तु सामर्थ्यसमर्थकयोः सामान्यविशेषसम्बन्धेऽर्थान्तरन्यासः । तदितरसम्बन्धे काव्यलिङ्गमित्येव व्यवस्थाऽवधारणीया । प्रपञ्चश्चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यः ।

एवमप्रकृतेन प्रकृतसमर्थनमुदाहृतम् । प्रकृतेनाप्रकृतसमर्थनं यथा (कुमार० ५।३६)—

यदुच्यते पार्वति ! पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।
तथा हि ते शीलमुदारदर्शने ! तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥

यथा वा—

दानं ददत्यपि जलैः सहसाधिरूढे
को विद्यमानगतिरासितुमुत्सहेत ? ।

न्यास होता है, ठीक नहीं, क्योंकि इस पूर्वपक्षकृत नियम का व्यभिचार ऊपर बताया जा चुका है । (कई काव्यलिंग के स्थलों में भी समर्थनापेक्षत्व नहीं होता तथा निरपेक्ष समर्थन पाया जाता है, और कई अर्थान्तरन्यास के स्थलों में भी समर्थनापेक्षत्व अभीष्ट है)। इसलिए काव्यलिंग तथा अर्थान्तरन्यास के भेद का आधार यह है कि जहाँ समर्थनीय वाक्य तथा समर्थक वाक्य में परस्पर सामान्यविशेष संबंध हो, वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है । इससे भिन्न प्रकार के संबंध होने पर काव्यलिंग अलंकार का विषय होता है । इस विषय का विशद विवेचन चित्रमीमांसा में देखा जाना चाहिए ।

अर्थान्तरन्यास में दो वाक्य होते हैं—एक सामर्थ्य वाक्य दूसरा समर्थक वाक्य । इसमें प्रथम वाक्य या तो विशेष होता है या सामान्य; इसी तरह दूसरा वाक्य भी उससे संबद्ध या तो सामान्य होता है या विशेष । यह सामर्थ्य वाक्य भी या तो प्रकृत (वर्णनीय) होता है या अप्रकृत । ऊपर के कारिकार्धद्वय में अप्रकृत सामान्य-विशेष के द्वारा क्रमशः प्रकृत विशेष-सामान्य का समर्थन किया गया है । अब यहाँ प्रकृत रूप समर्थक वाक्य के द्वारा अप्रकृत रूप सामर्थ्यवाक्य के समर्थन के उदाहरण दिये जा रहे हैं, जैसे—

कुमारसम्भव के पंचमसर्ग में ब्रह्मचारी के वेष में आये शिव पार्वती से कह रहे हैं :—'हे पार्वति, सौंदर्य दुष्टाचरण के लिए नहीं होता' (रूपवान् व्यक्ति दुष्टाचरण नहीं करते) यह उक्ति सर्वथा सत्य है । हे उदारदर्शन वाली पार्वति, तुम्हारा चरित्र इतना पवित्र है कि वह तपस्वियों के लिए भी आदर्श हो गया है ।'

यहाँ प्रथम उक्ति सामर्थ्यवाक्य है, जिसमें सामान्य रूप अप्रकृत का विन्यास हुआ है । इसके समर्थन के लिए दूसरे (समर्थक) वाक्य में कवि ने विशेष रूप (पार्वतीसंबद्ध) प्रकृत का उपादान किया है ।

प्रकृत के द्वारा अप्रकृत के समर्थन का अन्य उदाहरण निम्न है ।

माघ के शिशुपालवध के पंचम सर्ग में रैवतक पर्वत पर डाले गये सेना के पड़ाव का वर्णन है । कोई हाथी नदी में मज्जन कर रहा है । जब वह पानी में घुसता है, तो उसके कपोल पर मदपान करते भौंरे उड़कर दूर भग जाते हैं । इसी वस्तु का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है :—

यद्दन्तिनः कटकटाहतटान्मिमङ्क्षो-
मङ्क्षूदपाति परितः पटलैरलीनाम् ॥ १२२-१२३ ॥

६२ विकस्वरालङ्कारः

यस्मिन्विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः ।
स न जिग्ये महान्तो हि दुर्धर्षाः सागरा इव ॥ १२४ ॥

यत्र कस्यचिद्विशेषस्य समर्थनार्थं सामान्यं विन्यस्य तत्प्रसिद्धावप्यपरितुष्यता कविना तत्समर्थनाय पुनर्विशेषान्तरमुपमानरीत्यार्थान्तरन्यासविधया वा विन्यस्यते तत्र विकस्वरालङ्कारः । उत्तरार्धं यथाकथञ्चिदुदाहरणम् ।

इदं तु व्यक्तमुदाहरणम् (कुमार० १।३)—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।

'बताइये तो सही, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो दान को देने वाले (मदजल से युक्त) व्यक्ति के मूर्खों—जड़ों (जल) से युक्त होने पर भी उसका आश्रय न छोड़े (उसके साथ ही रहना पसंद करे) ? क्योंकि नदी के पानी में डुबकी लगाने की इच्छा वाले हाथी के गण्डस्थल रूपी कटाह से भौंरों का झुण्ड एक दम उड़ गया ।'

यहाँ भी सामर्थ्य वाक्य में सामान्य अप्रकृत रूप उक्ति पाई जाती है, उसका समर्थन समर्थक वाक्य की विशेष प्रकृतरूप उक्ति के द्वारा किया गया है ।

६२. विकस्वर अलङ्कार

१२४—जहाँ विशेष की पुष्टि सामान्य से की जाय और उसकी दृढता के लिए तीसरे वाक्य में फिर से किसी विशेष का उपादान हो, वहाँ विकस्वर अलङ्कार होता है । जैसे, उस राजा को कोई न जीत सका; महान् व्यक्ति दुष्प्रधर्ष (अजेय) होते हैं, जैसे समुद्र अजेय है ।

यहाँ 'वह राजा अजेय है' यह विशेष उक्ति है, इसकी पुष्टि 'महान् व्यक्ति अजेय होते हैं' इस सामान्य उक्ति के द्वारा की गई है । इसे पुनः पुष्ट करने के लिए 'जैसे समुद्र अजेय है' इस विशेष का पुनः उपादान किया गया है, अतः यहाँ विकस्वर अलङ्कार है ।

जिस काव्य में किसी विशेष उक्ति के समर्थन के लिए कवि सामान्य उक्ति का प्रयोग करता है, तथा उस समर्थन के सिद्ध हो जाने पर भी पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं हो पाता और उस विशेष उक्ति का समर्थन करने के लिए फिर भी किसी अन्य विशेष उक्ति का प्रयोग उपमान रूप में या अर्थान्तरन्यास के रूप में करता है, वहाँ विकस्वर अलङ्कार होता है । (यदि प्रथम प्रणाली का आश्रय लिया जायगा तो विकस्वर में प्रथमार्ध में अर्थान्तरन्यास होगा, उत्तरार्ध में उपमा, जैसे 'स न जिग्ये·····सागरा इव' वाले उदाहरण में । यदि द्वितीय प्रणाली का आश्रय लिया जायगा तो विकस्वर में दोनों जगह अर्थान्तरन्यास होगा, एक में विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन, दूसरे में सामान्य का विशेष के द्वारा समर्थन, जैसे उदाहृियमाण 'मालिन्य······विप्रलम्भौ' वाले पद्य में ।) कारिका के उत्तरार्ध में दिया गया उदाहरण जैसे तैसे विकस्वर का उदाहरण है । इसका स्पष्ट उदाहरण निम्न है ।

कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग से हिमालय का वर्णन है । हिमालय में अनेक रत्न की

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥

इदमुपमानरीत्या विशेषान्तरस्य न्यसने उदाहरणम् ।

अर्थान्तरन्यासविधया यथा—

कर्णारुन्तुदमन्तरेण रणितं गाहस्व काक ! स्वयं
माकन्दं मकरन्दशालिनमिह त्वां मन्महे कोकिलम् ।
धन्यानि स्थलवैभवेन कतिचिद्वस्तूनि कस्तूरिकां
नेपालक्षितिपालभालपतिते पङ्के न शङ्केत कः ? ॥

यथा वा—

मालिन्यमब्जशशिनोर्मधुलिट्कलङ्कौ
धत्तो मुखे तु तव दृक्तिलकाञ्जनाभाम् ।
दोषावितः क्वचन मेलनतो गुणत्वं
वक्तुर्गुणौ हि वचसि भ्रमविप्रलम्भौ ॥ १२४ ॥

उत्पत्तिभूमि होने के कारण, उसमें बर्फ का होना भी उसके सौभाग्य का ह्रास न कर पाया। अनेकों गुणों के होने पर एक दोष उनके समूह में वैसे ही छिप जाता है, जैसे चन्द्रमा की किरणों में कलङ्क।

यहाँ 'बर्फ अनेकों रत्नों की खान हिमालय का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाया' यह विशेष उक्ति है। इसका समर्थन 'अनेकों गुणों के समूह में एक दोष छिप जाता है' इस सामान्य उक्ति के द्वारा किया गया है। इसका समर्थन पुनः उपमानवाक्य 'जैसे चन्द्रमा की किरणों में कलङ्क' इस विशेष उक्ति के द्वारा किया जा रहा है। अतः यहाँ विकस्वर अलङ्कार है।

यह उदाहरण अन्यविशेष के उपमान प्रणाली के किये गये प्रयोग का है। अर्थान्तरन्यास वाली प्रणाली के निम्न दो उदाहरण हैं:—

कोई कवि कौए को सम्बोधित करके कह रहा है। हे कौए, कानों के कर्कश लगने वाले स्वर को छोड़कर तुम पराग से सुरभित आम के पेड़ का सेवन करो, लोग तुम्हें वहाँ कोयल समझने लगेंगे। किसी विशेष स्थान की महिमा के कारण कई वस्तुएँ धन्य हो जाती हैं। नेपाल के राजा के ललाट पर लगे हुए कीचड़ (पङ्क) को कौन व्यक्ति कस्तूरिका न समझेगा ?

यहाँ 'कौए का आम के पेड़ पर जाकर कोयल समझा जाना' यह विशेष उक्ति है। इसका समर्थन 'स्थानमहिमा से वस्तुएँ भी महिमाशाली हो जाती हैं' इस सामान्य के द्वारा हुआ है। इसमें अर्थान्तरन्यास है। सामान्य का पुनः अर्थान्तरन्यासविधि से 'नेपालराज के भाल पर पङ्क भी कस्तूरिका समझा जाता है' इस विशेष के द्वारा समर्थन किया गया है। अतः यहाँ विकस्वर अलङ्कार है। अथवा जैसे—

हे सुन्दरी, कमल तथा चन्द्रमा में भौंरा तथा कलङ्क मलिनता को धारण करते हैं, और तुम्हारे मुख में नेत्र तथा तिलकाञ्जन उनकी शोभा को धारण करते हैं। कभी-कभी दो दोष मिलकर गुण भी बन जाते हैं। वक्ता की वाक्शक्ति में भ्रम तथा विप्रलम्भ कभी कभी गुण माने जाते हैं। (भाव यह है वक्ता कभी-कभी पूर्वपक्षी को परास्त करने के लिये भ्रम तथा विप्रलम्भ का प्रयोग करता है, जैसे कोई नैयायिक छल से घटवत् स्थान

६३ प्रौढोक्त्यलङ्कारः

प्रौढोक्तिरुत्कर्षाहेतौ तद्धेतुत्वप्रकल्पनम् ।
कचाः कलिन्दजातीरतमालस्तोममेचकाः ॥ १२५ ॥

में पहले घटाभाव का निर्णय कर तदनन्तर 'घट है' इस प्रमा की सिद्धि करता है, इस प्रकार वहाँ भ्रम तथा प्रतारणा (विप्रलम्भ) गुण बन जाते हैं ।)

इसमें प्रथम वाक्य में नायिका के मुख की शोभा काले नेत्र तथा तिलकाञ्जन के कारण बढ़ ही रही है, यह विशेष उक्ति है । इसके समर्थन के लिये 'कभी दो दोष मिलकर गुण बन जाते हैं' इस सामान्य का प्रयोग किया गया है । इस सामान्य के समर्थन के लिए पुनः अर्थान्तरन्याससरणि से 'वक्ता के वचन में भ्रम तथा विप्रलम्भ कभी कभी गुण हो जाते हैं' इस विशेष का उपादान हुआ है । अतः यहाँ भी विकस्वर अलङ्कार है ।

टिप्पणी—पण्डितराज जगन्नाथ विकस्वर अलङ्कार को अलग से अलङ्कार मानने के पक्ष में नहीं हैं । उनके मत में विकस्वर में किन्हीं दो अलङ्कारों की—अर्थान्तरन्यास तथा उपमा की अथवा दो अर्थान्तरन्यासों की संसृष्टि होती है । संसृष्टि को अलग से अलङ्कार का नाम देना उचित नहीं जान पड़ता । कई स्थानों पर उपमादि अनेक अलंकारों में परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक-भाव पाया जाता है, फिर तो वहाँ भी नवीन अलंकार का नामकरण करना पड़ेगा । उदाहरण के लिए 'वीक्ष्य रामं घनश्यामं ननृतुः शिखिनो वने' में उपमा से पुष्ट भ्रान्ति अलंकार को कोई नया नाम देना होगा ।

कुवलयानन्दकारस्तु—'यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः' 'अनन्तरत्नप्रभवस्य' इत्यादि । 'कर्णारुन्तुद'''कः' । 'पूर्वंमुपमारीत्या इह स्वर्थान्तरन्यासरीत्या विकस्वरालङ्कारः' इत्याह । तदपि तुच्छम् । ''''''एवं चार्थान्तरन्यासस्य तस्य चार्थान्तरन्यासप्रभेदयोश्च संसृष्टयैवोदाहरणानां त्वदुक्तानां गतार्थत्वे नवीनालंकारस्वीकारानौचित्यात् । अन्यथोपमादिप्रभेदानामनुग्राह्यानुग्राहकतया संनिवेशितेऽप्यलङ्कारान्तरकल्पनापत्तेः । 'वीक्ष्य रामं घनश्यामं ननृतुः शिखिनो वने' इत्यत्राप्युपमापोषितायां भ्रान्तावलङ्कारान्तरप्रसङ्गाच्च । (रसगङ्गाधर पृ० ६३९-४०)

६३. प्रौढोक्ति अलङ्कार

१२५—जहाँ किसी कार्य के अतिशय को न करने वाले पदार्थ को उसका कारण मान लिया जाय, वहाँ प्रौढोक्ति अलङ्कार होता है, जैसे उस नायिका के बाल कालिन्दी (यमुना) के तीर पर उत्पन्न तमाल वृक्षों के समूह के सदृश नीले हैं ।

टिप्पणी—प्रौढोक्ति अलंकार को मम्मट तथा रुय्यक ने नहीं माना है । चन्द्रालोककार जयदेव ने इसे अतिशयोक्ति के बाद वर्णित किया है । उनके मत से किसी कार्य के अयोग्य पदार्थ को उस कार्य के योग्य वर्णित करना प्रौढोक्ति है :—

प्रौढोक्तिस्तदशक्तस्य तच्छक्तत्वावकल्पनम् ।
कलिन्दजातीररुहाः श्यामलाः सरलद्रुमाः ॥ (चन्द्रालोक ५-४७)

पण्डितराज जगन्नाथ ने अवश्य प्रौढोक्ति को पृथक् अलंकार माना है :—'कस्मिंश्चिदर्थे किञ्चिद्धर्मकृतातिशयप्रतिपिपादयिषया प्रसिद्धतद्धर्मवता संसर्गस्योद्भावनं प्रौढोक्तिः । (रसगङ्गाधर पृ० ६७१) इस अलंकार का उदाहरण वे यह पद्य देते हैं :—

मन्थाचलभ्रमणवेगवशंवदा ये दुग्धाम्बुधेरुदपतन्नणवः सुधायाः ।
तैरेकतामुपगतैर्विविधौषधीभिर्धाता ससर्ज तव देव दयादृगन्तान् ॥

कार्यातिशयाहेतौ तद्धेतुत्वप्रकल्पनं प्रौढोक्तिः। यथा तमालगतनैल्यातिशयाहेतौ यमुनातटरोहत्वे तद्धेतुत्वप्रकल्पनम्।

यथा वा—

कल्पतरुकामदोग्ध्रीचिन्तामणिधनदशङ्खानाम्।
रचितो रजोभरपयस्तेजःश्वासान्तराम्बरैरेषः॥

अत्र कल्पवृक्षाद्येकैकवितरणातिशायिवर्णनीयराजवितरणातिशयाहेतौ कल्पवृक्षपरागादिरूपपञ्चभूतनिर्मितत्वेन तद्धेतुत्वप्रकल्पनं प्रौढोक्तिः॥ १२५॥

६४ सम्भावनालङ्कारः

सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये।
यदि शेषो भवेद्वक्ता कथिताः स्युर्गुणास्तव॥ १२६॥

यहाँ समुद्रमन्थन के समय दुग्धसमुद्र से उठे अमृत के अणुओं को नाना प्रकार की औषधियों से जोड़कर ब्रह्मा ने भगवान् की दयादृष्टि की सृष्टि की है, इस उक्ति में प्रौढोक्ति अलंकार पाया जाता है।

जहाँ किसी कार्यातिशय के अहेतुभूत पदार्थ में उसकी हेतुता कल्पित की जाय वहाँ प्रौढोक्ति होती है। जैसे ऊपर के उदाहरण में तमालों की नीलता का कारण कलिन्दजा तीर पर होना नहीं है, किन्तु कवि ने उस नीलता का कारण कलिन्दजा के तीर पर उगना कल्पित किया है, अतः यहाँ प्रौढोक्ति है।

अथवा जैसे—

किसी राजा की दानशीलता का वर्णन है।

यह राजा कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि, कुबेर तथा शंख के क्रमशः परागसमूह, दुग्ध, तेल, श्वास तथा आभ्यन्तर आकाश के द्वारा बनाया गया है।

यहाँ कवि इस बात की व्यञ्जना कराना चाहता है कि राजा कल्पवृक्ष आदि एक एक दानशील पदार्थ से भी अधिक दानशील है, इस दानशीलता के अतिशय के कारण रूप में; कवि ने—कल्पवृक्षपराग आदि पाँच पदार्थों को मिलाकर राजा की रचना की है, यह कह कर उन पाँचों पदार्थों के संमिश्रण में उस दानशीलतातिशय का हेतु कल्पित किया है। अतः यहाँ प्रौढोक्ति अलङ्कार है।

६४. सम्भावना अलङ्कार

१२६—जहाँ किसी कार्य की सिद्धि के लिए, 'यदि ऐसा हो तो यह हो सकता है' इस प्रकार की कल्पना की जाय, वहाँ सम्भावना अलङ्कार होता है। जैसे, यदि स्वयं शेष गुणों के वक्ता बने तो आपके गुण कहे जा सकते हैं।

टिप्पणी—मम्मट, रुय्यक तथा पण्डितराज ने सम्भावना अलंकार नहीं माना है। वे इसका समावेश अतिशयोक्ति के तृतीय भेद में करते हैं।

यहाँ 'यदि शेष वक्ता बने, तो गुण कहे जा सकते हैं' इस अंश में सम्भावना है।

यथा वा—

कस्तूरिकामृगाणामण्डाद्गन्धगुणमखिलमादाय ।
यदि पुनरहं विधिः स्यां खलजिह्वायां निवेशयिष्यामि ॥

'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' अतिशयोक्तिभेद इति (१०।१००) काव्यप्रकाशकारः ॥ १२६ ॥

६५ मिथ्याध्यवसित्यलङ्कारः

किंचिन्मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम् ।
मिथ्याध्यवसितिर्वेश्यां वशयेत्खस्रजं वहन् ॥ १२७ ॥

अत्र वेश्यावशीकरणस्यात्यन्तासम्भावितत्वसिद्धये गगनकुसुममालिकाधारणरूपार्थान्तरकल्पनं मिथ्याध्यवसितिः ।

अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्षीकृताः संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणबधिरश्राव्याः किलाकीर्तयः ।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा-
न्मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि ॥

अथवा जैसे—

यदि मैं ब्रह्मा हो जाऊँ, तो कस्तूरीमृगों के अण्डे से समस्त गन्धरूप गुण को लेकर दुष्टों की जीभ पर रख दूँ।

यहाँ 'यदि मैं ब्रह्मा हो जाऊँ, तो' इस उक्ति में सम्भावना अलङ्कार है।

काव्यप्रकाशकार के मतानुसार 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' वाला भेद अतिशयोक्ति का प्रकार विशेष है।

६५. मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार

१२७—जहाँ किसी मिथ्यात्व की सिद्धि करने के लिए अन्य मिथ्यात्व की कल्पना की जाय, वहाँ मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार होता है। जैसे गगनकुसुम (खपुष्प) की माला धारण करने वाला व्यक्ति वेश्या को वश में कर सकता है।

इस उदाहरण में वेश्या को वश में करना अत्यन्त असम्भव है, इस बात की सिद्धि के लिए कवि ने गगनकुसुमों की माला का धारण करना, यह दूसरा मिथ्या अर्थ कल्पित किया है, इसलिए यहाँ मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार है। अथवा जैसे इस निम्न उदाहरण में—

किसी राजा की निन्दा के व्याज से स्तुति की जा रही है :—यह राजा बड़ा अकीर्तिशाली है। इसकी काली अकीर्ति की संख्या कहाँ तक गिनाई जाय, वह परार्द्ध की संख्या से भी अधिक है। इसकी अकीर्ति को प्रज्ञाचक्षुओं (अन्धों) ने देखा है तथा बहरों ने सुना है। वन्ध्या के पेट से उत्पन्न गूँगे पुत्रों का झुण्ड कूर्मरमणी-दुग्ध-समुद्र के तीर पर अष्टम स्वर में इस राजा की अकीर्ति का गान किया करते हैं। भाव यह है, इस राजा में अकीर्ति का नाम निशान भी नहीं है।

यहाँ 'परार्ध से भी अधिक होना', 'अन्धों के द्वारा देखा जाना', 'वन्ध्यापुत्र' 'गूँगे के द्वारा अष्टम स्वर में गाया जाना' 'कूर्मरमणीदुग्ध' आदि सब वे मिथ्यार्थान्तर हैं, जिनकी कल्पना राजा की अकीर्ति के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए की गई हैं।

अत्राद्योदाहरणं निदर्शनागर्भम्, द्वितीयं तु शुद्धम्। असंबन्धे संबन्धरूपा-तिशयोक्तितो मिथ्याध्यवसितेः किंचिन्मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पना-त्मना विच्छित्तिविशेषेण भेदः ॥ १२७ ॥

९९ ललितालङ्कारः

वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्।
ललितं निर्गते नीरे सेतुमेषा चिकीर्षति ॥ १२ ॥

यहाँ पहले उदाहरण में निदर्शनागर्भ मिथ्याध्यवसिति है, क्योंकि 'खपुष्पमालाधारण' तथा 'वेश्यावशीकरण' में बिंबप्रतिबिंबभाव से वस्तुसंबंध की सम्भावना पाई जाती है। दूसरा उदाहरण शुद्ध मिथ्याध्यवसिति का है। कदाचित् कुछ लोग मिथ्याध्यवसिति को अतिशयोक्ति का ही भेद मानना चाहें, इस शंका के कारण ग्रंथकार इनका भेद बताते हुए कहते हैं कि मिथ्याध्यवसिति का असंबंधे संबंधरूपा अतिशयोक्ति से यह भेद है कि यहाँ किसी विशिष्ट मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए अन्य मिथ्या अर्थ की कल्पना की जाती है, अतः इस मिथ्यार्थान्तरकल्पना के कारण इसमें अतिशयोक्ति की अपेक्षा भिन्न कोटि का चमत्कार पाया जाता है।

टिप्पणी—मिथ्याध्यवसिति नामक अलंकार केवल अप्पयदीक्षित ही मानते जान पड़ते हैं। अन्य आलंकारिक इसे अतिशयोक्ति का ही भेद मानते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ इसे प्रौढोक्ति का भेद मानते हैं। प्रौढोक्ति अलंकार के प्रकरण में वे अप्पयदीक्षित के इसे अलग अलंकार मानने के मत का खण्डन करते हैं। वे बताते हैं कि एक मिथ्यात्व की सिद्धि के लिये अन्य मिथ्या वस्तु की कल्पना प्रौढोक्ति में ही अन्तर्भूत होती है। (एकस्य मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्याभूतवस्त्वन्तर-कल्पनं मिथ्याध्यवसिताख्यमलंकारमिति न वक्तव्यम्, प्रौढोक्त्यैव गतार्थत्वात्। (रसगंगाधर पृ० ६७३) इसी संबंध में आगे जाकर वे 'वेश्यां वशयेत्स्रजं वहन्' वाले उदाहरण की भी जाँच पड़ताल कर इसमें केवल निदर्शना अलंकार घोषित करते हैं, निदर्शनागर्भा मिथ्याध्यवसिति नहीं :(यत्तु 'वेश्यां वशयेत्खस्रजं वहन्' इति कुवलयानन्दकृता मिथ्याध्यवसितेरुदाहरणं निर्मितं तत्तु निदर्शनयैव गतार्थम्। निदर्शनागर्भात्र मिथ्याध्यवसितिरिति तु न युक्तम्—वही पृ० ६७३) आगे जाकर वे दलील देते हैं कि यदि मिथ्याध्यवसिति अलंकार माना जाता है, तो बेचारी सत्याध्यवसिति ने क्या बिगाड़ा था कि उसे अलंकार नहीं माना जाता। (यदि च मिथ्या-ध्यवसितेरेवालंकारान्तरं, सत्याध्यवसितिरपि तथा स्यात्—वही पृ० ६७३) फिर तो निम्न उदाहरण में सत्याध्यवसिति मानी जानी चाहिए :—

हरिश्चन्द्रेण संज्ञप्ताः प्रगीता धर्मसूनुना।
खेलन्ति निगमोत्संगे मातर्गंगे गुणास्तव ॥

यहाँ हरिश्चन्द्रादि से संबद्ध गुणों की सत्यता की सिद्धि हो रही है। वस्तुतः ये दोनों प्रौढोक्ति के ही भेद हैं।

९९. ललित अलंकार

१२८—जहाँ वर्ण्य विषय के उपस्थित होने पर उससे संबद्ध विषय (धर्म) का वर्णन न कर उसके प्रतिबिंबभूत अन्य (अप्रस्तुत) वृत्तान्त का वर्णन किया जाय, वहाँ ललित अलंकार होता है। जैसे, (कोई नायिका समीप आये अपराधी नायक का तिरस्कार कर बैठती है तथा उसके लौट जाने पर सखी को उसे मनाने भेज रही है, इसे देखकर कोई कवि कह रहा है।) यह नायिका नदी (या तालाब) के पानी के निकल जाने पर अब सेतु (बांध) बांधने की इच्छा कर रही है।

प्रस्तुते धर्मिणि यो वर्णनीयो वृत्तान्तस्तमवर्णयित्वा तत्रैव तत्प्रतिबिम्बरूपस्य कस्यचिदप्रस्तुतवृत्तान्तस्य वर्णनं ललितम्। यथा कथंचिद्दाक्षिण्यसमागततत्कालोपेक्षितप्रतिनिवृत्तनायिकान्तरासक्तनायकानयनार्थं सखीं प्रेषयितुकामां नायिकामुद्दिश्य सख्या वचनेन तद्व्यापारप्रतिबिम्बभूतगतजलसेतुबन्धवर्णनम्। नेयमप्रस्तुतप्रशंसा; प्रस्तुतधर्मिकत्वात्। नापि समासोक्तिः, प्रस्तुतवृत्तान्ते वर्ण्यमाने विशेषणसाधारण्येन सारूप्येण वाऽप्रस्तुतवृत्तान्तस्फूर्त्यभावात्; अप्रस्तुतवृत्तान्तादेव सरूपादिह प्रस्तुतवृत्तान्तस्य गम्यत्वात्। नापि निदर्शना; प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्ता-

---

यहाँ प्रस्तुत धर्मी नायिका के द्वारा नायक के पास सखी संप्रेषण है, यह नायक के रूठ कर चले जाने के बाद किया जा रहा है। इस प्रस्तुत वृत्तान्त का कथन न कर कवि ने तत्प्रतिबिंबभूत अन्य वृत्तान्त 'पानी के निकलने पर बांध बांधने की चेष्टा' का वर्णन किया है। अतः यहाँ ललित अलंकार है।

टिप्पणी—प्राचीन आलंकारिक इसे अलग से अलंकार नहीं मानते दण्डी मम्मट आदि इसका समावेश आर्थी निदर्शना में करते हैं। पण्डितराज ने इसे अलग से अलंकार माना है—'जहाँ प्रस्तुत धर्मी में प्रस्तुत व्यवहार (धर्म) का उल्लेख न कर अप्रस्तुत वस्तु के व्यवहार (धर्म) का उल्लेख किया जाय वहाँ ललित अलंकार होता है।' (प्रकृतधर्मिणि प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणोऽप्रकृतव्यवहारसम्बन्धो ललितालंकारः—रसगङ्गाधर पृ० ६०४)

प्रस्तुत विषय में जिस वृत्तान्त का वर्णन किया जाना चाहिए उसका वर्णन न कर जहाँ उसी सम्बन्ध में उसके प्रतिबिम्बरूप किसी अन्य अप्रस्तुतवृत्तान्त का वर्णन किया जाय, वहाँ ललित अलङ्कार होता है। (इसी का उदाहरण कारिकार्ध में है, इसी को स्पष्ट करते कहते हैं।) कोई अपराधी नायक किसी तरह नायिका के पास आकर उसे प्रसन्न करने का अनुरोध करता है, किन्तु उस समय नायिका उसकी उपेक्षा करती है, अतः वह लौट जाता है। उस अन्य नायिकासक्त लौटे हुए नायक को लिवा लाने के लिए सखी को भेजने की इच्छा वाली नायिका को उद्दिष्ट कर सखी के वचन के द्वारा कवि ने उस व्यापार के प्रतिबिम्बभूत 'जल के निकलने पर सेतु बन्धन की चेष्टा' का वर्णन किया है। यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ यह व्यवहार प्रस्तुत धर्मी (नायकानयनव्यापार) से सम्बद्ध है, जब कि अप्रस्तुतप्रशंसा में वर्णित व्यवहार (वृत्तान्त) केवल अप्रस्तुत से सम्बद्ध होता है। इसी तरह यहाँ समासोक्ति अलङ्कार भी नहीं हो सकता, क्योंकि समासोक्ति में प्रस्तुत वृत्तान्त के वर्णन से अप्रस्तुत वृत्तान्त की व्यञ्जना होती है; समासोक्ति में प्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन किया जाता है तथा समान विशेषण के कारण अथवा सारूप्य के कारण प्रस्तुत से अप्रस्तुत के व्यवहार की व्यञ्जना होती है। इस स्थल पर ऐसा नहीं होता, अतः यहाँ समासोक्ति का क्षेत्र नहीं माना जा सकता। साथ ही यहाँ अप्रस्तुत वृत्तान्त के सारूप्य से ही प्रस्तुत वृत्तान्त की व्यञ्जना हो रही है। इसके अतिरिक्त इस स्थल में निदर्शना अलङ्कार भी नहीं माना जा सकता। निदर्शना वहीं हो सकती है जहाँ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों वृत्तान्त स्वशब्दोपात्त हों तथा ऐसी स्थिति में उनमें ऐक्य समारोप हो। यहाँ अप्रस्तुतवृत्तान्त तो स्वशब्दोपात्त है, किन्तु प्रस्तुतवृत्तान्त नहीं। इसी बात को और अधिक पुष्ट करने के लिए तर्क करते हैं कि यदि ऐसा अलङ्कार जो विषय (प्रस्तुत) तथा विषयी (अप्रस्तुत) दोनों के स्वशब्दोपात्त होने पर माना जाता है, केवल विषयी (अप्रस्तुत) के ही प्रयोग

न्तयोः शब्दोपात्तयोरैक्यसमारोप एव तस्याः समुन्मेषात्। यदि विषयविषयिणोः शब्दोपात्तयोः प्रवर्तमान एवालङ्कारो विषयिमात्रोपादानेऽपि स्यात्तदा रूपकमेव भेदेऽप्यभेदरूपाया अतिशयोक्तेरपि विषयमाक्रमेत्। ननु तर्ह्यत्र प्रस्तुतनायकादिनिगरणेन तत्र शब्दोपात्ताप्रस्तुतनीराद्यभेदाध्यवसाय इति भेदे अभेदरूपातिशयोक्तिरस्तु। एवं तर्हि सारूप्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसाविषयेऽपि सैवातिशयोक्तिः स्यात्। अप्रस्तुतधर्मिकत्वान्न भवतीति चेत्,—तत्राप्यप्रस्तुतधर्मिवाचकपदस्यापि प्रसिद्धातिशयोक्त्युदाहरणेष्विव प्रस्तुतधर्मिलक्षकत्वसम्भवात्॥ नन्वप्रस्तुतप्रशंसायां सरूपादप्रस्तुतवाक्यार्थात् प्रस्तुतवाक्यार्थोऽवगम्यते, नत्वतिशयोक्ताविव

करने पर माना जाने लगेगा तो फिर रूपक अलङ्कार का विषय विस्तृत हो जायगा तथा भेदे अभेदरूपा अतिशयोक्ति (या रूपकातिशयोक्ति) के क्षेत्र में भी रूपक अलङ्कार का प्रवेश हो जायगा। अतः जहाँ दोनों का स्वशब्दोपात्तत्व अभीष्ट हो वहाँ एक के प्रयोग करने पर वह अलङ्कार न हो सकेगा, इसलिए केवल अप्रस्तुत वृत्तान्त के व्यवहार के कारण यहाँ निदर्शना नहीं मानी जा सकती। पूर्वपक्षी इस सम्बन्ध में एक नई सरणि उपस्थित करता है—ठीक है, आप यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति या निदर्शना में से अन्यतम अलङ्कार नहीं मानते तो न सही, यहाँ भी अभेदरूपा अतिशयोक्ति मान लें। यहाँ स्वशब्दोपात्त अप्रस्तुत नीरादि (नीरनिर्गमन तथा सेतुबन्धन) ने प्रस्तुत नायकादि (नायकगमन तथा नायकानयन चेष्टा) का निगरण कर लिया है। इस निगरण के द्वारा अप्रस्तुत का अभेदाध्यवसाय हो गया है इस प्रकार यहाँ भेदे अभेदरूपा अतिशयोक्ति सिद्ध हो जाती है। सिद्धान्तपक्षी को यह मत स्वीकार नहीं। इसी का खण्डन करते हुए वह दलील पेश करता है कि ललित अलङ्कार के स्थल पर भेदे अभेदरूपा अतिशयोक्ति मानने पर तो सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा के क्षेत्र में भी यही अलङ्कार (अतिशयोक्ति) हो जायगा, फिर तो अप्रस्तुत-प्रशंसा के उस भेद को मानने की क्या जरूरत है। यदि आप यह दलील दें कि अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार में अप्रस्तुत वर्ण्य होता है, तथा अतिशयोक्ति में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का अध्यवसाय होता है (तथा वहाँ वर्ण्य प्रस्तुत ही होता है)। अतः अप्रस्तुतप्रशंसा के स्थल में अतिशयोक्ति अलङ्कार नहीं हो सकता। अप्रस्तुतप्रशंसा में भी हम देखते हैं कि अतिशयोक्ति के प्रसिद्ध उदाहरणों की भाँति, अप्रस्तुत धर्मिवाचक पद (अप्रस्तुत धर्मी से सम्बद्ध वाचक पदों) के द्वारा प्रस्तुतधर्मिलक्षकत्व (प्रस्तुतधर्मी से सम्बद्ध लक्षकत्व) सम्भव हो सकता है। भाव यह है, अतिशयोक्ति में जिन पदों का प्रयोग होता है, वे मुख्यावृत्ति से अप्रस्तुत से सम्बद्ध होते हैं, किन्तु (साध्यवसाना) लक्षणा से प्रस्तुत को लक्षित करते हैं, जब कि अप्रस्तुतप्रशंसा में ये पद केवल अप्रस्तुतपरक ही होते हैं, तथा प्रस्तुत व्यञ्जनागम्य होता है—इस प्रकार की पूर्वपक्षी की दलील है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा का समावेश अतिशयोक्ति में नहीं हो सकता। इसी का खण्डन करते हुए सिद्धान्तपक्षी बताता है कि कभी कभी अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत के वाचक पद प्रस्तुत के लक्षक हो सकते हैं। पूर्वपक्षी के मत को फिर उपन्यस्त कर उसी का खण्डन करते हुए सिद्धान्तपक्षी ललित अलङ्कार को अतिशयोक्ति से भिन्न सिद्ध करने के लिए कहते हैं। यदि पूर्वपक्षी यह दलील दे कि अप्रस्तुतप्रशंसा में तुल्यरूप (सरूप) अप्रस्तुत वाक्यार्थ से प्रस्तुत-[illegible] की [illegible] होती है, अतिशयोक्ति में [illegible] विषयी (अप्रस्तुत) के [illegible]

विषयिवाचकैस्तत्तत्पदैर्विषया लक्ष्यन्त इति भेद इति चेत्तर्हि इहापि प्रस्तुतगतादप्रस्तुतवृत्तान्तरूपाद्वाक्यार्थात्तद्गतप्रस्तुतवृत्तान्तरूपो वाक्यार्थोऽवगम्यत इत्येवातिशयोक्तितो भेदोऽस्तु। वस्तुतस्तु,—

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलं
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक्किं भूयसोक्तेन वा ?।
पूर्वं निश्चितवानसि भ्रमर ! हे यद्वारणोऽद्याप्यसा-
वन्तःशून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः ! क एष ग्रहः ? ॥'

(भल्ल॰ श॰ १८)

इत्याद्यप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणे प्रथमप्रतीतादप्रस्तुतवाक्यार्थात् प्रस्तुतवाक्यार्थोऽवगम्यत इत्येतन्न घटते; अप्रस्तुते वारणस्य भ्रमरासेव्यत्वे कर्णचापलमात्रस्य भ्रमरनिरासकरणस्य हेतुत्वसम्भवेऽपि रसनाविपर्ययान्तःशून्यकरत्वयोर्हेतुत्वा-

---

उन उन पदों के द्वारा विषयों (प्रस्तुत पदार्थों) की लक्षणा से प्रतीति नहीं होती है, अतः उन दोनों में परस्पर भेद है, तो यहाँ (ललित अलङ्कार में) भी प्रस्तुत के प्रसंग में वर्णित अप्रस्तुत वृत्तान्तरूप वाक्यार्थ से प्रस्तुतवृत्तान्तरूप वाक्यार्थ की व्यञ्जना हो जाती है, अतः ललित का अतिशयोक्ति से अन्तर हो ही जाता है। इस प्रकार ललित को अतिशयोक्ति से भिन्न अलङ्कार सिद्ध कर सिद्धान्तपक्षी उस पूर्वपक्षी मत पर अपना निर्णय देता है, जिसमें अप्रस्तुतप्रशंसा का आधार प्रथम प्रतीत अप्रस्तुतवाक्यार्थ से प्रस्तुत वाक्यार्थ की व्यञ्जना माना गया है। इसका विवेचन करने के लिए वह पहले अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण को लेकर उसके अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत वाक्यार्थ को लेता है:—

'इसके वैसे ही अपूर्व रसना विपर्ययविधि (जिह्वापरिवृत्ति, विपरीत बात कहने की आदत) है, वैसी ही कानों की चपलता (दुष्प्रभुपक्ष में, कच्चे कान का होना) है, वही मद (गर्व) के कारण मार्ग (उचितानुचित) को विस्मृत करने वाली दृष्टि है। और अधिक क्या कहें ? हे भौंरे, तुमने यह सब पहले ही विचार लिया है कि यह अभी भी वारण (हाथी, लोगों का अनादर करने वाला) है, इतना होने पर भी भाई, तुम इस अन्तःशून्य शुण्डादण्ड वाले (रिक्तहस्त) व्यक्ति की सेवा कर रहे हो, इसमें तुम्हारा क्या आग्रह है ?'

यह अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार का उदाहरण है। पूर्वपक्षी के मतानुसार यहाँ भी पहले अप्रस्तुत (हस्तिरूप) वाक्यार्थ की प्रतीति होगी, तदनन्तर उससे (दुष्प्रभुरूप) वाक्यार्थ की व्यंजना होगी। किंतु यह बात यहाँ लागू नहीं होती। सिद्धान्तपक्षी का कहना है कि यहाँ यह नियम घटित नहीं होता। हम देखते हैं कि इस पद्य में हाथी का भौंरे की सेवा के योग्य न होना अप्रस्तुत है, इसका हेतु यह है कि वह कानों का चंचल है तथा भौंरों का अनादर करने वाला है, इस हेतु के होने पर भी रसनाविपर्यय तथा अन्तःशून्यकरत्व ये दो हेतु भ्रमरासेव्यत्व के कारण नहीं हो सकते, साथ ही मद का होना भी भ्रमरासेव्यत्व का हेतु नहीं, बल्कि उलटे यह तो भ्रमरसेव्यत्व का हेतु है (भाव यह है, भौंरे के द्वारा हाथी की सेवा नहीं की जानी चाहिए, इसका साक्षात् हेतु केवल इतना ही जान पड़ता है कि हाथी कानों की चंचलता धारण करता है तथा भौंरों को

सम्भवेन मदस्य प्रत्युत तत्सेव्यत्व एव हेतुत्वेन च रसनाविपर्ययादीनां तत्र हेतुत्वान्वयार्थं वारणपदस्य दुष्प्रभुरूपविषयक्रोडीकारेणैव प्रवृत्तेर्वक्तव्यत्वात्। एवं सत्यपि यद्यप्रस्तुतसम्बोधनादिविच्छित्तिविशेषात्तत्राप्रस्तुतप्रशंसाया अतिशयोक्तितो भेदो घटते, तदात्रापि प्रस्तुतं धर्मिणं स्वपदेन निर्दिश्य तत्राप्रस्तुतवर्णनारूपस्य विच्छित्तिविशेषस्य सद्भावात्ततो भेदः सुतरां घटते। 'पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निःसरन्ति', 'वापी कापि स्फुरति गगने तत्परं सूक्ष्मपद्या' इत्यादिषु तु प्रस्तुतस्य कस्यचिद्धर्मिणः स्ववाचकेनानिर्दिष्टत्वादतिशयोक्तिरेव। एतेन गतजलसेतुबन्धनवर्णनादिष्वसंबन्धे संबन्धरूपातिशयोक्तिरस्त्विति शङ्कापि निरस्ता। तथा सति 'कस्त्वं भोः! कथयामि' इत्यादावपि तत्प्रसङ्गात् सारूप्यनिबन्धनप्रस्तुतवाक्यार्थावगतिरूपविच्छित्तिविशेषेणालङ्कारान्तरत्वकल्पनं त्विहापि तुल्यम्। तस्मात्सर्वालङ्कारविलक्षणमिदं ललितम्।

भगा देता है, बाकी हेतु तो इस उक्ति के साथ ठीक नहीं होते क्योंकि हाथी की जिह्वापरिवृत्ति या उसकी सूंड का खोखला होना—हाथी की सेवा भौंरे न करें—इसका कोई हेतु नहीं है, साथ ही मद का होना तो उलटे इस बात की पुष्टि करता है कि हाथी भौंरों के द्वारा सेवन करने योग्य है, क्योंकि मद के लिए ही तो भौंरे हाथी के पास जाते हैं)। ऐसी दशा में 'रसनाविपर्ययविधि' 'अन्तःशून्यकरत्व' तथा 'मदवत्ता' हस्तिपक्ष में उसके भ्रमरासेव्य होने के हेतु रूप में पूर्णतः घटित नहीं होते। फलतः प्रथम क्षण में हस्तिरूप अप्रस्तुत वाच्यार्थ की निर्बाध प्रतीति नहीं हो पाती। इसलिए हमें दुष्प्रभुरूप प्रस्तुत वृत्तान्त का आक्षेप पहले ही क्षण में कर लेना पड़ता है। पहले ही क्षण में रसनाविपर्ययादि हेतु के हस्तिपक्ष में अन्वय करने के लिए इस बात की कल्पना करना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि यहाँ हस्तिरूप अप्रस्तुत वृत्तान्त ने दुष्प्रभुरूप प्रस्तुत वृत्तान्त को छिपा रखा (क्रोडीकृत कर रखा) है। यद्यपि यहाँ अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का क्रोडीकरण पाया जाता है, तथा प्रस्तुत के द्वारा ही प्रथम क्षण में अप्रस्तुत वाच्यार्थ की प्रतीति हो पाती है, तथापि यहाँ अतिशयोक्ति की अपेक्षा इसलिए विशेष चमत्कार पाया जाता है कि यहाँ अप्रस्तुत को संबोधित कर उक्ति का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत को संबोधित करने के चमत्कारविशेष के कारण ही अप्रस्तुतप्रशंसा तथा अतिशयोक्ति में भेद हो गया है। इसी तरह यहाँ (ललित अलंकार में) भी प्रस्तुत धर्मी को अपने ही वाचक पद के द्वारा वर्णित करके उस प्रसंग में अप्रस्तुत का वर्णन करना एक विशेष चमत्कार उत्पन्न करता है, अतः यहाँ भी अतिशयोक्ति से स्पष्ट भेद मानना ठीक होगा। अतिशयोक्ति में (ललित की भाँति) प्रस्तुत धर्मी का कोई वाचक पद प्रयुक्त नहीं होता। उदाहरण के लिए 'पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निःसरन्ति' तथा 'वापी कापि स्फुरति गगने तत्परं सूक्ष्मपद्या' इत्यादि उदाहरणों में प्रस्तुत धर्मी के लिए कोई वाचक पद प्रयुक्त नहीं हुआ है, अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार ही पाया जाता है। इस प्रकार सिद्धांतपक्षी ने यहाँ इस शंका का निराकरण कर दिया है कि 'गतजलसेतुबन्धन' वर्णनादि के प्रसंग में ('निर्गते नीरे सेतुमेषा चिकीर्षति' इत्यादि स्थलों में) असंबंधे संबंधरूपा अतिशयोक्ति मानी जा सकती है। ऐसा होने पर जिस प्रकार 'कस्त्वं भोः कथयामि' आदि स्थलों में सारूप्यनिबंधन के कारण प्रस्तुत वाक्यार्थ की व्यंजना होने से एक विशेष प्रकार की शोभा (चमत्कार) होने के कारण नवीन अलंकार की कल्पना की जाती है, वैसे ही

यथा वा (रघु. १।१)—

> क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः ।।
> तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ।।

अत्रापि निदर्शनाभ्रान्तिर्न कार्या । 'अल्पविषयया मत्या सूर्यवंशं वर्णयितुमिच्छुरहम्' इति प्रस्तुतवृत्तान्तानुपन्यासात्तत्प्रतिबिम्बभूतस्य 'उडुपेन सागरं तितीर्षुरस्मि' इत्यप्रस्तुतवृत्तान्तस्य वर्णनेनादौ विषमालङ्कारविन्यसनेन च केवलं तत्र तात्पर्यस्य गम्यमानत्वात् ।

यथा वा (नैषध. ८।२५)—

> अनायि देशः कतमस्त्वयाद्य वसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य ।
> त्वदाप्तसंकेततया कृतार्था श्राव्यापि नानेन जनेन संज्ञा ।।

अत्र 'कतमो देशस्त्वया परित्यक्तः ?' इति प्रस्तुतार्थमनुपन्यस्य 'वसन्तमुक्तस्य वनस्य दशामनायि' इति प्रतिबिम्बभूतार्थमात्रोपन्यासाल्ललितालङ्कारः।। १२८ ।।

यहाँ भी नवीन अलंकार की कल्पना करने के लिए कारण है। अतः यह ललित अलंकार सभी अलंकारों से विलक्षण है।

इन तीनों उदाहरणों का अर्थ अतिशयोक्ति तथा प्रस्तुतांकुर अलंकार के प्रसंग में देखें।

ललित अलंकार की प्रतिष्ठापना करने के बाद इसका एक उदाहरण देते हैं, जहाँ कुछ विद्वान् भ्रांति से निदर्शना अलंकार मानते हैं।

कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न होने वाला वंश, कहाँ मेरी तुच्छ बुद्धि ? मैं मोह के कारण दुस्तर समुद्र को एक छोटी सी डोंगी से पार करने की इच्छा कर रहा हूँ।'

इस पद्य में निदर्शना नहीं मानना चाहिए। 'मैं तुच्छ बुद्धि के द्वारा सूर्यवंश का वर्णन करने की इच्छावाला हूँ' यह प्रस्तुत वृत्तान्त है। इसके उपन्यास के द्वारा इसके प्रतिबिंबरूप अप्रस्तुत वृत्तान्त—मैं डोंगी से सागर पार करने की इच्छा वाला हूँ—के वर्णन के द्वारा तथा पद्य के पूर्वार्ध में पहले विषम अलंकार का प्रयोग करने के कारण कवि का अभिप्राय केवल तुच्छबुद्धि के द्वारा सूर्यवंश के वर्णन की इच्छा वाले प्रस्तुत तक ही है। अतः यहाँ भी प्रस्तुत के प्रसंग में अप्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन करने के कारण ललित अलंकार ही है।

अथवा जैसे—

दमयन्ती नल से पूछ रही है:— यह बताओ, वह कौन सा देश है, जिसे तुमने वसन्त के द्वारा छोड़े गये वन की दशा को पहुँचा दिया है ? तुम्हारे लिए प्रयुक्त संकेत रूप संज्ञा (नाम) क्या इस व्यक्ति (मेरे) द्वारा सुनने योग्य नहीं है ?'

यहाँ 'तुमने कौन सा देश छोड़ा है' (तुम कहाँ से आ रहे हो) इस प्रस्तुत अर्थ का उपन्यास न कर 'वसन्त के द्वारा छोड़े गये उपवन की दशा को पहुँचाया गया है' इस प्रतिबिंबभूत अप्रस्तुत वृत्तान्त का उपन्यास किया गया है, अतः यहाँ ललित अलंकार है।

टिप्पणी—चन्द्रिकाकार वैद्यनाथ ने इस पद्य के प्रसंग में निदर्शना की शंका उठाकर उसका समाधान किया है। वे कहते हैं कि यहाँ माघ के प्रसिद्ध पद्य 'उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तं। वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेंद्रलीलाम्' की तरह पदार्थ-निदर्शना नहीं है। यहाँ पर पद्य के पूर्वार्ध में प्रकृत वृत्तान्त का उपन्यास हो तथा

६७ प्रहर्षणालङ्कारः

उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम् ।
तामेव ध्यायते तस्मै निसृष्टा सैव दूतिका ॥ १२९ ॥

उत्कण्ठा = इच्छाविशेषः ।

सर्वेन्द्रियसुखास्वादो यत्रास्तीत्यभिमन्यते ।
तत्प्राप्तीच्छां ससंकल्पामुत्कण्ठां कवयो विदुः ॥'

इत्युक्तलक्षणात्तद्विषयस्यार्थस्य तदुपायसंपादनयत्नं विना सिद्धिः प्रहर्षणम् । उदाहरणं स्पष्टम् ।

यथा वा (गीतगोविन्दे १।१)—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे ! गृहं प्रापय ।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः ॥

है, अतः वहाँ निदर्शना ही है । यहाँ सादृश्य पर्यवसान तो पाया जाता है, पर प्रकृत वृत्तान्त का उपन्यास नहीं हुआ है, अतः निदर्शना नहीं मानी जा सकती । वहाँ प्रकृत वृत्तान्त वाच्य रहता है, यहाँ प्रकृत वृत्तान्त व्यंग्य होता है, अतः व्यंग्य होने के कारण इस प्रकार की सरणि में अधिक चमत्कार पाया जाता है । इसलिए ललित को निदर्शना से भिन्न मानना उचित ही है ।

(न चात्र वारणेन्द्रलीलामितिवत्पदार्थनिदर्शना युक्तेति वाच्यम् । तत्र पूर्वार्धेन प्रकृतवृत्तान्तोपादानेन, सादृश्यपर्यवसानरूपनिदर्शनात्वेऽप्यत्र तदनुपादानेन । तद्व्यङ्ग्यता-प्रयुक्तविच्छित्तिविशेषवत्त्वेन ललितालंकारस्यैवोचितत्वात् ।) (चन्द्रिका पृ० १५०)

६७. प्रहर्षण अलंकार

१२९—जहाँ किसी यत्नविशेष के बिना ही ईप्सित वस्तु की सिद्धि हो जाय, वहाँ प्रहर्षण नामक अलंकार होता है । जैसे, कोई नायक किसी का ध्यान ही कर रहा था कि उसके लिए वही दूतिका भेज दी गई ।

टिप्पणी—साक्षात्तदुद्देश्यकयत्नमन्तरेणाप्यभीष्टार्थलाभः प्रहर्षणम् । (रसगंगाधर पृ० ६८०)

उत्कण्ठा का अर्थ है इच्छाविशेष । उत्कण्ठा का लक्षण यों है :—'जिस वस्तु में समस्त इन्द्रियों के सुख का आस्वाद समझा जाता है, उस वस्तु की प्राप्ति के लिए की गई संकल्प पूर्वक तीव्र इच्छा को कविगण उत्कण्ठा कहते हैं।' इस लक्षण के अनुसार इस प्रकार की वस्तु की प्राप्ति के उपाय के बिना ही जहाँ सिद्धि हो, उस स्थान पर काव्य में प्रहर्षण अलंकार होता है । कारिकार्ध का उदाहरण स्पष्ट ही है । अथवा जैसे—

'हे राधे, आकाश घने बादलों से घिरा है, समस्त वनभूमि तमाल के निबिड वृक्षों से काली हो रही है और रात का समय है । तुम तो जानती ही हो, यह कृष्ण बड़ा डरपोक है, इसे इस रात में जंगल में होकर घर जाते डर लगेगा । तुम्हीं इसे क्यों नहीं पहुँचा देती ?' नन्द की इस आज्ञा को सुन कर घर की ओर प्रस्थित राधा-माधव के द्वारा मार्ग में यमुना-तट के उपवन तथा लताकुञ्ज में की गई एकान्त क्रीड़ाएँ सर्वोत्कृष्ट हैं ।'

अत्र राधामाधवयोः परस्परमुत्कण्ठितत्वं प्रसिद्धतरम्। अग्रे च ग्रन्थकारेण निबद्धमित्यत्रोदाहरणे लक्षणानुगतिः ॥ १२९ ॥

वाञ्छितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्।
दीपमुद्योजयेद्यावत्तावदभ्युदितो रविः ॥ १३० ॥

स्पष्टम्।

यथा वा—

चातकस्त्रिचतुरान्पयःकणान् याचते जलधरं पिपासया।
सोऽपि पूरयति विश्वमम्भसा हन्त हन्त महतामुदारता ॥ १३० ॥

यहाँ राधा तथा माधव की एक दूसरे से एकान्त में मिलने की उत्कण्ठा प्रसिद्ध है, ही तथा कवि जयदेव ने भी गीतगोविन्द नामक काव्य में—जिसका यह मंगलाचरण है—उसे आगे निबद्ध किया है। यहाँ नन्द के आदेश के कारण राधा-माधव की यह उत्कण्ठा बिना किसी यत्न विशेष के ही पूर्ण हो जाती है, अतः यहाँ प्रहर्षण अलंकार का लक्षण घटित हो जाता है।

१३०—(प्रहर्षण का दूसरा भेद) जहाँ अभीप्सित वस्तु से अधिक वस्तु की प्राप्ति हो, वहाँ भी प्रहर्षण होता है। यह प्रहर्षण का दूसरा भेद है। जैसे, जब तक वह दीपक जलाये, तब तक ही सूर्य उदित हो गया।

यहाँ दीपक का प्रकाश अभीप्सित वस्तु है, सूर्य का प्रकाशित होना उससे भी अधिक वस्तु की संसिद्धि है, अतः यह दूसरा प्रहर्षण है। कारिकार्थ स्पष्ट है।

इसी का दूसरा उदाहरण यह है :—

चातक पक्षी प्यास के कारण मेघ से केवल तीन-चार बूँद ही पानी माँगता है। मेघ बदले में समस्त संसार को पानी से भर देता है। बड़े हर्ष की बात है, महान् व्यक्ति बड़े उदार होते हैं।

यहाँ चातक पक्षी केवल तीन चार कण की ही इच्छा करता है, किन्तु मेघ अभीप्सित वस्तु से अधिक वितरित करता है, अतः यहाँ प्रहर्षण नामक अलङ्कार है।

टिप्पणी—पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के इस उदाहरण को द्वितीय प्रहर्षण का उदाहरण नहीं माना है। वे बताते हैं कि यह उदाहरण दुष्ट है। क्योंकि प्रहर्षण के लक्षण 'वाञ्छित वस्तु से अधिक वस्तु की संसिद्धि' में संसिद्धि से तात्पर्य केवल निष्पत्तिमात्र नहीं है। ईप्सित से अधिक वस्तु की निष्पत्ति होने पर भी जब तक इच्छा करने वाले व्यक्ति को उस अधिक वस्तु के लाभ का सन्तोषाधिक्य न हो तब तक 'प्रहर्षण' शब्द का अर्थ संगत नहीं हो सकेगा, जो प्रहर्षण अलंकार का वास्तविक रहस्य है। ऐसी स्थिति में, चातक को केवल तीन चार बूँद पानी ही अभीष्ट है, उससे अधिक पानी मिलने पर जब तक चातक का हर्षाधिक्य न बताया जाय, तब तक प्रहर्षण अलंकार कैसे होगा? हाँ, अधिक दान देने के कारण दाता की उत्कर्षता अवश्य प्रतीत होती है तथा 'हन्त हन्त महतामुदारता' वाला अर्थान्तरन्यास भी इसी की पुष्टि करता है। अतः यहाँ प्रहर्षण का लक्षण घटित नहीं होता। इसका उदाहरण पण्डितराज ने निम्न पद्य दिया है :—

लोभाद्वराटिकानां विक्रेतुं तक्रमविरतमटन्त्या।
लब्धो गोपकिशोर्या मध्येरथ्यं महेन्द्रनीलमणिः ॥

यत्नादुपायसिद्ध्यर्थात् साक्षाल्लाभः फलस्य च ।
निध्यञ्जनौषधीमूलं खनता साधितो निधिः ॥ १३१ ॥

फलोपायसिद्ध्यर्थाद्यत्नान्मध्ये उपायसिद्धिमनपेक्ष्यापि साक्षात्फलस्यैव प्रहर्षणम् । यथा निध्यञ्जनसिद्ध्यर्थं मूलिकां खनतस्तत्रैव निधेर्लाभः ।

यथा वा—

उच्चित्य प्रथममधःस्थितं मृगाक्षी पुष्पौघं श्रितविटपं ग्रहीतुकामा ।
आरोढुं पदमदधादशोकयष्टावामूलं पुनरपि तेन पुष्पिताभूत् ॥

अत्र पुष्पग्रहणोपायभूतारोहणासिद्ध्यर्थात्पदनिधानात्तत्रैव पुष्पग्रहणलाभः ॥

(यत्तु–'चातक……' इति पद्यं 'वाञ्छितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्' इति प्रहर्षणाद् द्वितीयप्रभेदं लक्षयित्वोदाहृतं कुवलयानन्दकृता । तदसत् । वाञ्छितादधिकार्थस्य संसिद्धिरिति लक्षणेन संसिद्धिपदेन निष्पत्तिमात्रं न वक्तुं युक्तम् । सत्यामपि निष्पत्तौ वाञ्छितुस्तल्लाभकृतसंतोषानातिशये प्रहर्षणशब्दयोगार्थसंगत्या तदलङ्कारत्वायोगात् । किंतु लाभेन कृतः संतोषातिशयः । एवं च प्रकृते चातकस्य त्रिचतुरकणमात्रार्थितया जलदकर्तृकजलकरणकविश्वपूरेण न हर्षाधिक्याभावात् प्रहर्षणं कथंकारं पदमाधत्ताम् । वाञ्छिताद्धिकप्रदत्वेन दातुरुत्कर्षो भवंस्तु न वार्यते । अत एव हन्त हन्तेत्यादिनार्थान्तरन्यासेन स एव पोष्यते । लोभाद्वराटिकानामित्यस्मदीये तूदाहरणे वाञ्छितुर्वाञ्छितार्थादधिकवस्तुलाभेन संतोषाधिक्यात्तद्युक्तम् । (रसगङ्गाधर पृ० ६८१–८२)

१३१—जहाँ किसी विशेष वस्तु को प्राप्त करने के उपाय की सिद्धि के लिए किये गये यत्न से साक्षात् उसी वस्तु (फल) का लाभ हो जाय, वहाँ प्रहर्षण का तीसरा भेद होता है । जैसे कोई व्यक्ति निधि (खजाना) को देखने के लिए किसी अञ्जन की औषधि की जड़ को खोद रहा हो और उसे खोदते समय ही उसे साक्षात् निधि (खजाना) मिल जाय । (उस मनुष्य को गड़े हुए धन को देखने के अञ्जन की औषधि की जड़ खोदते हुए ही निधि मिल गई) ।

फल प्राप्ति के उपाय की सिद्धि के लिए किये गये यत्न से कार्य के बीच में ही उपाय की सिद्धि के बिना ही साक्षात्फल की प्राप्ति हो जाय, वह भी प्रहर्षण का एक भेद है । जैसे निध्यञ्जन की प्राप्ति के लिए औषधि की जड़ को खोदते हुए व्यक्ति को वहीं निधि की प्राप्ति हो जाय ।

अथवा जैसे—

कोई नायिका अशोक के फूल चुनने आई है । हिरन के समान नेत्र वाली नायिका ने अशोक के नीचे लटकते फूलों को पहले चुन लिया है, तदनन्तर वह पेड़ के ऊपरी भाग में खिले फूलों के समूह को लेने की इच्छा से पेड़ के ऊपर चढ़ने के लिए ज्यों ही अशोक के तने पर पैर रखती है, त्यों ही उसके पैरों के द्वारा आहत होकर अशोक की लता फिर से फूलों से लद जाती है ।

(यहाँ कवि ने 'पादाघातादशोको विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्' वाली कविसमयोक्ति का उपयोग किया है ।)

यहाँ नायिका पुष्पग्रहण के लिए उसके उपाय—पेड़ पर चढ़ने का आश्रय लेने जा रही है, इस उपाय की सिद्धि के लिए अशोकयष्टि पर पैर रखते ही वहीं फूल खिल

६८ विषादनालङ्कारः

इष्यमाणविरुद्धार्थसंप्राप्तिस्तु विषादनम् ।
दीपमुद्योजयेद्यावन्निर्वाणस्तावदेव सः ॥ १३२ ॥

यथा वा—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥ १३२ ॥

६९ उल्लासालङ्कारः

एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि ।
अपि मां पावयेत् साध्वी स्नात्वेतीच्छति जाह्नवी ॥१३३॥

उठते हैं और उसे नीचे खड़े खड़े ही फूल मिल जाते हैं, इस प्रकार उपाय सिद्धि के लिए यत्न करते समय ही साक्षात् फल (पुष्प) की प्राप्ति हो जाती है, अतः यहाँ तृतीय प्रहर्षण है ।

६८. विषादन अलङ्कार

१३२—जहाँ अभीप्सित अर्थ से विरुद्ध अर्थकी प्राप्ति हो, वहाँ विषादन अलङ्कार होता है । जैसे ज्योंही दीपक को अधिक तेज किया जा रहा था, त्योंही वह बुझ गया । इसी का दूसरा उदाहरण यह है :—

कोई भौंरा कमल में बन्द हो गया है । वह रात भर यही सोचता रहा है 'अब रात समाप्त होगी, प्रातः काल होगा, सूर्य उदय होगा, कमलशोभा विकसित होगी' । कमल-कलिका में बन्द भौंरा यह सोच ही रहा था कि इसी बीच, बड़े दुःख की बात है, किसी हाथी ने उस कमल के फूल को उखाड़ लिया ।

यहाँ भौंरा प्रातःकाल में विकसित कमल की शोभा की प्रतीक्षा कर रहा था, ताकि उसका छुटकारा हो तथा वह पुनः कमल के मकरन्द का पान कर सके, पर इसी बीच हाथी का कमल को उखाड़ फेंकना अभीप्सित वस्तु से विरुद्ध वस्तु की प्राप्ति है, अतः यहाँ विषादन अलङ्कार है ।

६९. उल्लास अलङ्कार

१३३-१३५—जहाँ किसी अन्य वस्तु के गुण दोष से किसी अन्य वस्तु के गुणदोष का वर्णन किया जाय, वहाँ उल्लास नामक अलङ्कार होता है । (यह वर्णन चार तरह का होता है :—१. किसी वस्तु के गुण से दूसरी वस्तु का गुण, २. किसी वस्तु के दोष से दूसरी वस्तु का दोष, ३. किसी वस्तु के गुण से दूसरी वस्तु का दोष, ४. किसी वस्तु के दोष से दूसरी वस्तु का गुण । इसी के क्रमशः उदाहरण देते हैं ।)

१—यह पतिव्रता सती स्नान करके मुझे पवित्र कर दे, गङ्गा नदी इस सती से यह इच्छा करती है । (गुण से गुण का उदाहरण)

काठिन्यं कुचयोः स्रष्टुं वाञ्छन्त्यः पादपद्मयोः ।
निन्दन्ति च विधातारं त्वद्धाटीष्वरियोषितः ॥ १३४ ॥
तदभाग्यं धनस्यैव यन्नाश्रयति सज्जनम् ।
लाभोऽयमेव भूपालसेवकानां न चेद्वधः ॥ १३५ ॥

यत्र कस्यचिद्गुणेनान्यस्य गुणो दोषेण दोषो गुणेन दोषो दोषेन गुणो वा वर्ण्यते स उल्लासः। द्वितीयार्धमाद्यस्योदाहरणम्। तत्र पतिव्रतामहिमगुणेन तदीयस्नानतो गङ्गायाः पावनत्वगुणो वर्णितः। द्वितीयश्लोके द्वितीयस्योदाहरणम्। तत्र राज्ञो धाटीषु वने पलायमानानामरातियोषितां पादयोर्धावनपरिपन्थिमार्दवदोषेण तयोः काठिन्यमसृष्ट्वा व्यर्थं कुचयोस्तत्सृष्टवतो धातुर्निन्द्यत्वदोषो वर्णितः। तृतीयश्लोकस्तृतीय-चतुर्थयोरुदाहरणम्। तत्र सज्जनमहिमगुणेन धनस्य तदनाश्रयणं दोषत्वेन, राज्ञः क्रौयदोषेण तत्सेवकानां वधं विना त्रिनिर्गमनं गुणत्वेन वर्णितम्।

२—कोई कवि राजा की वीरता की प्रशंसा करते हुए शत्रुनारियों की दशा का वर्णन करता है। हे राजन्, तुम्हारे युद्धयात्रा के लिए प्रस्थित होने पर तुम्हारी शत्रुरमणियाँ अपने कुचों की कठिनता को चरणकमलों में चाहती हैं (ताकि कठिन पैरों में उन्हें वन की दुर्गम कठोर भूमि असह्य न लगे) तथा इस प्रकार की रचना न करने वाले (पैरों को कमल के समान कोमल बनाने वाले) ब्रह्मा की निन्दा करती हैं। (दोष से दोष का उदाहरण)

३—यह धन का ही दुर्भाग्य है कि वह सज्जनों के पास नहीं रहता। (गुण से दोष का वर्णन)

४—यदि राजसेवकों का वध नहीं होता, तो यह उनका लाभ ही है। (दोष से गुण का उदाहरण)।

जहाँ किसी एक वस्तु के गुण से दूसरी वस्तु का गुण, उसके दोष से दूसरी वस्तु का दोष, उसके गुण से दूसरी वस्तु का दोष अथवा उसके दोष से दूसरी वस्तु का गुण वर्णित किया जाय, वहाँ उल्लास नामक अलङ्कार होता है। कारिकाभाग की प्रथम कारिका का द्वितीयार्ध प्रथम (गुण से गुण) का उदाहरण है। यहाँ पतिव्रता की महिमा रूपी गुण के वर्णन के द्वारा उसके स्नान से गंगा की पवित्रता के गुण का वर्णन किया गया है। द्वितीय श्लोक में द्वितीय (दोष से दोष) का उदाहरण है। यहाँ राजा की युद्धयात्राओं के समय वन में भगती हुई शत्रुस्त्रियों के दौड़ने में बाधक पैरों की कोमलता का दोष वर्णित कर उसके द्वारा उनकी कठिनता की रचना न कर व्यर्थ ही स्तनों की कठिनता की रचना करने वाले ब्रह्मा का दोष वर्णित किया गया है। तृतीय कारिका में तीसरे व चौथे दोनों के उदाहरण हैं। वहाँ प्रथमार्ध में सज्जनों की महिमा के गुण के द्वारा धन का उनके पास न होना रूपी दोष, तथा राजा की क्रूरता के दोष के द्वारा राजसेवकों का बिना वध के बच निकलना गुण के रूप में वर्णित हुआ है।

अनेनैव क्रमेणोदाहरणान्तराणि,—

यदयं रथसंक्षोभादंसेनांसो निपीडितः।
एकः कृती मदङ्गेषु, शेपमङ्गं भुवो भरः॥

अत्र नायिकासौन्दर्यगुणेन तदंसनिपीडितस्य स्वांसस्य कृतित्वगुणो वर्णितः॥

लोकानन्दन ! चन्दनद्रुम ! सखे ! नास्मिन् वने स्थीयतां
दुर्वंशैः परुपैरसारहृदयैराक्रान्तमेतद्वनम्।
ते ह्यन्योन्यनिघर्षजातदहनज्वालावलीसंकुला
न स्वान्येव कुलानि केवलमहो सर्वं दहेयुर्वनम्॥

अत्र वेणूनां परस्परसंघर्पणसंजातदहनसंकुलत्वदोपेण वननाशरूपदोपो वर्णितः।

दानार्थिनो मधुकरा यदि कर्णतालै-
र्दूरीकृताः करिवरेण मदान्धबुद्ध्या।

इन्हीं चारों के क्रमशः दूसरे उदाहरण दे रहे हैं:—

(किसी एक के गुण के द्वारा दूसरे के गुण के वर्णन का उदाहरण)

कोई नायक नायिका के साथ रथ पर जा रहा था। रथ के हिलने से उसका कन्धा नायिका के कन्धे से टकरा गया था। अपने कन्धे के सौभाग्य गुण की प्रशंसा करता नायक कह रहा है। 'रथ के हिलने के कारण यह मेरा कन्धा उस (नायिका) के कन्धे से टकरा गया था। अतः मेरे सभी अंगों में यही अकेला अंग सफल मनोरथ है, बाकी अंग तो पृथ्वी के लिए भारस्वरूप हैं।'

यहाँ नायिका के सौंदर्य गुण के द्वारा उसके कन्धे से टकरायें हुए नायक के अपने कंधे के सौभाग्य गुण का वर्णन किया गया है। अतः यह उल्लास के प्रथम भेद काउदाहरण है।

(किसी एक के दोप के द्वारा दूसरे के दोप के वर्णन का उदाहरण)

कोई कवि चन्दन के वृक्ष से कह रहा है। 'संसार को प्रसन्न करने वाले, हे चन्दन के वृक्ष, मित्र तुम इस वन में कभी नहीं ठहरना। यह वन कठोर हृदयवाले (शून्य हृदय वाले) कठोर बांस के पेड़ों (बुरे वंश में उत्पन्न लोगों) से छाया हुआ है ये बांस इतने दुष्ट हैं कि एक दूसरे से परस्पर टकराने से उत्पन्न अग्नि की ज्वाला से वेष्टित होकर केवल अपने कुल को ही नहीं, अपितु सारे वन को जला डालते हैं।

(प्रस्तुत पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी है। यहाँ चन्दन-वेणुगत अप्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा सज्जन-दुर्जन व्यक्ति रूप प्रस्तुतवृत्तान्त की व्यंजना हो रही है। कोई कवि किसी सज्जन से दुष्टों के साथ से बचने का संकेत कर रहा है, जो केवल अपना ही नहीं दूसरों का भी नाश करते हैं।)

यहाँ वांसों के परस्पर टकराने से उत्पन्न अग्नि से वेष्टित होने रूप दोप के द्वारा वननाश रूप दोप का वर्णन किया गया है, अतः यह उल्लास के द्वितीय भेद का उदाहरण है।

(किसी के गुण के द्वारा दूसरे के दोप के वर्णन का उदाहरण)

कोई कवि हाथी की मूर्खता व मदांधता का वर्णन कर रहा है। यदि गजराज ने मदांध बुद्धि के कारण अपने कर्णतालों के द्वारा मद जल के इच्छुक (याचक) भौंरों को हटा

तस्यैव गण्डयुगमण्डनहानिरेषा
भृङ्गाः पुनर्विकचपद्मवने चरन्ति ॥

अत्र भ्रमराणामलंकरणत्वगुणेन गजस्य तत्प्रतिक्षेपो दोषत्वेन वर्णितः ।

आघ्रातं परिचुम्बितं परिमुहुर्लीढं पुनश्चर्वितं
त्यक्तं वा भुवि नीरसेन मनसा तत्र व्यथां मा कृथाः ।
हे सद्रत्न ! तवैतदेव कुशलं यद्वानरेणादरा-
दन्तःसारविलोकनव्यसनिना चूर्णीकृतं नाश्मना ॥

अत्र वानरस्य चापलदोषेण रत्नस्य चूर्णनाभावो गुणत्वेन वर्णितः । अत्र प्रथमचतुर्थयोरुल्लासोऽन्वर्थः । मध्यमयोश्छत्रिन्यायेन लाक्षणिकः ॥ १३३-१३४॥

दिया, तो इसमें भौंरों का क्या बिगड़ा ? यह तो हाथी के ही कपोलमण्डल की शोभा की हानि हुई, भौंरे तो फिर कहीं किसी खिले कमल वाले सरोवर में विहार करने लगते हैं।

(यहां कवि ने गज-भ्रमरगत अप्रस्तुत व्यापार के द्वारा कुदातृ-याचकगत प्रस्तुत व्यापार की व्यंजना की है । अतः अप्रस्तुतप्रशंसा भी अलंकार है ।)

यहां 'भौंरे हाथी के कपोलमण्डल की शोभा हैं' इस गुण के द्वारा 'हाथी के द्वारा उनका तिरस्कार' रूप दोष वर्णित किया गया है, अतः यह उल्लास का तीसरा भेद है।

(किसी के दोष के द्वारा दूसरे के गुण के वर्णन का उदाहरण)

कोई कवि किसी मणि से कह रहा है । हे मणि (सद्रत्न), बन्दर के हाथों पड़ने पर उसने पहले तुम्हें सूँघ, फिर चूमा, फिर चाटा, फिर मुँह में दांतों से चबाया, जब कोई स्वाद न आया तो नीरस मन से जमीन पर फेंक दिया, इस संबंध में तुम्हें इस बात का दुःख करने की आवश्यकता नहीं कि बन्दर तुम्हारी कद्र न कर सका । हे मणि, यों कहो कि यह तुम्हारी खैर थी कि बन्दर ने तुम्हारी केवल इतनी ही परीक्षा की तथा तुम्हारे अन्दर के भाग को देखने की इच्छा से तुम्हें पत्थर से चूर्ण-विचूर्ण न कर डाला।

(कोई योग्य व्यक्ति अयोग्य परीक्षक के हाथों समुचित व्यवहार नहीं प्राप्त करता और इसके लिए दुःख करता है, उसे सान्त्वना देता कवि कहता है कि यह तो परीक्षक की अयोग्यता के कारण है, स्वयं उसकी अयोग्यता के कारण नहीं । यदि बन्दर मणि का मूल्य न जाने तो इसमें मणि का क्या दोष ? इस पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी है)

यहां बन्दर की चपलता के दोष का वर्णन कर उसके द्वारा मणि के चूर्ण-विचूर्ण न करने रूपी गुण का वर्णन किया गया है, अतः यह उल्लास का चौथा भेद है।

इन चारों प्रकार के उल्लास में सच्चा उल्लास प्रथम तथा चतुर्थ भेद में (गुण के द्वारा गुण के तथा दोष के द्वारा गुण के वर्णन में) ही पाया जाता है । बाकी दो भेद द्वितीय तथा तृतीय में उल्लास नामक संज्ञा केवल लाक्षणिक है, ठीक वैसे ही जैसे कई लोग जा रहे हों तथा उनमें कुछ के पास छाता हो तो हम कहते हैं 'वे छाते वाले जा रहे हैं (छत्रिणो यान्ति) और इस प्रकार छाते वालों के साथ जाते बिना छाते वालों के लिए भी 'छत्रिणः' का लाक्षणिक प्रयोग कर बैठते हैं । भाव यह है, बीच के दो भेद (दोष से दोष तथा गुण से दोष वाले भेद) केवल लाक्षणिक दृष्टि से उल्लास है, क्योंकि वहां अन्यवस्तु का गुण वर्णित न होकर दोष वर्णित होता है।

७० अवज्ञालङ्कारः

ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा ।
स्वल्पमेवाम्बु लभते प्रस्थं प्राप्यापि सागरम् ॥
मीलन्ति यदि पद्मानि का हानिरमृतद्युतेः ॥१३६॥

ताभ्यां गुणदोषाभ्याम् । तौ गुणदोषौ । अत्र कस्यचिद्गुणेनान्यस्य गुणालाभे द्वितीयार्धमुदाहरणम् । दोषेण दोषस्याप्राप्तौ तृतीयार्धम् ।

यथा—

मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ।
यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते ॥

टिप्पणी—कुछ विद्वान् उल्लास को भिन्न अलंकार नहीं मानते। एक दल इसका समावेश काव्यलिंग में करता है, तो दूसरा दल इसे केवल लौकिकार्थ मान कर इसमें अलंकारत्व का ही निषेध करता है।

('काव्यलिंगेन गतार्थोऽयम्, नालंकारान्तरत्वभूमिमारोहति' इत्येके। 'लौकिकार्थमयत्वादनलंकार एव' इत्यपरे।) (रसगंगाधर पृ० ६८५)

७०. अवज्ञा अलंकार

१३६–अवज्ञा वस्तुतः उल्लास का ही उलटा अलंकार है। जहां किसी एक के गुण-दोष के कारण क्रमशः दूसरे के गुण–दोष का लाभ न हो, वहां अवज्ञा अलंकार होता है। (इसके दो भेद होंगे किसी एक के गुण के कारण दूसरे का गुणालाभ, किसी एक के दोष के कारण दूसरे का दोपालाभ, इन्हीं के क्रमशः उदाहरण ये हैं)

(१) सागर में जाकर भी प्रस्थ पात्र जितना थोड़ा सा पानी ही मिलता है।

(२) यदि चन्द्रमा के उदय होने पर कमल बंद हो जाते हैं, तो इसमें चन्द्रमा की क्या हानि ?

कारिका के 'ताभ्यां' का अर्थ है 'गुण और दोष के द्वारा', तथा 'तौ' का अर्थ 'गुण तथा दोष'। यहां किसी एक के गुण के द्वारा दूसरे को गुण की प्राप्ति न होने वाले अवज्ञा भेद का उदाहरण कारिका का द्वितीयार्ध (स्वल्प इत्यादि) है। किसी एक के दोष से दूसरे के दोष की प्राप्ति न होने वाले अवज्ञाभेद का उदाहरण कारिका का तृतीयार्ध (मीलन्ति० इत्यादि) है। इसके अन्य उदाहरण ये हैं :—

महाकवि श्रीहर्ष अपनी कविता के विषय में कह रहे हैं। यदि मेरी उक्ति अमृत बनकर बुद्धिमानों के हृदय को मस्त बनाती है, तो नीरस व्यक्ति इसका अनादर करते रहें, इससे क्या ? अत्यधिक सुन्दरी स्त्री भी युवकों के हृदय को जितना आकृष्ट करती हैं; उतना बालकों के अन्तःकरण को नहीं।

यहां कविता तथा रमणी के सौंदर्य गुण के द्वारा अरस व्यक्ति तथा बालक के गुणाभाव का वर्णन किया गया है, अतः यह अवज्ञा का प्रथम भेद है।

त्वं चेत्संचरसे वृषेण लघुता का नाम दिग्दन्तिनां
व्यालैः कङ्कणभूषणानि कुरुषे हानिर्न हेम्नामपि ।
मूर्धन्यं कुरुषे जलांशुमयशः किं नाम लोकत्रयी-
दीपस्याम्बुजबान्धवस्य जगतामीशोऽसि किं ब्रूमहे ॥

अत्राद्ये कवितारमणीगुणाभ्यामरसबालकयोर्हृदयोल्लासरूपगुणाभावो व-र्णितः। द्वितीये परमेश्वरानङ्गीकरणदोषेण दिग्गजादीनां लघुतादिदोषाभावो वर्णितः ॥ १३६ ॥

७१. अनुज्ञालङ्कारः

दोषस्याभ्यर्थनानुज्ञा तत्रैव गुणदर्शनात् ।
विपदः सन्तु नः शश्वद्यासु संकीर्त्यते हरिः ॥ १३७ ॥

यथा वा—

मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं हरे ! ।
नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकाङ्क्षति ॥

इयं हनुमन्तं प्रति राघवस्योक्तिः । अत्र प्रत्युपकाराभावो दोषस्तदभ्युपगमे

कोई कवि महादेव से कह रहा है। हे महादेव, अगर तुम बैल पर बैठ कर घूमते हो तो इससे दिग्गज छोटे नहीं हो जाते, अगर तुम सांपों के कंकण वा आभूषण धारण करते हो तो इसमें स्वर्णाभूषणों की क्या हानि है, यदि तुम चन्द्रमा (जडांशु-मूर्ख) को सिर पर धारण करते हो, तो इसमें त्रिलोकी के प्रकाश सूर्य का क्या दोष ? कहां तक कहें, आप फिर भी तीनों लोकों के स्वामी हैं, हम क्या कह सकते हैं ?

यहां महादेव के द्वारा दिग्गजादि के अंगीकार न करने के दोष के द्वारा दिग्गजादि के लघुतादि दोष का अभाव वर्णित किया गया है।

कुछ आलंकारिक इसे पृथक् अलंकार न मानकर विशेषोक्ति में ही इसका अन्तर्भाव करते हैं। विशेषोक्त्यैव गतार्थत्वादवज्ञा नालंकारान्तरमित्यपि वदन्ति। (रसगंगाधर पृ० ६८६)

७१. अनुज्ञा अलंकार

१३७—जहां किसी दोष की इच्छा इसलिए की जाय कि उसमें किसी विशेष गुण की स्थिति है, वहां अनुज्ञा अलंकार होता है। जैसे, (कोई भक्त कहता है) हमें सदा विपत्तियों का सामना करना पड़े तो अच्छा, क्योंकि उनमें भगवान् का कीर्तन होता है।

यहां विपत्तियों (दोष) की अभ्यर्थना इसलिए की जाती ह कि उनमें भगवद्भजन-रूपी गुण विद्यमान हैं।

अथवा जैसे निम्न उदाहरण में—

रामचन्द्र हनुमान् से कह रहे हैं—हे हनुमान्, तुमने जो उपकार किया, वह मेरे लिए प्रत्युपकार की अक्षमता धारण करे। प्रत्युपकार की इच्छा करने वाला व्यक्ति विपत्ति की आकांक्षा करता है।

यह रामकी हनुमान् के प्रति उक्ति है। यहां प्रत्युपकाराभाव दोष है, इस दोष की इच्छा का कारण यह है कि इसमें विपत्ति की आकांक्षा न होना रूप गुण पाया जाता है।

हेतुर्गुणो विपत्त्याकाङ्क्षाया अप्रसक्तिः। सा च व्यतिरेकमुखप्रवृत्तेन सामान्येन विशेषसमर्थनरूपेणार्थान्तरन्यासेन दर्शिता।

यथा वा—

अजेम भवदन्तिकं प्रकृतिमेत्य पैशाचिकीं
किमित्यमरसम्पदः प्रमथनाथ! नाथामहे।
भवद्भवनदेहलीविकटतुण्डदण्डाहति-
त्रुटन्मुकुटकोटिभिर्मघवदादिभिर्भूयते ॥ १३७ ॥

यह विपत्ति की आकांक्षा का न होना व्यतिरेकसरणि से वर्णित सामान्य के द्वारा विशेष के समर्थन वाले अर्थांतरन्यास से प्रदर्शित किया गया है। भाव यह है, यहां प्रत्युपकार की इच्छा न करने वाला व्यक्ति विपत्ति की आकांक्षा नहीं करता—इस बात को वैधर्म्य शैली में वर्णित किया गया है। अनुज्ञा का ही दूसरा उदाहरण यह है:—

कोई भक्त शिव से प्रार्थना कर रहा है:—हे प्रमथनाथ शिव, हमारी तो यही कामना है कि पिशाच के स्वरूप को प्राप्त कर आप के ही समीप रहें। हम देवताओं की संपत्ति की याचना क्यों करें? इन्द्रादि बड़े बड़े देवता भी आपके निवास-स्थान की देहली पर बैठे गणेशजी के दण्डों की चोट से जीर्ण-शीर्ण मुकुट वाले होते रहते हैं। अर्थात् जिनके भवन की देहली से भी आगे बड़े बड़े देवता नहीं पहुँच पाते, उन भगवान् शिव के समीप हम पिशाच बनकर रहना भी पसन्द करेंगे।

यहां 'पिशाच बनना' यह एक दोष है, किंतु शिवभक्त कवि ने इसकी इसलिए इच्छा की है कि इससे शिवसामीप्य रूप गुण की प्राप्ति होती है।

टिप्पणी—अनुज्ञा अलंकार के बाद पण्डितराज जगन्नाथ ने एक अन्य अलंकार का उल्लेख किया है, जिसका संकेत कुवलयानन्द में नहीं मिलता। यह अलंकार है—तिरस्कार। जिस स्थान पर किसी विशेष दोष के कारण गुणत्व से प्रसिद्ध वस्तु के प्रति भी द्वेष पाया जाता हो, वहाँ तिरस्कार अलंकार होता है। (दोषविशेषानुबन्धाद्गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः।) इसका उदाहरण निम्न पद्य है, जहाँ राजाओं के समान विशाल ऐश्वर्य रूप प्रसिद्ध गुण के प्रति भी कवि का द्वेष इसलिए पाया जाता है कि उसके कारण भगवान् के चरणों की उपासना अस्त हो जाती है तथा यह दोषविशेष वहां विद्यमान है:—

श्रियो मे मा सन्तु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा-
मदभ्राम्यद्भृंगावलिमधुरसंगीतसुभगाः।
निमग्नानां यासु द्रविणरसपर्याकुलहृदां
सपर्यासौकर्यं हरिचरणयोरस्तमयते ॥

तिरस्कार अलंकार का वर्णन करते समय पण्डितराज ने कुवलयानन्दकार के द्वारा इस अलंकार का संकेत न करने की ओर भी कटाक्षपात किया है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि अप्पयदीक्षित के द्वारा अनुज्ञा के प्रकरण में उदाहृत 'अजेम भवदन्तिकं' इत्यादि पद्य के 'किमित्यमरसंपदः' इस अंश में तिरस्कार अलंकार को मानने में भी कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती (अमुं च तिरस्कारमलक्षयित्वाऽनुज्ञां लक्षयतः कुवलयानन्दकृतो विस्मरणमेव शरणम्। अन्यथा 'भवद्भवनदेहली' इति तदुदाहृतपद्ये 'किमित्यमरसंपदः' इत्यंशे तिरस्कारस्य स्फुरणानापत्तेः। (रसगंगाधर पृ. ६८७.)

७२ लेशालङ्कारः

लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम् ।
अखिलेषु विहङ्गेषु हन्त स्वच्छन्दचारिषु ॥
शुक ! पञ्जरबन्धस्ते मधुराणां गिरां फलम् ॥ १३८ ॥

दोषस्य गुणत्वकल्पनं गुणस्य दोषत्वकल्पनं च लेशः। उदाहरणम्–राज्ञोऽभिमते विदुषि पुत्रे चिरं राजधान्यां प्रवसति तद्दर्शनोत्कण्ठितस्य गृहे स्थितस्य पितुर्वचनमप्रस्तुतप्रशंसारूपम् । तत्र प्रथमार्धे इतरविहगानामवक्तृत्वदोषस्य स्वच्छन्दचरणानुकूलतया गुणत्वं कल्पितम्। द्वितीयार्धे मधुरभाषित्वस्य गुणस्य पञ्जरबन्धहेतुतया दोषत्वं कल्पितम्। न चात्र व्याजस्तुतिराशङ्कनीया। न ह्यत्र विहगान्तराणां स्तुतिव्याजेन निन्दायां शुकस्य निन्दाव्याजेन स्तुतौ च तात्पर्यम्, किन्तु पुत्रदर्शनोत्कण्ठितस्य पितुर्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वाभिमान एवात्र श्लोके निबद्धः।

यथा वा—

सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥

---

७२. लेश अलंकार

१३८—जहाँ दोष तथा गुण को क्रमशः गुण तथा दोष के रूप में कल्पित किया जाय, वहाँ लेश नामक अलंकार होता है। जैसे, हे तोते, अन्य सभी पक्षियों के स्वच्छन्दचारी होने पर तुम पिंजरे में बन्द कर दिये जाते हो, यह तुम्हारी मीठी वाणी का फल है।

दोष की गुणत्वकल्पना और गुण की दोषत्वकल्पना को लेश कहते हैं। इसका उदाहरण 'अखिलेषु' आदि है, जिसमें किसी पिता का विद्वान् पुत्र इसलिए राजधानी में रह रहा है, कि वह राजा को प्रिय है, उसे देखकर उसके दर्शन से उत्कण्ठित पिता के द्वारा अपने पुत्र के प्रति अप्रस्तुतप्रशंसारूप उक्ति है। इस उक्ति के प्रथमार्ध में दूसरे पक्षियों के मधुर वाणी न बोलने के दोष को स्वच्छन्द विचरण करने के गुण के रूप में वर्णित किया गया है। द्वितीयार्ध में शुक के मधुरभाषण रूप गुण को पिंजरे में बँध जाने के हेतु रूप दोष के रूप में वर्णित किया गया है। इस पद्य में व्याजस्तुति अलंकार नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः यहाँ कवि का तात्पर्य अन्य पक्षियों की स्तुति के व्याज से निन्दा करने तथा शुक की निन्दा के व्याज से स्तुति करने में नहीं है अपितु पुत्रदर्शन से उत्कण्ठित पिता के द्वारा दोष गुण को क्रमशः गुण दोष के रूप में वर्णित करना ही यहाँ कवि का अभीष्ट है। अथवा जैसे—

सच्चरित्रता के उदय की इच्छा वाले तथा इसीलिए सदा दुखी रहने वाले सज्जन लोग, जो सदा लोगों के द्वारा की गई निन्दा से डरा करते हैं, बड़े दुख व कष्ट के साथ जीवन यापन करते हैं। [illegible]

दण्डी त्वत्रोदाजहार (काव्या० २।२६९)—

'युवैष गुणवान् राजा योग्यस्ते पतिरूर्जितः।
रणोत्सवे मनः सक्तं यस्य कामोत्सवादपि ॥
चपलो निर्दयश्चासौ जनः किं तेन मे सखि !।
आगः प्रयार्जनायैव चाटवो येन शिक्षिताः ॥'

अत्राद्यश्लोके राज्ञो वीर्योत्कर्षस्तुतिः। कन्याया निरन्तरं सम्भोगनिर्विवर्तिषया दोषत्वेन प्रतिभासतामित्यभिप्रेत्य विदग्धया सख्या राजप्रकोपपरिजिहीर्षया स एव दोषो गुणत्वेन वर्णितः। उत्तरश्लोके सखीभिरुपदिष्टं मानं कर्तुमशक्तयापि तासामग्रतो मानपरिग्रहणानुगुण्यं प्रतिज्ञाय तदनिर्वाहमाशङ्कमानया सखीनामुपहासं परिजिहीर्षन्त्या नायिकया नायकस्य चाटुकारितागुण एव दोषत्वेन वर्णितः। न चाद्यश्लोके स्तुतिर्निन्दापर्यवसायिनी, द्वितीयश्लोके च निन्दा स्तुतिपर्यवसायिनीति व्याजस्तुतिराशङ्कनीया। राजप्रकोपादिपरिहारार्थमिह निन्दास्तुत्योरन्याविदिततया लेशत एवोद्घाटनेन ततो विशेषादिति। वस्तुतस्तु—

मौके की बात को नहीं सोच पाता, जो अच्छे या बुरे काम से व्याकुल नहीं होता और जिसका हृदय भले-बुरे के ज्ञान से शून्य रहता है।

यहाँ सज्जन व्यक्ति के सच्चरित-व्यसन को, जो गुण है, दोष बताया गया है तथा प्राकृत जन की विवेकशून्यता के दोष को गुण बताया गया है, अतः लेश अलङ्कार है। दण्डी ने लेश अलङ्कार का निम्न उदाहरण दिया है :—

कोई सखी किसी राजकुमारी से कह रही है:—हे राजकुमारी, यह वीर गुणवान् युवक राजा तुम्हारा पति बनने योग्य है। इसका मन कामोत्सव से भी अधिक रणोत्सव में आसक्त रहता है।

(इस पद्य में सखी राजा के गुण बताकर राजकुमारी को उसके इस दोष का संकेत कर रही है कि वह सदा युद्धादि में व्यस्त रहेगा।)

कोई नायिका अपराधी नायक की ओर से मिन्नतें करती सखी से कह रही है :—हे सखि, यह तो बड़ा चञ्चल व निर्दय है, उससे मुझे क्या ? इसने तो ये सारी चापलूसियाँ अपराध का संशोधन करने के लिए सीख रखी हैं।

(यहाँ नायक की चाटुकारिता के गुण को दोष के रूप में वर्णित किया गया है।)

दण्डी द्वारा उदाहृत इन श्लोकों में प्रथम श्लोक में राजा की वीरता की स्तुति है। पर चतुर सखी ने राजा के कोप को बचाने के लिए उसके दोष को गुण बनाकर वर्णित किया है। वैसे सखी का अभिप्रेत आशय यह है कि राजकुमारी यह समझ ले कि वह राजा सदा सम्भोगादि से उदासीन रहता है, अतः इस दोष से युक्त है। दूसरे श्लोक में सखियों के द्वारा अपराधी नायक से मान करने की शिक्षा दी गई नायिका अपराधी नायक से मान नहीं कर पाती किन्तु फिर भी सखियों के सामने इस बात की प्रतिज्ञा करती है कि वह मान करेगी। वैसे उसे इस बात की आशंका है कि वह मान न कर पायगी, इसलिए सखियों के हँसी मजाक से बचने की इच्छा से नायक के चाटुकारिता गुण का दोष के रूप में वर्णन करती है। प्रथम श्लोक में निन्दा के रूप में परिणत स्तुति है तथा द्वितीयश्लोक में स्तुति के रूप में परिणत निन्दा है, ऐसा समझकर इन उदाहरणों

इह व्याजस्तुतिसद्भावेऽपि न दोषः। न ह्येतावता लेशमात्रस्य व्याजस्तुत्यन्तर्भावः प्रसज्जते; तदसंकीर्णयोरपि लेशोदाहरणयोर्दर्शितत्वात्। नापि व्याजस्तुतिमात्रस्य लेशान्तर्भावः प्रसज्जते; भिन्नविषयव्याजस्तुत्युदाहरणेषु 'कस्त्वं वानर! रामराजभवने लेखार्थसंवाहकः'; 'यद्वक्त्रं मुहुरीक्षसे न धनिनां ब्रूषे न चाटून्मृषा' इत्यादिषु दोषगुणीकरणस्य गुणदोषीकरणस्य चाभावात्। तत्रान्यगुणदोषाभ्यामन्यत्र गुणदोषयोः प्रतीतेः॥

विषयैक्येऽपि—

'इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः कण्ठमूलं मुरारि-
दिङ्नागानां मदजलमषीभाञ्जि गण्डस्थलानि।
अद्याप्युर्वीवलयतिलक! श्यामलिम्नानुलिप्ता-
न्याभासन्ते वद धवलितं किं यशोभिस्त्वदीयैः॥'

इत्याद्युदाहरणेषु लेशास्पर्शनात्। अत्र हीन्दुलक्ष्मादीनां धवलीकरणाभावदोष एव गुणत्वेन न पर्यवसति, किन्तु परिसंख्यारूपेण ततोऽन्यत्सर्वं धवलितमित्यतो गुणः प्रतीयते। क्वचिद्व्याजस्तुत्युदाहरणे गुणदोषीकरणसत्त्वेऽपि स्तुतेर्विषयान्तरमपि दृश्यते।

में व्याजस्तुति अलंकार की शंका नहीं करनी चाहिए। इसका कारण यह है कि यहाँ राजा के कोप तथा सखियों की हँसी से छुटकारा तभी हो सकता है, जब कि निन्दा स्तुति का पता दूसरों को न चल पाय, अतः यहाँ लेश के द्वारा ही स्वमन्तव्य प्रकटित किया गया है वसे यहाँ व्याजस्तुति अलङ्कार भी मान लिया जाय, तो कोई हर्ज नहीं। किन्तु इससे लेश अलङ्कार का व्याजस्तुति में समावेश नहीं हो जाता, क्योंकि लेश के कई ऐसे भी उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहां व्याजस्तुति का सङ्कर नहीं पाया जाता। न व्याजस्तुति को ही लेश में समाविष्ट किया जा सकता है। क्योंकि ऐसे उदाहरणों में जहां भिन्न विषय व्याजस्तुति पाई जाती है (जहां किसी एक की निन्दा से किसी दूसरे की स्तुति या किसी एक की स्तुति से किसी दूसरे की निन्दा प्रतीत होती है), वहां गुण का दोषीकरण तथा दोष का गुणीकरण नहीं पाया जाता, जैसे 'कस्त्वं वानर रामराजभवने लेखार्थसंवाहकः' तथा 'यद्वक्त्रं मुहुरीक्षसे न धनिनां ब्रूपे न चाटून्मृषा' इन पूर्वोदाहृत पद्यों में, क्योंकि वहाँ तो किसी एक के गुणदोष से किसी दूसरे के गुणदोष की प्रतीति होती है।

कई स्थानों पर विषयैक्य होने पर भी व्याजस्तुति में लेश का स्पर्श नहीं होता, जैसे निम्न उदाहरण में—

कोई कवि निन्दा के व्याज से किसी राजा की स्तुति कर रहा है। हे राजन्, चन्द्रमा का कलङ्क, त्रिपुरविजयी शिव का कण्ठ, विष्णु का शरीर, दिग्गजों के मदजल की कालिमा वाले गण्डस्थल कालिमा से युक्त हैं, बताओ तो सही, तुम्हारे यश ने किस किस वस्तु को धवलित किया?

यहाँ चन्द्रमा का कलङ्क आदि वस्तुओं के सफेद न बनाये जाने का (धवलीकरणाभाव का) दोष गुण के रूप में पर्यवसित नहीं होता, अपि तु निषेधरूप में प्रतीत होता है,

यथा—

सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः॥

अत्र हि वाच्यया निन्दया परिसंख्यारूपेण ततोऽन्यत्सर्वमर्थिनामभिमतं दीनारादि दीयते इति स्तुत्यन्तरमपि प्रतीयते। एवं च येपूदाहरणेषु 'कस्ते शौर्यमदो योद्धुम्' इत्यादिषु गुणदोषादिषु गुणदोषीकरणादिकमेव व्याजस्तुतिरूपतयावतिष्ठते, तत्र लेशव्याजस्तुत्योः संकरोऽस्तु। इत्थमेव हि व्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसयोरपि प्राक् संकरो वर्णितः॥ १३८॥

७३ मुद्रालङ्कारः

सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः।
नितम्बगुर्वी तरुणी दृग्युग्मविपुला च सा॥ १३९॥

अत्र नायिकावर्णनपरेण 'युग्मविपुला' पदेनास्यानुष्टुभो युग्मविपुलानामत्वरूपसूच्यार्थसूचनं मुद्रा। यद्यप्यत्र ग्रंथे वृत्तनाम्नो नास्ति सूचनीयत्वं, तथाप्यस्योत्तरार्धस्य लक्ष्यलक्षणयुक्तच्छन्दःशास्त्रमध्यपातित्वेन तस्य सूचनीयत्वमस्तीति तदभिप्रायेण लक्षणं योज्यम्। एवं नवरत्नमालायां तत्तद्रत्ननामनिवेशेन

तुम्हारे यश से श्वेत है। कहीं कहीं व्याजस्तुति के उदाहरणों में भी गुण को दोष बना दिया जाता है, किन्तु इतना होने पर भी स्तुति का विषय दूसरा व्यक्ति भी देखा जाता है। जैसे—

कोई कवि किसी राजा की निन्दा के व्याज से प्रशंसा कर रहा है:—हे राजन्, पण्डित लोग झूठे ही तुम्हारी इस तरह स्तुति करते हैं कि तुम सदा सर्वद (सब वस्तु के देनेवाले) हो। पर तुम्हारे शत्रुओं ने कभी भी तुम्हारे पृष्ठ भाग को प्राप्त नहीं किया, न वैरिस्त्रियों ने तुम्हारे वक्षःस्थल को ही।

यहाँ निन्दा वाच्य है इसके द्वारा इन वस्तुओं से भिन्न अन्य सभी वस्तु को तुमने याचकों को दे दिया यह स्तुति भी व्यञ्जित होती है। इस प्रकार जिन उदाहरणों में—जैसे 'कस्ते शौर्यमदो योद्धुं' इत्यादि में—गुणदोषादि के केवल गुणदोषीकरणादि की व्याजस्तुति है, वहाँ लेश तथा व्याजस्तुति का सङ्कर हो सकता है। इसी तरह व्याजस्तुति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा का भी सङ्कर होता है जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

७३. मुद्रा अलङ्कार

१३९—प्रकृत विषय के अर्थ से सम्बद्ध पदों के द्वारा जहाँ सूचनीय अर्थ की सूचना दी जाय, वहाँ मुद्रा अलङ्कार होता है। जैसे, वह नायिका नितम्बभाग में गुरु तथा नेत्रद्वय में विशाल है। (उस तरुणी नायिका के नितम्ब भारी तथा नेत्र कर्णान्तायत हैं।)

यहाँ नायिका के लिए 'दृग्युग्मविपुला' विशेषण का प्रयोग किया गया है। इस पद में 'युग्मविपुला' पद अनुष्टुप् छन्द के युग्मविपुला नामक भेद के सूच्य अर्थ की भी सूचना कर रहा है, अतः मुद्रा अलङ्कार है। यद्यपि इस अलङ्कारग्रन्थ (कारिका भाग) में छन्द के नाम की सूचना का ऐसा कोई संकेत नहीं है, तथापि इसके उत्तरार्ध के छन्द-

तत्तन्नामकजातिसूचनम्। नक्षत्रमालायामग्न्यादिदेवतानामभिर्नक्षत्रसूचनमित्यादावयमेवालङ्कारः। एवं नाटकेषु वक्ष्यमाणार्थसूचनेष्वपि ॥ १३९ ॥

७४ रत्नावल्यलङ्कारः

क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावलीं विदुः।
चतुरास्यः पतिर्लक्ष्म्याः सर्वज्ञस्त्वं महीपते! ॥ १४० ॥

अत्र चतुरास्यादिपदैर्वर्णनीयस्य राज्ञो ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मता प्रतीयत इति प्रसिद्धसहपाठानां ब्रह्मादीनां क्रमेण निवेशनं रत्नावली।

यथा वा,—

रत्यात्तप्रियलाञ्छने कठिनतावासे रसालिङ्गिते
प्रह्लादैकरसे क्रमादुपचिते भूभृद्गुरुत्वापहे।
कोकस्पर्धिनि भोगभाजि जनितानङ्गे खलीनोन्मुखे
भाति श्रीरमणावतारदशकं बाले! भवत्याः स्तने ॥

लक्षणयुक्त छन्दःशास्त्र के विषय होने के कारण उसकी सूचनीयता है ही, इस प्रकार लक्षण को तदनुसार माना जा सकता है। इसी प्रकार भगवत्स्तुतिपरक नौ पद्यों के संग्रह (नवरत्नमाला) में तत्तत् रत्नों के नाम का निर्देश करने से तत्तत् रत्नजाति की सूचना में भी मुद्रा अलङ्कार होगा। ऐसे ही नक्षत्रमाला (भगवत्स्तुतिपरक २७ पद्यों के संग्रह) में, अग्नि आदि देवताओं के नाम का निर्देश करने से तत्तत् अश्विनी आदि नक्षत्रों की सूचना में भी यही अलंकार होगा। इसी तरह नाटक में भी जहाँ भविष्य में वर्णनीय (वक्ष्यमाण) अर्थ की सूचना दी जाय, मुद्रा अलंकार ही होता है।

टिप्पणी—नाटकसम्बन्धी मुद्रा अलंकार का उदाहरण चन्द्रिकाकार ने अनर्घराघव के प्रस्तावनाभाग की सूत्रधार की निम्न उक्ति दी है, जहाँ वक्ष्यमाण रामरावणवृत्तान्त की सूचना पाई जाती है :—

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥

७४. रत्नावली अलङ्कार

१४०—जहाँ प्रकृत अर्थों को प्रसिद्ध क्रम के आधार पर ही रखा जाय, वहाँ रत्नावली अलङ्कार माना जाता है। जैसे, हे राजन्, तुम चतुर व्यक्तियों में श्रेष्ठ (चार मुँह वाले) ब्रह्मा, लक्ष्मी के पति विष्णु, तथा सर्वज्ञ महादेव हो।

यहाँ चतुरास्य आदि पदों के द्वारा प्रकृत राजा को ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव रूप बताया गया है। यहाँ ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव का प्रयोग प्रसिद्धक्रम के अनुसार किया गया है, अतः यह रत्नावली अलङ्कार है। इसी का उदाहरण निम्न है :—

कोई रसिक कवि किसी नायिका के स्तनों की प्रशंसा करता कह रहा है। हे बाले, तेरे स्तनों पर लक्ष्मी के रमण (विष्णु) के दसों अवतार सुशोभित हो रहे हैं। (व्यंग्य है, तेरे स्तन शोभा (लक्ष्मी) के निवासस्थान हैं।) तुम्हारे स्तन सुरत के समय प्रिय के द्वारा दत्त नखक्षतादि चिह्नों को धारण करते हैं, (रति के प्रिय कामदेव के लाञ्छन मत्स्य रूप हैं, मत्स्यावतार) वे कठिनता के निवासभूत अर्थात् कठोर हैं (कठिनता के

यथा वा,—

लीलाब्जानां नयनयुगलद्राघिमा दत्तपत्रः
कुम्भावेतौ कुचपरिकरः पूर्वपक्षीचकार।
भ्रूविभ्रान्तिर्मदनधनुषो विभ्रमानन्ववादी-
द्वक्त्रज्योत्स्ना शशधररुचं दूषयामास यस्याः॥

अत्र पत्रदानपूर्वपक्षोपन्यासानुवाददूषणोद्भावनानि बुधजनप्रसिद्धक्रमेण न्यस्तानि। प्रसिद्धसहपाठानां प्रसिद्धक्रमानुसरणेऽप्येवमेवालंकारः।

यथा वा,—

'यस्य वह्निमयो हृदयेषु, जलमयो लोचनपुटेषु, मारुतमयः श्वसितेषु, क्षमा-

---

आवासभूत कच्छप हैं, कच्छपावतार), रस से युक्त हैं (रसा–पृथिवी–के द्वारा आलिङ्गित है, वराहावतार), आनन्दरूपी एकमात्र रस वाले हैं (प्रह्लाद के प्रति प्रीति वाले हैं, नृसिंहावतार), धीरे धीरे बदरामलकादिपरिणामलाभ से बढ़े हैं (क्रम–चरणविक्षेप–के द्वारा बढ़े हैं, वामनावतार), पर्वत की गुरुता को चुनौती देने वाले हैं (राजाओं के गौरव का नाश करने वाले हैं, परशुरामावतार), चक्रवाक के समान हैं (सीतावियोग के कारण आतुर होकर चक्रवाक से स्पर्धा करने वाले—चक्रवाक को शाप देने वाले हैं, रामावतार), सुख के धारण करने वाले, सुखदायक हैं (भोग (फणों) को धारण करने वाले हैं, शेषावतार बलभद्र); कामोद्दीप्ति करने वाले हैं, (शरीर के विरुद्ध (अनङ्ग) मौन भोगत्याग समाधि आदि का आचरण करने वाले हैं, बुद्धावतार); तथा इन्द्रियों (ख) में आसक्त तथा उन्मुख (उच्चूचुक) हैं (अश्व की वल्गा के प्रति उन्मुख हैं, कल्कि-अवतार)।

(यहाँ दसों अवतारों का वर्णन प्रसिद्धक्रम से किया गया है।)

टिप्पणी—स्तनों को चक्रवाकयुगल की उपमा दी जाती है।

प्रसिद्धक्रम के लिए यह पद्य देखिये :—

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं दलते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥

अथवा जसे—

कोई कवि नायिका के तत्तदङ्गों के उपमानों की भर्त्सना करता कह रहा है। इस सुन्दरी के नेत्रद्वय की दीर्घता ने लीलाकमलों को पत्रदान दे दिया है, विस्तृत कुचयुगल ने हाथी के दोनों गण्डस्थलों को पूर्वपक्ष बना दिया है, भौंहों के विलास ने कामदेव के धनुष की लीलाओं का अनुवाद कर दिया है, तथा मुखकान्ति ने चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को दूषित कर दिया है।

यहाँ पत्रदान, पूर्वपक्ष, अनुवाद, दूषणोद्भावन आदि का उसी क्रम से वर्णन किया गया है, जिस क्रम से वे पण्डितों में प्रसिद्ध हैं, अतः यहाँ भी रत्नावली अलङ्कार है। प्रसिद्ध सहपाठ (जिनका एक साथ वर्णन होता है) अर्थों के प्रसिद्धक्रम के अनुसार वर्णन करने पर भी यही अलङ्कार होता है। जैसे निम्न गद्यांश में—

जिस [illegible] के रूप में

मयोऽङ्गेषु, आकाशमयः स्वान्तेषु, पञ्चमहाभूतमयो मूर्त इवादृश्यत निहतप्रतिसामन्तान्तःपुरेषु प्रतापः ।'

एवमष्टलोकपालनवग्रहादीनां प्रसिद्धसहपाठानां यथाकथंचित्प्रकृतोपमानोपरञ्जकतादिप्रकारेण निवेशने रत्नावल्यलंकारः। प्रकृतान्वयं विना क्रमिकतत्तन्नाम्ना श्लेषभङ्ग्या निवेशने क्रमप्रसिद्धरहितानां प्रसिद्धसहपाठानां नवरत्नादीनां निवेशनेऽप्ययमेवालंकारः ॥ १४० ॥

७५ तद्गुणालङ्कारः

तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः ।
पद्मरागायते नासामौक्तिकं तेऽधरत्विषा ॥ १४१ ॥

यथा वा,—

वीर ! त्वद्रिपुरमणी परिधातुं पल्लवानि संस्पृश्य ।
न हरति वनभुवि निजकररुहरुचिखचितानि पाण्डुपत्रधिया ॥ १४१ ॥

मूर्त दिखाई पड़ता था। वह शत्रु नारियों के हृदय में अग्निमय था, उनके नेत्रपुटों में जलमय (अश्रुमय) था, श्वासों में वायुमय था, अङ्गों में पृथ्वीमय (क्षमामय) (समस्त पीडा को सहने की क्षमता होने के कारण) था, तथा अन्तःकरण में आकाशमय था (शत्रुनारियों का अन्तःकरण शून्य था)।

इस प्रकार अष्ट लोकपाल, नवग्रह आदि प्रसिद्ध सहपाठ वस्तुओं का जहाँ प्रकृत के उपमान या उपरञ्जक के रूप में वर्णन किया जाय, वहाँ रत्नावली अलंकार होता है। प्रकृत से सम्बद्ध न होने पर भी जहाँ उन उन सहपाठ नवग्रहादि वस्तुओं का श्लेषभङ्गी से प्रयोग किया जाय, वहाँ प्रसिद्धक्रम के न होने पर भी यही अलङ्कार होता है।

७५. तद्गुण अलङ्कार

७५—जहाँ एक पदार्थ अपने गुण को छोड़ कर अन्य गुण को ग्रहण कर ले, वहाँ तद्गुण अलङ्कार होता है। जैसे, हे सुन्दरि, तेरे नाक का मोती ओठ की कान्ति से पद्मराग मणि हो जाता है।

(यहाँ सफेद मोती अपने गुण 'श्वेतिमा' को छोड़कर ओठ की 'ललाई' को ग्रहण कर लेता है, अतः तद्गुण अलङ्कार है।)

टिप्पणी—आलंकारिकों ने अपने गुण को छोड़कर अपने से उत्कृष्ट समीपवर्ती वस्तु के गुण ग्रहण को तद्गुण माना है। दीक्षित ने इसका पूरा संकेत नहीं किया है। पण्डितराज की परिभाषा यों है:—स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसंनिहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः। (रसगङ्गाधर पृ० ६९२) विश्वनाथ ने उत्कृष्ट वस्तु का संकेत किया है:—तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः। मम्मट ने भी 'अत्युज्ज्वलगुणस्य' कहा है।

इसका दूसरा उदाहरण यह है :—

कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा कर रहा है।

हे वीर, वन में विचरण करती तुम्हारी शत्रुरमणियाँ पहनने के लिए पल्लवों को हाथों से छूती हैं, किन्तु अपने नाखूनों की श्वेत कान्ति से पीले पड़े पल्लवों को पके पत्ते समझ कर तोड़ती नहीं हैं।

७६ पूर्वरूपालङ्कारः

पुनः स्वगुणसंप्राप्तिः पूर्वरूपमुदाहृतम् ।
हरकण्ठांशुलिप्तोऽपि शेषस्त्वद्यशसा सितः ॥ १४२ ॥

यथा वा,—

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ॥
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥

अयमेव तद्गुण इति केचिद्व्यवजह्रुः ॥ १४२ ॥

पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि ।
दीपे निर्वापितेऽप्यासीत् काञ्चीरत्नैर्महन्महः ॥ १४३ ॥

यहाँ पेड़ के हरे पत्ते राज-शत्रुरमणियों के नाखूनों की श्वेत कान्ति का (उत्कृष्ट गुण) ग्रहण कर लेते हैं तथा अपने गुण हरेपन को छोड़ देते हैं, अतः तद्गुण अलङ्कार है ।

७६. पूर्वरूप अलङ्कार

१४२—जहाँ कोई पदार्थ एकबार अपने गुण को छोड़ कर पुनः अपने गुण को प्राप्त कर ले, वहाँ पूर्वरूप अलङ्कार होता है । जैसे, (कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा करते कह रहा है) हे राजन्, शेष महादेव के कण्ठ की नील कान्ति से नीला होने पर भी तुम्हारे यश के कारण पुनः सफेद हो गया है ।

इसी का दूसरा उदाहरण यह है :—

इस रैवतक पर्वत पर जाज्वल्यमान बाँस तथा करीर के समान हरे रङ्ग के रत्न अपनी प्रसरण शील कान्ति से उन सूर्य के घोड़ों को पुनः अपनी कान्ति से युक्त बना देते हैं, जो गरुड के बड़े भाई अरुण की कान्ति से मिश्रित रङ्ग वाले बना दिये गये हैं ।

सूर्य के घोड़े स्वभावतः हरे हैं, वे अरुण की कान्ति से लाल हो जाते हैं, किन्तु रैवतक पर्वत पर जाज्वल्यमान हरिन्मणियों की कान्ति को ग्रहण कर पुनः हरे होकर पूर्वरूप को प्राप्त करते हैं, यह पूर्वरूप अलङ्कार है ।

कुछ आलङ्कारिक इसी अलङ्कार को तद्गुण मानते हैं ।

टिप्पणी—मम्मटाचार्य ने पूर्वरूप को अलग से अलंकार नहीं माना है । वे यहाँ तद्गुण ही मानते हैं । 'विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन' इत्यादि पद्य में वे तद्गुण ही मानते हैं । रुय्यक का भी यही मत है । (दे० अलंकारसर्वस्व पृ० २१४)

पण्डितराज ने इसे तद्गुण ही माना है । वे बताते हैं कि कुछ लोग इसके एक भेद को पूर्वरूप मानते हैं—इमं केचित् पूर्वरूपमामनन्ति । पण्डितराज ने तद्गुण का जो दूसरा उदाहरण दिया है, वह अप्पयदीक्षित के मतानुसार पूर्वरूप का उदाहरण होगा ।

अधरेण समागमाद्रदानामरुणिम्ना पिहितोऽपि शुद्धभावः ।
हसितेन सितेन पक्ष्मलाक्ष्याः पुनरुल्लासमवाप जातपक्षः ॥

(रसगङ्गाधर पृ० ६९२)

१४३—किसी वस्तु के विकृत हो जाने पर भी जहाँ पूर्वावस्था की अनुवृत्ति हो, वहाँ भी पूर्वरूप अलङ्कार होता है । जैसे, (रति के समय) दीपक के बुझा देने पर भी नायिका की करधनी के रत्नों के कारण महान् प्रकाश बना रहा ।

लक्षणे चकारात् पूर्वरूपमिति लक्ष्यवाचकपदानुवृत्तिः ।

यथा वा,—

द्वारं खड्गिभिरावृतं बहिरपि प्रस्विन्नगण्डैर्गजै-
रन्तः कञ्चुकिभिः स्फुरन्मणिधरैरध्यासिता भूमयः ।
आक्रान्तं महिषीभिरेव शयनं त्वद्विद्विषां मन्दिरे
राजन् ! सैव चिरंतनप्रणयिनी शून्येऽपि राज्यस्थितिः ॥१४३॥

७७ अतद्गुणालङ्कारः

संगतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम् ।
चिरं रागिणि मच्चित्ते निहितोऽपि न रञ्जसि ॥ १४४ ॥

यथा वा—

गण्डाभोगे विहरति मदैः पिच्छिलले दिग्गजानां
वैरिस्त्रीणां नयनकमलेष्वञ्जनानि प्रमार्ष्टि ।

दूसरे प्रकार के पूर्वरूपालंकार के लक्षण में चकारोपादान के द्वारा प्रथम पूर्वरूपालंकार के लक्षण से 'पूर्वरूप' इस लक्ष्यवाचक पद की अनुवृत्ति जानना चाहिये ।

इसी का दूसरा उदाहरण यह है :—

कोई कवि किसी राजा की वीरता की प्रशंसा करता कह रहा है । हे राजन्, तुम्हारे शत्रुओं के हमलों के शून्य होने पर भी वैसी ही राज्य की मर्यादा दिखाई पड़ती है। उनके दरवाजों पर अब भी खड्गी (खड्गधारी द्वारपाल, गैंडे पशु) खड़े रहते हैं, उनके बाहर अब भी मदजलसिक्त हाथी झूमते हैं, उनके अन्तःपुर में अब भी कञ्चुकी मणिधर (मणियों को धारण करने वाले कञ्चुकी, केंचुली वाले साँप) मौजूद हैं, अब भी वहाँ की शय्याएँ महिषियों (रानियों, भैंसों) के द्वारा आक्रान्त हैं ।

(यहाँ श्लेष के द्वारा शत्रुराजाओं के महलों की पूर्वावस्थानुवृत्ति वर्णित की गई है। इसमें अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार भी है, जहाँ शत्रुराजाओं के मन्दिरों की दुर्दशा रूप कार्य के वर्णन के द्वारा स्तोतव्य राजा की वीरता रूप कारण की संस्तुति व्यञ्जित की गई है ।)

७७. अतद्गुण

१४४—जहाँ कोई पदार्थ अपने से सम्बद्ध अन्य वस्तु के गुण को ग्रहण न करे, वहाँ अतद्गुण अलङ्कार होता है, जैसे (कोई नायिका नायक का अनुनय करती कह रही है) तुम बहुत समय से मेरे रागी (अनुराग से युक्त, ललाई से युक्त) चित्त में रहने पर भी प्रसन्न (अनुरक्त) नहीं होते ।

(यहाँ रागी चित्त में रहने पर भी रागवान् न होना, सम्बद्ध वस्तु के गुण का अनङ्गीकार है, अतः यह अतद्गुण का उदाहरण है ।)

अतद्गुण का अन्य उदाहरण निम्न है :—

कोई कवि आश्रयदाता राजा की प्रशंसा कर रहा है ।

टिप्पणी—यह पद्य एकावलीकार विद्यानाथ की रचना है ।

हे नृसिंहराज, यद्यपि आपकी कीर्ति दिग्गजों के मदजल से पङ्किल गण्डस्थल पर विहार करती है तथा शत्रुराजाओं की स्त्रियों के नेत्ररूपी कमलों में काजल को पोंछती है,

यद्यप्येषा हिमकरकराद्वैतसौवस्तिकी ते
कीर्तिर्दिक्षु स्फुरति तदपि श्रीनृसिंहक्षितीन्द्र ! ॥

ननु चान्यगुणेनान्यत्रगुणोदयानुदयरूपाभ्यामुल्लासावज्ञालंकाराभ्यां तद्गुणातद्गुणयोः को भेदः ? उच्यते,—उल्लासावज्ञालक्षणयोर्गुणशब्दो दोषप्रतिपक्षवाची। अन्यगुणेनान्यत्र गुणोदयतदनुदयौ च न तस्यैव गुणस्य संक्रमणासंक्रमणे, किन्तु सद्गुरूपदेशेन सदसच्छिष्ययोर्ज्ञानोत्पत्त्यनुत्पत्तिवत्तद्गुणजन्यत्वेन संभावितयोर्गुणान्तरयोरुत्पत्त्यनुत्पत्ती। तद्गुणातद्गुणयोः पुनर्गुणशब्दो रूपरसगन्धादिगुणवाची। तत्रान्यदीयगुणग्रहणाग्रहणे च रक्तस्फटिकवस्त्रमालिन्यादिन्यायेनान्यदीयगुणेनैवानुरञ्जनाननुरञ्जने विवक्षिते। तथैव चोदाहरणानि दर्शितानि। यद्यप्यवज्ञालंकृतिरतद्गुणश्च विशेषोक्तिविशेषावेव; 'कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे' इति तत्सामान्यलक्षणाक्रान्तत्वात्। तथाप्युल्लासतद्गुणप्रतिद्वन्द्विना विशेषालंकारेणालंकारान्तरतया परिगणितावितिध्येयम् ॥१४४॥

तथापि चन्द्रमा की किरणों के अद्वैत की सौवस्तिकी ('स्वस्ति' पूछने वाली, कुशल पूछने वाली) बनकर (चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल बनकर) दिशाओं में भी प्रकाशित हो रही है।

(यहाँ राजकीर्ति दिग्गजों के मदमलिन गण्डस्थल तथा अरिरमणियों के नयनकज्जल से सम्बद्ध होने पर भी उनके गुण का ग्रहण नहीं करती, अतः यहाँ अतद्गुण अलङ्कार है।)

तद्गुण तथा अतद्गुण का उल्लास एवं अवज्ञा से क्या भेद है, इस संबंध में पूर्वपक्षी प्रश्न करता है:—उल्लास अलङ्कार में एक पदार्थ के गुण से दूसरे पदार्थ का गुणोदय होता है, अवज्ञा में एक पदार्थ के गुण से दूसरे पदार्थ का गुणानुदय होता है, तो ऐसी स्थिति में तद्गुण तथा अतद्गुण का इन अलंकारों से क्या भेद है ? इसी का उत्तर देते हुए सिद्धांतपक्षी बताता है:—उल्लास तथा अवज्ञा अलङ्कारों के लक्षण में जिस गुण शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका अर्थ है 'दोष का विरोधी भाव'। किसी एक वस्तु के गुण का अन्य वस्तु में उदय या अनुदय होना ठीक उसी गुण का संक्रमण या असंक्रमण नहीं है, किन्तु जिस प्रकार सद्गुरु के उपदेश से अच्छे शिष्य में ज्ञानोदय होता है, तथा असत् शिष्य में ज्ञानोदय नहीं होता, उसी प्रकार एक वस्तु के गुण के कारण किसी एक वस्तु में गुण के उदय की संभावना हो जाती है (जैसा कि उल्लास अलङ्कार में पाया जाता है) जब कि अन्य वस्तु में गुण का उदय नहीं होता (जैसा कि अवज्ञा अलङ्कार में होता है)। इस प्रकार उल्लास तथा अवज्ञा में गुण शब्द दोष का प्रतिपक्षी है। तद्गुण तथा अतद्गुण अलङ्कार में गुण शब्द का प्रयोग रूप, रस, गन्ध आदि गुणों का वाचक है। इन अलङ्कारोंके लक्षण में अन्य वस्तुके गुण के ग्रहण या अग्रहण का तात्पर्य है, अन्य वस्तु के गुण से अनुरंजित होना या न होना, जैसे स्फटिकमणि किसी लाल वस्तु के रंग का ग्रहण कर लेती है, तथा कोई वस्त्र किसी मैले कुचैले वस्त्र की मलिनता को उसके सम्पर्क मात्र से ग्रहण नहीं कर लेता। तद्गुण तथा अतद्गुण के उदाहरण भी इसी तरह के दिये गये हैं। वैसे अवज्ञा तथा अतद्गुण अलङ्कार तो विशेषोक्ति अलङ्कार के ही भेद हैं, क्योंकि विशेषोक्ति का सामान्य लक्षण इनमें घटित होता है:—'यथेष्ट कारण के होने पर भी जहाँ कार्य न हो वहाँ विशेषोक्ति

७८ अनुगुणालङ्कारः

प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसंनिधेः ।
नीलोत्पलानि दधते कटाक्षैरतिनीलताम् ॥ १४५ ॥

यथा—

कपिरपि च कापिशायनमदमत्तो वृश्चिकेण संदष्टः ।
अपि च पिशाचग्रस्तः किं ब्रूमो वैकृतं तस्य ॥

अत्र कपित्वजात्या स्वतः सिद्धस्य वैकृतस्य मद्यसेवादिभिरुत्कर्षः ॥१४५॥

७९ मीलितालङ्कारः

मीलितं यदि सादृश्याद्भेद एव न लक्ष्यते ।
रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजारुणे ॥ १४६ ॥

अलङ्कार होता है'। इस प्रकार यद्यपि ये दोनों अलङ्कार विशेषोक्ति में ही अंतर्भावित हो जाते हैं, तथापि उल्लास तथा तद्गुण के विरोधी होने के कारण, किसी विशेष अलङ्कार के विरोधी होने के कारण इन्हें अलग से अलङ्कार माना गया है।

टिप्पणी—पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उन विद्वानों का मत दिया है, जो इसे विशेषोक्ति में ही अन्तर्भूत मानते हैः—

अन्ये तु—'सति गुणग्रहणहेतावुत्कृष्टगुणसंनिधाने तद्गुणरूपकार्याभावात्मकोऽयमतद्गुणो विशेषोक्तेरवान्तरभेदः, नत्वलङ्कारान्तरम्। कार्यकारणभावो नात्र विवक्षितः। किं तु संनिधानेऽपि ग्रहणाभाव इत्येतावन्मात्रम्। अतो विशेषोक्तेस्तद्गुणो भिन्न इति तु न युक्तम्। संनिधानेऽपीत्यपिना विरोधोऽपि विवक्षित इति गम्यते। अन्यथा जीवातोरभावादलङ्कारतैव न स्यात्। स च कार्यकारणभावाविवक्षणे न भवतीति कथमुच्यते न विवक्षित इति' इत्यप्याहुः। (रसगंगाधर पृ० ६९३-९४)

७८. अनुगुण अलङ्कार

१४५—जहाँ कोई वस्तु अन्य वस्तु की संनिधि के कारण अपने पूर्वसिद्ध गुण का अधिक उत्कर्ष धारण करे, वहाँ अनुगुण अलङ्कार होता है। जैसे कोई कवि किसी नायिका के कर्णावतंसीकृत नीलकमलों की शोभा का वर्णन करते कह रहा है, उस नायिका के कटाक्षों के कारण नीलकमल और अधिक नीलिमा धारण करते हैं।

(यहाँ नीलकमल कटाक्षों के सम्पर्क से पूर्वसिद्ध नीलिमा को और अधिक धारण करते हैं, अतः उनके गुण का उत्कर्ष विवक्षित है। यहाँ अनुगुण अलङ्कार है।)

जैसे—कोई बन्दर मदिरा के मद में मस्त हो, फिर उसे बिच्छू काट ले और उस पर पिशाच लगा हो, ऐसे बन्दर की बुरी हालत को कैसे कहा जा सकता है।

कपि स्वयं चंचल होता है, वह चंचलता मद्यसेवन आदि से और बढ़ जाती है। इस प्रकार यहाँ कपि के गुण का तत्तत् वस्तु के सम्पर्क के कारण उत्कर्ष विवक्षित है।

७९. मीलित अलङ्कार

१४६—जहाँ दो वस्तुएँ इतनी सदृश हों कि उनके परस्पर संश्लिष्ट होने पर सादृश्य के कारण उन का भेद परिलक्षित न हो, वहाँ मीलित अलङ्कार होता है, जैसे उस नायिका के नैसर्गिक अरुणिमा से युक्त चरण में लाक्षारस का पता ही नहीं चलता।

यथा वा—

मल्लिकामाल्यभारिण्यः सर्वाङ्गीणार्द्रचन्दनाः ।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः ॥

अत्राद्ये चरणालक्तकरसयोररुणिमगुणसाम्याद्भेदानध्यवसायः । द्वितीयोदाहरणे चन्द्रिकाभिसारिकाणां धवलिमगुणसाम्याद्भेदानध्यवसायः ॥ १४६ ॥

८० सामान्यालङ्कारः

सामान्यं यदि सादृश्याद्विशेषो नोपलक्ष्यते ।
पद्माकरप्रविष्टानां मुखं नालक्षि सुभ्रुवाम् ॥ १४७ ॥

यथा वा—

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिबिम्बशतैर्वृतः ।
लङ्केश्वरः सभामध्ये न ज्ञातो वालिसूनुना ॥

(यहाँ लाचारस तथा चरण की अरुणिमा सदृश होने के कारण परस्पर इतनी संश्लिष्ट हो गई है कि उनका भेद लक्षित नहीं होता ।)

अथवा जैसे—

मल्लिका की माला धारण किये समस्त अंगों में चन्दन लगाये, श्वेत रेशमी वस्त्र पहने प्रिय के पास जाती अभिसारिकाएँ चन्द्रिका में परिलक्षित नहीं हो पातीं ।

प्रथम उदाहरण में चरण तथा लाचारस दोनों के समानरूप से लाल होने के कारण (दोनों के अरुणिमा गुण के साम्य के कारण) उनका भेद लुप्त हो गया है । द्वितीय उदाहरण में चन्द्रिका तथा अभिसारिकाओं में समान श्वेत गुण पाया जाता है, अतः उनका परस्पर भेद लुप्त हो गया है ।

टिप्पणी—पण्डितराज ने इसका उदाहरण यह दिया है, जहाँ नायिका के मुख की सुरभि तथा ओठों की ललाई के कारण तांबूल की सुरभि व राग परिलक्षित नहीं होते ।

सरसिरुहोदरसुरभावधरितबिंबाधरे मृगाक्षि तव ।
वद वदने मणिरदने ताम्बूलं केन लक्षयेम वयम् ॥

८०. सामान्य अलंकार

१४६—जहाँ अनेक वस्तुएँ अत्यधिक सदृश हों तथा उनके सादृश्य के कारण किसी विशेष वस्तु का व्यक्तिभान होने पर भी विशेष भान न हो सके, वहाँ सामान्य अलङ्कार होता है । जैसे, तालाब में नहाने के लिए धँसी हुई नायिकाओं के मुख, कमलों में मिल जाने के कारण दिखाई नहीं पड़ते थे ।

(यहाँ कमलों के सादृश्य के कारण सुभ्रुमुख का विशेष भान नहीं हो पाता, अतः सामान्य अलङ्कार है ।)

अथवा जैसे—

वालिपुत्र अंगद सभा में बैठे वास्तविक लंकेश्वर को इसलिए न पहचान पाया कि वह रत्नस्तम्भों में प्रतिबिंबित सैकड़ों प्रतिबिंबों से युक्त था । इसलिए अंगद बिंब तथा प्रतिबिंब का भेद न कर पाया ।

मीलितालंकारे एकेनापरस्य भिन्नस्वरूपानवभासरूपं मीलनं क्रियते, सामान्यालंकारे तु भिन्नस्वरूपावभासेऽपि व्यावर्तनविशेषो नोपलक्ष्यत इति भेदः। मीलितोदाहरणे हि सहजारुण्याच्चरणादेर्वस्त्वन्तरत्वेनागन्तुकं यावकारुण्यं न भासते। सामान्योदाहरणे तु पद्मानां मुखानां च व्यक्त्यन्तरतया भानमस्त्येव। यथा रावणदेहस्य तत्प्रतिबिम्बानां च, किंत्विदं पद्ममिदं मुखमयं बिम्बोऽयं प्रतिबिम्ब इति विशेषः परं नोपलक्ष्यते। अत एव भेदतिरोधानान्मीलितं, तदतिरोधानेऽपि साम्येन व्यावर्तकानवभासे सामान्यम्, इत्युभयोरप्यन्वर्थता। केचित्तु वस्तुद्वयस्य लक्षणसाम्यात्तयोः केनचिद्बलीयसा तदन्यस्य स्वरूपतिरोधाने मीलितं, स्वरूपप्रतीतावपि गुणसाम्याद्भेदतिरोधाने सामान्यम्।

एवं च—

> अपाङ्गतरले दृशौ तरलवक्रवर्णा गिरो
> विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम्।
> इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशां स्वतो लीलया
> तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते॥

इस संबन्ध में मीलित तथा सामान्य के भेद का निर्देश करना आवश्यक हो जाता है। मीलित अलङ्कार में एक वस्तु दूसरी वस्तु से इतनी घुलमिल जाती है कि उनके भिन्न स्वरूप का आभास भी लुप्त हो जाता है। सामान्यालङ्कार में ठीक यही बात नहीं होती, यहाँ दो या अनेक वस्तुओं के भिन्न स्वरूप का आभास होता है (वह लुप्त नहीं होता,) किंतु उनको एक दूसरे भिन्न सिद्ध करने वाला व्यावर्तक धर्म परिलक्षित नहीं होता। इस भेद को और अधिक स्पष्ट करने के लिए दोनों के उदाहरणों में क्या अन्तर है, इसे बताते हैं। मीलित के उदाहरण में हम देखते हैं कि चरणादि की स्वाभाविक अरुणिमा के कारण अन्य वस्तु के रूप में आगन्तुक महावर की अरुणिमा परिलक्षित नहीं होती, अतः यहाँ भिन्न स्वरूप का आभास नहीं होता। सामान्य के उदाहरण में कमल तथा मुख का अलग अलग व्यक्ति के रूप भिन्न स्वरूप का आभास तो होता ही है, जैसे रावण के देह तथा उसके प्रतिबिंबों का अलग अलग व्यक्ति भान होता ही है, किंतु यह कमल है, यह मुख है, यह रावण का देह (बिंब) है, यह प्रतिबिंब है, इस प्रकार विशेष भान नहीं होता। इसलिए जहाँ दो वस्तुओं के सादृश्य के कारण उनके सम्बद्ध होने पर-उनका भेद छिप जाय वहाँ मीलित होता है। जहाँ यह भेद न छिपे, किन्तु साम्य के कारण उनको अलग अलग करने वाला व्यावर्तक धर्म परिलक्षित न हो, वहाँ सामान्य होता है, इस प्रकार दोनों का नामकरण भी सार्थक तथा अपने लक्षण के अनुकूल है। कुछ लोगों के मतानुसार मीलित तथा सामान्य में यह भेद है कि जहाँ दो वस्तुओं में समान लक्षण होने से उन में कोई बलवान् वस्तु निर्बल वस्तु के स्वरूप को तिरोहित कर दे, वहाँ मीलित अलङ्कार होता है, तथा जहाँ दो वस्तुओं की स्वरूपप्रतीति तो हो, किंतु गुणसाम्य के कारण उनका भेद तिरोहित हो जाय, वहाँ सामान्य अलङ्कार होता है। इस मत के मानने पर निम्न पद्य में मीलित अलङ्कार होगा।

'जब इस मृगनयनी के अंगप्रत्यंग में स्वयं ही लीला का स्फुरण हो रहा है, क्योंकि इस की आँखें अत्यधिक चंचल हैं, बोली मीठी तथा वक्रिमायुक्त है, गति विलास के भार

इत्यत्र मीलितालंकारः। अत्र हि दृक्तारल्यादीनां नारीवपुषः सहजधर्मत्वान्मदोदयकार्यत्वाच्च तदुभयसाधारण्यादुत्कृष्टतारल्यादियोगिना वपुषा मदोदयस्य स्वरूपमेव तिरोधीयते। लिङ्गसाधारण्येन तज्ज्ञानोपायाभावात्। 'मल्लिकामालभारिण्यः' इत्यादिषु तु सामान्यालङ्कार इत्याहुः। तन्मते 'पद्माकरप्रविष्टानां' इत्यादौ भेदाध्यवसायेऽपि व्यावर्तकास्फुरणेनालङ्कारान्तरेण भाव्यं, सामान्यालङ्कारावान्तरभेदेन वा। पूर्वस्मिन्मते स्वरूपतिरोधानेऽलङ्कारान्तरेण भाव्यं मीलितावान्तरभेदेन वा॥ १४७॥

से मन्थर है तथा मुख मनोहर लग रहा है, तब भला मदपान की स्थिति का पता ही कैसे लग सकता है।

यहाँ स्त्रियों के शरीर में नेत्रचाञ्चल्यादि की स्थिति उसका सहज धर्म है, और उनमें मद का सञ्चार करने वाली है, इन दोनों समान गुणों के कारण रमणी के तारल्यादि से युक्त अङ्गों के द्वारा मदपान का प्रभाव स्वतः तिरोहित हो जाता है। क्योंकि समानधर्म (लिंग) के होने कारण मदोदय के ज्ञान का कोई उपाय नहीं है। 'अपाङ्गतरले दृशौ' इत्यादि में मीलित अलङ्कार मानने वाले आलङ्कारिक (मम्मटादि) अप्पयदीक्षित के द्वारा मीलित के प्रसङ्ग में उदाहृत 'मल्लिकामालधारिण्यः' पद्य में सामान्य अलङ्कार मानेंगे। उनके मत से 'पद्माकरप्रविष्टानां' इत्यादि उदाहरण में भेद के लुप्त होने पर भी कोई व्यावर्तक धर्म का पता नहीं चलता, अतः यह सामान्य से भिन्न कोई दूसरा अलङ्कार है, अथवा यह सामान्य का ही दूसरा भेद है। कारिका वाला (चन्द्रालोककार जयदेव तथा अप्पय दीक्षित को भी अभीष्ट) पूर्व मत इससे भिन्न है, इनके मत में 'अपाङ्गतरले दृशौ' वाले उदाहरण में 'मीलितं यदि सादृश्यात्' वाली परिभाषा ठीक नहीं बैठती, अतः वहाँ या तो मीलित से भिन्न कोई दूसरा अलङ्कार होगा, या फिर वहाँ मीलित का दूसरा भेद मानना होगा।

भाव यह है, मीलित तथा सामान्य के विषय में आलङ्कारिकों के दो दल हैं। कुछ आलङ्कारिक (मम्मटादि) 'अपाङ्गतरले' आदि पद्य में मीलित अलङ्कार मानते हैं, 'मल्लिकामालधारिण्यः' में सामान्य; दूसरे अलङ्कारिक (जयदेवादि) 'अपाङ्गतरले' आदि में सामान्य मानते हैं, 'मल्लिकामालधारिण्यः' में मीलित।

टिप्पणी—इन दोनों मतों का स्पष्ट भेद यह है कि प्रथम मतानुयायी जहाँ दो वस्तुओं के स्वरूप ज्ञान होने पर भी सादृश्य के कारण भेद की अप्रतीति हो, वहाँ मीलित मानते हैं, जब कि द्वितीय मतानुयायी केवल सादृश्य के कारण भेद की अप्रतीति, इतने भर को मीलित का लक्षण मानते हैं। वैद्यनाथ ने चन्द्रिका में इस भेद को स्पष्ट किया है:—

स्वरूपतो ज्ञायमाने सादृश्याद्भेदाग्रहणं मीलितमित्यङ्गीकारे प्रथमः पक्षः।
सादृश्याद्भेदाग्रहणमित्येतावन्मात्रमीलितलक्षणाङ्गीकारे द्वितीय इति भावः॥

(पृ० १६५)

प्रथम मत काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य का है। अप्पयदीक्षित ने उक्त मत का संकेत करते समय मम्मट के ही मत का उल्लेख किया है तथा उन्हीं का उदाहरण दिया है। मम्मट का मीलित का लक्षण यह है:—

समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमपि स्मृतम्॥ (१०.१३०)

८१-८२ उन्मीलित-विशेषालङ्कारौ

भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्तावुन्मीलितविशेषकौ ।
हिमाद्रिं त्वद्यशोमग्नं सुराः शीतेन जानते ॥
लक्षितान्युदिते चन्द्रे पद्मानि च मुखानि च ॥ १४८ ॥

सहजमागन्तुकं वा किमपि साधारणं यत् लक्षणं तद् द्वारेण यत्किंचित् केनचिद्वस्तु वस्तुस्थित्यैव बलीयस्तया तिरोधीयते तन्मीलित मिति द्विधा स्मरन्ति, तत्रोदाहरणम्—'अपाङ्गतरले……संलक्ष्यते' अत्र दृक्तरलतादिकमङ्गस्य लिङ्गं स्वाभाविकं साधारणं च मदोदयेन तत्राप्येतस्य दर्शनात् ।

मम्मट का सामान्य का लक्षण तथा उदाहरण भिन्न है । जहाँ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत पदार्थ के योग में-दोनों के गुणसाम्य के विवक्षित होने के कारण, दोनों की एकरूपता प्रतिपादित की जाय, वहाँ सामान्य होता है :—

प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥ (१०-१३४)

इसका उदाहरण मम्मट ने ठीक वैसा ही दिया है जैसा 'मल्लिकामालधारिण्यः' है । मम्मट का उदाहरण निम्न है :—

मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः,
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ।
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः,
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखेन निरस्तभियोऽभिसारिकाः ॥

८१-८२. उन्मीलित और विशेष अलङ्कार

१४८—जहाँ मीलित का लक्षण होने पर भी किसी कारण विशेष से भेदज्ञान हो जाय, वहाँ उन्मीलित अलङ्कार होता है । जहाँ सामान्य का लक्षण होने पर भी किसी कारण से वैशिष्ट्य ज्ञान हो जाय, वहाँ विशेष अलङ्कार होता है । (इस प्रकार उन्मीलित तथा विशेष क्रमशः मीलित तथा सामान्य के प्रतिद्वन्द्वी अलङ्कार हैं । इनके क्रमशः ये उदाहरण हैं ।)

हे राजन्, हिमालय तुम्हारे यश में मिल गया है, किंतु देवता शीत गुण के कारण उसका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं । (उन्मीलित)

चन्द्रमा के उदय होने पर तालाब में धँसी नायिकाओं के मुख तथा कमलों का वैशिष्ट्यज्ञान स्पष्ट हो गया । (विशेष)

टिप्पणी—पण्डितराज जगन्नाथ इन दोनों अलङ्कारों को नहीं मानते । सामान्य अलङ्कार के प्रकरण में वे अप्पयदीक्षित के मत का उल्लेख कर उसका खण्डन करते हैं, तथा इन दोनों अलङ्कारों का समावेश अनुमान अलङ्कार में करते हैं ।

यत्तु-'मीलितरीत्या……इति कुवलयानंदकृदाह तन्न, अनुमानालङ्कारेणैव गतार्थत्वादनयोरलङ्कारान्तरत्वायोगात् । (रसगङ्गाधर पृ० ६९७)

चन्द्रिकाकार वैद्यनाथ ने पण्डितराज के मत का खण्डन कर पुनः दीक्षित के मत की प्रतिष्ठापना की है । वे कहते हैं कि इन उदाहरणों में भेदप्रतीति तथा विशेषप्रतीति ही ……

मीलितन्यायेन भेदानध्यवसाये प्राप्ते कुतोऽपि हेतोर्भेदस्फूर्तौ मीलितप्रतिद्वन्द्व्युन्मीलितम्। तथा सामान्यरीत्या विशेषास्फुरणे प्राप्ते कुतश्चित्कारणाद्विशेषस्फूर्तौ तत्प्रतिद्वन्द्वी विशेषकः। क्रमेणोदाहरणद्वयम्। तद्गुणरीत्यापि भेदानध्यवसायप्राप्तावुन्मीलितं दृश्यते।

यथा—

नृत्यद्भर्गाट्टहासप्रसरसहचरैस्तावकीनैर्यशोभि-
धावल्यं नीयमाने त्रिजगति परितः श्रीनृसिंहक्षितीन्द्र!।
नेद्दृग्यद्येष नाभीकमलपरिमलप्रौढिमासादयिष्य-
द्देवानां नाभविष्यत् कथमपि कमलाकामुकस्यावबोधः॥

ये अनुमान से भिन्न हैं, इसका स्पष्ट हेतु विद्यमान है। साथ ही यदि तुम अनुमान अलङ्कार का कोई कपोलकल्पित लक्षण मानकर इन्हें अनुमान अलङ्कार में अन्तर्भूत करते हो, तो भी हम देखते हैं कि दो वस्तुओं के सादृश्यवैशिष्ट्य के कारण जहाँ पहले उनमें भेदप्रतीति या वैशिष्ट्यप्रतीति न हो सके, किंतु फिर किसी विशेष कारण से भेदप्रतीति तथा वैशिष्ट्यप्रतीति हो, वहाँ मीलित तथा सामान्य के प्रतिद्वन्द्वी होनेके कारण अन्य अलङ्कार मानना ठीक ही है। जिस तरह हमने तद्गुण तथा उल्लास के प्रतिद्वन्द्वी होने के कारण अतद्गुण तथा अवज्ञा को अलग से अलंकार माना है, वैसे ही भेदतिरोधान के न होने पर मीलित का प्रतिद्वन्द्वी उन्मीलित, तथा वैशिष्ट्याप्रतीति न होने पर सामान्य का प्रतिद्वन्द्वी विशेष अलंकार माना ही जाना चाहिए।

यत्त्वनुमानालङ्कारेणैव गतार्थत्वादनयोरलङ्कारान्तरत्वमिति—तदयुक्तम्, उदाहृतस्थले भेदविशेषस्फूर्त्योर्विशेषदर्शनहेतुकप्रत्यक्षरूपत्वात्। अथापि स्वकपोलकल्पितपरिभाषया-नुमानालङ्कारतां ब्रूषे तथापि सादृश्यमहिम्ना प्रागनवगतयोर्भेदवैजात्ययोः स्फुरणात्मना विशेषाकारेण मीलितसामान्यप्रतिद्वंद्विना युक्तमेवालङ्कारान्तरत्वम्। अतद्गुणावज्ञयोरिव विशेषोक्त्यलङ्कारादित्यलं विस्तरेण। (चन्द्रिका पृ० १६६)

मीलित अलङ्कार के ढंग से दो वस्तुओं के सादृश्य के कारण भेदतिरोधान होने पर भी किसी कारण विशेष से भेदप्रतीति हो जाय, वहाँ मीलित का प्रतिद्वन्द्वी उन्मीलित अलङ्कार होता है। इसी तरह सामान्य अलङ्कार के ढंग पर वैशिष्ट्यज्ञान के तिरोहित होने पर भी किसी कारण से वैशिष्ट्य की प्रतीति हो जाय, वहाँ विशेष अलङ्कार होता है। कारिका का द्वितीयार्ध तथा तृतीयार्ध इन्हीं दोनों के क्रमशः उदाहरण हैं। जहाँ किसी एक वस्तु के गुण से दूसरी वस्तु का अपना गुण दबा दिया जाय तथा दोनों गुणों की भेदाप्रतीति होनें पर किसी कारण से भेदज्ञान हो वहाँ भी उन्मीलित होता है।

उन्मीलित का एक उदाहरण यह है:—

हे राजन् नृसिंहदेव, नृत्य करते हुए शिवजी के अट्टहास के समान श्वेत आपके यश से समस्त त्रैलोक्य धवल हो गया है, ऐसी स्थिति में यदि लक्ष्मी के पति विष्णु अपने नाभिकमल की सुगन्धसमृद्धि को न प्राप्त करते, तो संभवतः अन्य देवताओं में उनकी प्रतीति किसी तरह भी न हो पाती।

(यहाँ विष्णु ने अपने नीलगुण को छोड़ कर अपने आपको नृसिंहदेव के यश की धवलिमा में घुला मिला लिया है। इस प्रकार यश तथा विष्णु की भेदप्रतीति के लुप्त

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः।
वसन्तसमये प्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः॥

इदं विशेषकस्योदाहरणान्तरम्। अत्र द्वितीयौ काक-पिकशब्दौ 'काकत्वेन ज्ञातः पिकत्वेन ज्ञातः' इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यौ॥

यथा वा—

वाराणसीवासवतां जनानां साधारणे शंकरलाञ्छनेऽपि।
पार्थप्रहारव्रणमुत्तमाङ्गं प्राचीनमीशं प्रकटीकरोति॥ १४८॥

८३ उत्तरालङ्कारः

किंचिदाकूतसहितं स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम्।

होने पर, नाभीकमल की सुगन्ध के कारण विष्णु का भेदज्ञान हो जाता है, अतः यहाँ उन्मीलित अलङ्कार है।)

टिप्पणी—पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के इस उदाहरण की आलोचना की है। वे बताते हैं कि अप्पयदीक्षित का 'तद्गुणरीत्यापि भेदानध्यवसायप्राप्तावुन्मीलितं दृश्यते। यथा—'नृत्यद्भर्ग······प्रबोधः'—यह मत ठीक नहीं है (—इति। तदपि न।) क्योंकि तद्गुण में भेदातिरोहिति गुणों की होती है, वस्तुओं (गुणियों) की नहीं, यह निर्विवाद है। यहाँ नाभी-कमल के परिमल से विष्णु का भेदज्ञान हो जाता है, फिर भी विष्णु की नीलिमा (गुण) यश की धवलिमा के साथ अभिन्न हो गई है (दूसरे शब्दों में विष्णु ने यश के अत्युत्कृष्ट होने के कारण उसके गुण धवलिमा का ग्रहण कर लिया है), अतः यहाँ तद्गुण अलङ्कार स्पष्ट है, फिर दीक्षित महोदय उसका प्रतिद्वन्द्वी उन्मीलित व्यर्थ मानते हैं। आगे जाकर वे बताते हैं कि अप्पयदीक्षित के उपजीव्य अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक ने उन्मीलित तथा विशेष इन दो अलङ्कारों का जिक्र ही नहीं किया है। इनका समावेश प्राचीनों के अलङ्कारों में हो ही जाता है। खाली इसीलिए कि हम नये अलङ्कार की उद्भावना करने की वाचोयुक्ति का प्रयोग कर रहे हैं, हमें व्यर्थ ही प्राचीनों की मर्यादा छोड़कर बेलगाम नहीं दौड़ना चाहिए। (न तावत्पृथगलंकारत्ववाचोयुक्त्या विगलितशृंखलत्व-मात्मनो लादयितुं साम्प्रतं मर्यादावशंवदैरार्यैरिति। (रसगङ्गाधर पृ० ६९९)

'कौआ काला है, कोयल भी काली है, कौए और कोयल में भेद ही क्या है? वसन्त ऋतु के आने पर कौआ कौआ हो जाता है, कोयल कोयल।'

(यहाँ वसन्त समय के कारण काकत्व या पिकत्व का वैशिष्ट्य भान हो जाता है।)

यह विशेषक का उदाहरण है। यहाँ दूसरे काक तथा पिक शब्द 'कौए के रूप में जान लिया गया, कोयल के रूप में जान लिया गया', इस प्रकार अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य हैं।

अथवा जैसे—

यद्यपि काशी में रहने वाले सभी निवासी समानरूप से शंकरत्व से युक्त हैं' तथापि अर्जुन के प्रहार के व्रण से युक्त सिर वाले होने के कारण प्राचीन शिव (वास्तविक शंकर) प्रकट हो ही जाते हैं।

यहाँ 'पार्थप्रहारव्रणयुक्त उत्तमांग' के कारण नकली शंकर तथा असली शंकर का वैशिष्ट्य भान हो ही जाता है।

८३. उत्तर अलङ्कार

१५९—जहाँ किसी विशेष अभिप्राय से [illegible]

यत्रासौ वेतसी पान्थ ! तत्रेयं सुतरा सरित् ॥ १४६ ॥

सरित्तरणमार्गं पृच्छन्तं प्रति तं कामयमानाया उत्तरमिदम् । वेतसीकुञ्जे स्वाच्छन्द्यमित्याकूतगर्भम् ।

यथा वा—

ग्रामेऽस्मिन् प्रस्तरप्राये न किंचित्पान्थ ! विद्यते ।
पयोधरोन्नतिं दृष्ट्वा वस्तुमिच्छसि चेद्वस ॥

आस्तरणादिकमर्थयमानं पान्थं प्रत्युक्तिरियम् । स्तनोन्नतिं दृष्ट्वा रन्तुमिच्छसि चेद्वस । अविदग्धजनप्रायेऽस्मिन् ग्रामे कश्चिदवगमिष्यतीत्येतादृशं प्रतिबन्धकं किंचिदपि नास्तीति हृदयम् । इदमुन्नेयप्रश्नोत्तरस्योदाहरणम् ।

निबद्धप्रश्नोत्तरं यथा—

कुशलं तस्या ? जीवति, कुशलं पृच्छामि, जीवतीत्युक्तम् ।
पुनरपि तदेव कथयसि, मृतां तु कथयामि या श्वसिति ॥

होता । जैसे, किसी राहगीर के नदी को पार करने का स्थल पूछने पर कोई स्वयं दूती कहती है) हे राहगीर, जहाँ यह वेतस-कुंज दिखाई पड़ रहा है, वहीं नदी को पार करने का स्थल है ।

यह उक्ति किसी कामुकी स्वयंदूती की है, जो सरित्तरणमार्ग को पूछते हुए किसी राहगीर के प्रति कही गई है । यहाँ 'वेतसीकुञ्ज' में स्वच्छन्दता सेकामकेलि हो सकती है, यह स्वयंदूती का गूढाभिप्राय है । अथवा जैसे निम्न उक्ति में—

कोई स्वयं दूती गाँव में ठहरने की जगह तथा विस्तर आदि के लिए पूछने वाले किसी राहगीर को उत्तर दे रही है :—हे राहगीर, इस पथरीले गाँव में कुछ भी नहीं मिलेगा । आकाश में बादल घिर रहे हैं, अतः बादलों को घिरे देखकर (तथा मेरे पयोधरों को उन्नत देखकर) यदि तुम्हारी ठहरने की इच्छा हो तो ठहर जावो ।

टिप्पणी—यह प्रसिद्ध प्राकृत गाथा का संस्कृत रूपान्तर है :—

पंथिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उणअ पओहरं पेक्खिऊण जइ वससु ता वससु ॥

बिस्तर आदि की प्रार्थना करते किसी पान्थ के प्रति यह स्वयं दूती का उत्तर है । यदि स्तनोन्नति को देखकर रमण करना चाहो, तो रहो । यह गाँव तो पथरीला है—पत्थरों की बस्ती है, अतः मूर्ख लोगों के इस गाँव में, कोई हमारे रमण को जान जायगा, इस प्रकार की आशंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है, यह उक्ति का रहस्य (हृदय) गूढाभिप्राय है । यह कल्पित प्रश्न के उत्तर का उदाहरण है (भाव यह है, इन दोनों उक्तियों में केवल उत्तर ही पाया जाता है, प्रश्न नहीं, अतः प्रश्न प्रसंगवश कल्पित कर लिया जाता है ।)

किन्हीं किन्हीं स्थलों पर प्रश्न तथा उत्तर दोनों निबद्ध किये जाते हैं । निबद्ध प्रश्नोत्तर का उदाहरण निम्न है ।

कोई सखी नायक के पास जाती है; वह उससे नायिका की अवस्था के विषय में पूछता है—वह कुशल तो है', वह उत्तर देती है–'जिन्दी है', 'मैं कुशल पूछ रहा हूँ ।' 'तभी तो जी रही है, यह कहा है ।' फिर वही उत्तर दे रही हो ।' 'तो मैं उसे मरी कैसे कह सकती हूँ, वह तो अभी साँस ले रही है ।'

ईर्ष्यामानानन्तरमनुतप्तायां नायिकायाः सखीमागतां प्रति 'तस्याः कुशलम् ?' इति नायकस्य प्रश्नः। 'जीवति' इति सख्या उत्तरम्। जीवत्याः कुतः कुशलमिति तदभिप्रायः। अन्यत्पृष्टमन्यदुत्तरमिति नायकस्य 'पुनः कुशलं पृच्छामि' इति प्रश्नः। पृष्टस्यैवोत्तरमुक्तमित्यभिप्रायेण जीवतीत्युक्तमिति सख्या वचनम्। सखीवचनस्याभिप्रायोद्घाटनार्थं 'पुनरपि तदेव कथयसि' इति नायकस्याक्षेपः। 'मृतां नु कथयामि या श्वसिति' इति सख्याः स्वाभिप्रायोद्घाटनम्। सति मरणे खलु तस्याः कुशलं भवति, मदागमनसमयेऽपि श्वासेषु सञ्चरत्सु कथं मृतां कथयेयमित्यभिप्रायः॥ १४९॥

अथ चित्रोत्तरम्—

प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते।
के-दारपोषणरताः, के खेटाः, किं चलं वयः॥ १५०॥

अत्र 'केदारपोषणरता' इति प्रश्नाभिन्नमुत्तरं 'के खेटाः, किं चलम् ?' इति प्रश्नद्वयस्य 'वयः' इत्येकमुत्तरम्। उदाहरणान्तराणि विदग्धमुखमण्डने द्रष्टव्यानि॥

ईर्ष्यामान के बाद दुःखित नायिका की सखी को आया देखकर नायक उससे प्रश्न करता है—'वह कुशल तो है'। 'जिन्दी है' यह सखी का उत्तर है। जिन्दी रहते उसका कुशल कैसे हो सकता है, यह सखी का अभिप्राय है। मैंने पूछा कुछ और तुम कुछ और ही उत्तर दे रही हो, इस आशय से नायक पुनः प्रश्न करता है, 'मैं कुशल पूछ रहा हूँ'। मैंने प्रश्न का ही उत्तर दिया है, इस अभिप्राय से सखी कहती है 'वह जिन्दी है'। सखी के वचनों के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए नायक फिर अक्षेप करता है 'फिर वही कह रही हो'। सखी अपने अभिप्राय को स्पष्ट करती कहती है—'जो साँस ले रही है, उसे मैं मरी कैसे कह दूँ'। इसका गूढ अभिप्राय यह है कि उसका कुशल तो मरने पर ही हो सकता है, मैं जब आई तब भी उसके साँस चल रहे थे तो मैं उसे मृत (कुशलिनी) कैसे बता दूँ ?

अब चित्रोत्तर भेद का वर्णन करते हैं:—

१५०—जहाँ प्रश्न तथा अन्य उत्तर से मिश्रित उत्तर दिया जाय, वहाँ उत्तर अलंकार का चित्रोत्तर नामक भेद होता है, जैसे कोई पूछता 'भार्याओं का पोषण करने में रत कौन हैं', उत्तर है 'वे लोग जो खेतों के पोषण में रत हैं' दो प्रश्न हैं आकाश में पर्यटन करने वाले (खेटाः) कौन हैं ? चंचल कौन है ?, इन दोनों प्रश्नों के एक ही श्लिष्ट चित्रोत्तर हैं:—'वयः'। पहले प्रश्न का उत्तर है:—'वयः' ('वि' शब्द का बहुवचन, पक्षी), दूसरे प्रश्न का उत्तर है—'वयः' (उम्र)।

यहाँ 'केदारपोषणरताः' में 'के दारपोषणरताः ?' इस प्रश्न का उत्तर 'केदारपोषणरताः' है, इस प्रकार यहाँ उत्तर प्रश्न से अभिन्न है। 'के खेटाः किं चलम् ?' इस प्रश्नद्वय का एक ही उत्तर है 'वयः'। चित्रोत्तर के अन्य उदाहरण विदग्धमुखमण्डन नामक ग्रन्थ में देखे जा सकते हैं।

८४ सूक्ष्मालङ्कारः

सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतरसाकूतचेष्टितम् ।
मयि पश्यति सा केशैः सीमन्तमणिमावृणोत् ॥ १५१ ॥

कामुकस्यावलोकनेन सङ्केतकालप्रश्नभावं ज्ञातवत्याश्चेष्टेयम् । अस्तं गते सूर्ये संकेतकाल इत्याकूतम् ।

यथा वा—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
आसीन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥ १५१

८५ पिहितालङ्कारः

पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुः साकूतचेष्टितम् ।
प्रिये गृहागते प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत् ॥ १५२ ॥

रात्रौ सपत्नीगृहे कृतजागरणेन श्रान्तोऽसीति तल्पकल्पनाकूतम् ।

यथा वा---

वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे ।

---

८४. सूक्ष्म अलंकार

१५१—जहाँ किसी अन्य व्यक्ति के आशय को जानने वाला उसके प्रति साभिप्राय चेष्टा करे, वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता। जैसे (कोई नायक अपने मित्र से कह रहा है) मुझे देखकर उस नायिका ने अपने बालों से सीमन्तमणि को ढँक दिया।

यहाँ सीमन्तमणि को बालों से ढँक देना यह उस नायिका की साभिप्राय चेष्टा है, जो अपने उपपति को देखकर उसके संकेत कालविषयक प्रश्न का आशय समझ बैठी है। संकेत काल के प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह अन्धकार के समान काले बालों से दीप्त सीमन्तमणि को ढँक देती है। भाव यह है 'सूर्य के अस्त होने पर संकेतकाल है'।

इसी का दूसरा उदाहरण यह है:—

किसी चतुर नायिका ने उपनायक को संकेतकाल को जानने की इच्छा वाला जान कर, अपने नेत्रों को मटका कर अपना आशय व्यक्त करते हुए लीला कमल को बंद कर दिया।

यहाँ नायिका का 'लीलाकमल' को निमीलित कर देना साभिप्राय चेष्टा है, भाव यह है 'सूर्यास्त के समय आना (जब कमल बन्द हो जाते हैं)।'

८५. पिहित अलङ्कार

१५२—जहाँ दूसरे के गुप्त वृत्तान्त को जानकर कोई व्यक्ति साभिप्राय चेष्टा करे, वहाँ पिहित अलङ्कार होता है। जैसे, नायक के प्रातःकाल घर पर लौटने पर (ज्येष्ठा) नायिका ने शय्या सजा दी।

यहाँ नायिका के शय्या सजाने का यह गूढाभिप्राय है कि तुम रात भर मेरी सौत के यहाँ रहे हो, वहाँ रात भर जगते रहे हो, इसलिए थके हो।

अथवा—

'किसी सखी ने नायिका के कण्ठ में उसके मुखमण्डल से टपके स्वेदबिन्दुओं की धारा से

पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥
अत्र स्वेदानुमितं पुरुषायितं पुरुषोचितखड्गलेखालेखनेन प्रकाशितम् ॥१५२॥

८६ व्याजोक्त्यलङ्कारः

व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम् ।
सखि ! पश्य गृहारामपरागैरस्मि धूसरा ॥ १५३ ॥

अत्र चौर्यरतकृतसङ्केतभूपृष्ठलुण्ठनलग्नधूलिजालस्य गोपनम् ।

यथा वा—

कस्य वा न भवेद्रोषः प्रियायाः सव्रणेऽधरे ।
सभृङ्गं पद्ममाघ्रासीर्वारितापि मयाधुना ॥

रहे कुङ्कुम को देखकर, मुसकुरा कर, उसकी हथेली पर (पत्रावली के स्थान पर) खड्गलेखा का चित्र बना दिया ।'

यहाँ सखी ने खड्गलेखा लिखकर नायिका के गुप्त पुरुषायित (विपरीत रति) को प्रकाशित किया है, जिसका अनुमान सखी को नायिका के मुखमण्डल से गले की ओर आते स्वेदबिन्दुओं से हो गया है ।

टिप्पणी—मम्मट ने इस उदाहरण में सूक्ष्म अलंकार माना है (दे० काव्यप्रकाश १०-१२२), जब कि दीक्षित इसमें पिहित अलंकार मानते हैं । दीक्षित ने सूक्ष्म तथा पिहित दो भिन्न अलंकार माने हैं, जब कि चन्द्रालोककार जयदेव ने सूक्ष्म अलंकार नहीं माना है, वे पिहित ही मानते हैं । वस्तुतः मम्मट के सूक्ष्म में अप्पयदीक्षित के सूक्ष्म तथा पिहित दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है । इस सम्बन्ध में यह कह दिया जाय कि रुद्रट ने काव्यालंकार में 'पिहित' नामक एक अलंकार माना है, पर वह अप्पयदीक्षित के पिहित से सर्वथा भिन्न है । रुद्रट का पिहित अलंकार वहाँ होता है, जहाँ अतिप्रबल होने के कारण कोई गुण समानाधिकरण, असदृश अन्य वस्तु को ढँक ले ।

यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम् ।
अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत् पिहितम् ॥ (काव्यालंकार ९-५०)

रुद्रट का पिहित वस्तुतः अन्य आलंकारिकों के मीलित से मिलता जुलता अलंकार है ।

८६. व्याजोक्ति

१५३—जहाँ किसी दूसरे हेतु को बताकर उसके द्वारा आकार का गोपन किया जाय, वहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार होता है, जैसे कोई कुलटा चौर्यरत के समय भूपृष्ठ पर लुंठन करने से धूलिधूसरित हो गई है, वह अपने आकार का गोपन करने के लिए अन्य हेतु बताती सखी से कह रही है, 'हे सखि, देख, घर के बगीचे के पराग से मैं धूसरित हो गई हूँ ।'

यहाँ चौर्यरत के समय संकेत स्थल की जमीन पर लोट कर रतिक्रीडा करने के कारण वह धूलिधूसरित हो गई है, किन्तु इस आकार को छिपा रही है ।

अथवा जैसे—

कोई सखी उपनायक के द्वारा खण्डिताधर नायिका के चौर्यरत को पति से बचाने के लिए उसे भौंरे का दोष बताती कहती है:—'हे सखी, बता तो सही, प्रिया के अधरोष्ठ

उपपतिना खण्डिताधराया नायिकायाः सकाशमागच्छन्तं प्रियमपश्यन्त्येव सख्या नायिकां प्रति हितोपदेशव्याजेन तं प्रति नायिकापराधगोपनम्। छेकापह्नुतेरस्याश्चायं विशेषः—तस्यां वचनस्यान्यथानयनेनापह्नवः; अस्यामाकारस्य हेत्वन्तरवर्णनेन गोपनमिति। लक्षणे लक्ष्यनाम्नि चोक्तिग्रहणमाकारस्य गोपनार्थं हेत्वन्तरप्रत्यायकव्यापारमात्रापलक्षणम्। ततश्च—

आयान्तमालोक्य हरिं प्रतोल्यामाल्याः पुरस्तादनुरागमेका।
रोमाञ्चकम्पादिभिरुच्यमानं भामा जुगूह प्रणमन्त्यथैनम्॥

इत्यत्रापि व्याजोक्तिरेव। अत्र ह्यनुरागकृतस्य रोमाञ्चाद्याकारस्य भक्तिरूपहेत्वन्तरप्रत्यायकेन प्रणामेन गोपनं कृतम्। सूक्ष्मपिहितालङ्कारयोरपि चेष्टितग्रहणमुक्तिसाधारणव्यापारमात्रोपलक्षणम्। ततश्च—

को सक्षत देखकर किसे रोष न होगा। मैंने तुझे पहले ही मना किया था भौंरे वाले कमल को न सूँघना।

टिप्पणी—यह प्रसिद्ध गाथा का संस्कृत रूपान्तर है :—

कस्स ण वा होइ रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरं।
सब्भमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्हि॥

किसी सखी ने उपपति के द्वारा खण्डिताधर नायिका के पास आते पति को देख तो लिया है, पर वह ऐसा बहाना बनाती है कि जैसे उसे उसके आने की सूचना है ही नहीं, वह अपनी सखी (नायिका) को उपदेश देती हुई उसके व्याज से नायिका के पररमणरूप अपराध का गोपन कर रही है। व्याजोक्ति तथा अपह्नुति के प्रकरण में वर्णित छेकापह्नुति में यह भेद है कि वहाँ वचन को दूसरे ढङ्ग से स्पष्ट करके वास्तविकता की निह्नुति की जाती है, जब कि यहाँ (व्याजोक्ति में) आकार का अन्य हेतु की उक्ति के द्वारा गोपन किया जाता है। व्याजोक्ति के लक्षण तथा नामोद्देश्य में जो 'उक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह आकार के गोपन के लिए प्रयुक्त अन्य हेतु के प्रत्यायक व्यापार मात्र का द्योतक है—इस प्रकार हेत्वन्तर प्रत्यायक चेष्टादि भी व्याजोक्ति में समाविष्ट हो जायगी। इसलिए निम्न पद्य में भी व्याजोक्ति अलङ्कार ही है:—

कोई नायिका कृष्ण को गली (या राजमार्ग) से गुजरते देखती है। उसने कृष्ण को सामने गली से आते देखकर रोमाञ्च, कम्प आदि सात्त्विकभावों के द्वारा प्रतीत रति भाव को उन्हें प्रणाम करके छिपा लिया है।

यहाँ नायिका के रोमाञ्चादि आकार रति भाव (अनुराग) के कारण हैं, किन्तु वह भक्तिरूप अन्यहेतु की चेष्टा-प्रणाम-के द्वारा उसका गोपन कर लेती है। अतः यहाँ भी व्याजोक्ति ही है। ध्यान देने की बात है कि यहाँ हेत्वन्तर के लिए किसी उक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है, केवल प्रणामक्रिया रूप व्यापार का प्रयोग हुआ है, पर उक्ति का व्यापक अर्थ लेने पर इसका भी समावेश हो गया है।

इसी तरह सूक्ष्म तथा पिहित अलङ्कारों में भी जहाँ लक्षण में 'चेष्टित' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ उक्ति साधारण व्यापारमात्र का अर्थ लेना होगा। इसलिए जहाँ उक्ति का प्रयोग हो, तथा उसके द्वारा पराशय को जान कर साकूत उक्ति का प्रयोग किया जाय वहाँ भी सूक्ष्मालङ्कार का क्षेत्र होगा, जैसे निम्न पद्य में—

नलिनीदले बलाका मरकतपात्र इव दृश्यते शुक्तिः ।
इति मम सङ्केतभुवि ज्ञात्वाभावं तदाब्रवीदालीम् ॥

इत्यादिष्वपिसूक्ष्मालङ्कारः प्रसरति । अत्र श्लोके तावत् 'किमावयोः सङ्केतस्थानं भविष्यति ?' इति प्रश्नाशयं सूचयति कामुके तदभिज्ञया विदग्धया तदा सखीं प्रति साकूतमुक्तमिति सूक्ष्मालङ्कारो भवति । यतोऽत्र बलाकाया मरकतपात्रप्रतिष्ठितशुक्त्युपमया तस्या निश्चलत्वेनाश्वस्तत्वं तेन तस्य प्रदेशस्य निर्जनत्वं तेन 'तदेवावयोः संकेतस्थानम्' इति कामुकं प्रति सूचनं लक्ष्यते । न चात्र ध्वनिराशंकनीयः, दूरे व्यज्यमानस्यापि संकेतस्थानप्रश्नोत्तरस्य स्वोक्त्यैवाविष्कृतत्वात् । एवं पिहितालंकारेऽप्युदाहार्यम् । इदं चान्यदत्रावधेयम्—'यत्रासौ वेतसी पान्थ' इत्यादिषु गूढोत्तरसूक्ष्मपिहितव्याजोक्त्युदाहरणेषु भावो न स्वोक्त्याविष्कृतः किंतु वस्तुसौन्दर्यबलाद्वक्तृबोद्धव्यविशेषविशेषिताद्गम्यः । तत्रैव वस्तुतो नालंकारत्वं, ध्वनिभावास्पदत्वात् । प्राचीनैः स्वोक्त्याविष्करणे सत्यलंकारास्पदताऽस्तीत्युदाहृतत्वादस्माभिरप्युदाहृतानि । शक्यं हि 'यत्रासौ वेतसी पान्थ ! तत्रेयं सुतरा सरित् । इति पृच्छन्तमध्वानं कामिन्याह ससूचनम् ।' इत्याद्यर्थान्तरक-

---

'कोई नायक मित्र से कह रहा है—' मुझे संकेतस्थल के विषय में जिज्ञासु जानकर उस नायिका ने सखी से कहा, 'हे सखि देख तो इस कमल के पत्ते पर यह बगुला इसी तरह शान्त तथा निश्चल बैठा है, जैसे किसी नीलम के पात्र में कोई सीप रखी हो ।' इस श्लोक में कोई नायिका साकूत उक्ति का प्रयोग कर रही है । किसी कामुक ने नायिका के प्रति इस प्रश्नाशय की सूचना की है कि 'हमारे मिलने का स्थान कौन सा होगा ?' इसे समझकर चतुर नायिका अपनी सखी से साकूत उक्ति कह रही है, अतः यहाँ सूक्ष्म अलङ्कार है । यहाँ नदी तट पर बगुलों की पाँत मरकतमणि के पात्र पर स्थित सीप की तरह निश्चल, शान्त तथा विश्वस्त होकर कमलपत्र पर बैठी है, इस स्थिति से उस प्रदेश की निर्जनता की तथा 'यह हम दोनों का संकेतस्थल होगा' इस बात की सूचना दी गई है । इस पद्य में ध्वनिकाव्य (वस्तु से वस्तु की ध्वनि) नहीं माना जाय । यद्यपि यहाँ संकेतस्थान का प्रश्नोत्तर व्यङ्ग्य रूप में प्रतीत हो रहा है, तथापि उसकी प्रतीति स्वोक्ति से (वाच्यरूप में) ही हो रही है । (भाव यह है, इस श्लोक के उत्तरार्ध में 'इति मम संकेतभुवि ज्ञात्वा भावं तदाब्रवीदालीं' कहने से वह व्यङ्ग्य न रह कर वाच्य हो गया है ।. यदि केवल पूर्वार्ध के ही भाव का प्रयोग होता, जैसा कि 'पश्य निश्चल······शंखशुक्तिरिव, वाली गाथा में है, तो ध्वनि हो सकता था ।) इसी तरह पिहितालङ्कार में भी 'चेष्टित' शब्द के द्वारा उक्ति का भी समावेश हो जाता है । इसके अतिरिक्त इन अलङ्कारों में यह बात भी ध्यान देने की है । 'यत्रासौ वेतसीपान्थ'-इत्यादि गूढोत्तर, सूक्ष्म पिहित तथा व्याजोक्ति के उदाहरणों में स्वाभिप्राय की प्रतीति उक्ति के कारण नहीं होती, अपि तु वस्तुसौन्दर्य तथा उक्ति का वक्ता तथा बोद्धव्य कौन है, इस विशिष्ट ज्ञान के कारण उसकी प्रतीति होती है । इन्हीं स्थानों पर वस्तुतः अलङ्कारत्व नहीं है, क्योंकि ये ध्वनि के उदाहरण हैं तथा यहाँ ध्वनित्व है । किन्तु प्राचीन आलङ्कारिकों ने अपने ढङ्ग से इनमें अलङ्कारत्व स्पष्ट किया है, अतः हमने भी इन्हें अलङ्कार के उदाहरणों के रूप में उपन्यस्त किया है । वैसे 'यत्रासौ वेतसीपान्थ तत्रेयं—सुतरा सरित्' इस पूर्वार्ध

ल्पनया भावाविष्करणमिति । अतः प्राक् लिखितेषु येषूदाहरणेषु संकेतकालमनसं, पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती, भामा जुगूहेति भावाविष्करणमस्ति तेष्वेव तत्तदलंकार इति ॥ १५३ ॥

८७ गूढोक्त्यलङ्कारः

गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद्यदन्यं प्रति कथ्यते ।
वृषापेहि परक्षेत्रादायाति क्षेत्ररक्षकः ॥ १५४ ॥

यं प्रति किंचिद्वक्तव्यं तत्तटस्थैर्माज्ञायीति तदेव तदन्यं कंचित्प्रति श्लेषेणोच्यते चेत् सा गूढोक्तिः । वृषेत्याद्युदाहरणम् । इह परकलत्रमुपभुञ्जानं कामुकं प्रति वक्तव्यं परक्षेत्रे सस्यानि भक्षयन्तं कंचिदुक्षाणं समीपे चरन्तं निर्दिश्य कथ्यते । नेयमप्रस्तुतप्रशंसा, कार्यकारणादिव्यङ्ग्यत्वाभावात् । नापि श्लेषमात्रम्; अप्रकृतार्थस्य प्रकृतार्थान्वयित्वेनाविवक्षितत्वात् । तस्य केवलमितरवञ्चनार्थं निर्दिष्टतया विच्छित्तिविशेषसद्भावात् ।

के साथ 'इति पृच्छन्तमध्वानं कामिन्याह ससूचनं' जोड़ देने पर—'इस प्रकार रास्ता पूछते किसी राहगीर से किसी कामुक स्त्री ने सूचना करते हुए कहा—' इस अर्थान्तर की कल्पना के करने पर अलङ्कारत्व हो ही जाता है, क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ की प्रधानता हो जाती है । हमने वृत्तिभाग में तत्तत् अलङ्कार के प्रकरण में 'संकेतकालमनसं' 'पुंस्त्वं तन्व्या व्यंजयन्ती' 'भामा जुगूह' आदि जो उदाहरण दिये हैं, उनमें यह भावाविष्करण स्पष्ट है, इसलिए वहाँ अलङ्कारत्व स्पष्ट ही है ।

(भाव यह है, कारिकाभाग के इन अलङ्कारों के उदाहरणों में यद्यपि ध्वनित्व है, तथापि जयदेवादि के द्वारा इनका तत्तदलंकार प्रकरण में उपन्यास होने से हमने यहाँ उदाहरण के रूप में रख दिया है, वैसे यदि इनकी अर्थान्तरकल्पना कर वाच्यरूप में भावाविष्करण कर दिया जाय तो ये अलंकार के ही उदाहरण हो जायँगे । वृत्तिभाग के उदाहरणों में भावाविष्करण स्पष्ट होने के कारण अलंकारत्व है ही ।)

टिप्पणी—इस पद्य का पूर्वार्द्ध प्रसिद्ध प्राकृतगाथा का संस्कृत रूपान्तर है :—

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मिरेहइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥

८७. गूढोक्ति अलङ्कार

१५४—जहाँ किसी एक को लक्षित कर किसी दूसरे ही से कोई बात कही जाय, उसे गूढोक्ति अलङ्कार कहते हैं । जैसे (कोई सखी किसी उपपति को—जो परकलत्र के साथ रमण कर रहा है—सावधान करती कह रही है) हे बैल दूसरे के खेत से हट जा, यह देख खेत का रखवाला आ रहा है ।

जिस व्यक्ति से कुछ कहना है, वही समझ सके, दूसरा तटस्थ व्यक्ति उसे न समझ लें, इसलिए जहाँ किसी व्यक्ति से श्लेष के द्वारा कुछ कहा जाय, वहाँ गूढोक्ति अलङ्कार होता है । 'वृषापेहि' आदि कारिकार्ध इसका उदाहरण है । यहाँ यह उक्ति किसी परकलत्र का उपभोग करते कामुक के प्रति अभिप्रेत है किन्तु यह समीप में ही दूसरे के खेत में धान को चरते बैल से कही गई है । यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार नहीं है । क्योंकि अप्रस्तुत प्रशंसा में या तो कार्य के द्वारा कारण की व्यञ्जना की जाती है या कारण के द्वारा कार्य

यथा वा—

नाथो मे विपणिं गतो, न गणयत्येषा सपत्नी च मां,
त्यक्त्वा मामिह पुष्पिणीति गुरवः प्राप्ता गृहाभ्यन्तरम्।
शय्यामात्रसहायिनीं परिजनः श्रान्तो न मां सेवते,
स्वामिन्नागमलालनीय ! रजनीं लक्ष्मीपते ! रक्ष माम् ॥

अत्र 'लक्ष्मीपति' नाम्नो जारस्यागमनं प्रार्थयमानायास्तटस्थवञ्चनाय भगवन्तं प्रत्याक्रोशस्य प्रत्यायनम् ॥ १५४ ॥

८८ विवृतोक्त्यलङ्कारः

विवृतोक्तिः श्लिष्टगुप्तं कविनाविष्कृतं यदि ।
वृषापेहि परक्षेत्रादिति वक्ति ससूचनम् ॥ १५५ ॥

श्लिष्टगुप्तं वस्तु यथाकथंचित्कविनाविष्कृतं चेद्विवृतोक्तिः । 'वृषापेहि' इत्युदाहरणे पूर्ववद्गुप्तं वस्तु ससूचनमिति कविनाविष्कृतम् ।

यथा वा—

वत्से ! मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं संत्यजोर्ध्वप्रवृत्तं

की, यहाँ यह बात नहीं है। साथ ही यहाँ श्लेष (अर्थश्लेष) अलङ्कार भी नहीं है । क्योंकि श्लेष में दोनों पक्ष प्रकृत होते हैं, जब कि यहाँ अप्रकृत (बैल) के द्वारा प्रकृत (कामुक) के व्यवहार की विवक्षा पाई जाती है। इसलिए यह उक्ति तो केवल दूसरे को ठगने के लिए प्रयुक्त की गई है, अतः यहाँ किसी विशेष प्रकार की चमत्कृति पाई जाती है।

इसी का दूसरा उदाहरण यह है:—

कोई कुलटा अपने उपपति को बुलाती गूढोक्ति का प्रयोग कर रही है, ताकि तटस्थ व्यक्ति न समझ सकें।

'मेरा स्वामी बाजार गया है, यह सौत मेरी पर्वाह ही नहीं करती मुझे रजस्वला समझ कर छोड़ कर बड़े लोग घर के भीतर चले गये हैं। मैं अकेली शय्या पर पड़ी हूँ। नौकर थकने के कारण मेरी सेवा नहीं कर रहे हैं। हे स्वामिन् लक्ष्मीपति (विष्णु भगवान्, लक्ष्मीपति नामक जार) अपने आगमन के द्वारा रात भर मेरी रक्षा करो।'

यहाँ 'लक्ष्मीपति' नामक उपपति के आगमन की प्रार्थना करती कुलटा ने दूसरों को ठगने के लिए भगवान् विष्णु से प्रार्थना की है। अतः यहाँ गूढोक्ति अलङ्कार है।

८८. विवृतोक्ति अलङ्कार

१५५—जहाँ कवि किसी श्लिष्टगुप्त वस्तु को प्रकट कर दे, वहाँ विवृतोक्ति अलङ्कार होता है, जैसे 'हे बैल, दूसरे के खेत से हट जा' इस प्रकार कोई ससूचना कह रहा है।

जहाँ कवि किसी प्रकार श्लिष्टगुप्त वस्तु को प्रकट करे, वहाँ विवृतोक्ति अलङ्कार होता है। 'वृषापेहि' इस कारिकार्ध के उदाहरण में, गूढोक्ति की तरह ही वस्तु गुप्त है, किंतु यहां कवि ने ससूचनं' पद का प्रयोग कर उसे प्रगट कर दिया है, अतः यहाँ विवृतोक्ति अलङ्कार है। जैसे—

'हे बच्ची, विषाद मत कर (विष को खानें वाले शिव के पास न जा), अत्यधिक वेग

कम्पः को वा गुरुस्ते किमिह बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि।
प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनच्छद्मना कारयित्वा
यस्मै लक्ष्मीमदाद्वः स दहतु दुरितं मन्थमुग्धः पयोधिः॥

इदं परवञ्चनाय गुप्ताविष्करणम्।

त्रपागुप्ताविष्करणं यथा—

दृष्ट्या केशव ! गोपरागहृतया किंचिन्न दृष्टं मया
तेनेह स्खलितास्मि नाथ ! पतितां किं नाम नालम्बसे।
एकस्त्वं विषमेषुखिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद्गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्॥

अत्र कृष्णस्य पुरतो विषमे परिस्खलनमभिहितवत्यास्तं कामयमानाया गोपिकाया वचने विषमपथस्खलनपतनत्राणसंप्रार्थनारूपेण झटिति प्रीयमानेनार्थेन गुप्तं विवक्षितमर्थान्तरं सलेशं ससूचनमित्यनेनाविष्कृतम्। एवं नैषधादिषु,

---

वाले श्वास को छोड़ दे (पवन को छोड़ दे), यह तेरे महान् कम्प क्यों है, (तुझे जल के रक्षक (कम्प—कं जलं पातीति कम्पः) वरुण से क्या, वह तो तेरे गुरु है; अथवा तुझे वरुण से क्या, तथा बृहस्पति से क्या), इस बल का नाश करने वाली जँभाई से क्या, लाभ (तुझे बल के शत्रु इन्द्र से क्या लाभ)? इस प्रकार लक्ष्मी के भय को शांत करने के व्याज से अन्य देवताओं के वरण का प्रत्याख्यान कर मंथन के कारण मूर्ख समुद्र ने जिस विष्णु के लिए लक्ष्मीप्रदान की, वह विष्णु आप लोगों के पापों को जला दे।'

यहाँ 'प्रत्याख्यानं' इत्यादि तृतीय चरण के द्वारा कवि ने गुप्त वस्तु का आविष्करण कर दिया है, अतः विवृतोक्ति अलङ्कार है।

कभी कवि लज्जा के द्वारा गुप्त वस्तु को उद्घाटित कर देता है। त्रपागुप्ताविष्करण का उदाहरण निम्न है :—

कोई गोपिका कृष्ण से कह रही है :—

'हे केशव, गायों से उड़ी धूल से तिरोहित आँखों से मैं मार्ग को न देख सकी, इसलिए मैं मार्ग में गिर पड़ी हूँ। हे नाथ, गिरी हुई मुझे क्यों नहीं उठाते हो? उन बलहीन लोगों के तुम ही अकेले आश्रय हो, जो मार्ग में चलने से श्रांत होकर गिर पड़े हैं, (हे केशव, गोपालक तुम्हारे प्रति प्रेमाविष्ट होने के कारण मैं उचित अनुचित का विचार नहीं कर सकी हूँ इसी से मैं मार्गभ्रष्ट हो गई हूँ, हे नाथ, चरित से भ्रष्ट मेरा आलम्बन क्यों नहीं करते? कामदेव के द्वारा खिन्न मन वाली स्त्रियों के तुम्हीं एक मात्र आश्रय हो)—इस प्रकार गोपी के द्वारा व्याजपूर्वक कहे गये कृष्ण आप लोगों की सदा रक्षा करें।

यहाँ कृष्ण के सम्मुख विषमार्ग में परिस्खलन की बात कहती हुई, कृष्ण के साथ रमण करने की इच्छा वाली गोपिका के इस वचन में विषम पथस्खलन, तथा गिरने से बचाने की प्रार्थना वाले अर्थ के छल से प्रतीत होने पर, इस के द्वारा गुप्त विवक्षित रमणरूप' अर्थ कवि ने 'सलेशं' पद के द्वारा सूचित कर स्पष्ट कर दिया है। इसी तरह नैषधादि में 'मेरा चित्त लंका में निवास करने की इच्छा नहीं करता (मेरा चित्त नल

'चेतो नलं कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलापम्' इति दमयन्तीवाक्यादिकमप्युदाहरणम्। इदं शब्दशक्तिक्रोडीकृतगुप्ताविष्करणम्।

अर्थशक्तिमूलगुप्तार्थाविष्करणं यथा—

गच्छाम्यच्युत ! दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किं चैवं विजनस्थयोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा।
इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
माश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः॥

अत्र 'गच्छाम्यच्युत !' इत्यामन्त्रणेन 'त्वया रन्तुं कामेच्छया स्थितं तन्न लब्धम्' इत्यर्थशक्तिलभ्यं वस्तु तृतीयपादेनाविष्कृतम्। सर्वमेतत्कविनिबद्धवक्तृगुप्ताविष्करणोदाहरणम्।

कविगुप्ताविष्करणं यथा—

सुभ्रु ! त्वं कुपितेत्यपास्तमशनं त्यक्ताः कथा योषितां
दूरादेव विवर्जिताः सुरभयः स्रग्गन्धधूपादयः।
कोपं रागिणि मुञ्च मय्यवनते दृष्टे प्रसीदाधुना
सत्यं त्वद्विरहाद्भवन्ति दयिते ! सर्वा ममान्धा दिशः॥

को चाहता है), और कोई दूसरी जगह मेरी अभिलाषा नहीं (मेरा मन किसी दूसरे राजा में साभिलाप नहीं है')—इत्यादि दमयंतीवाक्यादि भी विवृतोक्ति के ही उदाहरण हैं।

यहाँ शब्दशक्ति (श्लिष्ट प्रयोग तथा अभिधामूलाव्यञ्जना) के द्वारा गुप्त वस्तु का प्रकटीकरण पाया जाता है। अर्थशक्ति मूल गुप्त वस्तु के प्रकाशन का उदाहरण निम्न पद्य है।

'हे अच्युत, मुझे जाने भी दो, भला तुम्हारे दर्शन से क्या तृप्ति मिल सकती है! इस तरह हमें एकांत में खड़े देख कर, तुम्हीं सोचो, ऐसे-वैसे लोग, क्या समझेंगे?—इस प्रकार आमंत्रण (सम्बोधन) तथा भावभंगी के द्वारा अपने व्यर्थ के रुकने की वेदना से दुखी गोपिका को बाहुपाश में पकड़ आनन्द से रोमांचित हो आलिंगन करते कृष्ण आप लोगों की रक्षा करें।'

('तुम बड़े मूर्ख हो, व्यर्थ ही क्यों समय खो रहे हो, तुम्हारे दर्शन या बाह्य सुरतादि से तो कोई तृप्ति मिल नहीं रही, हम लोगों के बारे में लोगों ने यह तो समझ ही लिया होगा, फिर तुम रतिक्रीड़ा में प्रवृत्त क्यों नहीं होते'—यह गोपी का आशय है, जो 'इत्यामन्त्रण-भङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसाम्' पद के द्वारा कवि ने स्पष्ट कर दिया है।)

यहाँ 'गच्छाम्यच्युत' इस सम्बोधन के द्वारा 'तुमने रमण करने के लिए मुझे रोका था, वह मुझे प्राप्त न हो सका' इस प्रकार अर्थशक्ति लभ्य वस्तु को कवि ने पद्य के तृतीयचरण के द्वारा प्रकट कर दिया है। यह सब कविनिबद्धवक्ता के द्वारा गुप्त आशय के प्रकटीकरण के उदाहरण हैं।

कभी कभी कवि स्वयं भी अपने गुप्त आशय को स्पष्ट करता है, जैसे निम्न पद्य में:—

'हे सुन्दर भौंहों वाली हे प्रिये (हे दृष्टि), तुम नाराज हो ऐसा समझ कर मैंने खाना पीना भी छोड़ दिया, युवतियों की बातें करना छोड़ दिया, सुगन्धित मालाएँ, गन्धधूपादि

अत्र तावदीर्ष्यामानकलुषितदयिताप्रसादनव्यापारविधिः प्रतीयते। दृष्टिरोगार्तस्य दृष्टि प्रत्याक्रोशो विवक्षितार्थः। स च 'दृष्टे' इत्यस्य पदस्य प्लुतोच्चारणेन संबुद्धिरूपतामवगमय्याविष्कृतः। कविनिबद्धवक्तृगुप्तं परवञ्चनार्थं, कविगुप्तं स्वप्रौढिकथनार्थमिति भेदः॥ १५५॥

८९ युक्त्यलंकारः

युक्तिः परातिसन्धानं क्रियया मर्मगुप्तये।
त्वामालिखन्ती दृष्ट्वाऽन्यं धनुः पौष्पं करेऽलिखत्॥ १५६॥

अत्र 'पुष्पचापलेखनक्रियया मन्मथो मया लिखितः' इति भ्रान्त्युत्पादनेन स्वानुरागरूपमर्मगोपनाय परवञ्चनं विवक्षितम्।

यथा वा—

दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वच-
स्तत्प्रातर्गुरुसंनिधौ निगदतस्तस्यातिमात्रं वधूः।
कर्णालम्बितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्चूपुटे
व्रीडार्ता विदधाति दाडिमफलव्याजेन वाग्बन्धनम्॥

भी दूर से छोड़ दिए। मुझे पैरों पड़ा (मुझे झुका) देखकर अब तो मेरे प्रति प्रसन्न होवो, हे प्रिये, तुम्हारे बिना मेरे लिए सारी दिशाएँ शून्य (अन्धी) हो गई हैं, यह सच है।'

(यहाँ प्रिया के पक्ष में 'दृष्टे' सप्तम्यंतपद है, जब कि नेत्र के पक्ष में वह संबोधन है।)

यहाँ ईर्ष्यामान के द्वारा कषायित प्रिया को प्रसन्न करने की चेष्टा प्रतीत हो रही है। किंतु विवक्षित अर्थ आँख की पीडा से पीडित किसी रोगी का दृष्टि के प्रति आक्रोश है: यह अर्थ 'दृष्टे' इस पद के प्लुत उच्चारण करने पर उसे संबोधन का रूप बनाकर आविष्कृत किया गया है। कविनिबद्धवक्ता के द्वारा गुप्त वस्तु का वर्णन दूसरे को ठगने के लिए किया जाता है, जब कि कवि के द्वारा गुप्त वस्तु का वर्णन कवि की प्रौढि बताने के लिए किया जाता है।

८९. युक्ति अलंकार

१५६—जहाँ अपने मर्म (रहस्य का गोपन करने के लिए किसी चेष्टा से दूसरों की वंचना की जाय, वहाँ युक्ति अलंकार होता है। जैसे (कोई दूती नायक से कह रही है) नायिका तुम्हारा चित्र बना रही थी, पर किसी को समीप आता देखकर उसने हाथ में पुष्प के धनुष का चित्र बना दिया।

यहाँ 'पुष्पधनुष का चित्र बनाने की क्रिया के द्वारा मैंने कामदेव का चित्र बनाया है, इस भ्रांति को उत्पन्न कर अपने प्रेम को छिपाने के लिए दूसरे की वंचना विवक्षित है।

अथवा जैसे—

'रात के समय रतिक्रीडा करते नायक नायिका ने जो बातें की थीं, वे गृहशुक ने सुन ली थीं, प्रातःकाल के समय वह तोता उन सारी बातों को घर के बड़े लोगों के सामने कहने लगा। इसे देखकर लज्जित नायिका (बहू) ने अपने कान में लटकते माणिक के टुकड़े को उसकी चोंच में डाल दिया और इस प्रकार दाडिम के बीज के बहाने उसकी वाणी को बन्द कर दिया।'

अत्र शुकवाङ्मुद्रणया तन्मुखेन स्वकीयरहस्यवचनशुश्रूषुजनवञ्चनं कृतम्। व्याजोक्तावाकारगोपनं युक्तौ तदन्यगोपनमिति भेदः। यद्वा,-व्याजोक्तावप्युक्त्या गोपनमिह तु क्रियया गोपनम्; इति भेदः। एवं च 'आयान्तमालोक्य हरिं प्रतोल्याम्' इति श्लोकेऽपि युक्तिरेव ॥ १५६ ॥

९० लोकोक्त्यलंकारः

लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते ।
सहस्व कतिचिन्मासान् मीलयित्वा विलोचने ॥ १५७ ॥

अत्र लोचने मीलयित्वेति लोकवादानुकृतिः।

यथा वा मदीये वरदराजस्तवे—

नामैव ते वरद ! वाञ्छितदातृभावं
व्याख्यात्यतो न वहसे वरदानमुद्राम् ।
विश्वप्रसिद्धतरविप्रकुलप्रसूतेः
यज्ञोपवीतवहनं हि न खल्वपेक्ष्यम् ॥

अत्रोत्तरार्धं लोकवादानुकारः ॥ १५७ ॥

९१ छेकोक्त्यलंकारः

छेकोक्तिर्यत्र लोकोक्तेः स्यादर्थान्तरगर्भिता ।

यहाँ तोते की वाणी को बंद कर उसके द्वारा अपने रहस्यवचन को सुनने वाले गुरुजनों की वंचना की गई है। व्याजोक्ति तथा युक्ति में यह भेद है कि व्याजोक्ति में आकार का गोपन किया जाता है, युक्ति में आकार से भिन्न वस्तु का गोपन किया जाता है। अथवा व्याजोक्ति में उक्ति के द्वारा गोपन होता है, यहाँ क्रिया के द्वारा यह दोनों का अन्तर है। इस मत के अनुसार 'आयान्तमालोक्य हरिः प्रतोल्यां' इत्यादि व्याजोक्ति के प्रसंग में उद्धृत पद्य में भी युक्ति अलंकार है।

९०. लोकोक्ति अलंकार

१५७—जहाँ लोक प्रवाद (मुहावरा, लोकोक्ति आदि) का अनुकरण किया जाय, वहाँ लोकोक्ति अलंकार होता है, जैसे (कोई नायक विरहिणी नायिका को संदेश भेज रहा है) 'हे सुन्दरि, आंखे मींच कर कुछ महीने और गुजार लो'।

यहाँ 'लोचने मीलयित्वा' यह लोकवादानुकृति है।

अथवा जैसे अप्पयदीक्षित के ही वरदराजस्तव में—

हे वरद, आप का नाम ही याचक को ईप्सित वस्तु देने के भाव को व्यक्त करता है, अतः आप वरदमुद्रा को धारण नहीं करते। संसारप्रसिद्ध ब्राह्मणकुल में उत्पन्न व्यक्ति से केवल यज्ञोपवीत को धारण करने की ही आशा नहीं की जाती।

यहाँ उत्तरार्ध में लोकोक्ति का प्रयोग किया गया है।

९१. छेकोक्ति अलंकार

१५८—जहाँ लोकोक्ति के प्रयोग में कोई दूसरा अर्थ छिपा हो, वहाँ छेकोक्ति अलंकार होता है। जैसे, हे मित्र साँप ही साँप के पाँव जानता है।

भुजङ्ग एव जानीते भुजङ्गचरणं सखे ! ॥ १५८ ॥

केनचित्कस्यचिद्वृत्तान्तं पृष्टस्य समीपस्थमन्यं निर्दिश्य 'अयमेव तस्य वृत्तान्तं जानाति' इत्युक्तवतोऽयमहेः पादानहिरेव जानातीति लोकवादानुकारः। अत्र स चायं लोकविदिते धनार्जनादिव्यापारे सहचारिणाविति विदितविषयतया लोकोक्त्यनुवादस्य प्रयोजने स्थिते रहस्येऽप्यनङ्गव्यापारे तस्यायं सहचर इति मर्मोद्घाटनमपि तेन गर्भीकृतम्।

यथा वा—

मलयमरुतां व्राता याता विकासितमल्लिका-
परिमलभरो भग्नो ग्रीष्मस्त्वमुत्सहसे यदि।
घन ! घटय तं त्वं निःस्नेहं य एव निवर्तने
प्रभवति गवां किं नश्छिन्नं स एव धनंजयः ॥

अत्र धनलिप्सया प्रोषिताङ्गनासखीवचने 'य एव गवां निवर्तने प्रभवति स एव धनंजयः' इत्यान्ध्रजातिप्रसिद्धलोकवादानुकारः। अत्रातिसौन्दर्यशालिनीमिमामपहाय धनलिप्सया प्रस्थितो रसानभिज्ञत्वाद्गोप्राय एव। तस्य निवर्तकस्तु धनस्य जेता धनेनाकृष्टस्य तद्विमुखीकरणेन प्रत्याक्षेपकत्वादित्यर्थान्तरमपि गर्भीकृतम् ॥ १५८ ॥

किसी व्यक्ति ने किसी दूसरे व्यक्ति का वृत्तान्त पूछा, इस पर कोई व्यक्ति पास में खड़े व्यक्ति को देखकर इस आशय से कि 'यही उसके वृत्तान्त को जानता है' इस लोकोक्ति का प्रयोग करता है कि 'साँप ही साँप के पाँव जानता है'। यहाँ 'वह व्यक्ति तथा यह दोनों धनार्जनादिव्यापार में सहचारी हैं', इस बात के प्रख्यात होने से लोकोक्ति के प्रयोग के प्रयोजन रूप रहस्य अनंगव्यापार (कामव्यापार) में भी यह उसका मित्र है, इस प्रकार इस उक्ति के द्वारा रहस्य का उद्घाटन किया गया है। अतः इस लोकोक्ति में दूसरा अर्थ छिपा है। अथवा जैसे निम्न पद में—

कोई सखी विरहिणी नायिका के प्रति नायक को उन्मुख करने के लिए बादल के बहाने नायक से कह रही है—'मलय पर्वत से आने वाले दक्षिणानिल के समूह चले गये हैं (नायिका ने वसंत ऋतु विरह में ही बिता दी है), खिली हुई मल्लिका के सुगंध के भार वाला ग्रीष्म भी समाप्त हो गया है। हे बादल, यदि तुम उत्साह करो, तो उस स्नेह शून्य नायक को इससे मिला सकते हो। शत्रुओं के द्वारा हरी गई गायों को वापस लौटाने में जो समर्थ हो, वही 'धनंजय' (अर्जुन) कहलाता है।

(यहाँ चतुर्थ चरण में एक ओर अर्जुन के द्वारा राजा विराट की गायों को लौटा लाने की पौराणिक कथा की ओर संकेत किया गया है, दूसरी ओर यह उक्ति आंध्रदेश में प्रसिद्ध लोकोक्ति है।)

धन की इच्छा से विदेश गये नायक की विरहिणी पत्नी की सखी के इस वचन में 'जो गायों को लौटाने में समर्थ हो, वही धनंजय है' इस आंध्रलोकोक्ति का प्रयोग हुआ है। यहाँ यह अभिप्राय है कि अत्यधिक सौन्दर्य शालिनी नायिका को छोड़कर धन की इच्छा से विदेश गया नायक रसज्ञ न होने के कारण बैल के समान मूर्ख है। उसे वह ला सकता

९२ वक्रोक्त्यलङ्कारः

वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकल्पनम् ।
मुञ्च मानं दिनं प्राप्तं नेह नन्दी हरान्तिके ॥ १५९ ॥

अत्र 'मानं मुञ्च, प्रयाता रात्रिः' इत्याशयेनोक्तायां वाचि नन्दिनं प्राप्तं मा मुञ्चेत्यर्थान्तरं श्लेषेण परिकल्पितम् ।

यथा वा—

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ? ।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥

इदमविकृतश्लेषवक्रोक्तेरुदाहरणम् ।

विकृतश्लेषवक्रोक्तेर्यथा—

भवित्री रम्भोरु ! त्रिदशवदनग्लानिरधुना
स ते रामः स्थाता न युधि पुरतो लक्ष्मणसखः ।

है जो उसे धन से विमुख बना सके अतः वह धन का विजयी होगा, इस अर्थान्तर की प्रतीति इस लोकोक्ति से हो रही है। अतः यहाँ छेकोक्ति अलंकार है।

९२. वक्रोक्ति अलंकार

१५९—जहाँ श्लेष या काकु में से किसी एक के द्वारा अर्थान्तर की कल्पना की जाय, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। जैसे, (कोई नायक नायिका से मान छोड़ने को कह रहा है।) हे प्रिये, मान को छोड़ दे, देख अब तो दिन हो गया (तू रात भर मान करके बैठी रही, अब तो प्रसन्न हो जा) (इसमें 'मुञ्च मा नंदिनं प्राप्तं' से—'पास आये नन्दी को न छोड़ना' यह अर्थ लेकर नायिका उत्तर देती है—) 'यहाँ नंदी कहाँ है, अरे नंदी तो शिव जी के पास है।

यहाँ 'मान छोड़ दो, रात चली गई' इस आशय से कही नायकोक्ति में नायिका ने 'पास आये नंदी को न छोड़ देना' यह अर्थान्तर कल्पना की गई है, अतः यहाँ वक्रोक्ति अलंकार है। अथवा जैसे—

कोई नायक ईर्ष्यामान-कषायित नायिका से कह रहा है—अरी कठोर हृदये, किसने तेरी यह बुद्धि इतनी कठोर (दारुणा, लकड़ी के द्वारा) बना दी है ? (नायिका का उत्तर है—) बुद्धि त्रिगुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) से युक्त तो सुनी जाती है, लकड़ी से बनी तो कहीं न सुनी गई है।

(यहाँ 'दारुणा' पद (स्त्रीलिंग प्रथमैकवचन रूप)—कठोर अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इसी का वक्रोक्ति से 'दारुणा' (नपुंसक तृतीयैकवचन रूप)—लकड़ी के द्वारा यह अन्य अर्थ कल्पित किया गया है।)

यह अविकृतश्लेषवक्रोक्ति का उदाहरण है। विकृतश्लेषवक्रोक्ति का उदाहरण निम्न है:-

रावण सीता से कह रहा है :—'हे रम्भोरु सीते, अब देवताओं के मुख की शोभा फीकी पड़ जायगी, वह तेरा राम लक्ष्मण के साथ युद्ध में न ठहर पायगा, यह वानरों की सेना अब घोर विपत्ति का सामना करेगी (अथवा अब स्वर्ग में चली जायगी) ।' इसका

इयं यास्यत्युच्चैर्विपदमधुना वानरचमू-
र्लघिष्ठेदं षष्ठाक्षरपरविलोपात् पठ पुनः ॥

सर्वमिदं शब्दश्लेषमूलाया वक्रोक्तेरुदाहरणम् ।

अर्थश्लेषमूलाया वक्रोक्तेर्यथा—

भिक्षार्थी स क यातः सुतनु ! बलिमखे ताण्डवं काद्य भद्रे !
मन्ये वृन्दावनान्ते क नु स मृगशिशुर्नैव जाने वराहम् ।
बाले ! कच्चिन्न दृष्टो जरठवृषपतिर्गोप एवास्य वेत्ता
लीलासंलाप इत्थं जलनिधिहिमवत्कन्ययोस्त्रायतां नः ॥

काक्वा यथा—

असमालोच्य कोपस्ते नोचितोऽयमितीरिता ।
नैवोचितोऽयमिति तं ताडयामास मालया ॥

अत्रनैवोचितोऽयमिति काकुस्वरविकारेणोचित एवेत्यर्थान्तरकल्पनम् ॥१५६॥

९३ स्वभावोक्त्यलङ्कारः

स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम् ।

उत्तर देते हुए सीता कहती है 'इस उक्ति के प्रत्येक चरण से छठे अक्षर के पर अक्षर (सप्तम) का लोप कर फिर से पढ़ो'—(इस प्रकार सप्तमाक्षर का लोप करने पर अर्थ होगा—'अब रावण के मुख की ग्लानि होने वाली है, लक्ष्मण के साथ राम युद्ध में खड़े रहेंगे, वानरों की सेना उच्च पद (विजय) को प्राप्त करेगी)।

उपर्युक्त ये सब उदाहरण शब्दश्लेषमूला वक्रोक्ति के हैं।

अर्थ श्लेषमूलावक्रोक्ति का उदाहरण निम्न है :—

लक्ष्मी आकर पार्वती से पूछती हैं—'वह भिक्षार्थी कहाँ गया ?

पार्वती उत्तर देती हैं:—'हे सुतनु वह बलि के यज्ञ में गया है।' 'हे भद्र आज ताण्डव कहाँ होगा ?' 'शायद वृन्दावन में होगा।' 'वह मृगशिशु (महादेव के द्वारा हाथ में धारण किया मृग शिशु) कहाँ है ?' 'मुझे वराह का पता नहीं है।' 'हे बाले, उस बूढ़े बैल का मालिक (अथवा वह बूढ़ा बैल) कहीं नहीं दिखाई दिया।' 'इसे तो ग्वाला ही जान सकता है'—इस प्रकार लक्ष्मी तथा पार्वती का लीलासंलाप हमारी रक्षा करे।

(यहाँ लक्ष्मी शिवपरक उक्ति कहती हैं, पार्वती अर्थश्लेषमय वक्रोक्ति के द्वारा उसे विष्णुपरक बनाकर अर्थान्तर की कल्पना कर लेती हैं)।

काकु वक्रोक्ति जैसे,

कोई नायक ईर्ष्यामानाविष्ट नायिका से कहता है—'बिना सोचे समझे तेरा कोप करना ठीक नहीं।' यह कहने पर नायिका काकु के द्वारा उत्तर देती है—'यह भी ठीक नहीं है' तथा उसे माला से पीटती है।

इस प्रकार यहाँ 'यह भी उचित नहीं है' इस काकु स्वर के विकार के द्वारा 'उचित ही है' यह अर्थान्तर कल्पित किया गया है।

९३. स्वभावोक्ति अलंकार

१६०—किसी पदार्थ की जाति, गुण, क्रिया के अनुसार उसके स्वभाव का वर्णन करने

कुरङ्गैरुत्तरङ्गाक्षैः स्तब्धकर्णैरुदीक्ष्यते ॥ १६० ॥

यथा वा—

तौ संमुखप्रचलितौ सविधे गुरूणां
मार्गप्रदानरभसस्खलितावधानौ ।
पार्श्वोपसर्पणमुभावपि भिन्नदिक्कं
कृत्वा मुहुर्मुहुरुपासरतां सलज्जम् ॥ १६० ॥

९४ भाविकालङ्कारः

भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम् ।
अहं विलोकयेऽद्यापि युध्यन्तेऽत्र सुरासुराः ॥ १६१ ॥

स्थानभीषणत्वोद्भावनपरमिदम् ।

यथा वा—

अद्यापि तिष्ठति दृशोरिदमुत्तरीयं
धर्तुं पुरः स्तनतटात्पतितं प्रवृत्ते ।
वाचं निशम्य नयनं ममेति
किंचित्तदा यदकरोत्स्मितमायताक्षी ॥ १६१ ॥

पर स्वभावोक्ति अलंकार होता है। जैसे चंचल आँखों वाले, स्तब्धकर्ण हिरन देख रहे हैं।

(यहाँ हिरणों के स्वभाव का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है।)

अथवा जैसे—

कोई नायक-नायिका घर के बड़े लोगों के पास एक दूसरे की ओर चले। ये एक दूसरे को रास्ता देने की तेजी में सावधानी भूल जाते हैं, इससे उनके विपरीत अंग बायें-दायें अंग एक दूसरे से बार-बार रगड़ खा जाते हैं। इसके बाद वे लज्जित हो कर वहाँ से भग जाते हैं।

(यहाँ सलज्ज व्यक्तियों की क्रिया का स्वाभाविक वर्णन है।)

९४. भाविक अलंकार

१६१—जहाँ भूत काल या भविष्यत् काल की वस्तु का वर्तमान (साक्षात्कार) के ढंग पर वर्णन किया जाय, वहाँ भाविक अलंकार होता है। जैसे, मैं आज भी यह देख रहा हूँ, कि यहाँ देवता व दैत्य युद्ध कर रहे हैं।

यहाँ स्थान की भीषणता बताने के लिए भूत काल की घटना को प्रत्यक्ष के रूप में कहा गया है।

अथवा जैसे—

किसी नायिका का स्तनवस्त्र नीचे गिर गया था। उसने 'मेरा वस्त्र (नयन) कहाँ है, मेरा वस्त्र (नयन) कहाँ है' इस प्रकार मुसकराते व मुसकराहट के कारण स्फीत आँखों को धारण करते कुछ कहा। नायक कह रहा है—मुझे आज भी ऐसा प्रतीत होता है, जैसे नायिका का उत्तरीय आज भी मेरी आँखों के सामने है, और स्तनतट से गिरे उसको मैं पकड़ने ही जा रहा हूँ कि वह मुसकुराहट से स्फीत आँखों वाली 'मेरा नयन कहाँ है, मेरा नयन कहाँ है' इस प्रकार कह रही है।

९५ उदात्तालङ्कारः

उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम् ।
सानौ यस्याभवद्युद्धं तद्धूर्जटिकिरीटिनोः ॥ १६२ ॥

इदं श्लाघ्यचरितस्यान्याङ्गत्वे उदाहरणम् ।

ऋद्ध्युदाहरणं यथा—

[विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशदृपदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम् ।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥]

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः ।
ज्ञातो लंकेश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्त्वतः ॥ १६२ ॥

९६ अत्युक्त्यलङ्कारः

अत्युक्तिरद्भूतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम् ।
त्वयि दातरि राजेन्द्र ! याचकाः कल्पशाखिनः ॥ १६३ ॥

यहाँ भूतकाल की घटना को नायक ने वर्तमान के ढंग पर कहा है। अतः भाविक अलंकार है।)

९५. उदात्त अलंकार

१६२—जहाँ समृद्धि का वर्णन हो, अथवा किसी अन्य वस्तु के अंग के रूप में श्लाघ्य चरित का वर्णन हो, वहाँ उदात्त अलंकार होता है, जैसे (यह वही पर्वत है) जिसके शिखर पर शिव और अर्जुन का युद्ध हुआ था।

यहाँ कारिकार्ध का उदाहरण श्लाघ्य चरित वाला उदाहरण है। समृद्धि के वर्णन वाला उदाहरण निम्न है :—

नैषधीय चरित के द्वितीय सर्ग से दमयन्ती के उपवन का वर्णन है। 'दमयन्ती के उस उपवन ने; जिसमें चन्द्रमा की किरणों के आलिंगन (स्पर्श) से चूते हुए रस से भरे, चन्द्रकान्तमणियों के बने वृक्षों के आलवाल के द्वारा वृक्षों की जलसेक क्रिया व्यर्थ हो गई थी; हंस का मन हर लिया (हंस को हृतचित्त बना दिया)।

यहाँ दमयन्ती के उपवन की समृद्धि का वर्णन पाया जाता है, अतः उदात्त अलंकार है।

इसी का दूसरा उदाहरण यह है :—

हनुमान् वास्तविक लंकेश्वर (रावण) को इसलिए कठिनता से जान पाये कि वह सभाभवन के रत्नस्तम्भों में प्रतिफलित सैकड़ों प्रतिबिंबों से घिरा हुआ था।

यहाँ रावण के सभाभवन की समृद्धि का वर्णन होने से उदात्त अलंकार है।

९६. अत्युक्ति अलंकार

१६३—जहाँ शौर्य, उदारता आदि का अद्भुत तथा झूठा (अतथ्य) वर्णन किया जाय, (जहाँ किसी के शौर्यादि को झूठे ही बढ़ा चढ़ा कर बताया जाय), वहाँ अत्युक्ति अलंकार

इयमौदार्यात्युक्तिः ।

शौर्यात्युक्तिर्यथा—

राजन् ! सम्प्राप्यकूपारास्त्वत्प्रतापाग्निशोषिताः ।
पुनस्त्वद्वैरिवनिताबाष्पपूरेण पूरिताः ॥

संपदत्युक्तावुदात्तालङ्कारः । शौर्यात्युक्तावत्युक्त्यलङ्कार इति भेदमाहुः ।

अनयोरनवद्याङ्गि ! स्तनयोर्जृम्भमाणयोः ।
अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे ॥
अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा ।
इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनमण्डलम् ॥

इति सदसदुक्तितारतम्येनातिशयोक्त्यत्युक्त्योर्भेदः ॥ १६३ ॥

होता है । जैसे, (कोई कवि राजा की दानवीरता की प्रशंसा करते कहता है) हे राजन्, तुम्हारे दाता बनने पर कल्पवृक्ष भी याचक बन गये हैं ।

यहाँ राजा की उदारता (दानशीलता) की अत्युक्ति है । शौर्य की अत्युक्ति का उदाहरण निम्न है :—

कोई कवि किसी राजा की वीरता का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करता है :—हे राजन्, तुम्हारी प्रतापाग्नि के ताप से सातों समुद्र सूख गये थे, किंतु तुम्हारे शत्रुओं की स्त्रियों के अश्रुप्रवाह से वे फिर भर दिये गये ।

उदात्त तथा अत्युक्ति में यह भेद है कि सम्पत्ति (समृद्धि) का अत्युक्तिमय वर्णन होने पर उदात्त होता है, शौर्यादि का अत्युक्तिमय वर्णन होने पर अत्युक्ति ।

अतिशयोक्ति तथा अत्युक्ति दोनों में खास भेद यह है कि अतिशयोक्ति में असदुक्ति मात्र होती है, जब कि अत्युक्ति अत्यन्त असदुक्ति होती है । इस प्रकार अतिशयोक्ति तथा अत्युक्ति में मात्रात्मक या तारतमिक भेद है । इसी को स्पष्ट करने के लिए यहाँ दोनों का एक एक उदाहरण देते हैं, जिससे यह भेद और स्पष्ट हो जाय ।

'हे प्रशस्त अंगों वाली सुन्दरि, इन बढ़ते हुए स्तनों के लिए तेरे दोनों बाँहों के बीच पर्याप्त स्थान नहीं है ।'

(इस पद्य में सम्बन्धे असम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति है । यहाँ भी कवि ने अतथ्य या असत् उक्ति का प्रयोग किया है, पर वह उतनी प्रबल नहीं है, जितनी कि अगले पद्य में ।)

ब्रह्मा ने यह सोचे बिना ही कि तुम्हारा स्तनमण्डल इतना विशाल हो जायगा, आकाश बहुत छोटा बनाया ।

(यहाँ अत्युक्ति है, क्योंकि अत्यन्त असत् उक्ति का प्रयोग पाया जाता है ।)

टिप्पणी—अत्युक्तिका समावेश अतिशयोक्ति में नहीं हो सकता । यद्यपि वहाँ भी अतथ्य का वर्णन तो होता है, तथापि वह अद्भुत होता है । अद्भुत विशेषण के कारण यहाँ लक्षण से अत्यन्तातथ्यरूप वर्णन की भावना है ।

(अनयोरित्यत्रासदुक्तिमात्रम् । अल्पमिति पद्ये त्वत्यन्तासदुक्तिरिति तारतम्येनेत्यर्थः । तथा चाद्भुतेति विशेषणादत्यन्तातथ्यरूपत्वलाभान्नातिशयोक्तावतिव्याप्तिरिति भावः ।

(चन्द्रिका पृ० १७८)

९७ निरुक्त्यलङ्कारः

निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम् ।
ईदृशैश्चरितैर्जाने सत्यं दोषाकरो भवान् ॥ १६४ ॥

यथा वा—

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥ १६४ ॥

९८ प्रतिषेधालङ्कारः

प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम् ।
न द्यूतमेतत्कितव ! क्रीडनं निशितैः शरैः ॥ १६५ ॥

निर्ज्ञातो निषेधः स्वतोऽनुपयुक्तत्वादर्थान्तरं गर्भीकरोति। तेन चारुत्वान्वितोऽयं प्रतिषेधनामालङ्कारः। उदाहरणं युद्धरङ्गे प्रत्यवतिष्ठमानं शाकुनिकं प्रति विदग्धवचनम्। अत्र युद्धस्याक्षद्यूतत्वाभावो निर्ज्ञात एव कीर्त्यमानस्तत्रैव तव

---

९७. निरुक्ति अलंकार

१६४—जहाँ यौगिक अर्थ के द्वारा (योग के द्वारा) किन्हीं वस्तुओं के नाम की अन्यार्थ कल्पना की जाय, वहाँ निरुक्ति अलंकार होता है, जैसे (कोई विरहिणी चन्द्रमा को फटकारती कह रही है) तुम्हारे इस प्रकार हमें सताने से यह सिद्ध होता है कि तुम सचमुच दोषाकर (दोषों की खान; दोषा (रात्रि) के करने वाले–चन्द्रमा) हो।

यहाँ चन्द्रमा का नाम 'दोषाकर' है, जिसका अर्थ नये ढंग से 'दोष+आकर' (दोषों की खान) कल्पित किया गया है। अतः यहाँ निरुक्ति अलंकार है। इसी का दूसरा उदाहरण निम्न है :—

'पुराने जमाने में जब कभी कवियों की गणना की जाती थी तो कालिदास का नाम कनिष्ठिका अंगुलि पर स्थित रहता था। आज भी कालिदास के समान कोई कवि न हुआ इसलिए कनिष्ठिका के बाद की अंगुलि अनामिका सार्थवती हो गई।'

यहाँ 'अनामिका' नाम की व्युत्पत्ति (निरुक्ति) कवि न दूसरे ढंग से यह की है कि कालिदास के बाद किसी कवि के उसके समान प्रतिभाशाली न होने के कारण अगली अंगुलि पर गिनने को कोई नाम न मिला, अतः उसका 'अनामिका' (न विद्यते कविनाम यस्यां सा) नाम सार्थक हो गया।

९८. प्रतिषेध अलंकार

१६५—जहाँ प्रसिद्ध निषेध का वर्णन किया जाय, वहाँ प्रतिषेध अलंकार होता है, जैसे (युद्ध में स्थित किसी द्यतक्रीडारत व्यक्ति से कोई कह रहा है) हे धूर्त, यह जुए का खेल नहीं है, यह तो तीक्ष्ण बाणों का खेल है।

प्रसिद्ध निषेध स्वतः अनुपयुक्त होने के कारण किसी अन्य अर्थ को प्रगट करता है। इसलिए चारुता से युक्त होने के कारण यह प्रतिषेध नामक अलंकार कहलाता है। उदाहरण किसी चतुर व्यक्ति का वचन है, जो युद्धस्थल में स्थित किसी द्यूतकार (शाकुनिक) से कहा गया है। यहाँ युद्ध स्वयं ही द्यूतक्रीडा से भिन्न है, यह प्रसिद्ध बात है, किंतु इस

प्रागल्भ्यं न युद्धे व्युत्पत्तिग्रहोऽस्तीत्युपहासं गर्भीकरोति, तच्च 'कितव' इत्यनेनाविष्कृतम् ।

यथा वा—

न विषेण न शस्त्रेण नाग्निना न च मृत्युना ।
अप्रतीकारपारुष्याः स्त्रीभिरेव स्त्रियः कृताः ॥

अत्र स्त्रीणां विषादिनिर्मितत्वाभावः प्रसिद्ध एव कीर्त्यमानस्तासां विषाद्यतिशायि क्रौर्यमित्यमुमर्थं व्यक्तीकरोति, स चाप्रतीकारपारुष्या इति प्रतीकारवद्भ्यो विषादिभ्यस्तासां विशेषं दर्शयता विशेषणेनाविष्कृतः ॥ १६५ ॥

९९ विध्यलंकारः

सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतिम् ।
पञ्चमोदञ्चने काले कोकिलः कोकिलोऽभवत् ॥ २६६ ॥

निर्ज्ञातविधानमनुपयुक्तिबाधितं सदर्थान्तरगर्भीकरणेन चारुतरमिति तं विधिनामानमलङ्कारमाहुः । उदाहरणे कोकिलस्य कोकिलत्वविधानमनुपयुक्तं सदतिमधुरपञ्चमध्वनिशालितया सकलजनहृद्यत्वं गर्भीकरोति । तच्च 'पञ्चमोदञ्चने' इति कालविशेषणेनाविष्कृतम् ।

निर्ज्ञात निषेध का वर्णन इसलिए किया गया है कि उस उक्ति से 'अरे द्यूतकार तेरी कुशलता तो अक्षक्रीडा में ही है, युद्ध के विषय में तू क्या जाने' इस प्रकार का उपहास व्यञ्जित हो रहा है । इसको 'कितव' शब्द के द्वारा प्रगट किया गया है ।

अथवा जैसे—

स्त्रियों की परुषता (कठोरता) का कोई प्रतीकार नहीं है। वे न तो विष से बनाई गई है, न शस्त्र से, न अग्नि से या मृत्यु से ही। वस्तुतः स्त्रियों की रचना स्त्रियों के ही उपादान कारण से की गई है ।

यहाँ स्त्रियों का विषादि के द्वारा न बनाया जाना प्रसिद्ध ही है, किन्तु उसका वर्णन इसलिए किया गया है कि वह इस बात की व्यञ्जना करा सके कि स्त्रियाँ विषादि से भी अधिक क्रूर हैं। यह व्यञ्जना 'अप्रतीकार-पारुष्याः' पद के द्वारा हो रही है, जिसका भाव है कि विषादि का तो कोई इलाज भी है, पर स्त्रियों की परुषता का कोई इलाज नहीं, अतः वे इन सबसे बढ़ कर क्रूर हैं ।

९९. विधि अलंकार

१६६—जहाँ पूर्वतः सिद्ध वस्तु का पुनः विधान किया जाय, वहाँ विधि अलंकार होता है (यह प्रतिषेध अलंकार का बिलकुल उलटा है), जैसे, पञ्चम स्वर के प्रगट करने के समय ही कोयल कोयल होती है ।

जहाँ प्रसिद्ध पूर्वसिद्ध वस्तु को, जो किसी युक्ति के द्वारा बाधित नहीं है, फिर से वर्णित किया जाय, वहाँ किसी अन्य अर्थ की व्यंजना के अतिशय सौन्दर्य के कारण इसे विधि नामक अलंकार कहते हैं । उदाहरण में, कोकिल का कोकिल बनना अनुपयुक्त है, इसके द्वारा मधुर पञ्चमस्वर के कारण समस्त विश्व को प्रिय होने का भाव व्यंग्य है । यह 'पञ्चमोदञ्चने काले' के द्वारा व्यक्त किया गया है । अथवा जैसे,

यथा वा (उ० राम० २।१०)—

हे हस्त दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य गात्रमसि निर्भरगर्भखिन्न
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ? ॥

अत्र रामस्य स्वहस्तं प्रति 'रामस्य गात्रमसि' इति वचनमनुपयुक्तं सत् 'रामस्य' इत्यनेन स्वस्यात्यन्तनिष्करुणत्वं गर्भीकरोति। तच्च 'निर्भरे'त्यादिविशेषणेनाविष्कृतम् । यद्यप्यनयोर्विधिनिषेधयोरुदाहरणेषु व्यङ्ग्यान्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यरूपाणि तथापि न ध्वनिभावास्पदानि, स्वोक्त्यैव व्यङ्ग्यविशेषाविष्करणात् । व्यङ्ग्याविष्करणे चालङ्कारत्वमेवेति प्राक्प्रस्तुताङ्कुरप्रकरणे व्यवस्थितत्वात् । पूर्वं बाधितौ विधिप्रतिषेधौ आक्षेपभेदत्वेनोक्तौ । इह तु प्रसिद्धौ विधिप्रतिषेधौ तत्प्रतिद्वन्द्विनावलंकारत्वेन वर्णिताविति भेदः ॥ १६६ ॥

१०० हेत्वलङ्कारः

हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते ।
असावुदेति शीतांशुर्मानच्छेदाय सुभ्रुवाम् ॥ १६७ ॥

उत्तररामचरित से राम की उक्ति है । वे अपने दाहिने हाथ से कह रहे हैं :—हे दक्षिण हस्त, ब्राह्मण के मृत पुत्र को पुनर्जीवित करने के लिए तू शूद्रमुनि की ओर खड्ग उठा ले । अरे तू उस निष्करुण राम के शरीर का अङ्ग है, जिसने गर्भ से खिन्न सीता को वन दे दिया । तुझे करुणा कहाँ से ?'

यहाँ राम के द्वारा अपने ही हाथ के लिए प्रयुक्त वचन 'तू राम के शरीर का अङ्ग है' ठीक नहीं दिखाई पड़ता, किंतु 'रामस्य' इस पद के द्वारा यहाँ राम के अत्यधिक निर्दय होने के भाव को व्यक्त करता है । यह 'निर्भर' इत्यादि विशेषण के द्वारा प्रगट किया गया है । यद्यपि विधि तथा प्रतिषेध के इन उदाहरणों में व्यंग्यार्थ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यरूप पाये जाते हैं, तथापि इन्हें ध्वनिकाव्य के उदाहरण नहीं कहा जा सकता । क्योंकि उक्ति के द्वारा ही व्यंग्यविशेष को प्रगट कर दिया गया है । जहाँ व्यंग्य स्पष्ट हो जाय, वहाँ अलंकार ही माना जाना चाहिए, इस बात की स्थापना हम प्रस्तुतांकुर अलंकार के प्रकरण में कर चुके हैं । पूर्वबाधित विधिनिषेध को हमने आक्षेप अलङ्कार के भेद माना है । यहाँ वर्णित विधि प्रतिषेध नामक अलंकार प्रसिद्ध होने कारण (पूर्व बाधित न होने के कारण) उनके प्रतिद्वन्द्वी हैं, अतः वे अलग से अलंकार माने गये हैं (तथा इनका आक्षेप के उन भेदों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता)।

१००. हेतु अलंकार

१६७—जहाँ हेतुमान् (कार्य) के साथ हेतु (कारण) का वर्णन किया जाय, वहाँ हेतु नाम अलंकार होता है ।

जैसे, यह चन्द्रमा सुन्दर भौंहों वाली रमणियों के मान का खंडन करने के लिए उदय हो रहा है ।

यथा वा—

एष ते विद्रुमच्छायो मरुमार्ग इवाधरः।
कस्य नो तनुते तन्वि ! पिपासाकुलितं मनः ?॥
माने नेच्छति वारयत्युपशमे क्ष्मामालिखन्त्यां ह्रियां
स्वातन्त्र्ये परिवृत्य तिष्ठति करौ व्याधूय धैर्ये गते।
तृष्णे ! त्वामनुबध्नता फलमियत्प्राप्तं जनेनामुना
यत्स्पृष्टो न पदा स एव चरणौ स्प्रष्टुं न सम्मन्यते॥

इत्याद्युदाहरणम्॥ १६७॥

हेतुहेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित् प्रचक्षते।
लक्ष्मीविलासा विदुषां कटाक्षा वेङ्कटप्रभोः॥ १६८॥

यहाँ 'चन्द्रमा का उदय होना' हेतु (कारण) है तथा रमणियों के मान का खण्डन होना हेतुमान् (कार्य) है। यहाँ चन्द्रोदय का वर्णन रमणीमानच्छेद के साथ किया गया है, अतः यह हेतु नामक अलंकार का उदाहरण है।

इसी अलंकार के अन्य उदाहरण निम्न हैं :—

हे सुन्दरि, मरुस्थल के मार्ग के समान विद्रुमच्छाय (विद्रुम मणि के समान लाल कांतिवाला; वृक्षों की छाया से रहित) तेरा अधर, बता तो सही, किसके मन को प्यास से व्याकुल नहीं बना देता ?

यहाँ 'विद्रुमच्छायः' में श्लेष है। इस पद्य में तन्वी के पद्मरागसदृश अधरोष्ठ हेतु (कारण) तथा उसके दर्शन से चुंबनेच्छा का उदय हेतुमान् (कार्य) दोनों का साथ साथ वर्णन किया गया है, अतः यह हेतु अलंकार का उदाहरण है।

हेतु का अन्य उदाहरण निम्न है :—

कोई कवि तृष्णा की भर्त्सना करता कह रहा है। जब मान की इच्छा न थी, शांति मना कर रही थी, लज्जा पृथ्वी पर गिर पड़ी थी, स्वतन्त्रता मुँह मोड़े खड़ी थी, धैर्य हाथ मल मल कर पछता कर चला गया था, हे तृष्णे, उस समय तेरा अनुसरण करते हुए व्यक्ति ने जो फल प्राप्त किया, वह यह है कि जिस व्यक्ति को हम पैर से भी छूना पसंद नहीं करते थे, वही नीच आज अपने पैर भी नहीं पकड़ने देता।

यहाँ तृष्णा रूप हेतु का वर्णन उसके कार्य के साथ साथ किया गया है, अतः इसमें हेतु अलंकार है।

१६८—कुछ आलंकारिक हेतु तथा हेतुमान् के अभेद (ऐक्य) को हेतु अलंकार मानते हैं। जैसे, वेंकटराज (नामक राजा) के कटाक्ष विद्वानों के लिए लक्ष्मी के विलास हैं।

टिप्पणी—यह उद्भटादि आलंकारिकों का मत है। उनकी परिभाषा यह है :—

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः।'

यहाँ वेंकटराज के कृपाकटाक्ष विद्वानों के लिए सम्पत्ति के कारण हैं, यह भाव अभीष्ट है; किन्तु हेतु (कटाक्ष) तथा हेतुमान् (लक्ष्मीविलास) दोनों का ऐक्य स्थापित कर दिया गया है, यहाँ कटाक्षों को ही विद्वानों के लक्ष्मीविलास बताकर दोनों में सामानाधिकरण्य स्थापित कर दिया गया है, अतः हेतु नामक अलंकार है।

अत्र च कार्यावश्यंभावतच्छैघ्र्यादिप्रत्यायनार्थः कार्यकारणाभेदव्यपदेशः। रूपके साहश्याद्भेदव्यपदेशः। इह कार्यकारणभावादिति भेदः॥

यथा वा,—

आयुर्दानमहोत्सवस्य विनतक्षोणीभृतां मूर्तिमान्
विश्वासो नयनोत्सवो मृगदृशां कीर्तेः प्रकाशः परः।
आनन्दः कलिताकृतिः सुमनसां वीरश्रियो जीवितं
धर्मस्यैष निकेतनं विजयते वीरः कलिङ्गेश्वरः॥

अत्र दानमहोत्सवायुष्करत्वादिनाऽध्यवसिते राज्ञि तदायुष्ट्वादिव्यपदेशः॥१६८॥

इत्थं शतमलङ्कारा लक्षयित्वा निदर्शिताः।
प्राचामाधुनिकानां च मतान्यालोच्य सर्वतः॥ १६९॥

अथ रसवदाद्यलंकाराः

रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः।
चत्वारो रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि च समाहितम्॥ १७०॥
भावस्य चोदयः सन्धिः शबलत्वमिति त्रयः।

यहाँ कार्य तथा कारण में अभेदस्थापना इसलिए की गई है कि तत्तत् कारण से तत्तत् कार्य अवश्य तथा शीघ्र ही होने वाला है। वेंकटराज के कृपाकटाक्ष से विद्वानों को निश्चय ही शीघ्रतया लक्ष्मीप्राप्ति होगी, इस भाव के लिए दोनों में अभिन्नता स्थापित की गई है। रूपक तथा हेतु में यह भेद है कि वहाँ सादृश्य के कारण अभेद स्थापित किया जाता है, जब कि हेतु में यह अभेद कार्यकारणभाव के कारण स्थापित किया जाता है।

हेतु के इस भेद का उदाहरण निम्न पद्य है :—

वीर कलिंगराज की जय हो, वे नम्र राजाओं के लिए दानमहोत्सव की आयु हैं, रमणियों के लिए नेत्रों को आनंद देनेवाले मूर्तिमान् विश्वास हैं। कीर्ति के दूसरे प्रकाश हैं, देवताओं (या सज्जनों) के लिए साकार आनंद हैं, जयलक्ष्मी के जीवन हैं, तथा धर्म के निवास स्थान हैं।

यहाँ कलिंगराज दानमहोत्सव में आयु देने वाले हैं, इस कार्य के द्वारा राजा (कारण) के साथ अभेद स्थापित कर दिया गया है, इस प्रकार उसको ही 'आयु' बता दिया गया है।

(यहाँ कार्यकारणभाव को लेकर आने वाली प्रयोजनवती लक्षणा का बीजरूप में होना जरूरी है। इसमें ठीक वही सरणि पाई जाती है, जो 'आयुर्घृतम्' वाली लक्षणा में।)

१६९—इस प्रकार प्राचीन तथा नवीन आलंकारिकों के मतों की आलोचना करते हुए सौ अलंकारों का लक्षण देकर उनके उदाहरण उपन्यस्त किये गये हैं।

रसवत् आदि अलङ्कार

१७०—रस, भाव, रसाभास-भावाभास और भावशान्ति क्रमशः रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि तथा समाहित ये चार अलंकार होते हैं। इनके अतिरिक्त भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता ये तीन अलंकार भी होते हैं। भावपरक इन सात अलंकारों से भिन्न

अष्टौ प्रमाणालङ्काराः प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात् ॥
एवं पञ्चदशान्यानप्यलङ्कारान् विदुर्बुधाः ॥ १७१ ॥

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यञ्जितो रतिहासशोकादिश्चित्तवृत्तिविशेषो रसः, स यत्रापरस्याङ्गं भवति तत्र रसवदलङ्कारः। विभावानुभावाभ्यामभिव्यञ्जितो निर्वेदादिस्त्रयस्त्रिंशद्भेदो देवतागुरुशिष्यद्विजपुत्रादावभिव्यज्यमाना रतिश्च भावः। स यत्रापरस्याङ्गं तत्र प्रेयोलङ्कारः। अनौचित्येन प्रवृत्तो रसो भावश्च रसाभासो भावाभासश्चेत्युच्यते, स यत्रापरस्याङ्गं तदूर्जस्वि। भावस्य प्रशाम्यदवस्था भावशान्तिः। तस्यापराङ्गत्वे समाहितम्। भावस्योद्गमावस्था भावोदयः। द्वयोर्विरुद्धयोर्भावयोः परस्परस्पर्धाभावो भावसन्धिः। बहूनां भावानां पूर्वपूर्वोपमर्देनोत्पत्तिर्भावशबलता। एतेषामितराङ्गत्वे भावोदयाद्यास्त्रयोऽलंकाराः।

१०१ तत्र रसवदलङ्कारः

तत्र रसवदुदाहरणम्—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैकचुलके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥

आठ प्रत्यक्षादि प्रमाणों को भी काव्यालंकार माना जाता है। इस प्रकार आलंकारिक ऊपर वर्णित १०० अलंकारों से इतर इन १५ अलंकारों की भी गणना करते हैं।

विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारीभाव के द्वारा अभिव्यक्त रतिहासशोकादि वाली चित्तवृत्ति रस कहलाती है, यह रस जब किसी अन्य रस का अंग हो जाता है, तो वहाँ रसवत् अलंकर होता है। विभाव और अनुभाव के द्वारा अभिव्यक्त निर्वेदादि संचारिभाव तेंतीस प्रकार का होता है। देवता, गुरु, शिष्य. ब्राह्मण, पुत्र आदि के प्रति अभिव्यक्त रति भाव कहलाती है। यह रतिभाव जहाँ अन्य रतिभाव का अंग बन जाय, वहाँ प्रेय अलंकार होता है। अनौचित्य के द्वारा प्रवृत्त रस या भाव रसाभाव या भावाभास कहलाता है; वह जहाँ अन्य रसभावाभास का अंग हो, वहाँ ऊर्जस्वि अलंकार होता है। जहाँ कोई भाव की अवस्था शांत हो रही हो वह भावशान्ति है। जहाँ एक भावशांति अन्य का अंग हो वहाँ समाहित अलंकार होता है। किसी भाव के उत्पन्न होने की अवस्था को भावोदय करते हैं। जहाँ दो परस्पर विरोधीभाव एक ही काव्य में परस्पर स्पर्धा करते हुए वर्णित किये जायँ वहाँ भावसंधि होती है। जहाँ अनेक भाव एक साथ एक दूसरे को हटाते हुए उत्पन्न हों, वह भावशबलता है। इनके एक दूसरे के अंग बन जाने पर भावोदय, भावसंधि, भावशबलता नामक अलंकार होते हैं। (जहाँ ये अन्य के अंग नहीं बनते, वहाँ इनका ध्वनित्व होता है।)

१०१. रसवत् अलंकार

रसवत् का उदाहरण जैसे,

'उन योगिराज महात्मा अगस्त्यमुनि की जय हो, जिन्होंने केवल एक चुल्लू में ही उन अलौकिक मत्स्य तथा कच्छप का दर्शन किया।'

अत्र मुनिविषयरतिरूपस्य भावस्याद्भुतरसोऽङ्गम् ।

यथा वा—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी निवीविस्रंसनः करः ॥

अत्र करुणस्य शृङ्गारोऽङ्गम् ॥

१०२ प्रेयोलङ्कारः

प्रेयोलङ्कार एव भावालङ्कार उच्यते । स यथा (गं० लं०)—

कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम् ।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन !
प्रसीदेत्याक्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥

अत्र शान्तिरसस्य 'कदा' इतिपदसूचितश्चिन्ताख्यो व्यभिचारिभावोऽङ्गम् ।

यथा वा—

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधय-

यहाँ एक चुल्लू में अलौकिक मत्स्य, कच्छप का दर्शन अद्भुत रस की व्यञ्जना कराता है, यह अद्भुतरस मुनिविषयक रतिभाव का अंग बनकर अगस्त्य मुनि की वंदना में पर्यवसित हो रहा है । अतः अद्भुतरस के अंग बन जाने के कारण यहाँ रसवत् अलंकार है । अथवा जैसे,

'यह वही (भूरिश्रवा का) हाथ है, जो करधनी को खींचता था, पुष्ट स्तनों का मर्दन करता था, नाभि, ऊरु तथा जघन का स्पर्श करता था और नीवी को ढीला कर देता था ।'

यहाँ महाभारत के युद्ध में मरे हुए राजा भूरिश्रवा की पत्नियाँ विलाप कर रही हैं । विलाप के समय वे उसके हाथ को देखकर उसकी शृङ्गार लीलाओं का स्मरण करने लगती हैं । इस उदाहरण में प्रमुख रस करुण है और शृङ्गार उसका अंग बन गया है, अतः यहाँ भी पूर्वोक्त उदाहरण की भाँति रसवत् अलंकार ही है ।

१०२. प्रेयस् अलंकार

प्रेयस् अलंकार को ही भाव अलंकार कहा जाता है । उदाहरण के लिए,

वह दिन कब आयगा, जब मैं वाराणसी में गंगा के तट पर रहता हुआ, कौपीन लगाकर, सिर पर प्रणामार्थ अञ्जलि धारण किये, 'हे भगवान् , हे पार्वती के पति, त्रिपुर का नाश करने वाले त्रिनयन महादेव, मेरे ऊपर प्रसन्न होओ' इस प्रकार चिल्लाता हुआ अपने जीवन के दिनों को क्षण की तरह व्यतीत करूंगा ।'

यहाँ शांतरस की व्यंजना हो रही है । इसी उदाहरण में 'कदा' (वह दिन कब आयगा) इस पद के द्वारा चिन्ता नामक व्यभिचारीभाव की व्यंजना हो रही है । यह 'चिन्ता' व्यभिचारीभाव शान्तरस का अंग है, अतः यहाँ प्रेयस् अलंकार है । अथवा जैसे,

'चारों ओर बड़े बड़े पहाड़ उठे हुए हैं, विशाल समुद्र लहरा रहे हैं, हे भगवति पृथ्वि, इन महान् पर्वतों और विशाल सागरों को धारण करते हुए भी तुम किञ्चिन्मात्र

स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न श्रान्तासि तुभ्यं नमः।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुव-
स्तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजौ वाचस्ततो मुद्रिताः॥

अत्र प्रभुविषयरतिभावस्य वसुमतीविषयरतिभावोऽङ्गम्॥

१०३ ऊर्जस्व्यलंकारः

ऊर्जस्वि यथा,—

त्वत्प्रत्यर्थिवसुन्धरेशतरुणीः सन्त्रासतः सत्वरं
यान्तीर्वीर! विलुण्ठितुं सरभसं याताः किराता वने।
तिष्ठन्ति स्तिमिताः प्ररूढपुलकास्ते विस्मृतोपक्रमा-
स्तासामुत्तरलैः स्तनैरतितरां लोलैरपाङ्गैरपि॥

अत्र प्रभुविषयरतिभावस्य शृङ्गाररसाभासोऽङ्गम्।

यथा वा—

त्वयि लोचनगोचरं गते सफलं जन्म नृसिंहभूपते!।

भी नहीं थकती, तुम्हें नमस्कार है' मैं इस प्रकार बार-बार आश्चर्यचकित होकर पृथ्वी की स्तुति करता हूँ। राजन्, ज्योंही मैं पृथ्वी की अतुलभारक्षमता की प्रशंसा करने लगता हूँ, त्योंही मुझे इस पृथ्वी को भी धारण करने वाले तुम्हारे भुजदण्डों की याद आ जाती है और तुम्हारे भुजों की अतुलभारक्षमता को देखकर तो मेरा आश्चर्य और बढ़ जाता है, मैं मूक हो जाता हूँ, तुम्हारी अलौकिक शक्ति की प्रशंसा करने के लिए मैं शब्द तक नहीं पाता, मेरी वाणी बन्द हो जाती है।'

यहाँ कवि का राजा के प्रति रतिभाव व्यंग्य है, साथ ही पृथ्वी के प्रति भी कवि का रतिभाव व्यंजित हो रहा है। इनमें राजविषयक रतिभाव अंगी है, पृथ्वीविषयक रतिभाव अंग। अतः भाव के अंग बन जाने के कारण यहाँ प्रेयस् अलंकार है।

१०३. ऊर्जस्वि अलंकार

ऊर्जस्वि अलंकार वहाँ होगा जहाँ रसाभास या भावाभास अंग हो जाय—

'हे वीर तुम्हारे डर से तेजी से वन में भगती हुई तुम्हारे शत्रु राजाओं की रमणियों को लूटने के लिए किरात लोगों ने तेजी से उनका पीछा किया। जब वे उनके पास पहुँचे तो उनके अत्यधिक चंचल स्तनों और लोल अपांगों से स्तब्ध और रोमांचित होकर वे किरात अपने वास्तविक कार्य (लूटमार करने) को भूल गये।'

यहाँ कवि का अभीष्ट आश्रय राजा की वीरता की प्रशंसा करना है कि उसने सारे शत्रु राजाओं को जीत लिया है, और उनकी रमणियाँ डर के मारे जंगल-जंगल घूम रही हैं। यहाँ कवि का राजविषयक रतिभाव अंगी है। शत्रुनृपतरुणियों के सौंदर्य को देखकर किरातों का उनके प्रति मुग्ध हो जाना रसानौचित्य है, अतः यहाँ शृंगार रस का आभास है। यह शृंगाररसाभास राजविषयकरतिभाव का अंग है, अतः यहाँ ऊर्जस्वि अलंकार है।

टिप्पणी—शृङ्गार रस वहाँ होता है जहाँ रतिभाव उभयनिष्ठ होता है, अनुभयनिष्ठ होने पर वह शृङ्गाराभास है।

अथवा जैसे—

'हे राजन्, तुम्हारे शत्रु राजा युद्ध में तुमसे आदर पूर्वक यह निवेदन करते हैं—'हे

अजनिष्ट ममेति सादरं युधि विज्ञापयति द्विषां गणः ॥

अत्र कवेः प्रभुविषयस्य रतिभावस्य तद्विषयद्विषद्गणरतिरूपो भावाभासोऽङ्गम् ॥

१०४ समाहितालङ्कारः

समाहितं यथा—

पश्यामः किमियं प्रपद्यत इति स्थैर्यं मयालम्बितं
किं मां नालपतीत्ययं खलु शठः कोपस्तयाप्याश्रितः ।
इत्यन्योन्यविलक्षदृष्टिचतुरे तस्मिन्नवस्थान्तरे
सव्याजं हसितं मया धृतिहरो मुक्तस्तु बाष्पस्तया ॥

अत्र शृङ्गारस्य कोपशान्तिरङ्गम् ॥

१०५ भावोदयालङ्कारः

भावोदयो यथा (नैषध० ९।६६)—

तदद्य विश्रम्य दयालुरेधि मे दिनं निनीषामि भवद्विलोकिनी ।
अदर्शि पादेन विलिख्य पत्रिणा तवैव रूपेण समः स मत्प्रियः ॥

नृसिंहराज, तुम्हें देखने पर मेरा जन्म सफल हो गया है—तुम्हारे जैसे वीर के दर्शन हमारे सौभाग्य के सूचक हैं' ।

यहाँ कवि की राजविषयक रति (भाव) व्यञ्जित हो रही है । इसी सम्बन्ध में राजा के शत्रुओं के द्वारा की गई राजविषयकरति के आभास की भी व्यंजना हो रही है । यह द्वितीय रतिभाव का आभास प्रथम रतिभाव का अंग है । अतः यहाँ ऊर्जस्वि अलंकार है ।

टिप्पणी—शत्रु राजा के प्रति रति होना अनुचित है, अतः यहाँ रतिभाव न होकर रतिभावाभास है ।

१०४. समाहित अलंकार

जहाँ भावशांति अंग बन कर आये, वहाँ समाहित अलंकार होता है, जैसे,

कोई नायक अपने मित्र से प्रणयकोप का किस्सा सुना रहा है । नायक और नायिका एक दूसरे पर कोप करके बैठे हैं । नायक यह सोच कर कि देखें यह नायिका क्या करती है, चुप्पी साध लेता है और नायिका का मान-मनौवन नहीं करता । जब नायक बिलकुल चुप्पी साध लेता है तो नायिका यह सोच कर कि यह दुष्ट मुझसे क्यों नहीं बोलता है और अधिक कुपित हो जाती है । इस प्रकार चुप्पी साध कर दोनों एक दूसरे को बिना किसी लक्ष्य के दृष्टि से देखते रहते हैं । इसी अवस्था के बीच नायक किसी बहाने से (किसी अन्य कारण से) हँस देता है । बस फिर क्या है, नायिका के आँसू का बाँध टूट जाता है और वह जोरों से रो पड़ती है ।

यहाँ नायिका के कोप नामक संचारीभाव की शांति हो रही है । यह भावशांति इस काव्य के अंगी रस शृंगार का अंग है, अतः यहाँ समाहित अलंकार है ।

१०५. भावोदय अलंकार

जहाँ भावोदय रसादि का अंग बने वहाँ भावोदय अलंकार होता है, जैसे—

इन्द्रादि देवताओं के दूत बनकर आये हुए नल से दमयन्ती कह रही है—'हे दूत, तुम अब शान्त होकर मेरे प्रति दयालु बनो; मैं तुम्हें देखती हुई अपना दिन बिता देना चाहती

अत्र नलं प्रति दमयन्त्या औत्सुक्यरूपभावस्योदयः शृङ्गाररसस्याङ्गम् ॥

१०६ भावसन्ध्यलङ्कारः

भावसन्धिर्यथा—

एकाभूत् कुसुमायुधेषुधिरिव प्रव्यक्तपुङ्खावली
जेतुर्मङ्गलपालिकेव पुलकैरन्या कपोलस्थली ।
लोलाक्षीं क्षणमात्रभाविविरहक्लेशासहां पश्यतो
द्रागाकर्णयतश्च वीर ! भवतः प्रौढाहवाडम्बरम् ॥

अत्र रमणीप्रेम-रणौत्सुक्ययोः सन्धिः प्रभुविषयभावस्याङ्गम् ॥

१०७ भावशबलालङ्कारः

भावशबलं यथा—

हूँ । हंस ने अपने पैर से जिस मेरे प्रिय का चित्र बना कर दिखाया था वह रूप में तुम्हारे ही समान था ।'

यहाँ नल के प्रति दमयन्ती का औत्सुक्यभाव जागृत हो रहा है । यह औत्सुक्यभाव का उदय नलविषयक शृङ्गाररस का अंग है, अतः यहाँ भावोदय अलंकार है ।

१०६. भावसंधि अलंकार

जहाँ भावसंधि रसादि का अंग बने वहाँ भावसंधि अलंकार होता है, जैसे—

कोई कवि अपने आश्रयदाता राजा की वीरता की प्रशंसा कर रहा है । हे वीर ! शत्रु राजा पर आक्रमण करने युद्धस्थल में जाने के लिए प्रिया से विदा लेते तुम्हारी विचित्र अवस्था हो जाती है । प्रिया से विदा लेते समय क्षणभर बाद होने वाली उसकी विरहक्षाम दुःसह अवस्था को देख कर तुम्हारी एक कपोलस्थली प्रेम के कारण ठीक इसी तरह रोमांचित हो जाती थी, जैसे वह कामदेव के बाणों को रखने का तरकस हो जिसके किनारों पर बाणों के पंख स्पष्ट दिखाई दे रहे हों और अन्य कपोलस्थली गंभीर संग्राम की तैयारी को देख कर तथा रणवाद्य सुन कर उत्साह के कारण ठीक ऐसे ही रोमांचित हो जाती है, जैसे विजय के लिए प्रस्थान करने वाले राजा की मंगलपालिका (कुशादि से बनी मार्गपाली) हो ।

यहाँ एक ओर राजा रमणीगत प्रेम से युक्त है, दूसरी ओर रणौत्सुक्य से, इस प्रकार रति तथा औत्सुक्य दोनों भावों की संधि है; जो स्वयं कवि की राजविषयक रति का अंग ।

टिप्पणी—ठीक इसी से मिलते जुलते भाव की निम्न प्राकृत गाथा है :—

पढ़त्तो रुअइ पिआ अणत्तो समर तूरणिग्घोसो ।
पेम्मेण रणरसेण अ भडस्स डोलाइअं हिअअम् ॥

१०७. भावशबल अलंकार

जहाँ अनेकों भाव घुले मिले चित्रित किये जाँय; दो से अधिक भाव एक दूसरे के बाद एक दम दिल में उठें, वहाँ भावशबलता नामक असंलक्ष्यक्रमध्वनि होगी । जहाँ यह भाव शबलता किसी अन्य रस भावादि का अंग बन कर आय, वहां भाव शबल अलङ्कार होगा । जैसे,

प्रस्तुत पद्य विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक से उद्धृत माना जाता है, यद्यपि यह पद्य उसमें उपलब्ध नहीं होता ।

टिप्पणी—कुछ लोगों के मत से यह पद्य शुक्र की पुत्री देवयानी को देखते हुए राजा ययाति की उक्ति है ।

काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं ?, भूयोऽपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
चेतः ! स्वास्थ्यमुपैहि, कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ? ॥

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता विप्रलम्भ-शृङ्गारस्याङ्गम् ।

कहां तो यह बुरा काम और कहाँ चन्द्रवंश ? क्या वह फिर कभी देखने को मिलेगी ? हमलोगों का शास्त्रज्ञान प्रमादादि दोषों को शांत करने के लिए है । अरे, उस सुन्दरी का मुख क्रोध के समय भी रमणीय था । अत्यधिक पवित्र आत्मा वाले विद्वान् मेरी इस कामासक्त दशा को देखकर क्या कहेंगे ? अब तो वह सुन्दरी स्वप्न में भी दुर्लभ है । हे चित्त, स्वस्थ हो जावो । पता नहीं वह कौन भाग्यशाली युवक होगा, जो उस सुन्दरी के अधर का पान करेगा ।

यहाँ 'कहां अकार्य और कहां चन्द्रकुल के द्वारा वितर्क नामक संचारीभाव की व्यंजना होती है । ठीक दूसरे ही क्षण सुन्दरी के दर्शन की बात औत्सुक्य की व्यंजना कराती है । उसके बाद मति नामक संचारीभाव 'कामासक्ति को शान्त करने के लिए शास्त्रज्ञान है' इस वाक्य के द्वारा व्यंजित हो रहा है । अगले वाक्य में स्मरण (स्मृति) नामक संचारी है, जहां कोपदशा में भी कान्त सुंदरी मुख का स्मरण किया जा रहा है । अगले वाक्य में विद्वानों से शंका उपस्थित होती है, यह शंका नामक संचारीभाव है । 'वह सुन्दरी स्वप्न में भी दुर्लभ है' इसमें दैन्य संचारी भाव व्यंजित हो रहा है । चित्त को स्वस्थ होने को कहना 'धृति' का व्यंजक है और सुन्दरी के अधरपान करने वाले सौभाग्यशाली युवा के विषय में सोचना 'चिन्ता' की व्यंजना कराता है । इस प्रकार इस पद्य में उपर्युक्त ८ संचारी भावों की शबलता पाई जाती है, अतः यहां भावशबलता है । यह स्वयं विप्र-लंभ शृङ्गार का अंग बनकर आती है, अतः यहां भावशबल अलंकार है ।

टिप्पणी—इस पद्य के संबंध में रसिकरंजनीकार की एक आपत्ति है । उनका कहना है कि 'क्काकार्यम्' इत्यादि पद्य में मम्मटादि ने भावशबलता को अंगी (प्रधान) माना है, अंग नहीं, यही कारण है कि यह पद्य काव्यप्रकाश में भावशबलताध्वनि के प्रकरण में उदाहृत किया गया है । उसी प्रकरण में मम्मट ने बताया है कि यद्यपि भावशान्त्यादि स्वयं शृङ्गारादि रसों के अंग होते हैं, तथापि कभी-कभी वे स्वयं भी मुख्य रस में अंगी बन जाते हैं (तभी उन्हें ध्वनि कहा जाता है); जैसे किसी नौकर के विवाह में प्रधानता नौकर की ही हो जाती है तथा राजा भी उसके विवाह में शामिल होते समय उसके पीछे-पीछे ही चलता है वैसे ही कभी-कभी भावशान्त्यादि भी सहृदय को विशेष चमत्कृत करने के कारण अंगी बन जाते हैं । (राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् ।) मम्मट ने भावशबलता के गुणीभूतव्यंग्यत्व (अलंकारत्व) का उदाहरण दूसरा ही पद्य दिया है:—

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे-का त्वराहं कुमारी,
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः,
कन्या कंचित् फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥

(दे० रसिकरंजनी पृ० २६१-६२)

१०८ प्रत्यक्षालङ्कारः

प्रमाणालङ्कारे प्रत्यक्षं यथा—

क्रान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे भग्नबालसहकारसुगन्धौ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते निर्ववार मधुनीन्द्रियवर्गः॥

यथा वा—

किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते युवत्याः।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्बिब्बोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः॥

पूर्वत्र प्रत्यक्षमात्रम्, इह तु विशेषदर्शनजन्यसंशयोत्तरप्रत्यक्षमिति भेदः।

---

१०८. प्रत्यक्ष अलंकार

भारतीय दर्शन में प्रमा या ज्ञान के साधनरूप में कुछ 'प्रमाण' (प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्—जिसके द्वारा यथार्थज्ञान प्राप्त हो सके) माने हैं। भारतीयदर्शन के पाठकों को पता होगा कि अलग-अलग दर्शन ने प्रमाणोंकी भिन्न भिन्न संख्या मानी है, उदाहरण के लिए चार्वाक केवल एक ही प्रमाण (प्रत्यक्ष) मानते हैं, नैयायिक चार प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द)। अप्पयदीक्षित ने यहाँ दस प्रकार के प्रमाण माने हैं। भारतीय दार्शनिकों में अकेले पौराणिक ऐसे हैं, जो इन दसों प्रमाणों को मानते हैं, बाकी दार्शनिक इनमें से किन्हीं का निषेध करते हैं, किन्हीं का अन्य प्रमाणों में अन्तर्भाव मानते हैं। जहां इस प्रकार के प्रमाणों के आधार पर किसी ज्ञान की उपलब्धि का वर्णन किया जाय, वहां तत्तत् प्रमाण अलंकार होगा। ये दस प्रकार के प्रमाण अलंकार ये हैं:— १. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. शब्द, ५. स्मृति, ६. श्रुति, ७. अर्थापत्ति, ८. अनुपलब्धि, ९. संभव, १०. ऐतिह्य।

प्रत्यक्ष नामक प्रमाणालंकार जैसे,

यह पद्य शिशुपालवध के दशम सर्ग से उद्धृत किया गया है। इसमें रैवतक पर्वत पर किये गये यादवों के विलास व-मद्यपान का वर्णन है। 'प्रियतमा के सुन्दर वदन के प्रतिबिंब वाली, कुचले हुए बाल सहकार (आम्रविशेष) की सुगंध के समान सुगंधवाली, स्वादिष्ट तथा शीतल मदिरा ने, जिसकी सुगन्ध से आकृष्ट भौंरे गुंजार कर रहे थे, पाँचों इन्द्रियों को तृप्त कर दिया।' यहाँ नेत्रादि पांचों इन्द्रियों के विषय रूप, रसादि का वर्णन किया गया है, जिनकी प्रमा प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होती है, अतः यहां प्रत्यक्ष अलंकार है।

अथवा जैसे—

यह पद्य शिशुपालवध के अष्टमसर्ग के जलविहारवर्णन से लिया गया है। 'इस तालाब में यह कमल सुशोभित हो रहा है क्या? अथवा यह किसी युवती का मुख भासित हो रहा है? इस प्रकार क्षणभर संदेह में पड़े रह कर, देखने वाले किसी विलासी व्यक्ति ने उन रमणीगत विलासों (बिब्बोकों) को देख कर, जो कमलों (बगुलों के साथियों) में नहीं पाये जाते, यह निर्णय कर लिया कि यह युवती का मुख ही है।'

यहां भी प्रत्यक्षदर्शन से यथार्थ ज्ञान हो रहा है। प्रथम उदाहरण तथा द्वितीय उदाहरण में यह भेद है कि उसमें केवल प्रत्यक्ष का वर्णन हुआ है, यहां पहले संशय है, तदनंतर विशेष दर्शन के कारण (बिब्बोकादि के कारण) प्रत्यक्षानुभव हो रहा है।

१०६ अनुमानालङ्कारः

अनुमानं यथा—

यथा रन्ध्रं व्योम्नश्चलजलदधूमः स्थगयति
स्फुलिङ्गानां रूपं दधति च यथा कीटमणयः ।
यथा विद्युज्ज्वालोल्लसितपरिपिङ्गाश्च ककुभ-
स्तथा मन्ये लग्नः पथिकतरुखण्डे स्मरदवः ॥

यथा वा—

यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवौ
यत्तत्रैव पतन्ति संततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः ।
तच्चक्रीकृतचापपुङ्खितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं तदासां स्मरः ॥

पूर्व रूपकसंकीर्णम्, इदमतिशयोक्तिसंकीर्णमिति भेदः ।

---

१०९. अनुमान अलंकार

जहां किसी प्रत्यक्ष हेतु के द्वारा किसी परोक्ष साध्य की अनुमिति हो, वहां अनुमान प्रमाण होता है, जैसे धुएँ को देख कर पर्वत में जलती आग का अनुमान (पर्वतोऽयं वह्निमान्, धूमात्)। जब यही अनुमान काव्यगत एवं कविप्रतिभोत्थापित होता है, तो अनुमान अलंकार होता है, जैसे

'चूँकि चंचल बादलों के धुएँ ने सारे आकाशरन्ध्र को ढँक दिया है, जुगनू (कीटमणि) चिनगारियों के रूप को धारण कर रहे हैं, और समस्त दिशाएँ बिजली की लपट के प्रकाश से पीली हो गई हैं, इसलिये ऐसा अनुमान होता है कि विरही जनों के वृक्ष–समूह में कामदेव रूपी दावानल जल उठा है।

टिप्पणी—कुछ विद्वान संभवतः इस उदाहरण में उत्प्रेक्षा अलंकार मानेंगे। इस पद्य को अनुमानप्रणाली था होगा। पथिकतरुखण्डं स्मरदावानलवत्। व्योमव्यापिजलदधूमवत्त्वात्, कीटमणिरूपस्फुलिंगवत्त्वात्, ककुब्व्यापिविद्युज्ज्वालोल्लसितत्वाच्च ॥

अथवा जैसे,

जहां कहीं लहरों के समान चंचल नेत्रवाली ये रमणियां अपनी भौंहें चलाती हैं, वहीं मर्म तक स्पर्श करने वाले ये (कामदेव के) बाण निरन्तर गिरा करते हैं। इसे देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि हाथ में धनुप को खींचे हुए तथा तीक्ष्ण पुंख वाले बाणों से सुशोभित, क्रुद्ध कामदेव, इनकी आज्ञा का पालन करने के लिए इनके आगे-आगे दौड़ा करता है।'

टिप्पणी—अनुमान प्रयोगः—

एताश्चक्रीकृतचाप–सदापुरोधावदाज्ञाकरमदनकाः। मर्मभेदिबाणपाताश्रयभ्रूसंज्ञास्थानकत्वात् ॥

इन उदाहरणों में यह भेद है कि प्रथम में रूपक तथा अनुमान का संकर है, द्वितीय में अतिशयोक्ति तथा अनुमान का। प्रथम में जलद कीटमणि तथा विद्युत् ज्वाला पर धूम, स्फुलिंग, अग्निज्वाला तथा दावानल का आरोप किया गया है, यह रूपक अनुमान का अंग बन कर आया है, अतः अंगांगिभाव संकर है। दूसरे पद्य में रमणियों के

शुद्धानुमानं यथा—

निलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजैः ।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः ॥

यथा वा—

सौमित्रे ! ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते,
चण्डांशोर्निशि का कथा ? रघुपते ! चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता ?, धत्ते कुरङ्गं यतः,
क्वासि प्रेयसि ! हा कुरङ्गनयने ! चन्द्रानने ! जानकि ! ॥

११० उपमानालङ्कारः

उपमानं यथा—

तां रोहिणीं विजानीहि ज्योतिषामत्र मण्डले ।
यस्तन्वि ! तारकान्यासः शकटाकारमाश्रितः ॥

कटाक्षक्षेप साथ ही साथ हृदय का विद्ध होना कार्यकारण का पौर्वापर्यविपर्यय रूप अतिशयोक्ति है, जो अनुमान का अंग बन कर आई है, यहाँ भी अंगांगिभाव संकर है ।

शुद्ध अनुमान का उदाहरण यह है :—

'पक्षी घोंसलों में घुस रहे हैं, कमल मुकुलित हो रहे हैं और मालती विकसित हो रही है—इन साधनों से यह अनुमान होता है कि सूर्य अस्त हो गया है ।'

यहाँ पक्षियों का घोंसले में छिपना आदि साधनों के द्वारा सूर्य का अस्तगमन रूप साध्य अनुमित हो रहा है ।

अनुमान प्रयोगः—

(१) अयंकालः सूर्यास्तमयवान् ।
पक्षिनिलीयमानताद्याश्रयत्वात् ॥
(२) रविरस्तगमनवान् ।
तादृशकालसंबन्धित्वात् ॥

अथवा जैसे,

विरहातुर राम चन्द्रमा को सूर्य समझ कर लक्ष्मण से कह रहे हैं—'हे लक्ष्मण, इस पेड़ के तले आ जाओ, देखो, यह सूर्य (तीक्ष्ण किरणों वाला) जोरों से तप रहा है ।' 'हे रघुपति, रात में सूर्य कहाँ आया, यह तो चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है ।' 'हे वत्स यह चन्द्रमा है, सूर्य नहीं, यह तुम्हें कैसे पता चला', 'क्योंकि इसके अन्दर हिरन है' 'हा, हे हिरन के समान नेत्रवाली, चन्द्र के समान मुख वाली प्रिये, जानकि, तुम कहाँ हो?

यहाँ लक्ष्मण की इस उक्ति में कि यह सूर्य नहीं चन्द्रमा है, क्योंकि इसमें हिरन है, अनुमान है ।

टिप्पणी—अयं चन्द्रः । कुरंगधारित्वात् ।

११० उपमान अलंकार

उपमान जैसे—

तुम इस ज्योतिर्मण्डल में उस तारक-समूह को रोहिणी समझो, जहाँ तारे इस तरह सजे हों, जैसे शकट (गाड़ी) का आकार ।

अत्र मन्मथमिवातिसुन्दरं दानवारिमिव दिव्यतेजसम्।
शैलराजमिव धैर्यशालिनं वेद्मि वेङ्कटपतिं महीपतिम्॥

पूर्वोदाहरणे उपमामूलभूतमतिदेशवाक्यं दर्शितम्। अत्रातिदेशवाक्यार्थ-सादृश्यप्रत्यक्षरूपमुपमानं फलेन सह दर्शितमिति विशेषः।

१११ शब्दप्रमाणालङ्कारः

शब्दप्रमाणं यथा (कुमार० ५।८१)

विवृण्वता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम्।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति?॥

अत्र शिवः परमेष्ठिनोऽपि कारणमित्यत्र 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्'

इस उदाहरण में शकट के आकार के द्वारा रोहिणी नक्षत्र को उपमिति के आधार पर पहचानना कहा गया है। यहां उपमिति अलंकार है।

इन राजाओं में वेंकटपति नामक राजा को मैं कामदेव के समान अत्यधिक सुन्दर, विष्णु (दानवारि) के समान दिव्य तेज वाला तथा हिमालय के समान धैर्यशाली समझता हूँ।

यहाँ पहले उदाहरण में उपमामूलभूत अतिदेशवाक्य का प्रदर्शन किया गया है। इस दूसरे उदाहरण में अतिदेशवाक्य के अर्थभूत सादृश्य से विशिष्ट भौतिक पिण्ड (वेंकटपति के सौंदर्यादि) का प्रत्यक्ष रूप उपमान जो उपमिति का कारण है, अपने फल (उपमिति) के साथ दर्शाया गया है। अतः दोनों में यह भेद है।

टिप्पणी—जिस प्रकार अनुमान में परामर्श का महत्त्व होता है, वैसे ही उपमान में अतिदेश वाक्य का। अतिदेशवाक्य उपमान का धर्म उपमेय में अतिदेश करता है। जैसे 'यथा गौस्तथा गवयः' यह अतिदेशवाक्य है। इस वाक्य के सुनने के बाद जब कभी कोई व्यक्ति वन में जाकर गवय को देखता है, तो उसे 'गोसदृशः गवयः' या 'यथा गौस्तथा गवयः' वाक्य (अतिदेश वाक्य) का स्मरण हो आता है। ऊपर के उदाहरण में भी 'शकटसदृशा रोहिणी' इस अतिदेश वाक्य का संकेत किया गया है।

१११. शब्द अलंकार

शब्दप्रमाण, जैसे—

टिप्पणी—आप्त पुरुष के वाक्य को शब्दप्रमाण माना जाता है (आप्तवाक्यं शब्दः)। यथार्थ वस्तु का उपदेश देनेवाले को आप्तपुरुष कहा जाता है। यह आप्तवाक्य दो तरह का हो सकता है:—१. अलौकिक और २. लौकिक। अलौकिक शब्दप्रमाण के अन्तर्गत श्रुति (वेद) का समावेश होता है, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं। लौकिक शब्द के अन्तर्गत मान्य गुर्वादिकों के वचन समाविष्ट होते हैं।

यह पद्य कुमारसंभव के शिवपार्वतीसंवाद से उद्धृत है। पार्वती ब्रह्मचारी को उत्तर दे रही है:—

'हे ब्रह्मचारिन्, तुमने शिव के दोषों को बताते हुए उन्हें अलक्ष्यजन्मा कहा है, ठीक है। क्योंकि जिस शिव रूप परम ब्रह्म को वेद ब्रह्मा (आत्मभू) का भी कारण (उत्पादक) मानते हैं, उनकी उत्पत्ति जानी ही कैसे जा सकती है?'

यहां शिव ब्रह्मा के भी कारण (उत्पादक) हैं, इसकी पुष्टि में 'जो सबसे पहले ब्रह्मा को बनाता है' (यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्) इस श्रुतिवाक्य को शब्दप्रमाण के रूप में

इति श्रुतिरूपं शब्दप्रमाणमुपन्यस्तम्। एवं स्मृतिपुराणागमलौकिकवाक्यरूपाण्यपि शब्दप्रमाणान्युदाहरणीयानि।

११२ स्मृत्यलङ्कारः

तत्र स्मृतिर्यथा—

बलात्कुरुत पापानि सन्तु तान्यकृतानि वः।
सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत्॥

पूर्वं श्रुतिरभिमतार्थे प्रमाणत्वेनोपन्यस्ता। इह तु स्मृतिरनभिमतार्थे तद्दूषणपरेण प्रमाणतया नीतेति भेदः। आचारात्मतुष्टयोरपि मीमांसकोक्तधर्मप्रमाणयोर्वेदशब्दानुमापकतया शब्दप्रमाण एवान्तर्भावः।

तत्राचारप्रमाणं यथा (नैषध० ९।१३)—

महाजनाचारपरम्परेदृशी स्वनाम नामाददते न साधवः।
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाचारमुचं विगायति॥

उपन्यस्त किया है। इसी प्रकार स्मृति, पुराण, आगम, लौकिक वाक्य आदि को भी शब्दप्रमाण के रूप में उदाहृत किया जा सकता है।

११२. स्मृति अलंकार

जहाँ मनुस्मृति आदि को प्रमाण के रूप में उपन्यस्त किया जाय, वहाँ स्मृति अलंकार होता है, जैसे—

कोई नास्तिक अपने मत की पुष्टि में मनु के वचनों को उद्धृत करता हुआ कह रहा है :—'हे मनुष्यो, बलात्कार से तुम पाप करो, तुम्हें कोई फल नहीं होगा क्योंकि बल से किये हुए कर्मों को मनु महाराज ने 'अकृत' कर्म (जिनका कोई फल नहीं मिलता) कहा है।

प्रथम उदाहरण (विवृण्वता इत्यादि) में अभीष्ट अर्थ की पुष्टि के लिए श्रुति (वेद) का प्रणाम दिया गया है, यहाँ स्मृति को प्रमाण के रूप में पेश किया गया है। पर दोनों में यह भेद है कि पहले में श्रुतिवाक्य अभीष्टार्थ के पोषक रूप में उपन्यस्त हुआ है, दूसरे में यह स्मृतिवाक्य समस्त अभीष्ट अर्थों को दुष्ट संकेतित करते हुए उपन्यस्त किया गया है। कुछ मीमांसकों ने आचार तथा आत्मतुष्टि नामक दो धर्मप्रमाणों को माना है, किन्तु ये दोनों वेद शब्द के द्वारा अनुमित होते हैं, अतः इन दोनों का शब्दप्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाता है। आचार तथा आत्मतुष्टि के उदाहरण निम्न हैं। आचारप्रमाण जैसे—

इन्द्रादि का दूत बनकर नल दमयन्ती के पास जाता है। दमयन्ती उसका नाम पूछती है। नल ऐसे समय पर बड़ी उलझन में फँस जाता है, वह न तो अपनी असलियत ही बताना चाहता है, न झूठ ही बोलना चाहता है। इस उलझन से बचने का वह तरीका निकाल ही लेता है।

'हे दमयन्ति, महापुरुषों के सदाचार की यह परिपाटी चली आती है कि सज्जन व्यक्ति अपने मुँह से अपना नाम नहीं लेते। इसलिए अपना नाम लेना आचार-परंपरा का भंग करना होगा। मैं इस परंपरा का भंग नहीं कर सकूँगा, अपना नाम लेने का उत्साह नहीं करूँगा, क्योंकि लोग आचार का भंग करने वाले की निंदा करते हैं।'

'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥'

आत्मतुष्टिप्रमाणं यथा (शाकुन्तले १।१९)—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

अत्र दुष्यन्तेनात्मतुष्ट्या शकुन्तलापरिग्रहस्य धर्म्यत्वं श्रुत्यनुमतमनुमीयते । एवं श्रुतिलिङ्गादिकमपि मीमांसोक्तं प्रमाणं संभवदिहोदाहर्तव्यम् ।

११३ श्रुत्यलङ्कारः

तत्र श्रुतिर्यथा—

त्वं हि नाम्नैव वरदो नाधत्से वरमुद्रिकाम् ।
न हि श्रुतिप्रसिद्धार्थे लिङ्गमाद्रियते बुधैः ॥

अत्र करिगिरीश्वरस्य वरद इत्यभिधानश्रुत्या सर्वाभिलपितदातृत्वं समर्थितम् । लिङ्गं यथा—

विदितं वो यथा स्वार्थो न मे काश्चित्प्रवृत्तयः ।
ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थंभूतोऽस्मि सूचितः ॥

अत्र शिवस्य श्रुतिप्रसिद्धसर्वोपकारकपृथिव्याद्यष्टमूर्तिपरिग्रहलिङ्गेन तत्प्रवृ-

---

आत्मतुष्टिप्रमाण जैसे—

शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त उसके प्रति आकृष्ट हो जाता है। पहले तो उसे संदेह होता है कि कहीं वह ऋषिकन्या तो नहीं, पर बाद में उसे अपने मन पर विश्वास हो उठता है। वह सोचता है—'यह सुंदरी निःसंदेह क्षत्रिय के द्वारा पाणिग्रहण करने योग्य है, क्योंकि मेरा पवित्र (आचारमय) मन इसके प्रति अभिलाषुक हो रहा है। सज्जन व्यक्तियों के समक्ष संदिग्ध वस्तुओं के उपस्थित होने पर, उनकी अंतःकरण की वृत्तियाँ ही निश्चय का प्रमाण बनती हैं।'

यहाँ दुष्यन्त ने आत्मतुष्टि के द्वारा शकुन्तलापरिग्रह धर्मोचित तथा वेदसम्मत है, इस बात का अनुमान कर लिया है। इसी प्रकार मीमांसाशास्त्र में उक्त श्रुति, लिंग आदि प्रमाण भी यहाँ उदाहृत किये जा सकते हैं।

११३. श्रुति अलंकार

श्रुति अलंकार जैसे—

'तुम तो केवल नाम मात्र से 'वरद' हो, 'वरमुद्रिका' को नहीं धारण करते। जहाँ श्रुति का अर्थ प्रसिद्ध होता है, वहाँ विद्वान् लोग 'लिंग' की आवश्यकता नहीं समझते'।'

यहाँ 'करिगिरीश्वरस्य वरदः' (वह हाथीरूपी पर्वतों का वरद है) इस श्रुति के द्वारा वह समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है, यह सूचित किया गया है।

लिंग जैसे—

'मुझे तुम्हारे स्वार्थों का पता लग गया है, जहाँ तक मेरी इच्छा का प्रश्न है, वह कुछ नहीं है। मैं तो अपनी आठों प्रकार की (पृथिव्यादि) मूर्तियों के द्वारा परार्थप्रवृत्त हूँ, यह स्पष्ट ही है।'

यहाँ शिव, वेदादि में समस्त संसार के उपकारी रूप से प्रसिद्ध पृथिव्यादि अष्टमूर्ति को धारण करते हैं, अतः इस लिंग के द्वारा शिव की समस्त प्रवृत्तियाँ लोकानुग्रह

त्तीनां लोकानुग्रहैकप्रयोजनत्वं समर्थितम्। लिङ्गस्यापि मूलभूतवेदानुमापकतया वैदिकशब्दप्रमाण एवान्तर्भावः। एवं लौकिकलिङ्गानामपि लौकिकशब्दोन्नायकतया लौकिकशब्दप्रमाण एवान्तर्भावः। अतः—

लोलद्भ्रूलतया विपक्षदिगुपन्यासे विधूतं शिर-
स्तद्वृत्तान्तपरीक्षणेऽकृतनमस्कारो विलक्षः स्थितः।
ईषत्ताम्रकपोलकान्तिनि मुखे दृष्ट्यानतः पादयो-
रुत्सृष्टो गुरुसंनिधावपि विधिर्द्वाभ्यां न कालोचितः॥

इत्यादिषु चेष्टारूपं प्रमाणान्तरं नाशङ्कनीयम्। क्वचिच्छब्दप्रमाणकल्पकतया चमत्कारी यथा (नैषध० ४।५९)—

के लिए ही होती हैं, इस बात की सूचना की गई है। लिंग भी वस्तुतः अपने मूल वेदवाक्य के द्वारा ही अनुमान कराता है, अतः वह वैदिक शब्द प्रमाण में अंतर्भावित हो जाता है। इसी तरह जहाँ लौकिक लिंग के द्वारा किसी बात का पता चले, वहाँ वह लौकिक लिंग लौकिक शब्द के द्वारा उद्भावित होने पर लौकिक शब्दप्रमाण में अन्तर्भूत हो जायगा। इसीलिए निम्न पद्य जैसे प्रसंगों में लौकिक शब्द प्रमाण ही है, चेष्टा नामक अन्य कोई दूसरा प्रमाण नहीं है, (अन्य चेष्टारूप प्रमाण की शंका नहीं करना चाहिए)।

कोई नायक कनिष्ठा नायिका के घर से लौटा है। ज्येष्ठा नायिका उसे आता देख रही है। वह नायक को अपना क्रोध सूचित कर देना चाहती है, पर पास में सास-ससुर खड़े हैं। गुरुजनों के पास रहते हुए भी नायिका तथा नायक ने अपने कोप तथा मान-प्रसादन की क्रिया को सूचित कर ही दिया। उन दोनों ने श्वसुरादि के सम्मुख भी तत्समयानुकूल कार्य नहीं छोड़ा। जब नायिका ने नायक को आते देखकर सपत्नी नायिका के निवासस्थान की ओर चंचल आँखों के द्वारा इशारा किया (–तुम वहाँ से आ रहे हो ना?), तो नायक ने सिर हिला दिया (मैं वहाँ से नहीं आ रहा हूँ)। जब नायिका ने उसके वृत्तान्त को जानने का इशारा किया तो नायक ने उसे कोई नमस्कार नहीं किया और लज्जित होकर (अपराध स्वीकार कर) खड़ा रह गया; जब नायिका ने गुस्से के कारण अपने मुख को कुछ हल्के लाल कपोल वाला बना लिया, तो नायक ने उसके पैरों की ओर नजर डाली (मैं पैरों पर झुककर तुम्हारा मान-प्रसादन करता हूँ)। इस प्रकार दोनों ने गुरुओं के सामने भी अपनी अपनी भावना की व्यंजना करा ही दी।

कहीं कहीं शब्दप्रमाण को कल्पित बनाकर चमत्कार उपस्थित किया जाता है। जैसे—

विरहविदग्ध दमयन्ती चंद्रमा को फटकारती हुई कह रही है। 'हे चन्द्र, मेरे प्राणों को कष्ट देने से तुम्हें क्या फायदा है। मूर्ख (जड़–शीतल) तु यह समझता है कि मरने के बाद राजा भीम की पुत्री दमयंती का मन मुझ में प्रविष्ट करेगा। (मरने पर मृत व्यक्तियों का मन चन्द्रमा में प्रविष्ट होता है–ऐसा श्रुतिवाक्य है।) तुम्हें यह पाता नहीं है कि देवता (विबुध–वेदज्ञ पण्डित) काम ने उस वेदवाक्य (श्रुति) का मुझे यह अर्थ बताया है कि वह नलमुख रूपी इन्दुपरक है। भाव यह है यदि मेरी मौत भी हुई तो मेरा मन तुझमें न प्रवेशकर नल के मुख–चन्द्रमें प्रवेश करेगा, क्योंकि कामदेवरूपी वेदज्ञ पंडित ने मुझे उस श्रुति का अर्थ यही बताया है।

किमसुभिर्ग्लपितैर्जड ! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः ।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुधः स्मरः ॥

अत्र म्रियमाणानां मनश्चन्द्रं प्रविशतीत्येतदर्थिकायाः श्रुतेर्नलमुखचन्द्रविषयत्वे कल्पिते तथा व्याख्यातृस्मरवाक्यं प्रमाणतयोपन्यस्तम् ।

११४ अर्थापत्त्यलङ्कारः

अर्थापत्तिर्यथा—

निर्णेतुं शक्यमस्तीति मध्यं तव नितम्बिनि ! ।
अन्यथा नोपपद्येत पयोधरभरस्थितिः ॥

यथा वा—

व्यक्तं बलीयान् यदि हेतुरागमादपूरयत् सा जलधिं न जाह्नवी ।
गङ्गौघनिर्भर्त्सितशम्भुकन्धरासवर्णमर्णः कथमन्यथा भवेत् ? ॥

यहाँ मरते हुए लोगों का मन चन्द्रमा में प्रवेश करता है, इस अर्थवाली वेदोक्ति (श्रुति) का विषय नलमुखचन्द्र को कल्पित कर लिया गया है, और उसकी पुष्टि में उस प्रकार की व्याख्या करने वाले व्याख्याता (वेदज्ञ) कामदेव के वाक्य को प्रमाण के रूप में पेश किया गया है।

११४. अर्थापत्ति अलंकार

जहाँ किसी अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना की जाय वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण होता है (अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः।), जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'—मोटा देवदत्त दिन में खाना नहीं खाता, इस प्रसंग में यदि देवदत्त कभी नहीं खाता तो मोटा नहीं रह पाता, इसलिए यह कल्पना की जाती है कि 'वह रात में खाता है' (अर्थात् रात्रौ भुङ्क्ते)। जहाँ काव्य में अर्थापत्ति प्रमाण हो वहाँ अर्थापत्ति अलंकार होगा। जैसे,

हे नितंबिनि, तुम्हारा मध्यभाग इतना सूक्ष्म है कि प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं देता, लेकिन फिर भी हम किसी तरह इस निर्णय पर पहुँच ही जाते हैं कि तुम्हारे मध्यभाग का अस्तित्व अवश्य है। क्योंकि अगर तुम्हारा मध्यभाग न होता, तो यह पयोधरभार कहाँ ठहरता। चूँकि यह पयोधरभार कहीं टिका है, अतः कल्पना होती है कि जिस पर यह टिका है वह मध्यभाग भी अवश्य है।

अथवा जैसे—

यह पद्य शिशुपालवध के द्वादशसर्ग से यमुनावर्णन का है। पुराणादि में समुद्र में गंगा के गिरने का उल्लेख है, जो रंग में श्वेत है। पर यदि हेतु (तर्क) प्रकट रूप में आगम (पुराणादि) से अधिक बलवान् है, तो ऐसा जान पड़ता है कि समुद्र को कृष्णवर्णा यमुना ने जाकर पूर्ण किया है, श्वेत रंग की गंगा ने नहीं। क्योंकि यदि समुद्र को यमुना न पूर्ण करती तो समुद्र का जल गंगा के वेग के द्वारा तिरस्कृत किया हुआ शिव के कंठ के समान नीले रंग का क्यों होता? चूँकि समुद्र का रंग नीला है, अतः तर्क सिद्ध करता है कि यमुना ने ही उसे पूर्ण किया है, गंगा ने नहीं।

११५ अनुपलब्ध्यलङ्कारः

अनुपलब्धिर्यथा—

स्फुटमसदवलग्नं तन्वि ! निश्चिन्वते ते
तदनुपलभमानास्तर्कयन्तोऽपि लोकाः ।
कुचगिरिवरयुग्मं यद्विनाधारमास्ते
तदिह मकरकेतोरिन्द्रजालं प्रतीमः ॥

११६ सम्भवालङ्कारः

संभवो यथा—

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम् ।
किंतु त्वदग्रे शरणागतानां पराभवो नाथ ! न तेऽनुरूपः ॥

यथा वा (मालती० १।६)

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः ।

---

११६. अनुपलब्धि अलंकार

अनुपलब्धि को अभाव भी कहते हैं। किसी वस्तु के अभाव को ग्रहण करने के लिए अनुपलब्धि या अभावप्रमाण की कल्पना की जाती है। यही प्रमाण काव्य में प्रयुक्त होने पर अनुपलब्धि अलंकार होता है, जैसे—

कोई कवि किसी नायिका के मध्यभाग की सूक्ष्मता और कुचों के विस्तारभार तथा औन्नत्य की व्यंजना करा रहा है—'हे तन्वि, बड़े-बड़े तर्कशील व्यक्ति भी जब तुम्हारे मध्यभाग को प्रत्यक्ष प्राप्त नहीं कर पाते तो इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि तुम्हारा मध्यभाग 'है ही नहीं' (असत् है)। मध्यभाग के अनस्तित्व के कारण तुम्हारे दोनों कुचरूपी पर्वत जो बिना आधार के टिके हैं, यह कामदेव का जादू (इन्द्रजाल) है, ऐसा विश्वास हो रहा है।

११६. संभव अलंकार

संभव जैसे—

कोई भक्त ईश्वर से कह रहा है—'हे स्वामिन्, मेरे कोई अभूतपूर्व (नया) दुःख तो होगा नहीं, जिस प्रकार के दुःखों का मैं अब तक सामना कर चुका हूँ, ठीक वैसे ही दुःख भविष्य में भी होने वाले हैं। दुःख तो मेरा सहज अनुभव है, अतः सब तरह के दुःख को मैं सह सकता हूँ। पर कष्ट इस बात का है कि तुम्हारी शरण में आये लोगों का ठीक तुम्हारी ही आँखों के सामने दुखी होना तुम्हारे योग्य नहीं जान पड़ता।

यहाँ दुःखादि का संभावना संभवप्रमाण के आधार पर सिद्ध है।

अथवा जैसे, मालतीमाधव में भवभूति की निम्न उक्ति।

जो लोग दूसरों की (या मेरी) कृतियों को अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं, यह काव्यकृति उन लोगों के लिए नहीं की जा रही है। ऐसी संभावना है कि भविष्य में मेरे ही समान धर्मवाला कोई व्यक्ति अवश्य पैदा होगा, या अभी भी कहीं विद्यमान होगा, मैं यह रचना उसी व्यक्ति के लिए कर रहा हूँ। यह काल अनन्त है, साथ ही यह पृथ्वी भी

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

यथा वा—

भ्रातः पान्थ ! कुतो भवान्नगरतो वार्ता न वा वर्तते
बाढं ब्रूहि युवा पयोदसमये त्यक्त्वा प्रियां जीवति ।
सत्यं जीवति जीवतीति कथिता वार्ता मयापि श्रुता
विस्तीर्णा पृथिवी जनोऽपि विविधः किं किं न संभाव्यते ? ॥

अत्राद्योदाहरणे 'अभूतपूर्वं मम भावि किं वा' इति संभवप्रमाणसिद्धार्थो दर्शितः। द्वितीयोदाहरणे संभवोपपादकं कालानन्त्यादिकमपि दर्शितम्। तृतीयोदाहरणे तु संभवोऽपि कण्ठोक्त इति भेदः।

११७ ऐतिह्यालङ्कारः

ऐतिह्यं यथा—

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे ।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥

अत्र 'लौकिकी गाथेयम्' इत्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकप्रवादपारम्पर्यरूपता दर्शिता ॥

बहुत बड़ी है। इसलिए मुझे पूरा विश्वास है कि किसी काल या देश में मेरा समानधर्मा अवश्य पैदा होगा।

यहाँ 'काल व पृथ्वी अनन्त है' इसके द्वारा संभावना की गई है। यहाँ भी सम्भव अलंकार है।

अथवा जैसे—

कोई पथिक नगर में प्रिया को छोड़ कर आया है। कोई ग्रामीण व्यक्ति उसे देखकर पूछता है—'भाई राहगीर, कहां से आ रहे हो?' 'नगर से' 'वहां की कोई वार्ता नहीं है?' 'हां, है।' 'तो, कहो।' 'वहां का यही हाल है कि युवा व्यक्ति वर्षाकाल में प्रिया को छोड़ कर भी जी रहा है।' 'क्या सचमुच जी रहा है?' 'हां वह जिन्दा है, यह बात मैंने भी सुनी है। पृथ्वी बहुत बड़ी है, मनुष्य भी कई तरह के होते हैं, इसलिए इस संसार में कौन सी वस्तु संभाव्य नहीं?'

यहां प्रथम उदाहरण में 'मेरे लिए अभूतपूर्व दुःख कौन हो सकता है' इसके द्वारा सम्भवप्रमाणसिद्ध अर्थ की सूचना दी गई है। द्वितीय उदाहरण में संभावना के कारण रूप काल आदि की अनन्तता की सूचना भी गई है। तीसरे उदाहरण में संभावना को स्पष्ट रूप से कह दिया गया है, यह इन तीनों उदाहरणों में भेद है।

११७. ऐतिह्य अलंकार

ऐतिह्य जैसे—

मुझे यह लौकिक उक्ति बहुत कल्याणकारिणी प्रतीत होती है कि जीते हुए मनुष्य को, चाहे सौ वर्ष में ही क्यों न हो, आनन्द अवश्य मिलता है।

यहां लौकिकी गाथा के द्वारा, इस उक्ति के कहने वाले का पता नहीं और यह उक्ति परम्परा से चली आ रही है, इस बात की सूचना की गई है।

(अथ संसृष्टिसङ्करौ—)

अथैतेषामलंकाराणां यथासम्भवं क्वचिन्मेलने लौकिकालंकाराणां मेलन इव चारुत्वातिशयोपलम्भान्नरसिंहन्यायेन पृथगलंकारावस्थितौ तन्निर्णयः क्रियते। तत्र तिलतण्डुलन्यायेन स्फुटावगम्यभेदालंकारमेलने संसृष्टिः। नीरक्षीरन्यायेनास्फुटभेदालंकारमेलने संकरः। स चाङ्गाङ्गिभावेन समप्राधान्येन सन्देहेन एकवाचकानुप्रवेशेन च चतुर्विधः। एवं नृसिंहाकाराः पञ्चालंकाराः।

११८ अलंकारसंसृष्टिः

तत्रालंकारसंसृष्टिर्यथा (माघ० ६।१४),—

कुसुमसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसंभृतशोभया।

(संसृष्टि और संकर)

जिस तरह दो या अधिक लौकिक आभूषणों को मिलाकर एक नई डिजाइन बना देने से वे अलंकार अधिक चारुता उत्पन्न करते हैं, ठीक वैसे ही ये काव्यालंकार भी एक दूसरे से मिल कर काव्य में चारुतातिशय पैदा करते हैं। जिस तरह मनुष्य तथा सिंह मिलकर नरसिंह बनते हैं और वे दोनों का समन्वय होते हुए भी अलग कोटि में गृहीत होते हैं, इसी प्रकार अनेक अलंकारों का समन्वय भी 'नरसिंहन्याय' से पृथक् अलंकार के रूप में निर्णीत किया जाता है। जहाँ अनेक अलंकार एक दूसरे से इस तरह मिले हों कि वे प्रगट रूप में अलग-अलग दिखाई पड़ते हों, दूसरे शब्दों में जहाँ तिलतण्डुलन्याय से मिश्रण हो, वहाँ संसृष्टि नामक अलंकार होता है।

जहाँ अनेक अलंकार इस तरह मिश्रित हो गये हों कि वे स्पष्ट रूप में अलग-अलग प्रतीत नहीं होते हों, अर्थात् जहाँ वे दूध और पानी की तरह मिल जायँ (नीरक्षीरन्याय) वहाँ संकर अलंकार होता है। यह संकर अलंकार १. अङ्गांगिभाव रूप, २. समप्राधान्यरूप ३ सन्देहरूप, ४. एकवाचकानुप्रवेशरूप—चार प्रकार का होता है। इस प्रकार नृसिंह की तरह मिश्रित ढंग के अलंकार पांच प्रकार के होते हैं—एक तरह की संसृष्टि और चार तरह का संकर।

११८. संसृष्टि अलंकार

जहां अनेक शब्दालंकार या अर्थालंकार तिल और चावल की तरह एक दूसरे से मिश्रित हों, अर्थात् जिस तरह तिल और चावल के मिल जाने पर भी देखने वाला स्पष्टरूप में दोनों को देख पाता है, तथा यह भी अन्दाज लगा सकता है कि उस मिश्रण में किसका अधिक अंश है, वैसे ही अलंकारों का मिश्रण जहाँ इस तरह का हो कि सहृदय को स्पष्ट पता लग जाय कि कौन कौन अलंकार उसमें हैं, साथ ही वह यह भी जान ले कि ये अलंकार तिल और तण्डुल की तरह ही स्वतन्त्र हैं, तो वहां संसृष्टि अलंकार होता है।

पहला उदाहरण शब्दालंकारों की संसृष्टि का है, जो शिशुपालवध के षष्ठ सर्ग से उद्धृत है :—

'किसी अन्य नायिका ने जिसकी शोभा फूलों की सुगंध के लोभ से घूमते हुए भौंरों ने अधिक बढ़ा दी थी और जिसके बालों के कारण आंखें चंचल हो रही थीं, चलकर अपनी सुन्दर किंकणी के ...

चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशान्यया ॥

अत्र शब्दालंकारयोरनुप्रासयमकयोः संसृष्टिः ।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुपसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥

अत्रोत्प्रेक्षयोरुपमायाश्चेत्यर्थालंकाराणां संसृष्टिः ।

आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं
मौलौ हठेन निहितं महिपासुरस्य ।
पादाम्बुजं भवतु नो विजयाय मञ्जु-
मञ्जीरसिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ॥

अत्र शब्दार्थालंकारयोनुप्रासोपमयोः संसृष्टिः ।

यहां 'भ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया' तथा '°कलमेखलाकलकलोलकलोल°' में अनुप्रास अलंकार है; और '°लकलोऽलकलो°' तथा '°कलोऽलकलोल°' में यमक अलंकार है। इस प्रकार एक ही काव्य में स्वतन्त्र रूप से दोनों अलङ्कारों के अवस्थान के कारण यहां संसृष्टि अलंकार है।

प्रस्तुत पद्य भास के दरिद्रचारुदत्त तथा दण्डी के काव्यादर्श में मिलता है—अन्धकार ने मानो अंगों को लीप दिया है, आकाश मानो काजल की सृष्टि कर रहा है। अन्धकार के कारण दृष्टि वैसे ही निष्फल हो गई है, जैसे दुष्ट पुरुष की सेवा व्यर्थ जाती है।'

यहाँ प्रथमार्ध में दो उत्प्रेक्षा अलंकार (लिम्पतीव, वर्षतीव) हैं, द्वितीयार्ध में उपमा अलंकार है। इस प्रकार इन तीनों अर्थालंकारों की संसृष्टि है, जो एक दूसरे से स्वतन्त्र होकर इस काव्य में अवस्थित हैं।

पहले उदाहरण में शब्दालंकारों की संसृष्टि पाई जाती है, दूसरे में अर्थालंकारों की, अब तीसरा उदाहरण ऐसा दिया जा रहा है, जहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार की एक काव्यगत संसृष्टि हो।

भगवती अम्बिका की स्तुति है। देवी अम्बिका का चरण-कमल, जो सुन्दर नूपुरों के झणझणायित से रमणीय है, जिस पर आनन्द से भरे हुए इन्द्र ने माला चढ़ाई है और जो हठपूर्वक महिपासुर के मस्तक पर रक्खा गया है, हम लोगों की विजय का साधक बने (हमें विजयप्रदान करे)।

यहाँ 'आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं' 'मौलौ, महिपासुरस्य' 'मंजुमञ्जीरसिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः' में अनुप्रास नामक शब्दालंकार है, 'पादाम्बुजं' (पादः अम्बुजमिव) में उपमा नामक अर्थालंकार। यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि 'पादाम्बुजं' में 'पादः अम्बुजमिव' इस प्रकार उपमित समास ही है, मयूरव्यंसकादि की तरह 'पाद एव अम्बुजं' वाला रूपक अलंकार नहीं है। यदि यहाँ रूपक मान लिया जाय, तो उसमें उत्तरपद (अम्बुज) प्रधान हो जायगा, फलतः उसमें 'मञ्जीरसिञ्जितमनोहर' का अन्वय घटित न हो सकेगा, जब कि 'पाद' को प्रधानता देने पर (लुप्तोपमा-धर्मवाचकलुप्ता उपमा) मान लेने पर, यह अन्वय संगत बैठता है। वस्तुतः यहाँ उपमा ही है, रूपक नहीं। इस प्रकार इस पद्य में शब्दालंकार (अनुप्रास) तथा अर्थालंकार (उपमा) की संसृष्टि है।

११९ अङ्गाङ्गिभावसङ्करालङ्कारः

अङ्गाङ्गिभावसङ्करो यथा,—

तलेष्ववेपन्त महीरुहाणां छायास्तदा मारुतकम्पितानाम् ।
शशाङ्कसिंहेन तमोगजानां लूनाकृतीनामिव गात्रखण्डाः ॥

अत्र 'शशाङ्कसिंहेन' इति 'तमोगजानाम्' इति च रूपकम् । यद्यप्यत्र शशाङ्क एव सिंहः, तमांस्येव गजा इति मयूरव्यंसकादिसमासाश्रयणेन रूपकवच्छशाङ्कः सिंह इव तमांसि गजा इवेत्युपमितसमासाश्रयणेनोपमापि वक्तुं शक्या, तथापि 'लूनाकृतीनाम्' इति विशेषणानुगुण्याद्रूपकसिद्धिः । तस्य हि विशेषणस्य प्रधानेन सहान्वयेन भाव्यं, न तु गुणेन । 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्' इति

---

११९. अंगांगिभावसंकर अलंकार

जहाँ एक अलंकार दूसरे अलंकार का अंग बनकर उसका उपस्कारक हो, वहाँ अंगांगिभाव संकर होता है, जैसे—

उस समय पवन के द्वारा कँपाये गये वृक्षों की छाया उनके तले इस तरह काँप रही थीं, मानो चन्द्रमा रूपी सिंह के द्वारा छिन्न भिन्न शरीर वाले अन्धकार रूपी हाथियों के शरीर के टुकड़े काँप रहे हों।

(यहाँ अतिशयोक्ति, रूपक तथा उत्प्रेक्षा ये तीन अलंकार हैं। छाया के काँपने में हाथियों के शरीर के टुकड़ों की सम्भावना करना यह उत्प्रेक्षा अलंकार है। चन्द्रमा पर सिंह का, तथा अन्धकार पर हाथियों का आरोप करने से उस अंश में रूपक अलंकार है। 'तमोगजानां' पद के साथ लूनाकृतीनां' जो विशेषण दिया गया है, वह हाथियों के पक्ष में तो ठीक बैठता है, पर अन्धकार के पक्ष में मुख्या वृत्ति से ठीक नहीं बैठता, अतः यहाँ उसका अर्थ 'स्वरूपनाश' लेना होगा और इस प्रकार इस अंश में निगरणमूला अतिशयोक्ति होगी। यह रूपक तथा अतिशयोक्ति यहाँ उत्प्रेक्षा के अंग तथा उपस्कारक बनकर आये हैं, अतः यहाँ अंगांगिभाव संकर अलंकार है।)

इस उदाहरण में 'शशांकसिंहेन' तथा 'तमोगजानां' इन दोनों स्थानों पर रूपक अलंकार है। यद्यपि जिस प्रकार यहाँ मयूरव्यंसकादि समास का आश्रय लेकर 'शशांक ही सिंह है' (शशांक एव सिंहः) 'अन्धकार ही हाथी हैं' (तमांसि एव गजाः) इस विग्रह के द्वारा रूपक अलंकार माना गया है, ठीक उसी प्रकार 'चन्द्रमा सिंह के समान' (शशाङ्कः सिंह इव) 'अन्धकार हाथियों के समान' (तमांसि गजा इव) इस प्रकार उपमित समास के आधार पर विग्रह करने पर उपमा अलंकार भी माना जा सकता है, तथापि 'तमोगजानां' के साथ जो विशेषण (लूनाकृतीनां) दिया गया है, यह केवल 'गजानां' के साथ ही ठीक बैठता है अन्धकार के साथ नहीं। अतः विशेषण के केवल उत्तर पदनिष्ठ होने के कारण यहाँ रूपक की ही सिद्धि होती है। विशेषण का अन्वय सदा प्रधान (विशेष्य) के साथ ही होना चाहिए, गुण के साथ नहीं। जैसा कि मीमांसासूत्र में लिखा है कि 'गुणों में परस्पर कोई संबंध नहीं होता क्योंकि दोनों का सम्बन्ध केवल प्रधान (विशेष्य) से होता है।' ऐसी स्थिति में यदि उपमित समास मानकर विग्रह किया जायगा, तो वहाँ पूर्वपदार्थ की प्रधानता होने के कारण यहाँ 'शशांक' तथा 'तमः' की प्रधानता माननी पड़ेगी। पर उसके साथ 'लूनाकृतीनां' का [illegible]

न्यायात्। उपमितसमासाश्रयणे तस्य पूर्वपदार्थप्रधानत्वाच्छशाङ्कस्य तमसां च प्राधान्यं भवेत्। तत्र च न विशेषणस्य मुख्यार्थान्वयस्वारस्यमस्ति। स्वरूपनाशरूपोपचरिताकृतिलवनकर्तृत्वान्वयसंभवेऽपि मुख्यार्थान्वयस्वारस्यमेवादरणीयम्। अतः स्वरूपनाशक्रोडीकरणप्रवृत्तया लक्षणामूलातिशयोक्त्या रूपकसिद्धिः। तच्च रूपकमुत्प्रेक्षाया अङ्गं तदुत्थापकत्वात्। रूपकाभावे हि छाया लूनगात्र खण्डा इवावेपन्तेत्येतावदुक्तावुपमैव सिद्ध्येत् ; वेपनादिसाधर्म्यात्। न छायानां सद्यः कृत्तगात्रखण्डतादात्म्यसम्भावनारूपोत्प्रेक्षा। ननु शशाङ्केन लूनाकृतीनां तमसां गात्रखण्डा इवावेपन्तेत्येतावदुक्तावपि सिद्ध्यत्युत्प्रेक्षा; तादात्म्यसम्भावनोपयुक्तलूनाकृतित्वरूपाधिकविशेषणोपादानात्। सत्यम्; तथोक्तावाकृतिलवनादिधर्मरूपकार्यसमारोपनिमित्ता शशाङ्कतमसोर्हन्तृहन्तव्यचेतनवृत्तान्तसमारोपरूपा समासोक्तिरपेक्षणीया। एवमुक्तौ रूपकमिति विशेषः। एवं चात्रातिशयोक्तिरूपकोत्प्रेक्षाणामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥

हो सकेगा। यदि कोई व्यक्ति यह उत्तर दे कि 'लूनाकृतीनां' वाले पद से उपचार (लक्षणा) से यह अर्थ ले लिया जायगा कि अन्धकार के स्वरूप का नाश हो गया है और इस प्रकार स्वरूपनाश की उपचार से व्यंजना कराने वाले आकृतिलवन के कर्ता होने के कारण यह अन्वय शशांक तथा अन्धकार में घटित हो सकेगा, तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि इस प्रकार की पद्धति से अन्वय के संभाव्य होने पर भी मुख्यार्थान्वय की घटना को ही प्राथमिकता दी जायगी। इसलिए यहाँ उपमा नहीं मानी जा सकती। 'लूनाकृतीनां' पद में स्वरूपनाश का निगरण करनेवाली अध्यवसायपरकलक्षणामूला अतिशयोक्ति के द्वारा रूपक अलंकार की पुष्टि होती है। यह रूपक उत्प्रेक्षा का उत्थापक (पोषक) होने के कारण उसका अंग है। रूपक को उत्प्रेक्षा का पोषक इसलिए माना गया है कि रूपक अलंकार के अभाव में 'छाया कटे शरीर के टुकड़ों-सी काँप रही थी' इस अंश में उपमा ही होती, संभावना नहीं, क्योंकि दोनों में वेपन आदि साधारण धर्म विद्यमान है। किंतु ऐसी स्थिति में छाया में हाल में काटे गये गात्रखण्डों की तादात्म्यसंभावना संभावित नहीं हो सकती, जो उत्प्रेक्षा के लिए आवश्यक है। यह उत्प्रेक्षा तभी घटित हो सकती है, जब रूपक का प्रयोग किया जाय। पूर्वपक्षी फिर शंका करता है कि उत्प्रेक्षा की सिद्धि रूपक के बिना भी हो सकती थी। यदि कवि यह कहता कि 'चन्द्रमा के द्वारा काटे गये अन्धकार के मानो टुकड़े काँप रहे हों' तो इस उक्ति का आश्रय लेने पर उत्प्रेक्षा सिद्ध हो जाती है, क्योंकि तादात्म्यसम्भावना की पुष्टि के लिए अन्धकार के लिए 'लूनाकृतीनां' विशेषण का उपादान कर लिया गया है। इस शंका का उत्तर देते हुए उत्तरपक्षी कहता है, ठीक है, पर इस सरणि का आश्रय लेने पर हमें लवनादिधर्मरूप कार्य का समारोप करने के कारण चन्द्रमा तथा अन्धकार पर हन्ता तथा हन्तव्य के चेतन व्यवहार का समारोप करना पड़ेगा और इस प्रकार प्रस्तुत से अप्रस्तुत के व्यवहार समारोप की व्यंजना होने के कारण समासोक्ति अलंकार की आवश्यकता पड़ेगी। ऐसी स्थिति में भी उत्प्रेक्षा की पुष्टि के लिए अन्य अलंकार (समासोक्ति) की अपेक्षा होगी ही। प्रस्तुत उक्ति में यही भेद है कि यहाँ रूपक के द्वारा उत्प्रेक्षा की पुष्टि की गई है। इस प्रकार, यहां अतिशयोक्ति और रूपक उत्प्रेक्षा के अंग हैं, उत्प्रेक्षा अंगी और यहां इन तीनों का अंगांगिभाव संकर है।

१२० समप्राधान्यसङ्करालङ्कारः

समप्राधान्यसंकरो यथा—

अवतु नः सवितुस्तुरगावली समतिलङ्घिततुङ्गपयोधरा ।
स्फुरितमध्यगतारुणनायका मरकतैकलतेव नभःश्रियः ॥

अत्र पयोधरादिशब्दश्लेपमूलातिशयोक्त्याङ्गभूतयोत्थाप्यमानैव सवितृतुरगावल्यां गगनलक्ष्मीमरकतैकावलीतादात्म्योत्प्रेक्षा नभोलक्ष्म्यां नायिकाव्यवहारसमारोपरूपसमासोक्तिगर्भैवोत्थाप्यते । पयोधरशब्दश्लेपस्योभयोपकारकत्वात्, तत उत्प्रेक्षासमासोक्त्योरेकः कालः । परस्परापेक्षया चारुत्वसमुन्मेषश्चोभयोस्तुल्य इति विनिगमनाविरहात्समप्राधान्यम् ।

यथा वा,—

अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।

---

१२०. समप्राधान्यसंकर अलंकार

जहाँ एक काव्य में अनेक अलंकार समान रूप से प्रधान हों तथा एक दूसरे के अंगांगी न हों, वहाँ समप्राधान्य संकर अलंकार होता है । जैसे—

भगवान् सूर्य की वह तुरगपंक्ति हमलोगों की रक्षा करे, जो मानो आकाश-लक्ष्मी की वह मरकतमणिमय एकावली (हार) है, जिसने ऊँचे पयोधरों (मेघ, स्तन) का उल्लंघन किया है और जो दीप्तिमान् मध्यस्थ अरुण (सूर्य सारथि) के द्वारा नियंत्रित है (अत्यधिक प्रकाशमान् मध्यस्थ रक्ताभ नायक-मणि से युक्त है)।

यहाँ सबसे पहले पयोधर शब्द के श्लिष्ट प्रयोग से एकावलीगत पयोधर (स्तन) के द्वारा तुरगपंक्तिगत पयोधर (मेघ) का निगरण प्रतीत होता है, अतः यहाँ शब्दश्लेपमूला अतिशयोक्ति अलंकार है । यह अतिशयोक्ति अलंकार अंग बनकर सूर्य के घोड़ों की पंक्ति (सवितृतुरगावली) पर आकाशलक्ष्मी की मरकतमय एकावली के तादात्म्य की संभावना कराता है, इस प्रकार अतिशयोक्ति उत्प्रेक्षा अलंकार की प्रतीति में सहायक होती है । जिस समय यह उत्प्रेक्षा अलंकार प्रतीत होता है, ठीक उसी समय सहृदय को यह भी प्रतीति होती है कि यहाँ आकाश-लक्ष्मी पर चेतन नायिका के व्यवहार का समारोप कर दिया गया है । इस प्रकार प्रस्तुत आकाशलक्ष्मी के व्यवहार से अप्रस्तुत नायिका के व्यवहार की व्यंजना होती है, क्योंकि एकावलीधारण चेतन नायिका का ही धर्म है, अचेतन अकाशलक्ष्मी का नहीं । यह समासोक्ति उत्प्रेक्षा की प्रतीति के समय उसी के साथ घुली-मिली प्रतीत होती है । दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि उत्प्रेक्षा समासोक्तिगर्भ (समासोक्तिसंश्लिष्ट) हो कर ही प्रतीत होती है । अतिशयोक्ति के द्वारा इस संश्लिष्ट रूप की प्रतीति इसलिए होती है कि 'पयोधर' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग दोनों अलंकारों का उपस्कारक है, अतः उत्प्रेक्षा व समासोक्ति दोनों की प्रतीति एककालावच्छिन्न होती है । यदि ऐसा है, तो इन दोनों में एक अलंकार दूसरे अलंकार का अंग होगा, इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि दोनों अलंकार एक दूसरे की अपेक्षा चमत्कार जनक हैं, तथा दोनों समानकोटिक हैं, अतः किसी एक अलंकार के दूसरे की अपेक्षा अधिक चमत्कारी न होने से दोनों का समप्राधान्य है ।

अथवा जैसे—

'यह चन्द्रमा अपनी किरणों से अन्धकार को पकड़ कर बन्द कमल की आंखों वाले

कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥

अत्राङ्गुलीभिरिवेति वाक्योक्तोपमया तत्प्रायपाठान्मुख्यकुड्मलीकरणलिङ्गानुगुण्याच्चोपमितसमासाश्रयणेन लब्धया सरोजलोचनमिति समासोक्तोपमयाङ्गभूतयोत्थाप्यमानैव शशिकर्तृकनिशामुखचुम्बनोत्प्रेक्षा निशाशशिनोर्दम्पत्यव्यवहारसमारोपरूपसमासोक्तिगर्भैवोत्थाप्यते। उपमयोरुभयत्रोत्थापकत्वाविशेषात् समासोक्तिगर्भतां विना चुम्बनोत्प्रेक्षाया निरालम्बनत्वाच्च! ततश्चात्राप्युत्प्रेक्षासमासोक्त्योरेककालयोः समप्राधान्यम्। यद्यप्यत्रोपमाभ्यां शशिनिशागतावेव धर्मौ समर्थ्येते, नतु शशि-नायकयोः निशा-नायिकयोश्च साधारणौ धर्मौ। साधारणधर्मसमर्पणं चोत्प्रेक्षासमासोक्त्योरपेक्षितम्। उत्प्रेक्षायाः प्रकृताप्रकृतसाधारणगुणक्रियारूपनिमित्तसापेक्षत्वात् समासोक्तेर्विशेपणसाम्यमूलक-

---

रजनीमुख को ऐसे चूम रहा है, मानो वह अंगुलियों से केशपाश को पकड़ कर कमल के समान बंद आंखों वाले (रजनी-) मुख को चूम रहा हो।'

यहाँ 'अंगुलियों के समान (किरणों से)' इस वाक्योक्त (वाच्य) उपमा के द्वारा यदि हम इस काव्य में उपमा अलंकार को मुख्य मान कर उस संदर्भ में अर्थ करें, तो 'कुड्मलीकृतसरोजलोचनं' में 'कुड्मलीकरण' (मुकुलित होना) जो कि पुष्प या सरोज का असाधारण धर्म (लिंग) है, वह लोचन का भी असाधारण धर्म बन कर उपमित समास के द्वारा 'सरोजलोचनं' के समास में उक्त वाच्योपमा का सहायक होता है। यह उपमा स्वयं अंग बन कर चन्द्रमा के द्वारा निशामुखचुंबनरूप (मानो निशामुख चूम रहा है) उत्प्रेक्षा की प्रतीति कराती है। उत्प्रेक्षा अलंकार की प्रतीति के समय ही चन्द्रमा तथा रात्रि पर नायक-नायिका के व्यवहार समारोप की व्यंजना होती है, क्योंकि चुंबनक्रिया दम्पतिगत धर्म है, चन्द्रादिगत नहीं और इस प्रकार समासोक्ति की प्रतीति होती है। यह समासोक्ति उत्प्रेक्षा की प्रतीति के साथ ही घुलीमिली प्रतीत होती है। क्योंकि 'अंगुलीभिरिव' तथा 'सरोजलोचनं' वाली उपर्युक्त दोनों उपमाएँ उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति दोनों की प्रतीति में समानरूप से सहायक सिद्ध होती हैं, किसी एक ही अलंकार की प्रतीति में विशेप सहयोग नहीं देती, साथ ही समासोक्ति अलंकार की प्रतीति के बिना चुंबनक्रिया की सम्भावना (उत्प्रेक्षा) की प्रतीति नहीं हो सकेगी। यहाँ समासोक्ति तथा उत्प्रेक्षा दोनों अलंकारों की प्रतीति एककालावच्छिन्न होती है, अतः ये समप्रधान हैं। भाव यह है, इस पद्य में प्रथम क्षण में दोनों उपमा की प्रतीति होती है, तदनंतर वे दूसरे क्षण में अंग बनकर समासोक्ति तथा उत्प्रेक्षा की प्रतीति कराती हैं।

यहाँ उपमा अलंकार है, अतः जिन धर्मों का वर्णन किया गया है, वे शशिनिशा (उपमेय) से ही संबद्ध प्रतीत होते हैं, प्रस्तुताप्रस्तुत-शशिनायक और निशानायिका-दोनों के साथ साधारण धर्म के रूप में संबद्ध नहीं होते। उपमा में वर्णित धर्म उपमेयनिष्ठ होते हैं, जब कि उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति में अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत दोनों में घटित होने वाले धर्मों की आवश्यकता होती है। इसलिए यह शंका होना संभव है कि उपर्युक्त काव्य में निबद्ध धर्म जब चन्द्रनिशापक्ष में ही घटित होते हैं, तो वे उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति से संवेद्य अप्रस्तुत के साथ कैसे घटित होंगे। इसी शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं कि यद्यपि इस काव्य में प्रयुक्त धर्म चन्द्रमा तथा रात्रि के ही पक्ष में ठीक बैठते हैं, तथा वे ऐसे साधारण धर्म नहीं हैं कि चन्द्रमा-रात्रि की भांति नायक-नायिका के पक्ष में घटित हो सकें-

त्वाच। तथापि वाक्योक्तोपमायामिवकारस्य 'मरीचिभिरिव' इत्यन्वयान्तरमभ्युपगम्यान्वयभेदलब्धस्य प्रकृताप्रकृतयोरेकैकविषयस्यार्थद्वयस्य समासोक्तोपमायां 'सरोजसदृशं लोचनम्' इति समासान्तरमभ्युपगम्य समासभेदलब्धार्थद्वयस्य चाभेदाध्यवसायेन साधारण्यं सम्पाद्य च तयोरुत्प्रेक्षासमासोक्त्योरङ्गता निर्वाह्या। यद्वा,–इह प्रकृतकोटिगतानां मरीचितिमिरसरोजानामप्रकृतकोटिगतानां चाङ्गुलिकेशसञ्चयलोचनानां च तनुदीर्घारुणत्वनीलनीरन्ध्रत्वकान्तिमत्त्वादिना सदृशानां प्रातिस्विकरूपेण भेदवत् अनुगतसादृश्यप्रयोजकरूपेणाभेदोऽप्यस्ति स

क्योंकि उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति के लिए यह जरूरी है कि धर्म सामान्यनिष्ठ हो, विशेषनिष्ठ नहीं—यह इसलिए कि उत्प्रेक्षा में प्रकृत (मुख) तथा अप्रकृत (चन्द्रादि) की समान गुणक्रियारूप को लेकर उसके आधार पर प्रकृत में अप्रकृत की संभावना करना आवश्यक होता है, तथा समासोक्ति में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के लिए तुल्यविशेषण का प्रयोग किया जाता है—तथापि वाक्य में उपात्त (वाक्योक्त) उपमा में प्रयुक्त 'इव' से 'मरीचिभिरिव' इस दूसरे ढंग से अन्वय करके इस भिन्न अन्वय से प्राप्त अर्थद्वय से, जो कि प्रकृत (चन्द्रपक्ष) तथा अप्रकृत (नायकपक्ष) दोनों में घटित होता है, समासोक्त उपमा (सरोजलोचनं इस समास में प्राप्त लुप्तोपमा) के विग्रह में भी 'सरोजसदृश लोचन' इस प्रकार भिन्न प्रकार का समासविग्रह मानकर, इससे प्रतीत अर्थद्वय के लेने पर प्रकृत तथा अप्रकृत पक्ष में अभेदप्रतीति होने के कारण साधारणधर्म की सत्ता संपादित हो जायगी' इस सरणि में ये दोनों (वाक्योक्त तथा समासोक्त–'अंगुलीभिरिव मरीचिभिः' तथा 'सरोजलोचनं') उपमाएँ, उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति की अंग बन सकती हैं।

भाव यह है कि उपमा की प्रतीति करते समय हम इस सरणि का आश्रय ले सकते हैं कि नायक पक्ष में अन्वित 'अंगुलि' तथा 'लोचन' को उपमेय मानकर चन्द्रपक्ष में अन्वित 'मरीचि' तथा 'सरोज' को उपमान बना दिया जाय, तथा वाक्योक्त उपमा में इव का अन्वय 'मरीचिभिः' के साथ करें तथा समासोक्त उपमा में 'सरोज के समान लोचन' (सरोजसदृशं लोचनं) यह विग्रह करें, 'सरोज लोचन के समान' (सरोज लोचनमिव) नहीं। इस प्रकार की उपमासरणि का आश्रय लेनेपर तो साधारणधर्म नायक–नायिका के पक्ष में भी ठीक बैठ ही जाता है और इस तरह नायक–नायिका वृत्तांत के पोषक उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति अलंकारों का दोनों उपमाएँ अंग हो ही जाती हैं।

सिद्धांतपक्षी एक दूसरी सरणि का भी संकेत करता है, जिससे ये उपमाएँ उत्प्रेक्षा व समासोक्ति के अंग मानी जा सकती हैं। हम देखते हैं इस काव्य में वर्णित कुछ पदार्थ प्रकृत (उपमेय) हैं, कुछ अप्रकृत (उपमान)। इनमें किरणें, अंधकार तथा कमल प्रकृत हैं, क्योंकि ये चन्द्र और निशा से संबद्ध हैं तथा अंगुलि, केशपाश और नेत्र अप्रकृत हैं. क्योंकि वे अप्रस्तुत नायक–नायिकादि से संबद्ध हैं। पर इतना होते हुए भी इनमें कुछ दृष्टि से समानता पाई जाती है, कुछ दृष्टि से असमानता। इन पदार्थों में यह समानता पाई जाती है कि किरणें तथा अंगुलि दोनों पतली, लंबी, तथा रक्ताभ हैं (दोनों में तनुदीर्घारुणत्व' समान गुण विद्यमान है); अंधकार तथा केशपाश दोनों नीले तथा सघन हैं (दोनों में नीलनीरन्ध्रत्वादि समान गुण पाया जाता है), और सरोज तथा लोचन दोनों सुन्दर हैं (दोनों में कांतिमत्त्व समानधर्म है)। इस दृष्टि से ये दोनों एक दूसरे के समान हैं, किन्तु इनका वास्तविक रूप भिन्न है, क्योंकि अंगुलि में जो 'अंगुलित्व' है वह 'मरीचि' में नहीं, वहाँ 'मरीचित्व' पाया जाता है। इस प्रकार इनमें केवल यही समानता है कि

चात्र विवक्षित एव। भेदाभेदोभयप्रधानोपमेत्यालंकारिकसिद्धान्तात्। तत्र च प्रयाजकाण्डनिष्कर्षन्यायेनाभेदगर्भतांशोपजीवनेन साधारण्यं सम्पाद्य प्रधानभूतोत्प्रेक्षासमासोक्त्यङ्गता निर्वाह्या। न हि प्रकाशशीतापनयनशक्तिमतः सौरतेजसः शीतापनयनशक्तिमात्रेण शीतार्त्तूपयोगिता न दृष्टा॥

एवमनभ्युपगमे च,—

'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।

दोनों में सादृश्य को स्थापित करने वाला एक साधारण धर्म पाया जाता है और इस साधारणधर्म की प्रतीति कराना कवि का स्वयं का अभीष्ट है ही। इसलिए यहाँ भेदाभेदोभयप्रधानोपमा मानी जायगी, ऐसा आलंकारिकों का मत है।

टिप्पणी—साधर्म्य के तीन रूप माने जाते हैं:—भेदप्रधान, अभेदप्रधान, भेदाभेदप्रधान। वैद्यनाथ ने बताया है कि उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा तथा स्मरण नामक अलंकारों में साधारण धर्म भेदाभेदप्रधान होता है:—

'साधर्म्यं त्रिविधं भेदप्रधानमभेदप्रधानं भेदाभेदप्रधानं च।
उपमानन्वयोपमेयोपमास्मरणानां भेदाभेदसाधारणसाधर्म्यमूलत्वम्॥'

इस प्रकार यहाँ प्रयाजकाण्डनिष्कर्षन्यास से केवल अभेदमूलक अंग को ही लेकर प्रकृत तथा अप्रकृत पक्ष में साधारण्य सम्पादित किया जा सकता है, ऐसा करने पर ये दोनों उपमाएँ काव्य में प्रधानभूत (अंगी) उत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति अलंकारों के अंग बन जाती हैं। कोई यह शंका करे कि जब भेदाभेदप्रधान साधर्म्य वाली उपमा में दो अंश हैं तो आप केवल अभेद वाले अंश को ही लेते हैं यह ठीक नहीं, इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्तपक्षी एक युक्ति का प्रयोग करता है। हम देखते हैं कि सूर्य के तेज में दो गुण हैं, प्रकाश तथा ठंड मिटाने की क्षमता, यहाँ ठण्ड से ठिठुरते हुए व्यक्ति के लिए सूर्य के तेज का प्रकाश वाला गुण गौण है, खास गुण ठण्ड मिटाने की शक्ति ही है, इसी तरह उत्प्रेक्षादि के लिए इस उपमाद्वय के साधारणधर्म के अभेदांश की ही उपयोगिता सिद्ध होती है।

टिप्पणी—प्रयाजकाण्डनिष्कर्षन्यायः—दर्शपूर्णमास में तीन प्रकार के याग होते हैं—पुरोडाश, आज्य तथा सान्नाय। सान्नाय 'दधिपय' को कहते हैं। इसके सम्पादन के लिए जितने धर्म अपेक्षित हैं, उनका निरूपण करने के लिए प्रवृत्त ब्राह्मणभाग को तत्तत् काण्ड के नाम से पुकारते हैं। जैसे—पौरोडाशिकं काण्डम्, आज्यकाण्डम्, सान्नाय्यकाण्डम् इत्यादि। प्रकृत में पौरोडाशिक काण्ड में ५ प्रयाज विहित हैं—समित्प्रयाज, तनूनपात्प्रयाज, इट्प्रयाज, बर्हिष्प्रयाज, स्वाहाकारप्रयाज। इन पाँचों को पौरोडाशिककाण्ड से निकाल कर सारे दर्शपूर्णमास का प्रकरण प्रमाण से अंग माना गया है। अन्यथा समाख्या में पाँचों प्रयाज केवल पुरोडाश यागों के ही अंग होंगे। अतः जैसे प्रयाजकाण्ड पौरोडाशिक काण्ड से निकाल कर अभेदांश के कारण दर्शपूर्णमास में लगाया जाता है, वैसे ही यहाँ भी अभेदांश का ही प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों में साधारण्यसम्पादकत्व ठीक बैठ जायगा।

सिद्धांत पक्षी पूर्वपक्षी को अपनी बात पर राजी करने के लिए एक दलील रखता है कि हमारा मत न माना जायगा—अर्थात् भेदाभेदप्रधान उपमा में केवल अभेदांश की उपयोगिता न मानी जायगी—तो कई काव्यों में उपमा अलंकार का निर्वाह नहीं हो सकेगा। उदाहरण के लिए हम निम्न काव्य ले लें:—(रघुवंश के षष्ट सर्ग में इन्दुमती स्वयंवर के समय का पाण्ड्यराज का वर्णन है।)

'कन्धे पर लटकते हार वाला, हरिचन्दन के अङ्गराग से विभूषित यह पाण्ड्यदेश का

आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥'

इत्याद्युपमापि न निर्वहेत्। न ह्यत्राद्रिराजपाण्ड्ययोरुपमानोपमेययोरनुगतः साधारणधर्मो निर्दिष्टः। एकत्र बालातपनिर्झरौ, अन्यत्र हरिचन्दनहाराविति धर्मभेदात्। तस्मात्तत्र बालातपहरिचन्दनयोर्निर्झरहारयोश्च सदृशयोरभेदांशोपजीवनमेव गतिः॥

'पिनष्टीव तरङ्गाग्रैः समुद्रः फेनचन्दनम्।
तदादाय करैरिन्दुलिम्पतीव दिगङ्गनाः॥

इत्यत्रोत्प्रेक्षयोः कालभेदेऽपि समप्राधान्यम्। अन्योन्यनिरपेक्षवाक्यद्वयोपात्तत्वात्। तदादायेति फेनचन्दनरूपकमात्रोपजीवनेन पूर्वोत्प्रेक्षानपेक्षणात्। न चैवं

राजा इसी तरह सुशोभित हो रहा है जैसे झरने के प्रवाह से सुशोभित, प्रातःकालीन सूर्य के प्रकाश से अरुणाभ तलहटियों वाला हिमालय पर्वत सुशोभित होता है।'

इस उदाहरण में उपमा का निर्वाह न हो सकेगा क्योंकि यहाँ पर हिमालय (उपमान) तथा पाण्ड्य (उपमेय) के लिए जिस समानता का उपयोग किया है वह साधारणधर्म दोनों में नहीं पाया जाता। हिमालय के पक्ष में प्रातःकालीन सूर्य के प्रकाश तथा झरने का वर्णन है, पाण्ड्य के पक्ष में हरिचन्दन तथा हार का, इस प्रकार दोनों धर्म एक दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार यहाँ भी उपमा अलंकार की प्रतीति के लिये हमें समानधर्म बालातप-हरिचन्दन तथा निर्झर-हार के अभेदांश—बालातप और हरिचन्दन दोनों लाल हैं तथा तत्तत् विषय को अवलिप्त करते हैं और निर्झर तथा हार दोनों स्वच्छ, तरल, आभामय तथा प्रलम्ब हैं—को ही लेना पड़ेगा।

ग्रन्थकार एक और उदाहरण देता है, जहाँ दो अलङ्कारों का समप्राधान्य पाया जाता है। इस उदाहरण में दो उत्प्रेक्षा अलङ्कारों की प्रतीति भिन्न-भिन्न काल में होती है तथापि ये दोनों काव्य में समानतया प्रधान हैं, अतः यहाँ भी समप्राधान्य संकर होगा—

यह समुद्र अपनी लहरों के द्वारा मानो फेन रूपी चन्दन को पीस रहा है। उस फेन चन्दन को लेकर चन्द्रमा अपनी किरणों (हाथों) से मानो दिशारूपी रमणियों को अवलिप्त कर रहा है।

यहाँ दो उत्प्रेक्षा हैं—'मानो पीस रहा है' (पिनष्टीव) और 'मानो लीप रहा है' (लिम्पतीव)। ये दोनों उत्प्रेक्षाएँ एक साथ क्रियाशील नहीं होतीं—पहले पेषण-क्रिया होती है, फिर लेपन क्रिया। अतः दोनों में काल भेद है। इतना होने पर दोनों सम प्रधान हैं, क्योंकि कवि ने दोनों का प्रयोग एक वाक्य में न कर दो भिन्न वाक्यों में किया है, तथा प्रत्येक वाक्य एक दूसरे से स्वतन्त्र (निरपेक्ष) हैं। क्योंकि दूसरी उत्प्रेक्षा (मानो वह लीप रहा है) जिसकी प्रतीति 'तदादाय' आदि उत्तरार्ध से होती है, पूर्वार्ध में उक्त 'फेनचन्दन' परक रूपक अलङ्कार मात्र के द्वारा पुष्ट होती है, इसका 'पिनष्टीव' वाली उत्प्रेक्षा से कोई संबंध नहीं है और पहली उत्प्रेक्षा से वह स्वतन्त्र है। इस पर पूर्वपक्षी यह शंका करता है कि यदि ये दोनों उत्प्रेक्षाएँ एक दूसरे से निरपेक्ष हैं, तो फिर इनका शंकर मानना ठीक नहीं होगा। जैसे 'लिम्पतीव तमोंगानि वर्षतीवांजनं नभः' इस उदाहरण में 'अन्धकार मानो अंगों को लीप रहा है, आकाश मानो काजल की वर्षा कर रहा है' इन दो उत्प्रेक्षाओं का संकर न मान कर संसृष्टि मानी जाती है, वैसे यहाँ भी 'पिनष्टीव' तथा

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इतिवदुत्प्रेक्षाद्वयस्य संसृष्टिरेवेयमिति वाच्यम्। लौकिक-सिद्धपेषणलेपनपौर्वापर्यच्छायानुकारिणोत्प्रेक्षाद्वयपौर्वापर्येण चारुतातिशयसमुन्मेषतः संसृष्टिवैषम्यात्। तस्माद्दर्शादिवदेकफलसाधनतया समप्रधानमिदमुत्प्रेक्षाद्वयम्। एवं समप्रधानसंकरोऽपि व्याख्यातः॥

१२१ सन्देहसङ्करालङ्कारः

सन्देहसंकरो यथा (रघु० ६।८५),—

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः॥

अत्र 'इयम्' इति सर्वनाम्ना यदजं वृतवतीन्दुमती विशिष्टरूपेण निर्दिश्यते

'लिम्पतीव' में संसृष्टि ही मान ली जाय। इस शंका का निराकरण करते हुए सिद्धांतपक्षी का कहना है कि ऐसा मत देना ठीक नहीं। क्योंकि यहाँ पेषण तथा लेपन का जो संकेत किया गया है, वह इस बात का संकेत करता है कि कवि लौकिक पेषणक्रिया तथा लेपनक्रिया के पौर्वापर्य की समानता व्यक्त करना चाहता है। इस प्रकार यहाँ इन दोनों उत्प्रेक्षाओं के काल में जो पौर्वापर्य पाया जाता है, वह लौकिक चन्दनपेषण तथा चन्दनलेपन के पौर्वापर्य की तरह है। इसलिए यहाँ संसृष्टि की अपेक्षा अधिक चमत्कार पाया जाता है, अतः इसे संसृष्टि से भिन्न मानना होगा। (भाव यह है, जैसे कोई व्यक्ति पहले चन्दन पीसता है, फिर दूसरा व्यक्ति प्रेयसी आदि के उसका अंगराग लगाता है, इसी तरह समुद्र मानो चन्दन पीसता है और चन्द्रमा दिगंगनाओं को मानो चन्दन लेप कर रहा है—यहाँ दोनों क्रियाएँ एक दूसरे के बाद होती हैं, यह लौकिक साम्य अलङ्कारद्वय के समावेश में विशेष चारुता ला देता है।) यद्यपि ये दोनों उत्प्रेक्षाएँ यहाँ एक दूसरे की अंगभूत नहीं तथापि एक ही चमत्कार के साधन होकर आई हैं, ठीक वैसे ही जैसे दर्शपूर्णमासादि अनेक याग एक ही स्वर्गप्राप्त्यादि फल के साधन होते हैं। अतः ये दोनों समप्रधान हैं। इस प्रकार समप्रधान संकर की व्याख्या की गई।

१२१. संदेहसंकर अलंकार

जहाँ किसी स्थल में अनेक अलंकारों का सन्देह हो, तथा अलंकारच्छाया (अलंकार सौन्दर्य) इस तरह की हो कि सहृदय की चित्तवृत्ति किसी विशेष अलङ्कार के निश्चय पर न पहुँच पाये—यहाँ अमुक अलङ्कार है अथवा अमुक-वहाँ सन्देह संकर होता है, जैसे—

रघुवंश के इन्दुमती स्वयंवर का प्रसंग है। इन्दुमती ने अज का वरण कर लिया है। इस सम्बन्ध में कवि की उक्ति है :—

समान गुणवाले अज तथा इन्दुमती के परस्पर योग से प्रसन्न पुरवासी स्वयंवर में आये हुए अन्य राजाओं के कानों को कटु लगने वाले इन शब्दों का उच्चारण करने लगे—'यह (इन्दुमती) चन्द्रिका मेघयुक्त चन्द्रमा को प्राप्त हुई है, जह्नुपुत्री गंगा अपने योग्य समुद्र को अवतीर्ण हो गई है।' (यह इन्दुमती उसी प्रकार अज के साथ युक्त हुई है, जैसे चन्द्रिका मेघमुक्त चन्द्रमा के साथ और गंगा समुद्र के साथ।)

यहाँ पूर्वार्ध में कौन सा अलङ्कार है? इस उक्ति में सम्भवतः निदर्शना हो सकती है,

तदा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मविशिष्टयोः सदृशयोरैक्यारोपरूपा निदर्शना। यदि तेन सा स्वरूपेणैव निर्दिश्यते, बिम्बभूतो धर्मस्तु पूर्वप्रस्तावात्समगुणयोगप्रीतय इति पौरविशेषणाच्चावगम्यते, तदा प्रस्तुते धर्मिणि तद्वृत्तान्तप्रतिबिम्बभूताप्रस्तुतवृत्तान्तारोपरूपं ललितमित्यनध्यवसायात् सन्देहः॥

यथा वा—

विलीयेन्दुः साक्षादमृतरसवापी यदि भवेत्
कलंकस्तत्रत्यो यदि च विकचेन्दीवरवनम्।
ततः स्नानक्रीडाजनितजडभावैरवयवैः
कदाचिन्मुञ्चेयं मदनशिखिपीडापरिभवम्॥

अत्र 'यद्येतावत्साधनं संपद्येत तदा तापः शाम्यति' इत्यर्थे कविसंरम्भश्चेत्तदैतदुपात्तसिद्ध्यर्थमूह इति संभावनालंकारः। एतावत्साधनं कदापि न संभवत्येव,

---

क्योंकि यदि 'इयं' (यह) इस सर्वनाम के द्वारा 'अज का वरण करती हुई इन्दुमती' इस विशिष्टधर्मयुक्त इन्दुमती का संकेत किया गया है, तो बिंबप्रतिबिंबभाववाले धर्म (गुण) से विशिष्ट सदृश पदार्थों—इन्दुमती–चन्द्रिका; इन्दुमती–गंगा में ऐक्य का आरोप व्यंजित होता है, अतः यहाँ निदर्शना अलंकार है। किंतु यदि इन्दुमती का वर्णन विशिष्टधर्मसम्पन्न रूप में न कर सामान्यरूप में किया गया है, तो बिंबभूत धर्म की प्रतीति प्रसंग के पूर्व वर्णन से तथा पुरवासियों के साथ प्रयुक्त 'समगुणयोगप्रीतयः' इस विशेषण से हो जाती है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत धर्मी (इन्दुमती) में उससे संबद्ध वृत्तान्त (अजइन्दुमतीयोग) के प्रतिबिंबभूत अप्रस्तुतवृत्तान्त (चन्द्रचन्द्रिकायोग, जलनिधिजह्नुकन्यायोग) का आरोप करने के कारण यहाँ ललित अलंकार माना जायगा। अतः सहृदय किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाता कि यहाँ निदर्शना माने या ललित। इसलिए यहाँ संदेह संकर है।

अथवा जैसे निम्न उदाहरण में—

कोई विरहिणी या विरही कामज्वाला से दग्ध अपनी अवस्था का वर्णन कर रहा है। यदि स्वयं चन्द्रमा ही पिघल कर अमृत रस की बावली बन जाय और उसके अन्दर का कलंक विकसित कमलों का वन (समूह) हो जाय, तो उस बावली में स्नान करने से शीतल अंगों से मैं कभी न कभी कामदेव रूपी अग्नि की ज्वाला को छोड़ सकता हूँ। भाव यह है, मेरी यह कामज्वाला तभी समाप्त हो सकती है, जब मैं स्वयं चन्द्रमा के पिघलने से बनी अमृतरसवापी में स्नान करूँ।

यहाँ यदि इतना साधन मिल जाय, तो मेरा ताप शान्त हो सकता है—यदि इस भाव की व्यञ्जना करना कवि को अभीष्ट है, तो किसी लक्ष्य की सिद्धि का तर्क (ऊह) करने के कारण संभावना अलंकार माना जायगा। किंतु यदि इस पद्य में कवि का आशय यह हो—कि इतना साधन (चन्द्रमा का गलकर अमृतरसवापी बन जाना तथा कलङ्क का इन्दीवर बन हो जाना) कभी भी संभव नहीं है, इसलिए मेरी तापशांति भी न हो सकेगी, यह आकाशकुसुम के सदृश असम्भाव्य है—तो उपात्त वस्तु के मिथ्यात्व की सिद्धि के कारण अन्य मिथ्या अर्थ की कल्पना की गई है, अतः यहाँ मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार

अतस्तापशान्तिरपि गगनकुसुमकल्पेत्यर्थे कविसंरम्भश्चेदुपात्तमिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनारूपा मिथ्याध्यवसितिरित्युभयथासंभवात् संदेहः।

एवम्—

सिक्तं स्फटिककुम्भान्तः स्थितिश्वेतीकृतैर्जलैः।
मौक्तिकं चेल्लतां सूते तत्पुष्पैस्ते समं यशः ॥'

इत्यादिष्वपि संभावनामिथ्याध्यवसितिसंदेहसंकरो द्रष्टव्यः॥

मुखेन गरलं मुञ्चन्मूले वसति चेत्फणी।
फलसंदोहगुरुणा तरुणा किं प्रयोजनम् ?॥

अत्र महोरगवृत्तान्ते वर्ण्यमाने राजद्वाररूढखलवृत्तान्तोऽपि प्रतीयते। तत्र किं वस्तुतस्तथाभूतमहोरगवृत्तान्त एव प्रस्तुतेऽप्रस्तुतः खलवृत्तान्तस्ततः प्रतीयत इति समासोक्तिः। यद्वा—प्रस्तुतखलवृत्तान्तप्रत्यायनायाप्रस्तुतमहोरगवृत्तान्त-

---

होगा। अतः सहृदय पाठक इस निर्णय पर नहीं पहुँच पाता कि यहाँ सम्भावना अलङ्कार है या मिथ्याध्यवसिति, फलतः यहाँ भी संदेह संकर है।

ठीक इसी तरह निम्न उदाहरण में सम्भावना तथा मिथ्याध्यवसिति का संकर देखा जा सकता है :—

(कोई कवि राजा की प्रशंसा कर रहा है।)

हे राजन्, यदि स्फटिकमणि के घड़ों में रखने के कारण सफेद बने जल से सींचा गया मोती (का बीज) किसी बेल को पैदा करे, तो उस बेल के पुष्पों के समान श्वेत तुम्हारा यश है।

यहाँ 'यदि ऐसा फूल हो तो तुम्हारे यश की तुलना की जा सकती है' इस प्रकार संभावना अलङ्कार है, या 'मोती से कभी बेल नहीं पैदा होती, न ऐसी बेल के फूल ही, अतः तुम्हारे यश के समान पदार्थ कोई नहीं है' यह मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार ? इस प्रकार अनिश्चय के कारण यहाँ भी संदेह संकर है।

फलसमूह से झुके हुए ऐसे वृक्ष से क्या फायदा, जिसकी जड़ में मुँह से जहर उगलता हुआ साँप निवास करता है !

इस पद्य में महासर्प के वर्णन के द्वारा राजदरबार में रहने वाले दुष्ट व्यक्तियों के वृत्तान्त की व्यंजना की गई है। यह पता नहीं चलता कि प्रस्तुत विषय कौन-सा है, सर्पवृत्तान्त या खलवृत्तान्त, या दोनों ही प्रस्तुत हैं ? यदि सर्पवृत्तान्त को प्रस्तुत मानकर खलवृत्तान्त को अप्रस्तुत माना जाय तो यहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है, क्योंकि यहाँ प्रस्तुत के वर्णन के द्वारा तुल्य व्यापार के कारण प्रस्तुत खलवृत्तान्त की व्यंजना हो रही है। पर साथ ही यह भी संदेह होता है कि कहीं यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा न हो ? संभव है, कवि ने राजदरबार में प्रविष्ट खलों को देखकर अप्रस्तुत (सर्पवृत्तान्त) के द्वारा प्रस्तुत (खलवृत्तान्त) की व्यंजना कराई हो। साथ ही ऐसा भी संभव है कि यहाँ दोनों पक्ष प्रस्तुत हों, तथा किसी कवि ने प्रस्तुत सर्प का वर्णन करते हुए किसी समीपस्थ दुष्ट व्यक्ति के रहस्य का उद्घाटन भी किया हो, तथा कवि का लक्ष्य दोनों का प्रस्तुतरूप में वर्णन करना रहा हो। यदि तीसरा विकल्प हो तो फिर यहाँ दोनों पक्षों के प्रस्तुत होने के

कीर्तनमप्रस्तुतप्रशंसा। यद्वा,-वर्ण्यमानमहोरगवृत्तान्तकीर्तनेन समीपस्थितखल मर्मोद्घाटनं क्रियत इति उभयस्यापि प्रस्तुतत्वात् प्रस्तुताङ्कुर इति संदेहः।

१२२ एकवचनानुप्रवेशसङ्करः

एकवाचकानुप्रवेशसंकरस्तु शब्दार्थालंकारयोरेवेति लक्षयित्वा काव्यप्रकाशकार उदाजहार—

स्पष्टोच्छ्वसत्किरणकेसरसूर्यबिम्ब-
विस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम्।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतार-
बद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच ॥

तत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ यत्रैकस्मिन् श्लोके पदभेदेन शब्दार्थालंकारयोः स्थितिस्तत्र तयोः संसृष्टिः, इह तु संकर इति। अलंकारसर्वस्वकारस्तु

कारण प्रस्तुतांकुर अलंकार होगा। ऐसी स्थिति में हम किसी एक अलंकार के विषय में निश्चित निर्णय नहीं दे पाते। अतः यहाँ भी समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा और प्रस्तुतांकुर का संदेहसंकर अलंकार है।

१२२. एकवचनानुप्रवेशसंकर

जहाँ एक ही वाचक के द्वारा दो अलङ्कारों की प्रतीति हो, वहाँ एकवाचकानुप्रवेशसंकर या एकवचनानुप्रवेशसंकर होता है।

काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य के मतानुसार एकवाचकानुप्रवेशसंकर केवल शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार में ही हो पाता है। काव्यप्रकाशकार ने इसका उदाहरण निम्न पद्य दिया है।

टिप्पणी—मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में संकर का एक भेद वह माना है, जहाँ शब्दालंकार तथा अर्थालंकार एक ही पद में प्रगटरूप में स्थित हों। इसी को एकवाचकानुप्रवेशसंकर कहा जाता है।

स्फुटमेकत्रविषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम्।
व्यवस्थितं च (तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः)॥ (१०.१४१)

अभिन्ने एव पदे स्फुटतया यदुभावपि शब्दार्थालंकारौ व्यवस्थां समासादयतः, सोऽप्यपरः संकरः। इसका उदाहरण काव्यप्रकाश में वही 'स्पष्टोच्छ्वसत्किरण०' इत्यादि पद्य दिया गया है।

महाकवि रत्नाकर के हरविजय के उन्नीसवें सर्ग का प्रथम पद्य है। कवि सायंकाल का वर्णन कर रहा है। इसके बाद स्पष्ट प्रकाशित किरणों के केसर से युक्त सूर्यबिम्बरूपी बड़े कर्णिक वाला दिनरूपी कमल; जिसके परस्पर मिलकर सिमटते हुए दिशासमूहरूपी पत्तों के कारण रात्रि के आरंभ में होने वाले अन्धकाररूपी भँवरों की पंक्ति आबद्ध हो रही थी; संकुचित हो गया।

इस पद्य में 'किरणकेसर' 'सूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिक' और 'दिग्दलकलाप' में रूपक तथा अनुप्रास दोनों अलंकार एक ही पद में प्रविष्ट हैं, अतः यहाँ संकर अलंकार है। जहाँ शब्दालङ्कार तथा अलङ्कार अलग अलग पदों में स्थित हों वहाँ संकर न होगा संसृष्टि होगी। पर यहाँ ऐसा नहीं है, अतः यहाँ तो संकर ही है। अलङ्कार सर्वस्वकार रुय्यक ने

एकस्मिन्वाचकेऽनुप्रवेशो वाच्ययोरेवालंकारयोः स्वारसिको वाच्यप्रतियोगिकत्वाद्वाचकस्येति मत्वार्थालंकारयोरप्येकवाचकानुप्रवेशसंकरमुदाजहार—

सत्पुष्करद्योतितरङ्गशोभिन्यमन्दमारब्धमृदङ्गवाद्ये।
उद्यानवापीपयसीव यस्यामेणीदृशो नाट्यगृहे रमन्ते॥

एकवाचकानुप्रवेश संकर अर्थालङ्कारों का भी माना है। उनके मतानुसार एकवाचकानुप्रवेश अर्थालङ्कारों का ही शोभाधायक हो पाता है, क्योंकि वाचक (पद) तो वाच्य (अर्थ) का प्रतियोगी अर्थात् संबंधी होता है। भाव यह है कि जब आचार्य एकवाचकानुप्रवेश संकर मानते हैं तो 'वाचक' पद के द्वारा वे वाच्य (अर्थ) का संकेत करते जान पड़ते हैं, क्योंकि वाचक तो वाच्य से सदा संबद्ध रहता है। रुय्यक ने यही मानकर अर्थालङ्कारों का भी एकवाचकानुप्रवेश संकर माना है तथा उसका उदाहरण निम्न है :—

टिप्पणी—संसृष्टि वाला रूपक तथा अनुप्रास का उदाहरण अलंकारचंद्रिकाकार वैद्यनाथ ने यह दिया है :—

सो णत्थि एत्थ गामे जो एअं महमहन्तलाअण्णं।
तरुणाणँ हिअअलुडिं परिसप्पंतिं णिवारेइ॥

(इस गाँव में ऐसा कोई नहीं, जो जगमगाते सौंदर्यवाली, युवकों के हृदयलुण्ठनरूप इस नायिका को घूमने से रोक सके)।

यहाँ 'णत्थि–एत्थ' में अनुप्रास है, 'तरुणाणँ हिअअलुडिं' में रूपक' यहाँ ये दोनों एकपदगत नहीं हैं, अतः संसृष्टि है।

रुय्यक ने एकवाचकानुप्रवेशसंकर के प्रकरण में इसके तीन भेद मानते हैं :—(१) अर्थालंकारों का एकवाचकानुप्रवेश, (२) शब्दार्थालंकार का एकवाचकानुप्रवेश तथा (३) शब्दालंकारों का एकवाचकानुप्रवेश।

तृतीयस्तु प्रकार एकवाचकानुप्रवेशसंकरः। यत्रैकस्मिन्वाचकेऽनेकालंकारानुप्रवेशः, न च सन्देहः। यथा—

मुरारिनिर्गता नूनं नरकप्रतिपन्थिनी।
तवापि मूर्ध्नि गंगेव चक्रधारा पतिष्यति॥

अत्र मुरारिनिर्गतेति साधारणविशेषणहेतुका उपमा, नरकप्रतिपन्थिनीति श्लिष्टविशेषणसमुत्थश्लेषोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषश्चैकस्मिन्नेवशब्देऽनुप्रविष्टौ, तस्योभयोपकारित्वात्। अत्र यथार्थश्लेषेण सहोपमायाः संकरस्तथा शब्दश्लेषेणादि सह दृश्यते। यथा—

'सत्पुष्करद्योतितरंगशोभिन्यमंदमारब्धमृदंगवाद्ये।
उद्यानवापीपयसीव यस्यामेणीदृशो नाट्यगृहे रमन्ते॥'

अत्र 'पयसीव नाट्यगृहे रमन्ते' इत्येतावतैव समुचितोपमा निष्पन्ना सत्पुष्करद्योतितरंग इति शब्दश्लेषेण सहैकस्मिन्नेव शब्दे संकीर्णा। शब्दालङ्कारयोः पुनरेकवाचकानुप्रवेशेन संकरः पूर्वमुदाहृतो राजति तटीयम्' इत्यादिना। एकवाचकानुप्रवेशेनैव चात्र संकीर्णत्वम्। (अलंकारसर्वस्व पृ. २५५)

जिस नगरी में हिरनियों के समान नेत्रवाली सुन्दरियाँ सुन्दर मृदंग से सशब्द रंगभूमि से सुशोभित तथा धीर एवं गंभीर मृदंग तथा वाद्ययन्त्रों की ध्वनिवाले नाट्यगृह में इसी तरह रमण करती थीं, जैसे सुन्दर कमलों से सुशोभित तरंग वाली उद्यानवापियों (बगीचे की बावलियों) के पानी में जलक्रीडा करती थीं।'

अत्र नाट्यगृह-वापीपयसोः सत्पुष्करेत्यादिविशेषणे शब्दसाम्यं श्लेषः, 'अमन्दमारब्धे' त्यादिविशेषणेऽर्थसाम्यमुपमा, तदुभयमेकस्मिन्निवशब्देऽनुप्रविष्टमिति तदपि न मन्यामहे। सत्पुष्करेत्यादिविशेषणेऽपि श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तिलभ्यस्य धर्मसाम्यस्यैव तत्रेवशब्दप्रतिपाद्यतया शब्दसाम्यस्य तदप्रतिपाद्यत्वात्। श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायेन धर्मसाम्यमतानङ्गीकारे 'अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम्' इत्यादिश्लिष्टविशेषणसमासोक्त्युदाहरणे विशेषणसाम्याभावेन समासोक्त्यभावप्रसङ्गात्। शब्दसाम्यस्येवशब्दप्रतिपाद्यत्वेऽपि तस्योपमावाचकत्वस्यैव प्राप्त्या श्लेषवाचकत्वाभावाच्च। शब्दतोऽर्थतो वा कविसंमतसाम्यप्रतिपादने सर्वविधेऽप्युपमालङ्कारस्वीकारात्।

इस उदाहरण में पूर्वपक्षी, जो केवल शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का ही एकवाचकानुप्रवेश संकर मानता है, श्लेष तथा उपमा का एकवाचकानुप्रवेश संकर मानेगा। उसके मत से यहाँ नाट्यगृह तथा बावलियों का जल (वापीपय) दोनों के लिए 'सत्पुष्करद्योतितरंगशोभिनि' यह विशेषण दिया गया है, जिसका नाट्यगृह के पक्ष में 'सुंदर मृदंग से सशब्द रंगभूमि से सुशोभित' तथा वापीपय के पक्ष में 'सुंदर कमलों से सुशोभित तरंग वाला' अर्थ होता है, अतः यहाँ शब्दसाम्य होने के कारण श्लेष अलंकार है। इन्हीं के लिए 'अमन्दमारब्धमृदंगवाद्ये' (जिसमें गंभीर ध्वनि से मृदंग तथा वाद्य बज रहे हैं) विशेषण का प्रयोग हुआ है, जो अर्थसाम्य के द्वारा उपमा की प्रतीति कराता है। ये दोनों शब्दालंकार श्लेष तथा अर्थालंकार उपमा एक ही वाचक शब्द 'इव' के द्वारा प्रतीत होते हैं, अतः यहाँ शब्दार्थालंकार का ही एकवाचकानुप्रवेश है। अप्पयदीक्षित इस मत को नहीं मानते (तदपि न मन्यामहे)। उनका मत यह है कि 'सत्पुष्कर०' इत्यादि पद में जो श्लिष्ट विशेषण पाया जाता है उससे श्लेषानुप्राणित अभेदाध्यवसायरूपा अतिशयोक्ति अलंकार की प्रतीति होती है, यह अतिशयोक्ति जिस अर्थसाम्य की प्रतीति कराती है, वही 'इव' शब्द के द्वारा प्रतिपादित हुआ है, पूर्वपक्षी के मतानुसार शब्दसाम्य नहीं। क्योंकि 'इव' वाचक शब्द शब्दसाम्य की कभी प्रतीति नहीं करा पाता। यदि पूर्वपक्षी श्लेषानुप्राणित अभेदनिगरणरूपा अतिशयोक्ति से धर्मसाम्य की प्रतीति वाले मत को स्वीकार न करेगा, तो कई ऐसे स्थल होंगे जहाँ अलंकारप्रतीति न हो सकेगी। उदाहरण के लिये 'अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम्'। (१) अरे यह लालिमापूर्ण सन्ध्या स्वयं आकाश को छोड़ रही है; (२) अरे यह प्रेमभरी नायिका स्वयं वस्त्र का त्याग कर रही है, इस उक्ति में श्लिष्ट विशेषण के द्वारा समासोक्ति की प्रतीति कराई गई है। यदि यहाँ केवल शब्दसाम्य ही माना जायगा तथा अर्थसाम्य की अपेक्षा न की जायगी तो प्रेमार्द्रनायिकागत अप्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति न हो सकेगी, तथा यहाँ समासोक्ति अलंकार न मानने का प्रसंग उपस्थित होगा। जिस प्रकार इस उदाहरण में शब्दसाम्य के कारण अर्थसाम्य की प्रतीति मानना होगा, वैसे ही 'सत्पुष्कर०' इत्यादि उदाहरण में भी मानना होगा। यदि यह कहा जाय कि यहाँ 'इव' शब्द शब्दसाम्य का वाचक है, तो इव शब्द के द्वारा शब्दसाम्य की प्रतीति होने पर भी 'इव' वस्तुतः उपमा (अर्थालङ्कार) का ही वाचक शब्द है, श्लेष (शब्दालङ्कार) का नहीं। कवि चाहे शब्द के द्वारा साम्य प्रतीति कराये या अर्थ के द्वारा, दोनों ही स्थलों में उपमा अलङ्कार ही मानना होगा।

टिप्पणी—'सत्पुष्करद्योतितरंग' इत्यादि पद्य के संबंध में अप्पयदीक्षित रुय्यक के मत से

अन्यथा—

'यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्॥'

इत्यत्राप्युपमा न स्यात्। न ह्यत्रान्वर्थनामरूपशब्दसाम्यं विना किञ्चिदर्थसाम्यं कविविवक्षितमस्ति। तस्माद्यत्रकस्मिन्नर्थे प्रतिपाद्यमाने अलंकारद्वयलक्षणयोगादलंकारद्वयप्रतीतिस्तत्र तयोरलंकारयोरेकवाचकानुप्रवेशः॥

यथा (नैषध० २।६)—

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम्।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन॥

संतुष्ट नहीं। इसी प्रसंग में पहले टिप्पणी में उद्धृत रुय्यक के मत से स्पष्ट है कि अलंकारसर्वस्वकार 'सत्पुष्करद्योतितरंग' इत्यादि पद्य में शब्दार्थालंकार का, उपमा तथा शब्दश्लेष का एकवाचकानुप्रवेशसंकर मानते हैं। जब कि दीक्षित इस पद्य में श्लेषभित्तिक अध्यवसाय (अतिशयोक्ति) तथा उपमा इन दो अर्थालंकारों का एकवाचकानुप्रवेशसंकर मानते हैं। दीक्षित जी ने 'इति तदपि न मन्यामहे' के द्वारा रुय्यक के मत से ही अरुचि प्रदर्शित की है।

सिद्धान्तपक्षी पुनः अपने मत को पुष्ट करता कहता है, यदि पूर्वपक्षी इस मत को न मानेगा तो निम्न उदाहरण में उपमा अलंकार की प्रतीति ही न हो सकेगी।

'संसार को प्रसन्न रखने के कारण (प्रह्लादन करने के कारण) जैसे चन्द्रमा यथार्थ नामा है तथा संसार को तपाने के कारण तपन (सूर्य) यथार्थनामा है, वैसे ही वह राजा दिलीप प्रकृति का रञ्जन करने के कारण यथार्थरूप में राजा था।'

टिप्पणी—'चन्द्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'चदिराह्लादने' धातु से हुई है—चन्दयति इति चन्द्रः, जो लोगों को आह्लादित करे। इसी तरह 'तपन' शब्द की व्युत्पत्ति 'तप्' धातु से हुई है 'तपति इति तपनः' जो ताप करे, तपे। 'राजा' शब्द की व्युत्पत्ति 'रञ्ज्' धातु से हुई है 'रञ्जयति (प्रजाः) इति राजा'। इस प्रकार व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार स्वभाव वाले होने के कारण तत्तत् चन्द्रादि अन्वर्थ (यथार्थ) हैं।

इस उदाहरण में अन्वर्थनामरूप शब्दसाम्य के बिना कोई अर्थसाम्य कवि को अभीष्ट नहीं है। अतः कोरे शब्दालंकार-अर्थालङ्कार का एकवाचकानुप्रवेशसंकर मानने वाला मत और कोरे अर्थालङ्कारों का एकवाचकानुप्रवेश संकर मानने वाला मत दोनों ही ठीक न होने के कारण हम एकवाचकानुप्रवेश संकर किन्हीं भी उन दो अलङ्कारों का मानते हैं, जहाँ एक अर्थ की प्रतीति के समय दो अलङ्कारों के लक्षण घटित होने के कारण दो अलङ्कारों की एक साथ प्रतीति हो।

जैसे,

'नैषधीयचरित के द्वितीय सर्ग का पद्य है। दमयन्ती के उस उपवन ने, जिसमें चन्द्रमा की किरणों के आलिंगन (स्पर्श) से चूते हुए रस से भरे, चन्द्रकांतमणियों के घने वृक्षों के आलवाल के द्वारा वृक्षों की जलसेकक्रिया व्यर्थ हो गई थी, हंस का मन हर लिया (हंस को हृतचित्त बना दिया)।'

अत्र हि प्रतिपाद्यमानोऽर्थः समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तमिति लक्षणानुसारादुदात्तालङ्काररूपः, असम्बन्धे संबन्धकथनमतिशयोक्तिरिति लक्षणादतिशयोक्तिरूपश्च। न च सर्वत्रोदात्तस्यासंबन्धे संबन्धकथनरूपत्वं निर्णीतमिति न विविक्तालंकारद्वयलक्षणसमावेशोऽस्तीति वाच्यम्; दिव्यलोकगतसंपत्समृद्धिवर्णनादिष्वतिशयोक्त्यस्पृष्टस्योदात्तस्य. शौर्यौदार्यदारिद्र्यादिविषयातिशयोक्तिवर्णनेपूदात्तास्पृष्टाया अतिशयोक्तेश्च परस्परविविक्ततया विश्रान्तेः तयोश्चेहार्थवशसंपन्नसमावेशयोर्नाङ्गाङ्गिभावः। एकेनापरस्यानुत्थापनात् स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यविशेषादर्शनाच्च। नापि समप्राधान्यम्; यैः शब्दैरिह संबन्धि वस्तु प्रतिपाद्यते तैरेव तस्यैव वस्तुनोऽसंबन्धे संबन्धरूपस्य प्रतिपाद्यमानतया भिन्नप्रतिपादकशब्दद्वयव्यवस्थितार्थभेदाभावात्। नापि संदेहसङ्करः एकालङ्कारकोट्यां तदन्यालंकारकोटिप्रतिक्षेपाभावात्। तस्मादिहोदात्तातिशयोक्त्योरेकवाचकानुप्रवेशलक्षणः संकरः।

इस पद्य के द्वारा प्रतीत अर्थ में एक ओर समृद्धिशाली वस्तु का वर्णन होने के कारण उदात्त अलंकार तथा असंबंधे संबंधरूपा अतिशयोक्ति की प्रतीति हो रही है। यहाँ उपवन की समृद्धि के वर्णन में उदात्त अलंकार है (समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तम्), तथा दमयंती के वन में असंबद्ध वस्तुओं का भी संबंध बनाना अतिशयोक्ति है। कुछ लोग शायद यह शंका करें कि जहाँ कि समृद्धिशाली वस्तु का वर्णन होता है, वहाँ सर्वत्र 'असंबंधे संबंधकथन' होता ही है, वहाँ अतिशयोक्ति सदा रहती है, फलतः यहाँ दो अलंकारों—उदात्त तथा अतिशयोक्ति के लक्षण घटित नहीं होते। पर यह शंका करना ठीक नहीं। क्योंकि कई स्थानों पर उदात्त अलंकार 'असंबंधे संबंधरूपा' अतिशयोक्ति के बिना भी देखा जा सकता है, यथा स्वर्गादिलोक की संपत्ति तथा समृद्धि का वर्णन करते समय उदात्त अलंकार तो होता है, पर वहाँ अतिशयोक्ति का स्पर्श नहीं होता। इसी तरह कई स्थलों में अतिशयोक्ति होती है, पर उदात्त नहीं, यथा शूरता, उदारता, दरिद्रता आदि के वर्णनों में उदात्त अलंकार से अस्पृष्ट (रहित) अतिशयोक्ति पाई जाती है। अतः स्पष्ट है कि दोनों अलंकार परस्पर असंपृक्त होकर भी स्थित रह पाते हैं। इस पद्य (विधुकर आदि) में ये दोनों अलंकार केवल अर्थवश के कारण ही एक साथ हैं। अतः ये एक दूसरे के अंग या अंगी नहीं हैं। क्योंकि यदि इनमें अंगांगिभाव होता तो एक अलंकार दूसरे का उत्थापक (सहायक) होता तथा उनमें एक स्वतंत्र (अंगी) होता दूसरा परतन्त्र (अंग), पर यहाँ न तो कोई किसी का सहायक ही है, न इनमें स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य का परस्पर अस्तित्व ही दिखाई देता है। इसी तरह इन दोनों अलंकारों का समप्राधान्य भी नहीं माना जा सकता। समप्रधान अलंकारों में प्रतिपादक शब्द तथा प्रतिपाद्य अर्थ अलग अलग होते हैं। यहाँ जिन शब्दों के द्वारा समृद्धिशाली वस्तु की प्रतीति होती है, ठीक उन्हीं शब्दों से उसी वस्तु के असंबंध में संबंधरूप की प्रतीति होती है। भाव यह है, जिन शब्दों से उदात्त की प्रतीति होती है, उन्हीं से अतिशयोक्ति भी प्रतीत हो रही है। अतः यहाँ प्रतिपादक शब्द तथा प्रतिपाद्य अर्थ के अभिन्न होने के कारण समप्राधान्य संकर न हो सकेगा। इसी तरह यहाँ संदेह संकर भी नहीं है, क्योंकि संदेह संकर में चित्तवृत्ति एक अलंकार को मानने पर उसे अन्य कोटि के अलंकार में फेंक देती है, अर्थात् संदेह संकर में एक अलंकार का निश्चय नहीं हो पाता

१२३ सङ्करसङ्करालङ्कारः

क्वचित्सङ्कराणामपि सङ्करो दृश्यते । यथा—

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः संमार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः ।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुका
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम् ।

अत्र तावद्विदुषां संपत्समृद्धिवर्णनमुदात्तालङ्कारस्तन्मूलको 'बालाङ्घ्रिलाक्षारुणा' इत्यत्र तद्गुणालङ्कारस्तत्रैव वक्ष्यमाणभ्रान्त्युपपादकः पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गालंकारश्चेति तयोरेकवाचकानुप्रवेशसंकरः । तन्मूलः 'शंकितधियः' इत्यत्र भ्रान्तिमदलंकारस्ताभ्यां चोदात्तालंकारश्चारुतां नीत इति तयोश्च तस्य चाङ्गाङ्गिभावेन संकरः । एवं विद्वद्गेहवैभवस्य हेतुमतो राज्ञो वितरणविलासस्य हेतोश्चाभेदकथनं हेत्वलंकारः । स च राज्ञो वितरणविलासस्य निरतिशयोत्कर्षाभिव्यक्तिपर्यवसायी । एतावन्मात्रे कविसंरम्भश्चेदुक्तरूपोदात्तालंकारपरिष्कृते हेत्वलंकारे विश्रान्तिः । वर्णनीयस्य राज्ञः कीदृशी सम्पदिति प्रश्नोत्तरतया निरतिश-

---

यहाँ यह बात नहीं, क्योंकि दोनों की स्पष्टतः निश्चित प्रतीति होती है । इसलिए यहाँ उदात्त तथा अतिशयोक्ति का एकवाचकानुप्रवेश संकर है ।

१२३. संकरसंकर अलंकार

कहीं कहीं संकर अलंकारों का भी संकर पाया जाता है, जैसे—

'यह भोजराज के त्याग की लीला है कि विद्वानों के घरों में, सुरतक्रीडा के समय टूटे हुए हारों से बिखरे हुए, झाड़ू के द्वारा एक ओर हटाये हुए वे मोती, जो प्रातःकाल के समय आँगन में धीरे धीरे चलती हुई बालाओं (रमणियों) के चरणों के लाक्षारस के कारण लाल हो गये हैं; दाडिम के बीज की भ्रांति से युक्त बुद्धि वाले केलिशुकों के द्वारा खींचे जा रहे हैं ।

यहाँ विद्वानों की संपत्ति तथा समृद्धि का वर्णन है, अतः उदात्त अलंकार है, इसी में 'बालाओं के चरणों की लाक्षा से लाल' इस उक्ति में तद्गुण अलंकार है, तथा वहीं आगे कहे जाने वाले भ्रांति अलंकार की प्रतीति कराने वाला पदार्थ हेतु काव्यलिंग अलंकार भी है । इन तद्गुण तथा काव्यलिंग दोनों का एकवाचकानुप्रवेश संकर है । इन्हीं के द्वारा 'शंकितधियः' इस पद से भ्रांतिमान् अलंकार प्रतीत हो रहा है । यह संकर तथा भ्रांतिमान् दोनों मिलकर उदात्त अलंकार की शोभा बढ़ाते हैं, अतः ये दोनों उदात्त अलंकार के अंग हैं, इस प्रकार अंगांगिभाव संकर है । इसके अतिरिक्त इस पद्य में विद्वानों के घर का वैभव रूप हेतुमान् (कार्य) तथा राजाभोज के दानवैभवरूप हेतु (कारण) का अभेद कथन (वह वैभव त्याग लीला का कार्य है, यह न कहकर, वह स्वयं तुम्हारे त्याग की लीला है, यह कहना) हुआ है, अतः यहाँ हेतु अलंकार भी है । यह हेतु अलंकार राजा भोज के दानवैभव के अत्यधिक उत्कर्ष की अभिव्यञ्जना कराता है । यदि कवि का भाव यही है, तो उपर्युक्त उदात्त अलंकार के द्वारा पुष्ट हेतु अलंकार में विश्रान्ति हो जाती है । पर ऐसा भी हो सकता है कि कवि का भाव यह न रहा हो, किसी व्यक्ति ने कवि से

यैश्वर्यवितरणरूपाप्रस्तुतकार्यमुखेन तदीयसम्पदुत्कर्षप्रशंसने कविसंरम्भश्चेत् कार्यनिबन्धनाप्रस्तुतप्रशंसालंकारे विश्रान्तिः। कार्यस्यापि वर्णनीयत्वेन प्रस्तुतत्वाभिप्राये तु प्रस्तुताङ्कुरेऽपि विश्रान्तिः। अत्र विशेषानध्यवसायात् संदेहसंकरः। किंच विद्वद्गृहवैभववर्णनस्यासंबन्धे संबन्धकथनरूपतयाऽतिशयोक्तेरुदात्तालंकारेण सहैकवाचकानुप्रवेशसंकरः। निरतिशयवितरणोत्कर्षपर्यवसायिनो हेत्वलंकारस्याप्यद्भुतातथ्यौदार्यवर्णनात्मिकयात्युक्त्या सहैकवाचकानुप्रवेशसंकरः। तन्मूलकस्याप्रस्तुतप्रशंसालंकारस्य प्रस्तुताङ्कुरस्य वा राजसंपत्समृद्धिवर्णनात्मकोदात्तालंकारेण सहैकवाचकानुप्रवेशसंकरः। वाचकशब्दस्य प्रतिपादकमात्रपरतया व्यञ्जकसाधारण्यात्। एषां च त्रयाणामेकवाचकानुप्रवेशसंकराणां समप्राधान्यसंकरः। न ह्येतेषां परस्परमन्यत्राङ्गत्वमस्ति। उदात्तादिमात्रस्यैव हेत्वलंकारादिचारुतापादकत्वेनातिशयोक्तिसंकरस्याङ्गतयानपेक्षणात्। एवमत्र श्लोके चतुर्णामपि संकराणां यथायोग्यं संकरः। एवमन्यत्राप्युदाहरणान्तराण्यूह्यानि॥

वर्णनीय राजाभोज की दानशीलता के संबंध में प्रश्न किया हो, और कवि अतिशय दानवैभव के अनुसार कार्य का वर्णन कर उसके द्वारा राजा की प्रस्तुत समृद्धि की प्रशंसा करना चाहता हो, यदि कवि का भाव यह रहा हो तो अप्रस्तुत कार्य के द्वारा प्रस्तुत कारण की व्यंजना वाली अप्रस्तुतप्रशंसा माननी होगी। ऐसा भी हो सकता है कि कवि के लिए विद्वत्समृद्धिरूप कार्य का वर्णन ही प्रस्तुत रहा हो, फिर तो यहाँ प्रस्तुतांकुर अलंकार होगा। इस प्रकार यहाँ हेतु, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा प्रस्तुतांकुर अलंकार में से कौन सा अलङ्कार है, इसका निश्चय नहीं हो पाता, अतः यहाँ संदेहसंकर है।

इसके अतिरिक्त इस पद्य में एक ही अर्थ के अन्तर्गत विद्वानों के गृहवैभव का वर्णन करते हुए असंबंधे संबंधकथनरूपा अतिशयोक्ति का उदात्त अलंकार के साथ एकवाचकानुप्रवेश संकर भी पाया जाता है। यहीं नहीं, राजा के अत्यधिक दान देने के उत्कर्ष की प्रतीति करनेवाला हेतु अलंकार भी उसकी अद्भुत उदारता तथा आतिथ्य का वर्णन करने वाली अत्युक्ति के साथ एकवाचकानुप्रविष्ट है, अतः हेतु एवं अत्युक्ति का एकवाचकानुप्रवेश संकर भी पाया जाता है। इस अलङ्कार के द्वारा प्रतीत अप्रस्तुतप्रशंसा या प्रस्तुतांकुर अलङ्कार का पुनः राजसमृद्धिवर्णनामक उदात्त अलङ्कार के साथ एकवाचकानुप्रवेश संकर होता है। इस संबंध में पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि राजा की संपत्ति तथा समृद्धि की प्रतीति तो व्यञ्जनागत है, अतः उसके अवाच्य (वाच्यातिरिक्त) होने के कारण उसका वर्णन करने वाले उदात्त अलंकार के साथ एकवाचकानुप्रवेश कैसे हो सकता है? इसी शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'वाचक' शब्द का अर्थ यहाँ केवल 'मुख्या वृत्ति' (अभिधा) वाले शब्द से न होकर अर्थप्रतीति मात्र कराने वाले शब्द से है, अतः इसमें व्यञ्जक भी समाविष्ट हो जाता है। इस काव्य में ऊपर जिन तीन एकवाचकानुप्रवेश संकरों का उल्लेख किया गया है, वे सब प्रधान हैं, अतः इनमें समप्रधान्यसंकर पाया जाता है। ये किसी एक दूसरे के अंग नहीं है। कोई यह शंका कर सकता है कि उदात्त अलंकार को पहले हेतु अलङ्कार का अंग माना गया है, अतः उदात्तातिशयोक्ति-संकर अलङ्कार भी उदात्त का अंग हो जायगा? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि केवल उदात्तादि अलंकार ही हेतु अलङ्कार (और अप्रस्तुतप्रशंसा) आदि की शोभा के कारण

उपसंहारः

अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः ।
नियोगाद्वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः ॥ १७१ ॥
चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसंभवः ।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूदयम् ॥ १७२ ॥

इति श्रीमदद्वैतविद्याचार्यश्रीमद्भरद्वाजकुलजलधिकौस्तुभ-
श्रीरङ्गराजाध्वरीन्द्रवरसूनोः श्रीमदप्पय्यदीक्षितस्य
कृतिः कुवलयानन्दः समाप्तः ॥

हो जाते हैं, क्योंकि अतिशयोक्ति संकर की उसके अंगरूप में कोई आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार इस पद्य में चारों प्रकार के संकरों का परस्पर संकर पाया जाता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

१७१—अप्पयदीक्षित ने निर्व्याज कृपा के समुद्र श्री वेंकटपति के आदेश से इस कुवलयानन्द की रचना की है।

१७२—शरदागमसंभव चन्द्रालोक नामक ग्रन्थ सर्वोत्कृष्ट है, जिसके कारण कुवलयानन्द सुन्दर बन सका। (शरद् ऋतु के आगमन वाला शरत्कालीन) चन्द्रमा का प्रकाश विजयी हो, जिसके कारण यह कुमुदिनी का सुन्दर विकास हो सका।)

चन्द्रालोके वियति वितते निर्मलद्युद्विताने,
जातः प्रेम्णा किल कुवलयानन्द उत्फुल्लशोभः ।
मध्वाधारा[1] स्फुटपरिमला 'माकरन्दी'[2] व तस्य
व्याख्या सैषा भवतु सुहृदां सम्यगास्वादनीया ॥

नयनेन्दुशून्ययुग्मे वर्षे श्रीविक्रमाङ्कदेवस्य ।
पूर्णा दीपावल्यां व्याख्येयं कुवलयानन्दे ॥

श्रीमदप्पयदीक्षित की कृति कुवलयानन्द समाप्त हुआ ॥

१, मधुनः क्षौद्रस्य आधारः यस्यां सा ।
२. मकरन्दस्य इयं 'माकरन्दी' परागसरणिः, मकरन्दततिरिति ।

पद्यानुक्रमणिका

कतिपय साहित्य-परीक्षोपयोगी प्रकाशन

कादम्बरी । 'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्या । आचार्य शेषराज शर्मा 'रेग्मी' । कथामुखपर्यन्त १७-५०, आदितः शुकनासोपदेशान्त भागः ३५-००

रघुवंशमहाकाव्यम् । मल्लिनाथ कृत 'संजीविनी' व्याख्यासमलङ्कृत । श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी कृत 'चन्द्रकला' हिन्दी व्याख्या युक्त । सम्पूर्ण ३५-००

व्याकरणशास्त्रस्येतिहासः । लेखकः—डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी ६-००

अभिज्ञानशाकुन्तलम् । 'विमला'-'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्या युक्त । डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी ३०-००

रसगङ्गाधरः । आचार्य बदरीनाथ कृत 'चन्द्रिका' संस्कृत टीका एवं आचार्य मदनमोहन झा कृत हिन्दी टीका सहित । १-३ भाग सम्पूर्ण १६५-००

प्रथमाननपर्यन्त : प्रथम भाग ३५-००

द्वितीयानन का उत्प्रेक्षानिरूपणान्त : द्वितीयभाग ६५-००

अतिशयोक्त्यलङ्कारादिसमाप्तिपर्यन्त : तृतीय भाग ६५-००

दशरूपकम् । धनिककृत 'अवलोक' संस्कृत टीका एवं डॉ० भोलाशंकर व्यास कृत 'चन्द्रकला' हिन्दी टीका सहित २०-००

कालिदास-ग्रन्थावली । आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ६०-००

नलचम्पूः । 'सुधा' संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासहित । श्रीपरमेश्वरीदीन पांडेय २५-००

कौटिलीय-अर्थशास्त्रम् । हिन्दीव्याख्यासहित । वाचस्पति गैरोला १००-००

काव्यमीमांसा । परीक्षोपयोगि संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकारः—डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी । १-५ अध्याय ४-५०

नैषधीयचरितम् । 'चन्द्रकला' सं० हि० व्याख्या । शेषराजशर्मा । १-९ सर्ग ४५-००

स्वप्नवासवदत्तम् । 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या । शेषराजशर्मा रेग्मीः १०-००

भट्टिमहाकाव्यम् । 'काव्यमर्मविमर्शिकाख्य'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम् । नवीन परिवर्द्धित संस्करण । म० म० श्रीगोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी' १-४ सर्ग १०-००, ५-८ सर्ग १०-००, १४-२२ सर्ग १५-००

निरुक्तम् । १-७ अध्याय । विवेचनात्मक विस्तृत हिन्दी व्याख्या, भूमिकादि सहित । व्याख्याकार—डॉ० उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि' ४०-००

पुराणपर्यालोचनम् । डॉ० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी । प्रथम : गवेषणात्मक भाग ५०-०० (उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत) । द्वितीय : समीक्षात्मक भाग ४०-००

भक्तिरत्नावली । डॉ. श्रीकृष्णमणित्रिपाठी (उ०प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत) २५-००

काव्यप्रकाशः । 'शशिकला' हिन्दीव्याख्या । डॉ० सत्यव्रत सिंह ४०-००

कुवलयानन्दः । 'अलङ्कारसुरभि' हिन्दीव्याख्या । डॉ० भोलाशंकरव्यास ४०-००

साहित्यदर्पणम् । 'शशिकला' हिन्दीव्याख्या । डॉ० सत्यव्रत सिंह १-६ परिच्छेद ३५-०० सम्पूर्ण ५०-००

ध्वन्यालोकः । अभिनवगुप्त कृत 'लोचन' संस्कृतटीका एवं आचार्य जगन्नाथ पाठक कृत 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या । सम्पूर्ण ४५-००

सर्वविध पुस्तक प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्याभवन, चौक, पो० बा० नं० ६९, वाराणसी २२१००१